रजत जयंती स्मारक ग्रंथ

भारत में विद्यालयी शिक्षा

वर्तमान स्थिति और भावी आवश्यकताएँ

संपादक

पी०एल० मल्होत्रा

भालचंद्र सदाशिव पारख

चौधरी हेमकांत मिश्र



राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

सितंबर 1986
भाद्र 1908

P.D. 5T—PD RP SC

रु. 88.00 $ 26.50 £ 9.00

अभिकल्प एवं सज्जा
सी.एन. राव

प्रकाशन विभाग में, सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा ग्राफ़िक लेटर्स (प्रा.) लिमिटेड, 202 मैग्नम हाउस, नजफगढ़ रोड, नई दिल्ली 110 015 मे फोटोसेट होकर, मेहता ऑफसेट वर्क्स, 16-ए नारायणा इंडस्ट्रियल एरिया, फ़ेज़ II, नई दिल्ली 110 028 में मुद्रित।

आमुख

यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि *भारत में विद्यालयी शिक्षा : वर्तमान स्थिति और भावी आवश्यकताएँ* नामक इस ग्रंथ से मेरा सम्बन्ध है। इसका प्रकाशन राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् की रजत जयंती के अवसर पर हुआ है। यह राष्ट्र के विख्यात विद्वानों और शिक्षाविदों द्वारा लिखे गये पचीस निबन्धों का सार-संग्रह है। विद्यालयी शिक्षा में गुणात्मक परिष्कार लाने के लिए कटिबद्ध राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् देश की शीर्षस्थ संस्था है। परिषद् की रजत जयंती के अवसर पर समस्त शिक्षा जगत को विद्यालयी शिक्षा पर दृष्टिपात करने और उसका यथोचित अध्ययन करने का यह समुचित अवसर है। यों भी यह शुभ अवसर है क्योंकि ठीक इसी समय हम राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 को तेजी से लागू करने में संलग्न है और हमारे सम्मुख समयबद्ध लक्ष्य की सही रूपरेखा है।

स्वाधीनता से पहले शिक्षा को कभी भी इसका देय नहीं मिला। इसीलिए पिछले कुछ दशकों में एक राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति के निर्माण के लिए सतत और अखंड प्रयास शैक्षिक विकास के महत्वपूर्ण पहलू बने हैं। इन्हीं प्रयासों के अन्तर्गत देश की शिक्षा के पुनर्निर्माण तथा उसे एक भारतीय पहचान देने के लिए ही, ताकि वह भारतीय समाज व प्रकृति को प्रतिबिम्बित कर पाए, भारत सरकार द्वारा राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् की स्थापना 1961 में की गई।

गत वर्षों मे राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् ने अपने लिए एक उच्च व्यावसायिक संस्था का दर्जा बनाया है। केन्द्र और राज्य समान रूप से परिषद् की विशेषज्ञता और परामर्श से लाभान्वित होते हैं। वस्तुतः इसे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी अद्वितीय प्रतिष्ठा मिली है। अन्य देशों में इस जैसी शायद ही कोई संस्था मिले। अपनी व्यापक अन्तरसंरचना के कारण, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् ने विद्यालयी और अध्यापकीय शिक्षा के अनेक अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर अच्छा खासा योग दिया है।

विगत वर्षो में विद्यालयी शिक्षा के क्षेत्र में एक नूतन कार्य पद्धति विकसित करने के फलस्वरूप ही परिषद् ने यह प्रतिष्ठा पाई है। विद्यालयी शिक्षा के विभिन्न पक्षों पर इसने राज्यों और उनकी विशेषज्ञता प्राप्त संस्थाओं के साथ शिक्षा के क्षेत्र में एकजुट होकर काम किया है। आज हम राज्यों और केन्द्रशासित प्रदेशों में कार्यरत अनेक माध्यमों के बिना इस परिषद् की कल्पना भी नहीं कर सकते। इन माध्यमों में राज्य शिक्षा संस्थान, राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, अनवरत शिक्षा केन्द्र, शिक्षा प्रसार केन्द्र, राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण संस्थान, राज्य प्रौद्योगिकी शिक्षा प्रकोष्ठ, राज्य पाठ्यपुस्तक ब्यूरो या निगम तथा माध्यमिक शिक्षा मंडल आदि सम्मिलित हैं। परिषद् के अपने चार क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय तथा सत्रह क्षेत्रीय

कार्यालय राज्यों के साथ सतत विचार-विमर्श मे व्यस्त रहते है। स्थानीय व राष्ट्रीय स्तरों के मध्य दो-तरफा आवागमन को बढ़ावा देने वाली अंतरसंरचना के विकास की इस प्रक्रिया में संगत व सहज परिणाम के रूप मे ही जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थानों की स्थापना का प्रस्ताव किया गया है।

विभिन्न स्तरों पर शैक्षिक अधिकारियों, नितान्त भिन्न परिस्थितियों मे कार्यरत शिक्षकों एवं शिक्षक समुदायों से विचार-विमर्श व अंतरक्रियाओं द्वारा परिषद् की पहुंच और अंतर्दृष्टि बनी है। विभिन्न क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय सभाओं में समान समस्याओं पर चर्चा करने, परस्पर अनुभवों का आदान-प्रदान करने तथा वैचारिक सहमति के निमित्त परिषद् ने सभी राज्यों के लिए एक विचारमंच और सुविचारित कार्यक्रम सुलभ कराया है। इस प्रकार यह शिक्षा में सुधार लाने के लिए सदा ही प्रेरक बनी रही है। परिषद् के माध्यम से अपनी समस्याएँ हल करने की दिशा में राज्यों की दक्षता, अनुभवों और आत्मविश्वास में अभिवृद्धि हुई है। इस भागीदारी में परिषद् का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। अपने अंतर्राष्ट्रीय अनुभव के बल पर परिषद् ने राज्यों की भरपूर सहायता मे कोई कसर नहीं छोड़ी है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर परिषद् ने अपने पदाधिकारियों के साथ-साथ राज्यों के व्यक्तियों को भी वैचारिक आदान-प्रदान के अवसर सुलभ कराये हैं।

विगत दो वर्षों में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् ने शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रीय सहमति बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 इसी सहमति का मूर्त स्वरूप है। परिषद् द्वारा किए गये चतुर्थ अखिल भारतीय शैक्षिक सर्वेक्षण से प्राप्त आधार सामग्री ने *शिक्षा की चुनौती* नामक अभिलेख को व्यापक आधार प्रदान किया। शायद भारतीय शिक्षा के इतिहास में किसी भी अभिलेख पर इतनी चर्चा नहीं हुई। चर्चा केवल शिक्षा-जगत तक ही सीमित नहीं रही अपितु जनसामान्य तक जा पहुँची। इस नितान्त आत्मालोचन वाले अभिलेख ने एक ऐसा यथार्थ ढाँचा प्रस्तुत किया जिसके अन्तर्गत नई नीति के प्रतिबलों की पहचान की गई और उन्हें प्राथमिकता प्रदान की गई। परिषद् ने स्वयं न्यूनाधिक राष्ट्रीय परामर्श सभाओं का आयोजन किया और अपने वरिष्ठ संकाय को समस्याओं, कठिनाइयों तथा नवीन विचार धारा को समाहित करने हेतु नियुक्त किया, ताकि वह केन्द्र को ईमानदारी के साथ इनसे अवगत कराये और जन-सामान्य की आशाओं और आकांक्षाओं का परिचय दे पाए तथा साथ ही उनकी पूर्ति में बाधक तत्वों का भी उल्लेख हो सके। इस तरह पहली बार हम ऐसी शिक्षा नीति बना पाए हैं जो निर्जीव अभिलेख न होकर शिक्षा के मामले में राष्ट्रीय जागृति की अभिव्यक्ति है। यह राष्ट्रीय निर्माण, आर्थिक पुनर्निर्माण तथा सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका को व्यक्त करती है।

शिक्षा को पहली बार एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा जा रहा है। यह मानव संसाधन विकास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण निवेश को परिलक्षित करती है। इस परिवर्तित परिदृश्य के अन्तर्गत शिक्षा के काल और स्वरूप में भारी परिवर्तन आया है। शिक्षा अब एक ऐसी प्रक्रिया का अनिवार्य अंग आँकी जाती है जो जन्म से मृत्युपर्यन्त बनी रहती है। इसे अब कक्षा की चारदीवारी में बन्द नहीं कर सकते। इन दीवारों को लाँघ कर शिक्षा को समाज के प्रत्येक क्रियाकलाप से जुड़ना होगा और लोगों के कार्य-स्थल तक पहुँचना होगा। इसीलिए औपचारिक शिक्षा के विकल्प के रूप में अनौपचारिक धारा पर अब बल दिया जाता है। यह कार्य खुले विद्यालयों और सुदूर शिक्षा द्वारा भी सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकता है बशर्ते कि आधुनिक शैक्षिक प्रौद्योगिकी को अधिक सार्थकता और कल्पनाशीलता से उपयोग मे लाया जाये। तात्पर्य यह है कि हमें मात्र साक्षर समाज नहीं चाहिए, बल्कि सतत ज्ञानरत समाज की आवश्यकता है। यही एकमात्र उपाय

है जिससे हमारी आबादी की समस्या का निदान होगा, रोजगार के अवसर बढ़ेगे और अज्ञान, रोग, गरीबी और भाग्यवाद का उन्मूलन होगा।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् पाठ्यक्रम के विकास पर विशेष बल देती है। परिषद् ने राष्ट्रीय महत्व का यह कार्य सातवें दशक मे शुरू किया जो आठवें और नवें दशक तक चलता रहा है। परिषद् ने दार्शनिक अभिधारणा एवं विवेकयुक्त पाठ्यक्रम बनाने के लिए अध्यापकों, शिक्षाविदों, पाठ्यक्रम विशेषज्ञों, विषयज्ञाताओ और सुप्रसिद्ध लेखकों के साथ मिलकर कार्य किया है। एक ऐसा पाठ्यक्रम विकसित किया गया है जिसमें राष्ट्रीय लक्ष्य एवं परिप्रेक्ष्य तो सुरक्षित है ही, साथ ही साथ उसे स्थानीय आवश्यकताओं और पर्यावरणीय परिस्थितियों के अनुकूल भी ढाला जा सकता है।

नवीन राष्ट्रीय पाठ्यक्रमीय रूपरेखा में पढ़ाई की समान योजना पर विचार किया गया है। इसमें अध्ययन के विभिन्न क्षेत्रों को और पढ़ाई के घंटों के समय को बताया गया है। साथ ही, अधिगम पद्धति पर न जाकर, सभी शिक्षार्थियों के लिए एक समान विशिष्ट अधिगम प्रतिफल के रूप मे निर्धारित, विद्यालयी शिक्षा के हर स्तर के लिए और हर पाठ्यक्रमीय क्षेत्र के लिए, न्यूनतम अधिगम स्तरों पर भी विचार किया गया है। इससे शिक्षा के अंतरराज्यीय और अंतरक्षेत्रीय स्तरों की तुलना बनी रहेगी और राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति की अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के साथ भी तुलना संभव होगी। इस लचीले पाठ्यक्रम में विषयवस्तु का चयन तथा अध्ययन अनुभवों का समावेश स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार किया जा सकता है। जिससे अध्यापक, विद्यालय के अधिकारी तथा स्थानीय अधिकारी अधिकाधिक भाग ले सकेगे। पाठ्यक्रम की रूपरेखा प्रमुख शैक्षिक उद्देश्यों और अध्ययन की सामान्य योजना को तो परिभाषित करती ही है, साथ ही उन आधारभूत तत्वों पर भी विशिष्ट रूप से प्रकाश डालती है, जो राष्ट्रीय पहचान के संपोषण के लिए आवश्यक है। ये तत्व विभिन्न विषय क्षेत्रों मे सम्मिलित होंगे। पाठ्यक्रम सम्पादन की इस नयी युक्ति का रहस्य है सीखने की प्रक्रिया मे बच्चे को केन्द्र मानकर चलना तथा अध्यापक को उसे सुसाध्य बनाना। अध्ययन-अध्यापन की प्रक्रिया बच्चे के व्यक्तित्व के समग्र विकास की ओर उन्मुख होगी। *प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा का राष्ट्रीय पाठ्यक्रम — एक रूपरेखा, (1986)* — दो तीन वर्षों के उन अथक प्रयत्नों का फल है जिनमें परिसंवादों तथा कार्यगोष्ठियों के माध्यम से एक राष्ट्रीय सहमति तक पहुँचा जा सका है। ये कार्यगोष्ठियां तथा परिसंवाद राज्य, क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित किए गए और इनमें शिक्षकों, शिक्षाविदों, शैक्षिक प्रशासकों तथा विभिन्न क्षेत्रों के पारंगत विद्वानों ने निजी तथा सामूहिक विशेषज्ञता एवं अंतर्दृष्टि के साथ भाग लिया।

पाठ्यक्रम को बनाना और उसका नवीनीकरण एक निरन्तर चलती रहने वाली प्रक्रिया है, यह अनुरेखीय न होकर एक आवर्ती प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत पाठ्यक्रम तथा पाठ्यक्रम सामग्री के परिष्कार के लिए निरन्तर मूल्यांकन, अध्ययन-अनुशीलन, मौखिक-सार तथा अनुसंधान की नवीनतम उपलब्धियों को समाहित किया जाता है। परिषद् के पास पाठ्यक्रम सामग्री का खजाना ही है जिसमें राष्ट्रीय रूपरेखा (संरचना) अथवा उसके दर्शन से लेकर पढ़ाई के कोर्स अथवा अध्ययन की योजना को विकसित करने की मार्गदर्शी रेखाएँ या पाठ्यचर्या की निर्माण-विधि, अध्ययन अथवा संसाधन एकक, हस्तपुस्तिकाएँ, शिक्षण-सामग्री, पाठ्यपुस्तके, अभ्यास-पुस्तिकाएँ, पूरक पठन-सामग्री एवं मुद्रित सामग्री के अतिरिक्त स्लाइड टेप, फिल्म पट्टियाँ, श्रव्य एवं दृश्य टेप तथा फिल्म आदि से भरपूर बहुसंचार मंजूषाएँ सम्मिलित हैं।

परिषद् की पाठ्यपुस्तके सबसे सस्ती परन्तु सबसे अच्छी सिद्ध हुई हैं। पिछले वर्षों में जहाँ

भी इनका इस्तेमाल हुआ है, इन पुस्तकों ने अभूतपूर्व लोकप्रियता और ख्याति अर्जित की है फिर भी परिषद् सदा ही उन्हें सुधारने में लगी रहती है। परिषद् द्वारा निर्मित अन्य शैक्षिक सामग्री मे विज्ञान किट, कम लागत के शिक्षा साधन, चार्ट तथा पारदर्शियाँ उल्लेखनीय हैं। परिषद् *शिक्षा के लिए उपग्रह* नाम की परियोजना मे सक्रिय योगदान कर रही है। परिषद् का केन्द्रीय शैक्षिक प्रौद्योगिकी संस्थान ग्रामीण प्राथमिक विद्यालयों के विद्यार्थियों और अध्यापकों के लिए शैक्षिक टेलीविजन कार्यक्रम बनाता है। इसके लिए यह संस्थान कार्यक्रमों के आलेख तैयार करने, उन्हें बनाने और प्रसारणार्थ प्रस्तुत करने में सक्रिय है। दूरदर्शन भी इस परियोजना में सहयोगी है तथा राज्यों के शैक्षिक प्रौद्योगिकी संस्थान, जो कि आंध्रप्रदेश, उत्तरप्रदेश, उड़ीसा, गुजरात, बिहार तथा महाराष्ट्र में केन्द्रीय संस्थान के सहयोग से स्थापित हुए हैं, भी न्यूनाधिक योगदान करते हैं, शिक्षा में संगणक (कम्प्यूटर) के प्रयोग के क्षेत्र में भी परिषद् ने पहल की है और अनेक सुविधा-विपन्न विद्यालयों को इस उच्च तकनीकी का ज्ञान सुलभ कराया है। परिषद् प्रारंभ से ही यह मान कर चली है कि शिक्षा को पाठ्यपुस्तकों में ही बन्द नहीं रख सकते बल्कि उसका विस्तार वास्तविक जीवन और कार्य तक होना ही चाहिए। कार्यानुभव और व्यवसायीकरण मे परिषद् की यही धारणा प्रतिबिम्बित होती है।

विद्यार्थियों, अध्यापकों और शोधार्थियों के लाभार्थ परिषद् आधार सामग्री संग्रहीत करती है, शोध परियोजनाएँ सम्पन्न करती है और अपनी हिन्दी व अंग्रेजी पत्रिकाओं द्वारा समस्त सूचनाएँ उन्हें देती रहती है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति समाज के सभी वर्गों से प्रतिभा की खोज व उसके संपोषण के लिए विशेष रूप से प्रतिबद्ध है। परिषद् प्रतिभा खोज परियोजना के अन्तर्गत यह कार्य अनेक वर्षों से कर रही है। इसी दिशा मे देश के प्रत्येक जिले में नवोदय विद्यालयों की स्थापना से एक अन्य बड़ी जिम्मेदारी परिषद् ने संभाली है। इस उत्तरदायित्व के अन्तर्गत ग्रामीण अंचल में प्रतिभा खोज के लिए संस्कृति-निरपेक्ष मनोवैज्ञानिक परीक्षणों को तैयार करना, उन्हें परिनिष्ठित रूप देना तथा अन्ततः उनके अनुसार परीक्षा लेना एक भारी चुनौती है। मेरे विचार में यह प्रयास अपने आप मे एक क्रांतिकारी चरण है, क्योंकि इसके द्वारा प्रतिभा की खोज सुविधा-सम्पन्न वर्ग से हटकर कम सुविधा वाले अथवा सुविधा-विपन्न वर्ग मे की जा रही है।

नवोदय विद्यालयों के विद्यार्थियों के लिए कुछ सामग्री छप चुकी है और कुछ सामग्री लिखित रूप में तैयार है। जब यह पूर्णतया तैयार हो जायेगी, तब, मुझे विश्वास है कि यह नवोदय विद्यालयों तक ही सीमित नहीं रहेगी, बल्कि अन्य विद्यालयों द्वारा भी तुरन्त ग्रहण की जायेगी। उस दशा मे नवोदय विद्यालयों का 'गति-निर्धारक' कार्य सम्पन्न होगा और परिषद् विद्यालयों मे श्रेष्ठता स्थापित करने में सक्षम होगी जो कि इसका संकल्प है।

अन्य अनेक क्षेत्रों में भी परिषद् ने सराहनीय कार्य किया है। विकासशील देशों की विद्यालयी व प्रशिक्षण की समस्याओं को सुलझाकर इसने वहाँ भी अपनी अमिट छाप छोड़ी है। सच तो यह है कि शिक्षा के मामले में परिषद् के लिए कुछ भी अपरिचित नहीं है। नवाचार का काम कहीं भी हो, उसे यहाँ अपनाया गया है और उस पर परीक्षण किए गए हैं। स्पष्ट है कि परिषद् भारत में तथा बाहर भी शैक्षिक कायाकल्प करने में सक्षम है। इस संस्था की गतिशीलता और कार्य में उत्कृष्ट विश्वास ही इसकी शक्ति का आधार है।

इस सार-संग्रह में शिक्षा जगत के सुविख्यात विद्वानों के नाम देखकर मुझे प्रसन्नता हुई। यह भारतीय शिक्षाविदों एवं विद्वानों द्वारा परिषद् के प्रति सम्मान का परिचायक है। यह संग्रह परिषद् के निदेशक, डा. पी.एल. मल्होत्रा तथा उनके द्वारा गठित उपसमिति के अथक प्रयत्नो का

भी परिचायक है। पता लगा है कि रजत जयंती के इस अवसर पर हिन्दी और अंग्रेजी के इस सार-संग्रह के अतिरिक्त अन्य प्रकाशन भी आयेंगे। मेरा विश्वास है कि शिक्षा के क्षेत्र मे इस प्रकार के प्रकाशन विचारों के आदान-प्रदान की भूमि तैयार करते हैं और श्रेष्ठतम बुद्धिजीवियों को एक मंच पर मिलाते हैं। परिषद् की रजत जयंती का वर्ष तथा राष्ट्रीय शिक्षा नीति का वर्ष संयोगवश एक साथ पड़ता है इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि भारतीय शिक्षा के इतिहास में ये प्रकाशन महत्वपूर्ण होंगे।

पी.वी. नरसिंह राव
अध्यक्ष, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
तथा
मानव संसाधन विकास मंत्री

नई दिल्ली
अगस्त, 1986

प्रस्तावना

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् की रजत जयंती भारत में विद्यालयी शिक्षा के सक्रिय विकास के पूरे पचीस वर्षों को व्यक्त करती है। इन वर्षों में परिषद् द्वारा किए गए कार्यों पर चिंतन करने तथा समकालीन यथार्थ और दीर्घकालीन राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए भावी कार्यक्रमों को दिशा देने का यह सुन्दर सुयोग है।

अपने 25 वर्षों के अस्तित्व में रा.शै.अनु.प्र. परिषद् ने विद्यालयी शिक्षा और अध्यापक-शिक्षा के क्षेत्र में नीति नियमन, योजना और अनेक कार्यक्रमों तथा परियोजनाओं के कार्यान्वियन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आज परिषद् विश्व की उन विशाल एवं महान् संस्थाओं के समकक्ष जा पहुँची है, जो विद्यालयी शिक्षा के क्षेत्र में अनुसंधान, विकास एवं प्रशिक्षण-गतिविधियों में संलग्न हैं। अपने चार क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालयों और क्षेत्रीय कार्यालयों के द्वारा यह राज्यों और संघीय क्षेत्रों की सरकारों से सीधा व घनिष्ठ सम्पर्क बनाए रखती है तथा उनके शिक्षा विभागों व निदेशालयों द्वारा बनाए गए कार्यक्रमों एवं परियोजनाओं को लागू करने में उन्हें सक्रिय सहयोग देती है। परिषद् का अनेक अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसायी संस्थाओं तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ की यूनेस्को, यूनीसेफ तथा यू.एन.डी.पी. जैसी संस्थाओं से भी सम्पर्क है और यह उनकी परियोजनाओं के कार्यान्वयन में माध्यम की भूमिका निभाती है।

गत दो दशकों में विद्यालयी शिक्षा के क्षेत्र में पाठ्यक्रम के विकास, पाठ्यचर्या के अभिकल्प तथा पाठ्यपुस्तकों के निर्माण और मूल्यांकन के व्यवसायीकरण की दिशा में महत्वपूर्ण विकास आया है। रा.शै.अनु. प्र. परिषद् का उदय तथा राष्ट्रीय स्तर पर पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तक के निर्माण की प्रक्रिया में उसके प्रत्यक्ष भागीदार होने का सुपरिणाम यह हुआ कि इसी कार्य के लिए राज्यों में पाठ्यपुस्तक मंडलों, राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषदों अथवा राज्य शिक्षा संस्थानों की स्थापना हो गई जिससे अनुसंधान और विकास की गतिविधियों के लिए इस क्षेत्र में तकनीकी सहयोग सुलभ हो गया। इसके सुखद सुपरिणाम सामने आये। भले ही परिषद् तथा राज्य संस्थानों की पाठ्यपुस्तकों में परिष्कार की संभावना सदैव बनी रहेगी, तथापि गत वर्षों में इस देश की पाठ्यपुस्तकों में गुणकारी परिष्कार हुए हैं।

परिषद् के दो प्रकाशनों : *दस वर्षीय विद्यालयों के लिए पाठ्यक्रम — एक रूपरेखा,* (1975 में) तथा *उच्चतर माध्यमिक शिक्षा और उसका व्यवसायीकरण* (1976 में) ने विद्यालयी शिक्षा की पुनर्रचना को और 10 + 2 की प्रणाली को अपनाने के प्रयास को ठोस आकार प्रदान

किया। शिक्षा आयोग (1964 - 66) की सिफारिश भी यही थी। इन अभिलेखों के प्रकाशन के बाद परिषद् ने अपनी नीति के समर्थन में पाठ्यचर्या का निर्माण और पाठ्यपुस्तकों का प्रकाशन किया जिन्हें राज्यों और संघीय क्षेत्रों ने आदर्श के रूप में इस्तेमाल किया।

दस वर्षीय विद्यालयों के लिए पाठ्यक्रम में प्राथमिक स्तर से ही पर्यावरण अध्ययन, विज्ञान और गणित को सामान्य शिक्षा का अंग स्वीकार किया गया है। विज्ञान-शिक्षण को अभिविन्यस्त करने का प्रारम्भ पहले नवीन पाठ्यक्रम और परिषद् द्वारा विकसित गतिविधि-आधारित शिक्षण-सामग्री से हुआ और धीरे-धीरे यह विद्यालयी बच्चों में विज्ञान को लोकप्रिय बनाने का एक राष्ट्रीय आन्दोलन ही बन गया। इस राष्ट्रव्यापी आन्दोलन का आधार है राष्ट्रीय विज्ञान प्रदर्शनी जो प्रति वर्ष जवाहर लाल नेहरू के जन्म दिवस पर परिषद् द्वारा आयोजित की जाती है। राज्य स्तर पर भी इस प्रकार की प्रदर्शनियां लगती हैं, जिनका खर्च भी परिषद् ही उठाती है और जिनके संयोजन का उत्तरदायित्व भी यही निभाती है।

विज्ञान-शिक्षा को प्रोत्साहित करने तथा बच्चों में वैज्ञानिक अभिरुचि को बढ़ाने के प्रयत्नों को और घनीभूत किया गया है। इसके लिए विज्ञान क्लब स्थापित करने का आन्दोलन आरंभ किया गया तथा विज्ञान के क्षेत्र में प्रतिभा खोज की एक योजना लागू की गई। इस योजना के अन्तर्गत प्रतिभाशाली बच्चों को पीएच.डी. स्तर तक छात्रवृत्ति प्रदान की जाती है। इसके अतिरिक्त *संगणक-साक्षरता तथा विद्यालय-अध्ययन* जैसी परियोजनाओं द्वारा अध्यापकों तथा विद्यार्थियों का इस बहुमुखी उपकरण से परिचय होता है। संगणक (कंप्यूटर) उन्नत प्रौद्योगिकी का प्रतीक है, व्यक्तिगत पढ़ाई के लिए लाभकारी है, पढ़ाई की गति को बढ़ा सकता है तथा विभिन्न क्षेत्रों से सबंधित सूचनाएं सुलभ करता है।

राष्ट्रीय स्तर पर परिषद् द्वारा संयोजित एवं यूनिसेफ से वित्तीय सहायता प्राप्त, कतिपय अभिनव परियोजनाओं से राज्य/संघीय क्षेत्र स्तर पर पाठ्यक्रम-विकास-पद्धति तथा पठन-सामग्री-निर्माण में अपार संस्थागत सहायता सुलभ हुई है। इन परियोजनाओं के अन्तर्गत, हमारा यही प्रयास रहता है कि शिशु-शिक्षा तथा प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम-नवीनीकरण में ऐसे कौशल अपनाए जाएँ कि वह बच्चों के जीवन और पर्यावरण से जुड़ सकें। समाज-शिक्षा की नीति को बनाने तथा समग्र रूप में बच्चों को प्राथमिक शिक्षा सुलभ कराने में पोषण, स्वास्थ्य, पर्यावरण की स्वच्छता तथा काम की सुविधा, इन सभी को ध्यान में रखने की चेष्टा की जाती है। औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों ही क्षेत्रों में इन परियोजनाओं की व्यापक सराहना हुई है। पाठ्यक्रम-निर्माण, अध्यापक-शिक्षण और प्राथमिक शिक्षा में समाज की भागीदारी में इनका महत्वपूर्ण योगदान है।

पिछले कुछ वर्षों में शिक्षा के रोजगारीकरण और कार्योन्मुख शिक्षा की धारणा बलवती हो गई है, विशेषकर जबसे राज्यों और संघीय क्षेत्रों ने विद्यालयी शिक्षा की 10 + 2 प्रणाली अपनाई है। 1970 वाले दशक के उत्तरार्द्ध से ही राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् ने सारे देश के विद्यालय-अधिकारियों को इस बात के लिए तैयार करना शुरू किया कि माध्यमिक स्तर पर कार्यानुभव तथा उच्चतर माध्यमिक स्तर पर व्यवसायिक कोर्स शुरू किए जाएँ। कार्योन्मुख शिक्षा और + 2 की स्थिति में शिक्षा के रोजगारीकरण के विभिन्न पहलुओं को शिक्षा जगत के क्रियाशील तत्वों द्वारा समझने का सुपरिणाम यह हुआ कि एक सुनियोजित चरणबद्ध ढंग से इस कार्य के लिए पाठ्यक्रम विशेषज्ञों तथा व्यवसाय प्रशिक्षकों का एक वर्ग तैयार हो गया।

पाठ्यक्रम-निर्माण की गतिविधियों के व्यवसायीकरण से यह बात स्पष्ट उभर कर सामने आई कि पाठ्यक्रम-निर्माण तथा शिक्षण-सामग्री के निर्माण को अध्यापन-पद्धति एवं मूल्यांकन

प्रणाली से जोड़ने की जरूरत है। यही कारण है कि पिछले दो दशकों में नाना प्रकार की गतिविधियाँ परीक्षा-सुधार में लगी रहीं और उद्देश्य-निर्माण तक पहुँचीं। इस दिशा में परिषद् के कार्यक्रमों तथा परियोजनाओं ने देश में परीक्षा-पद्धति के सुधार-आन्दोलन को एक ठोस आकृति प्रदान की। फलस्वरूप परीक्षा-प्रणाली मे सुधार का अनुगमन केवल माध्यमिक शिक्षा मंडल व विद्यालय शिक्षा मंडलों तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु संघ लोक सेवा आयोग तथा सशस्त्र सेनाओं के शिक्षा विभागों आदि ने भी उसे अपनाया।

विद्यालयी पाठ्यक्रम के नवीनीकरण तथा परीक्षा प्रणाली में नव परिवर्तनों के साथ-साथ अध्यापकों के लिए सेवा-पूर्व तथा सेवाकालीन प्रशिक्षण के भी प्रयत्न किये गये हैं। अध्यापक-शिक्षा की राष्ट्रीय परिषद् की सिफारिशों के अनुसार सेवा-पूर्व अध्यापक-शिक्षा-पाठ्यक्रम संशोधित किया गया। अध्यापक-शिक्षा की राष्ट्रीय परिषद् को संगठनात्मक, अनुसंधानात्मक एवं विकासात्मक सहयोग रा.शै.अनु.प्र. परिषद् ही प्रदान करती है। सेवा-पूर्व शिक्षक-प्रशिक्षण कार्यक्रम मे हमारे क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालयों ने बहुत काम किया है। यहां माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए एक चारवर्षीय समेकित अध्यापक-शिक्षा कार्यक्रम चलता है तथा एक दोवर्षीय एम एससी., एड. कोर्स उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों के लिए भी है।

शिक्षकों की सेवाकालीन-शिक्षा के क्षेत्र मे अधिक महत्वपूर्ण कार्य हुए हैं। इस दिशा में राज्यों/संघीय क्षेत्रों में प्रसार सेवा केन्द्रों तथा अनवरत शिक्षा केन्द्रों की स्थापना उल्लेखनीय है। इसी प्रकार परिषद् द्वारा प्राथमिक शालाओं के विज्ञान-शिक्षकों के लिए आयोजित सेवाकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रम हैं, जिनमें बहु संचार मंजूषाओं (मल्टी-मीडिया पैकेज) के उपयोग तथा उपग्रह शैक्षिक टेलिविजन द्वारा उपलब्ध सुविधाओं ने सेवाकालीन प्रशिक्षण को नये आयाम प्रदान किए हैं। इसी वर्ष 1986 के अप्रैल से जुलाई की अवधि मे अध्यापकों के लिए एक राष्ट्रव्यापी सेवाकालीन प्रशिक्षण का आयोजन किया गया। इसके लिए राज्यों तथा संघीय क्षेत्रों का सक्रिय सहयोग प्राप्त किया गया था। इसमें टेलिविजन जैसे आधुनिक उपकरणों का उपयोग हुआ तथा तेरह भाषाओं में देशभर में कार्यक्रमों को प्रसारित किया गया। इन कार्यक्रमों का अवलोकन ढाई हजार संसाधन केन्द्रों में प्रशिक्षण पा रहे पाँच लाख अध्यापकों ने किया।

पिछले अनेक वर्षों के दौरान हुई एक अन्य महत्वपूर्ण प्रगति शैक्षिक प्रौद्योगिकी का सजग और सायास उपयोग है। इसका उपयोग शिक्षा में गुणात्मक सुधार लाने के निमित्त प्रशिक्षण, प्रोत्साहन, प्रेरणा एवं पढ़ाई के लिए किया जा रहा है। नवीन तकनीकी विधाओं के उदय तथा सूचना प्रणाली व संचार प्रणाली के नूतन ज्ञान ने पढ़ाई की नवीन प्रणालियों और विधाओं को उजागर किया है। राष्ट्रीय शै.अनु. और प्र. परिषद् के कार्यक्रमों में आरम्भ से ही नवीन उद्भावनामय कम लागत के शिक्षण-साधनों तथा श्रव्य दृश्य साधनों के निर्माण को स्थान मिला है। उपग्रह शैक्षिक टेलिविजन प्रयोग और राजस्थान में हिन्दी-शिक्षण की रेडियो परियोजना के तुरन्त बाद भारतीय उपग्रह 1-बी के अन्तरिक्ष में स्थापित होने के साथ ही शैक्षिक प्रौद्योगिकी के कार्य-जाल का विस्तार किया गया। इसके अन्तर्गत परिषद् ने केन्द्रीय प्रौद्योगिकी शिक्षा संस्थान तथा राज्य प्रौद्योगिकी शिक्षा संस्थानों की स्थापना की। आलेख तैयार करने के कार्यक्रम, आलेख लिखने वालों के प्रशिक्षण की व्यवस्था तथा संचार माध्यम के अन्य व्यक्तियों को प्रशिक्षण देकर केन्द्रीय प्रौद्योगिकी शिक्षा संस्थान ने दृश्य कार्यक्रमों को बनाने के लिए आवश्यक प्रशिक्षित व्यक्ति तैयार करने में सफलता पाई है। इस प्रकार विद्यालयी शिक्षा के लिए भारतीय उपग्रह 1-बी का उपयोग सफलता से हो रहा है।

गत वर्षों में शिक्षा की एक अन्य महत्वपूर्ण भूमिका को मान्यता मिली है। यह भूमिका है ऐसे समाज के निर्माण की जिसमें राष्ट्रीय एकता बनी रहे तथा प्रजातन्त्र, समाजवाद एवं धर्मनिरपेक्षता उसका आधार हों ताकि लोगों में राष्ट्रीय भावना विकसित हो, और हमारी एक राष्ट्रीय पहचान बन सके। इस दिशा में रा.शै.अनु. प्र. परिषद् ने राष्ट्रीय स्तर पर एक आन्दोलन चलाया जिसके अन्तर्गत विशेष परियोजनाएं सम्मिलित हैं। इनके अन्तर्गत राष्ट्रीय एकता एवं देश की समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर के लिए आत्मगौरव जगाया गया है तथा भावी पीढ़ी का ध्यान स्वाधीनता संग्राम की ओर दिलाया गया है। इस भावना को प्रोत्साहित करने के लिए पढ़ाई की सामग्री, अध्यापक दर्शिका, श्रव्य/दृश्य कैसेट, लिखित सामग्री आदि में इस भावना को सम्मिलित किया गया है। परिषद् ने 80 दृश्यबन्धों का एक एलबम तैयार किया है जिसमें देश के स्वाधीनता संग्राम की विभिन्न घटनाओं का समावेश है। यह एलबम 1985 में प्रकाशित हुआ। भावी पीढ़ी को भारत की आजादी की लड़ाई से पूर्णतया परिचित कराने के लिए यह महत्वपूर्ण एलबम शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं और अन्य संसाधन केन्द्रों को उपलब्ध कराया जा रहा है। विद्यालयी शिक्षा के सभी स्तरों में स्वाधीनता संग्राम को पाठ्यक्रम के अभिन्न अंग के रूप में पर्याप्त स्थान मिले, इसके लिए भी कार्यवाही की गई है।

राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहित करने के लिए एक और महत्वपूर्ण कार्य किया गया है। विद्यालयी पाठ्यपुस्तकों का इस दृष्टि से विश्लेषण और मूल्यांकन किया गया कि राष्ट्रीय एकता के बाधक तत्वों को उनसे हटाया जा सके। परिषद् ने राज्यों के शिक्षा विभागों के सहयोग से निर्मित निर्देशों को दृष्टि में रखकर एक हजार से भी अधिक भाषा और इतिहास की पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा की और उनमें से अनेक पाठ्यपुस्तकों को संशोधित किया। अब यह एक नियमित कार्यक्रम बन गया है जिसके अन्तर्गत भाषा, इतिहास, नागरिक शास्त्र, भूगोल तथा समाजशास्त्र विषयों की पुस्तकों को मूल्यांकन के लिए सम्मिलित किया गया है।

राष्ट्रीय एकता की अभिवृद्धि के लिए एक अन्य कार्यक्रम के अन्तर्गत परिषद् राज्यों की सहायता से शिविरों का आयोजन करती है। इन शिविरों में देश की 16 भाषाओं में लिखे गए देशप्रेम के गीतों को गाने के लिए अध्यापकों को समूहगान का प्रशिक्षण दिया जाता है। राष्ट्रीय एकता के इन गीतों की एक सुन्दर पुस्तक को प्रकाशित किया गया है जिसमें गीतों को उनकी मूल क्षेत्रीय लिपि के साथ-साथ देवनागरी और रोमन लिपि में भी अंकित किया गया है। प्रत्येक गीत की स्वरलिपि भी उसमें दी गई है। इन सभी प्रयत्नों के सामूहिक प्रयासों ने भारत के विद्यालयों में समूह गान का एक अभियान प्रारम्भ कर दिया है।

नीति निर्धारण, सुनियोजन एवं विद्यालयी शिक्षा के क्षेत्र में परियोजनाओं और कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में आवश्यक आँकड़ों अथवा आधार सामग्री का अत्यन्त महत्व है। पिछले दो दशकों में परिषद् ने राष्ट्रीय आधारभूत सूचना को संग्रहीत किया है। इस कार्य के लिए 1968, 1973 और 1978 में राज्यों तथा संघ क्षेत्रों के सहयोग से अखिल भारतीय शैक्षिक सर्वेक्षण किए गए। इन सर्वेक्षणों द्वारा विद्यालयी-शिक्षा के अन्तर्गत उपलब्ध सुविधाओं, स्कूलों में बच्चों की भर्ती तथा अन्य सम्बन्धित पक्षों से सम्बन्धित आँकड़ों और आधार सामग्री को उपलब्ध कराया गया है।

भारतीय विद्यालयी शिक्षा प्रणाली के विकास का अध्ययन करने के लिए इन आँकड़ों तथा आधार सामग्री का देश तथा विदेश में भरपूर उपयोग किया गया है। पंचवर्षीय योजनाओं के बनाने और उनके क्रियान्वयन की समीक्षा में यह आधार सामग्री उपयोगी सिद्ध हुई। परिषद् द्वारा ली गई अनुसंधान-परियोजनाओं के परिणामों और अखिल भारतीय शैक्षिक सर्वेक्षण द्वारा प्राप्त

आधार सामग्री द्वारा विद्यालयों में भौतिक सुविधाएँ जुटाने, गुणात्मक पाठ्यसामग्री बनाने तथा अध्यापन व मूल्यांकन पद्धतियों में सुधार लाने और संस्थाओं, शिक्षकों तथा शिक्षार्थियों की उपलब्धियों को जाँचने की प्रणाली विकसित करने में सहायता मिली हैं। पाँचवाँ शैक्षिक सर्वेक्षण भी अभी-अभी सम्पन्न हुआ है और आशा है कि इसकी आधार सामग्री आठवीं योजना तैयार करने में सहायक होगी।

परिषद् की रजत जयंती देश के शैक्षिक विकास के अत्यन्त महत्वपूर्ण समय पर मनाई जा रही है। भारत सरकार ने नई शिक्षा नीति अपनाई है और फलस्वरूप आज शिक्षा का महत्व बढ़ गया है। यह अनुभव किया जा रहा है कि राष्ट्र का भविष्य मानव संसाधनों के विकास पर आश्रित है। आज शिक्षा को शिक्षक और शिक्षार्थी इन दो ध्रुवों के बीच की प्रक्रिया के रूप में न आँक कर, इसे शिक्षार्थी-केन्द्रित प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया जा रहा है। शिक्षार्थी अब ज्ञान का निष्क्रिय गृहीता मात्र न रहकर अध्ययन-अध्यापन की प्रक्रिया का सक्रिय भागीदार बन गया है। अध्ययन-अध्यापन की समस्त परिपाटियों का पुनर्विन्यास किया जा रहा है जिससे शिक्षार्जन की एक पारस्परिक प्रक्रिया का विकास हो पाएगा। इस सन्दर्भ में अध्यापक से एक गतिशील भूमिका निभाने की अपेक्षा की गई है। वह ज्ञान-वितरण का पुर्जा मात्र न रहकर शिक्षण का प्रबन्धक बनेगा, सीखने के अनुभवों का अभिकल्पक होगा, और शिक्षार्जन की प्रक्रिया में सहायक होगा। प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के लिए, राज्यों के सहयोग से, परिषद् ने जो राष्ट्रीय पाठ्यक्रम (1985) तैयार किया है वह अपने आप में एक युगान्तरकारी घटना है क्योंकि इससे पाठ्यक्रमीय आदान-प्रदान और शिक्षण सामग्री के निर्माण के लिए बनी रणनीति के प्रभावी कार्यान्वयन के लिए नई प्रविधि का विकास किया जा सकेगा।

1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में शिक्षा की राष्ट्रीय पद्धति पर विचार किया गया है जिसमें सामान्य शैक्षिक रूपरेखा, एक राष्ट्रीय पाठ्यक्रम की संरचना, सभी को समान अवसरों की न केवल सुलभता अपितु शिक्षा के विभिन्न चरणों में सीखने का एक न्यूनतम स्तर तथा सफलता की स्थिति को भी समाहित किया गया है। शिक्षा की नवीन राष्ट्रीय नीति में शिक्षा प्रणाली के कायाकल्प की जो कल्पना की गई है, उसके लिए विद्यालयी शिक्षा की गुणवत्ता की अभिवृद्धि तथा जीवन के लिए शिक्षा की प्रासंगिकता के निमित्त सतत प्रयत्न आवश्यक हैं। इस संदर्भ में सभी स्तरों पर गत वर्षों में शिक्षा के क्षेत्र में उभरी समस्याओं से भिड़ने की क्षमता को विकसित करना ही पड़ेगा। प्राथमिक शिक्षा का सार्वजनीकरण, औपचारिक स्कूलों के विकल्प के रूप में अनौपचारिक तथा मुक्त-प्रणाली का विकास, पाठ्यक्रम का नवीनीकरण एवं पढ़ाने के नये ढंग अपनाकर उसमें गुणात्मक सुधार लाना, मूल्यांकन तथा परीक्षा पद्धतियों में सुधार आदि प्रमुख महत्वपूर्ण विषय हैं जिनका शिक्षा के विकास पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। आगामी वर्षों में हमें इन पर विशेष ध्यान देना पड़ेगा।

शिक्षा के क्षेत्र में विख्यात भारतीय विद्वानों द्वारा लिखे गये जो पचीस लेख इस संग्रह में हैं, उनमें भारतीय विद्यालयी शिक्षा से सम्बन्धित महत्वपूर्ण मुद्दों पर विचार किया गया है। निबन्धों का क्रम एक आन्तरिक विषय-क्रम का अनुसरण करता है, जो शिक्षा की अवधारणा और आयामों से आरम्भ होता है। इसके बाद नीति-निर्धारण, शिक्षा के समान अवसरों की सुलभता, विद्यालयी शिक्षा की विषय-वस्तु तथा प्रक्रिया, अध्यापक-शिक्षा एवं भावी परिदृश्य को रखा गया है। लेखकों की वरिष्ठता के आधार पर निबन्धों का क्रम नहीं बनाया गया है, न ही इस क्रम में किसी प्रकार की प्राथमिकताओं को ही स्थान मिला है। ये लेख शिक्षा, विशेषकर विद्यालयी शिक्षा की वर्तमान दशा की झलकियाँ प्रस्तुत करते हैं, और भावी आवश्यकताओं की ओर ध्यान दिलाती

है। लेख नवीन भावों व विचारों तथा मोहक परिणामों और कल्पनाओं को व्यक्त करते हैं। लेखों मे व्यक्त विचार सर्वथा लेखकों के है न कि परिषद् अथवा भारत सरकार के। अधिकांश लेख 1986 की राष्ट्रीय नीति को अपनाने से पहले लिखे गये है, फिर भी आप इन दोनों मे पर्याप्त एकरूपता पायेंगे। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह संग्रह देश के अनुसंधानकर्ताओं तथा अध्यापकों और विदेश मे उन सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होगा जिनकी भारत की विद्यालयी शिक्षा में रुचि है।

हिन्दी और अंग्रेजी में प्रकाशित इस स्मारक ग्रंथ के साथ ही एक सचित्र पुस्तक भी प्रकाशित की जा रही है जिसमें परिषद् के विभिन्न कार्यों को चित्रों एवं आलेखों के साथ प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ एक अन्य ग्रंथ भी प्रकाशित किया जायेगा, जिसमें मूल रूप से हिन्दी में लिखे गए लेख होंगे। इन्हे परिषद् के रजत जयंती वर्ष में संकलित किया जा रहा है। इसी अवधि में अनेक अन्य प्रकाशनों की भी योजना है। मैं आशा करता हूं कि यह प्रकाशन शृंखला भारतीय शिक्षा पद्धति के नवीनीकरण मे सहयोग देगी और इक्कीसवीं शताब्दी के लिए संगठित और उत्साहमयी राष्ट्र-निर्माण की चुनौती को स्वीकार करने में सहायक होगी।

इस संग्रह के लिए जिन विख्यात शिक्षाविदों ने कृपापूर्वक लेख दिये हैं, मैं हृदय से उनका आभारी हूं। रजत जयंती प्रकाशन की उपसमिति के सदस्यों के प्रति भी मै आभार व्यक्त करता हू जिनके सक्रिय सहयोग से यह प्रकाशन निकला है। रजत जयंती प्रकाशन की उपसमिति के अध्यक्ष प्रो. भा.स. पारख तथा संयोजक प्रो. चौधरी हेमकान्त मिश्र का मैं विशेष आभारी हूँ। परिषद् के प्रकाशन विभाग के सदस्यों विशेषकर सर्वश्री सी.एन. राव, प्रभाकर द्विवेदी, सुरेशचंद्र, राजपाल, श्रीमती शशि चड्ढा एवं श्री रामनिवास के अमूल्य योगदान से ही यह प्रकाशन संभव हुआ है। उनका भी मै आभारी हूं।

पी.एल. मल्होत्रा
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली
अगस्त, 1986

अनुक्रम

वेणी शंकर झा

शिक्षा : यह क्या है और इसे कैसा होना चाहिए



वेणी शंकर झा

वेणी शंकर झा (जन्म [illegible]) ने लन्दन विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। इन्होंने अनेक महत्वपूर्ण प्रशासकीय पदों पर काम किया, जिनमें प्रमुख हैं: सचिव, मध्य प्रदेश सरकार; उपकुलपति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय; निदेशक, राष्ट्रमंडल शिक्षा संपर्क एकक, लंदन; सचिव, राष्ट्रमंडल शिक्षा संपर्क समिति, लंदन; सदस्य, भारतीय शिक्षा आयोग; सदस्य, श्रीलंका में उच्चतर शिक्षा का शाही आयोग; सदस्य, संगीत नाटक अकादमी शासी निकाय; अध्यक्ष, प्रबंध समिति, कथक केन्द्र, दिल्ली। इन्हें पद्मभूषण से सम्मानित किया जा चुका है। प्रमुख शैक्षिक पत्र-पत्रिकाओं में इनकी रचनाएं प्रकाशित होती रहती हैं।

शिक्षा: यह क्या है और इसे कैसा होना चाहिए

शिक्षा और जीवन अन्तर्परिवर्तनीय शब्द हैं। जीवन ही शिक्षा है। ऐसी कोई शिक्षा नहीं है जो प्राणहीन हो। शिक्षा जन्म के साथ शुरू होती है और जीवन के अंत तक चलती रहती है, पालने से लेकर कब्र तक। कुछ लोग कहते हैं कि यह जन्म के पहले ही शुरू हो जाती है और जीवन के उपरांत भी चलती रहती है, लेकिन यह हमारी इस धारणा पर निर्भर है कि जीवन है क्या? जब तक जीवन है, तब तक शिक्षा में विराम नहीं है।

शिक्षा की प्रक्रिया में उसकी मूल प्रकृति भी आदि से अंत तक लगातार एक जैसी बनी रहती है, यद्यपि जब व्यक्ति प्रौढ़ हो जाता है और ऊँचे से ऊँचे मप्रत्ययात्मक स्तर पर काम मे लगाया जाता है और उसे नयी और जटिल समस्याओं का सामना करना होता है तो उसे शिक्षा की अत्यन्त परिष्कृत तकनीक का सहारा लेना पड़ता है। प्राथमिक, माध्यमिक, विश्वविद्यालयी और शेष स्तरों के अनुसार शिक्षा के परम्परागत विभाजन सुविधा के लिए बनाए गए हैं और इनसे शिक्षा के किसी एक पक्ष पर बल देना परिलक्षित होता है।

प्राथमिक शिक्षा में सीखने के तरीके पर ध्यान दिया जाता है, जिसमें सीखने की कुशलता प्राप्त करना, शारीरिक आदतों का परिष्कार, ज्ञान प्राप्त करने के लिए आवश्यक मन:स्थिति, उचित निर्णय शक्ति और अपने कार्य-निष्पादन का कौशल सिखाया जाता है। बाद में चल कर अमूर्त धारणाओं और अन्य सूक्ष्म बौद्धिक प्रक्रियाओं के बीच संबंधों को समझने पर जोर दिया जाता है। लेकिन शिक्षा तो जीवन भर चलती रहती है। यह स्कूल मे और उसके बाहर, जागते हुए और नींद में भी जारी रहती है।

शिक्षा, एक प्रकार से संगीत है जिसमे दो स्पष्ट स्वर बजते रहते है और जब वे विभिन्न तालों मे राग बदलते हैं तो यह मालूम होता है कि मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों—शारीरिक और मानसिक, बौद्धिक और काल्पनिक, सृजन और अंतर्बोध की शक्तियों का विकास हो रहा है। शिक्षा का आरंभ आश्चर्य के साथ होता है। जब मानव मस्तिष्क कोई अपरिचित दृश्य देखता है तो उसका मन रहस्य से रोमांचित हो जाता है। जिज्ञासा की सहज भावना से उसका मन अज्ञात का रहस्योद्घाटन करने के लिए प्राय: रोमांचित हो उठता है। प्रत्येक मनुष्य में एक छोटा कवि विद्यमान होता है, जो शेक्सपीयर के पागल, प्रेमी और कवि की तरह अपने आसपास की अद्भुत सृष्टि को समझने के लिए उसे *सूक्ष्म आतुर भाव* से देखता है। ऐसा कौन व्यक्ति है, जो रात के अंधेरे मे आकाश के बीच तारों को जगमगाते हुए देखता है और उसका हृदय नहीं उछलता? या जब वह अनन्त नीले महासागर की लहरों को देखता है अथवा उगते सूर्य के स्वागत में फ़ल की

कली को तुषार बिन्दुओं से आच्छादित पत्तों के साथ खुलते देखकर आनन्दित नहीं होता? जैसा कि वर्ड्सवर्थ ने कहा है, मनुष्य का मन केवल *देखने और पाने* तक सीमित नहीं रहता। यह घुमड़ते हुए बादलों में हवाई किलों से भी अधिक देखता है, कुष्मांड पर सवार भव्य राजकुमार का रथ आठ घोड़े खींच रहे हैं। जब वह दुख और मृत्यु को देखता है तो उसे संत्रास का अनुभव होता है और उस समय भी यही भाव उठता है कि ऐसा क्यों है? उसके भीतर जिज्ञासा जगती है, और वह अपनी शक्ति में उनका उत्तर पाने की चेष्टा करता है। उसे सोचने, कल्पना करने, समझने और दिव्य दृश्य देखने की स्वतंत्रता में आनन्द मिलता है। यदि वह प्रयास करता है तो अपने आसपास बाहर से असम्बद्ध दिखाई देने वाला संसार परस्पर सम्बद्ध दिखाई देने लगता है। यदि उसमें संकल्पशक्ति है तो वह शाश्वत मूल्यों वाली वस्तुओं का सृजन भी कर सकता है।

शिक्षा के संगीत में दूसरा स्वर अपेक्षाकृत कठोर है, इसमें अनुशासन और आन्तरिक आत्मनियंत्रण अपेक्षित है। वस्तुओं का ज्ञान उनके यथार्थ रूप में होना चाहिए न कि अपने मन के अनुसार। वह सावधानीपूर्वक जिज्ञासु आँखों से देखता है और अर्थ की खोज करता है और उसके आसपास जो कुछ घटित हो रहा है उसकी व्याख्या करने के लिए उसे समझना चाहता है। वह अपने आसपास की वस्तुओं के साथ खेलता है और अपनी पसंद के अनुसार उस दृश्य को अपने मन में सँजोता है और फिर उसके रहस्य का उद्घाटन करने के लिए कौशल का उपयोग करता है। वह समझता है कि उक्त सभी ज्ञान अस्थायी हैं लेकिन उसकी स्वाभाविक छटपटाहट और असंतोष उसके लिए कोई विकल्प नहीं छोड़ते और वह जिज्ञासा पर जिज्ञासा करता जाता है। वह आखेट के बजाय आखेट के लिए दौड़ने में आनंद का अनुभव करता है। उसकी खोज में जितनी अधिक कठिनाई होती है उतना ही अधिक आनन्द उसे मिलता है। कवि फ्रास्ट ने इसे *कठिनाई का आकर्षण* कहा है। आत्मानुशासन, आत्म-जिज्ञासा और आत्मनिष्ठा की भावना उसके विवेकपूर्ण चिंतन, निर्णय और जीवन की परख में निहित होती है।

शिक्षा के क्षेत्र में कल्पना की स्वतंत्रता और आत्मनियंत्रण, असहमति और अनुशासन बदल-बदल कर नए-नए रूपों में दिखाई देते हैं। ये तत्व ही शिक्षा प्रणाली के सारतत्व हैं जिसे असहमति के प्रबंध की कला कह सकते हैं। यदि असहमति अंधी है , तो उसकी ज्योति बुझ जाती है, लेकिन यदि अनुशासन के नियंत्रण में रखी जाती है तो ज्ञान और क्रिया के नए क्षेत्रों को उजागर करती है। रोमांटिक भावना और अनुशासन की कठोरता दोनों को उचित संतुलन में जीवित रखा जाना चाहिए ताकि वे एक दूसरे को नष्ट न कर दें। वर्ड्सवर्थ को यह शिकायत थी कि हम *शव परीक्षा के लिए हत्या* करते हैं। शिक्षा में यह आवश्यक है कि आश्चर्य की भावना को अनुप्राणित कर जीवित रखें और रहस्य का उल्लास बनाए रखें जिनके बिना जीवन और शिक्षा दोनों नीरस बन जाते हैं और साथ ही सत्य की खोज में अपनी अन्तरात्मा को सुदृढ़ अनुशासन में नियंत्रित भी रखें।

शिक्षा विद्यार्थी की, व्यक्ति की शिक्षा है। यह स्वतः इतना स्पष्ट सत्य है कि शिक्षा प्रणाली में इसके फलितार्थों पर ध्यान नहीं जाता। शिक्षा प्रणाली में पाठ्यक्रम को, विभिन्न विषयों में विषयवस्तु को, अध्यापक को, स्कूल और उसकी व्यवस्था को, पाठ्यपुस्तकों, परीक्षाओं और अन्य बातों को ही अधिक महत्व दिया जाता है। शिक्षा के संगठन में ये महत्वपूर्ण उपादान हैं किन्तु यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि व्यक्तिगत रूप से विद्यार्थी ही शिक्षा का केन्द्र बिन्दु है, शिक्षा उसी के लिए है। फ्रास्ट का विचार था कि केवल स्वतंत्रचेता ही इस धारणा पर विचार और कार्य कर सकता है कि सारी शिक्षा व्यक्ति के लिए है। जो लोग पाठ्यक्रम तैयार कर उसे निर्धारित करते हैं वे हमें यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि वे ही शिक्षा के कर्णधार हैं और यह

निश्चित करते हैं कि शिक्षा और उसकी गुणवत्ता क्या है। वे शिक्षा के पाठ्यक्रमों को आधुनिक बनाने के फेर में किसी विषय में नवीन विचारों को तो जोड़ देते हैं लेकिन पुरानी बेकार चीजों को उसमें से निकालते नहीं। वे विषय-केन्द्रित होते हैं और विद्यार्थी के हितों और क्षमताओं से बेखबर रहते हैं। शिक्षा के कार्यक्रमों का मूल्य अवश्य है लेकिन इससे महत्वपूर्ण यह है कि विद्यार्थी कैसे सीखता है और अपनी मानसिक शक्तियों पर किस तरह जोर देता है, उसे कैसे समझता है और किस प्रकार निर्णय लेता है। अध्यापक अपनी जगह एक महत्वपूर्ण तत्व है और उसके इस दावे को चुनौती नहीं दी जा सकती कि वह विद्यार्थी की शिक्षा का अधिकांश दायित्व सँभालता है। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति की शिक्षा-प्रक्रिया औपचारिक शिक्षक के आने के पहले ही शुरू हो जाती है। बाहर की दुनिया, घर, माता-पिता, सड़कें, सिनेमाघर, टी. वी. तथा अन्य जो कुछ भी वह देखता सुनता है, सभी उसे शिक्षा देते हैं और प्रायः *खराब शिक्षा* देते हैं। अध्यापक का काम यह सुनिश्चित करना होता है कि विद्यार्थी जो कुछ सीखता है वह उसके लिए अच्छा और उपयोगी है और वह अपनी मानसिक शक्तियों का प्रयोग कुशलता और दक्षतापूर्वक सीखने में लगा रहा है। अध्यापक अपनी शिक्षण कला के कौशल द्वारा विद्यार्थी का मार्ग-दर्शन करता है। और इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि अध्यापक का व्यक्तिगत जीवन, उसका रहन-सहन, सोचने-विचारने और काम करने का तरीका कैसा है जिसका उदाहरण वह स्वयं प्रस्तुत करता है। वह विद्यार्थी की स्वाभाविक शक्ति और क्षमता, उसकी शारीरिक और मानसिक शक्ति, कल्पना और अंतर्बोध, सूझबूझ और सृजनशक्ति के उपयोग के लिए प्रेरणा प्रदान करता है।

वह अपने विद्यार्थी को आत्म परिष्कार और निकट संपर्क में आने वाले लोगों की भलाई के लिए अपनी शक्ति को सही ढंग से और बुद्धिमानी से इस्तेमाल करने के लिए प्रशिक्षण देता है। फिर भी प्रत्येक विद्यार्थी की वास्तविक शिक्षा वह होती है जिसे वह स्वयं अपने प्रयास से प्राप्त करता है।

किसी व्यक्ति के विकास में बचपन से किशोरावस्था और तरुण होने तक तीन अंतःप्रेरणाएँ या प्रवृत्तियाँ काम करती हैं। वे उसकी शिक्षा के लिए विशिष्ट महत्व रखती हैं। पहली प्रवृत्ति स्वतंत्रता की होती है। स्वतंत्र होने की सतत पहल अन्तःमन में पनपती है जो पूर्णता और सामंजस्य प्राप्त करना चाहती है। उसमें महत्वाकांक्षा और सृजन के भाव होते हैं और एक शब्द में आत्मज्ञान की उत्कंठा रहती है। अण्डा फूटने के बाद एक छोटा सा पक्षी अपने पंखों की परीक्षा करने लगता है। बाद में वह उड़ता है और फिर मँडराता है मुक्त भाव से, फिर वह अपना नीड़ बनाता है। इसी तरह लेकिन बहुत धीरे-धीरे मानव शिशु अपने को माँ की गोद से मुक्त करना चाहता है और कुछ समय बाद उससे अलग हो जाता है। वह अलग से अपना आर्थिक और सामाजिक अस्तित्व बनाता है। लेकिन शीघ्र ही यह समझ जाता है कि वह जितने बंधन देख रहा है, उनसे कहीं अधिक बंधन हैं जो उसे निर्बाध रूप से न्यूनाधिक जकड़े रहते हैं। उदाहरण के लिए बाहरी दुनिया का ज्ञान इंद्रियों के माध्यम से होता है जिनकी जड़े शरीर में होती हैं और ये न केवल बंधन में जकड़ती हैं बल्कि अंधा भी बना देती हैं। वह जो कुछ देखता है उसकी वास्तविकता पर विश्वास नहीं करता। बाद में वह ऐसे कारण देखता है कि शब्दों पर संदेह करने लगता है, जबकि ज्ञान के लिए शब्द बहूमूल्य साधन हैं। लुडविग विटजेनस्टीन की इस उक्ति में काफी सत्य है कि शब्द धोखा देते हैं और भाषा द्वारा बुद्धि के जादू से बचने के लिए सावधान रहने की आवश्यकता है। यदि वह संवेदनशील मनुष्य है तो यह अनुभव करने लगता है कि वह कारागार में बंद है और प्रत्येक परिस्थिति उसके चारों ओर जंजीर फेंकती है और ज्ञान पर पर्दा डालती है। फिर भी मनुष्य की आत्मा मुक्ति के लिए लगातार संघर्ष में हार नहीं मानती और

इन्द्रियों, तर्क और भाषा के क्षेत्र से आगे इन्द्रियातीत ज्ञान का अनुभव करने का प्रयास करती है। मनुष्य की इस खोज का वर्णन तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुपम शब्दों में बहुत सुंदर ढंग से बताया गया है :—

यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

(वह संसार) जिससे वाणी मन के साथ उसमें प्रवेश न कर वापस लौट जाती है—अपूर्णावस्था में ही।

मनुष्य की आत्मा असीम के क्षणों का अनुभव करने के लिए उसकी सीमाओं को पार करने का प्रयास करती है। यह भावना शिक्षा की पुरानी धारणा में विद्यमान है—साविद्या या विमुक्तये—*शिक्षा वही है जो मुक्त करती है।* यही भावना एक उर्दू कवि के शब्दों में इस प्रकार कही गयी है :—

हदे हस्ती बहुत कुछ नेस्ती तक खेंच लाया हूं।
मिला दूंगा किसी दिन देखना मंजिल को मंजिल से।।

कवि का दावा है कि अपनी कल्पना की उड़ान में उसने अस्तित्व की सीमाओं को इतना फैला दिया है कि वे अनस्तित्व के अत्यंत निकट पहुँच गयी हैं। मुमकिन है कि वह किसी दिन उन सीमाओं को समाप्त कर दे जो अस्तित्व और अनस्तित्व को पृथक करती हैं।

दूसरी प्रवृत्ति पहली से बहुत जुड़ी हुई है। विकासशील किशोर अपने शरीर के अंदर और मन में कुछ अस्पष्ट और गहरी उत्तेजना का अनुभव करता है जो किसी साथी की खोज की दिशा में शुरूआत है। यह प्रवृत्ति उसके लिए कल्पना का व्यापक क्षेत्र खोल देती है और अपने को जानने के लिए अपने से बाहर जाने के लिए प्रेरित करती है। इस प्रवृत्ति को सुव्यवस्थित करने को हमारे देश के ऋषियों ने ब्रह्मचर्य बतलाया है, जो व्यक्ति को सदाचार और विशिष्टता प्रदान करता है और उसके सामाजिक जीवन के मूल्यों का निर्धारण करता है। फ्रायड के अनुसार मानव सभ्यता इसी प्रवृत्ति के स्थायी उदात्तीकरण पर निर्भर है। प्रोफेसर हर्बर्ट मारक्यूज ने कहा था—*काम शक्ति का विधिवत् त्याग और सामाजिक रूप से उपयोगी कार्यों में उसे ठीक ढंग से लगाना ही संस्कृति है।* बिना सांस्कृतिक अनुभव के हम किसी को मानव नहीं कह सकते। कुछ भाग्यशाली व्यक्ति आत्मानुशासन के माध्यम से भावातीत स्थिति में जाकर इस प्रकार के प्रेम का अनुभव कर चुके हैं और ऐसी स्थिति का वर्णन रहस्यवादी कवि कबीर ने अपनी अमर पदावली में इस प्रकार किया है :—

जब मैं था तब हरि नहीं
अब हरि हैं मैं नाहिं।
प्रेम गली अति सांकरी
ता में दो न समाहिं।।

जहाँ मैं था (प्रेम की गली में) वहाँ ईश्वर नहीं था। अब ईश्वर हैं मैं नहीं हूँ। प्रेम की गली बहुत संकरी है और उसमें दो—मैं और तू नहीं समा सकते। इस गली में एक साथ जाने

के लिए मुझे अपना अहं और तुझे अपना अहं छोड़ना होगा। मैं और तू का परस्पर विलय करके एकाकार होना होगा।

महाकवि तुलसीदास ने अपने ईश्वर ज्ञान का अनुभव बतलाते हुए कहा है कि ज्ञान सीमित है और ईश्वर अनन्त और असीम है। ससीम किस प्रकार असीम को आत्मसात कर सकता है। तुलसीदास कहते हैं :—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।
जानति तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई।।

सारा ज्ञान तुम से मिलता है। तुम्हे जान कर मैं तुम हो जाता हूँ। तुलसी के अन्तःकरण की अनुभूति और दिव्यशक्ति उन्हे पार्थिव शरीर की सीमाओं को पार कर भावातीत स्थिति में पहुँचा देती है। जर्मन कवि शिलर ने क्रीड़ा भाव को मुक्तिदाता के रूप मे देखा था जो समय को समय में लीन कर देता है। सौंदर्य बोध की स्थिति मुक्तावस्था है, जो भावातीत स्थिति में ला देती है।

विकासशील मनुष्य में तीसरी मूल प्रवृत्ति अपने जीवन के दर्शन का निरूपण है अर्थात् स्वयं को समझना और जिस परिवेश में उसे रहना है उसे समझना और अपनी अभिवृत्ति के निर्माण के लिए सक्रिय प्रयास करना जिससे मूल्यों के प्रति उसके विचार और निर्णय का पता लगता है। उसे यह सीखना चाहिए कि किस प्रकार खंड का संबंध संपूर्ण से होता है और इस दृष्टि से किसी का मूल्यांकन करना और यह समझना कि सम्पूर्ण से उसका क्या संबंध है। उसमें यह अंतर्दृष्टि भी होनी चाहिए जैसा कि कवि ब्लेक ने कहा है : *एक सिकता कण में संसार को देखना और एक वन-पुष्प में स्वर्ग की कल्पना करना और अपने हाथ की हथेली मे अनन्त संसार को देखना और एक घंटे में शाश्वत का अनुभव करना।*

इसी स्वर में इमर्सन ने कहा था *वह शाश्वत को एक घंटे में समेट देता है और एक घंटे को शाश्वत तक फैला देता है।* हीसेनबर्ग के लिए यह वैज्ञानिक, दार्शनिक और इतर ज्ञान के बाहरी और भीतरी रूप में पृथकता के साथ उनके संबंध के सिद्धांत की खोज थी और ऐसा उनके परस्पर निर्भर होने की बात स्वीकार करने से हो सकती थी। ज्ञान को उचित और पवित्र बनाने में यह संबंध समुचित प्रकाश देता है। वह इस धारणा को विज्ञान से उत्पन्न संकट का परिणाम समझता था अर्थात् भीषण प्रवाह के बीच एक नई जागृति यानी परिवर्तन को देखते हुए उसके बीच बने रहना। नील बोर ने इस विचार को बहुत सुंदर शब्दों में व्यक्त किया है : *हम संसार के रंग मंच पर अभिनेता और दर्शक दोनों हैं।* शिक्षा का काम विद्यार्थी को उस जीवन-दर्शन के निर्माण में सहायता देना है जिसके अनुसार उसे जीना है। उसे अपनी भवितव्यता के लिए अंतर्दृष्टि की आवश्यकता है और जीवन में जो कुछ करना है उसके बारे में स्पष्ट विचार भी रखना है। मनुष्य की जैसी आकांक्षा होती है उसी के अनुसार उसका व्यक्तित्व बनता है। वह जिन चीजों को पसंद करता है या जैसा सोचता है या जैसी छवि के साथ तादात्म्य स्थापित करता है, वैसा ही बनता है। यह समझना भी आवश्यक है कि जीवन-दर्शन बहुत विकृत भी हो सकता है। इससे भी अधिक यह देखना आवश्यक है कि विद्यार्थी अपने प्रयास से अपने जीवन-दर्शन का विकास करे, जो कठिन ही नहीं, कठिनतम है यद्यपि आधुनिक जीवन में ऐसी शक्तियाँ भी हैं जो उसके लिए यह काम कर दें। संसार में दार्शनिक शून्यता नहीं रह सकती। फैशन परस्त राजनीतिक सिद्धांत, समाचार पत्र, दूरदर्शन, रेडियो और वाणिज्यिक विज्ञापन उसके आकर्षण के केन्द्र बने

रहेंगे, जिनसे उसकी अभिवृत्तियों का निर्माण होगा और उसके निर्णय निर्धारित होंगे।

इस सबंध में प्रो० मार्क्यूज़ के विचार उल्लेखनीय हैं :—

> प्रभुत्व के तरीके बदल गए हैं, वे उत्तरोत्तर तकनीकी और उत्पादक बन गए हैं, और लाभप्रद भी हैं, इसलिए, औद्योगिक समाज के अत्यंत विकसित क्षेत्रों में लोगों ने प्रभुत्व की प्रणाली से अभूतपूर्व मात्रा में सहयोग और समझौता कर लिया है।

प्रो० मार्क्यूज़ द्वारा वर्णित आधुनिक जीवन की उक्त परिस्थितियों में भी निराश होने की गुंजाइश नहीं है, यदि शिक्षा अपने सही अर्थों में अपना दायित्व पूरा करे अर्थात् विद्यार्थी को अपने जीवन-दर्शन के अनुसार चयन करने की स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व की बोध भावना जाग्रत करने में समर्थ हो। लेकिन यह जीवन का कठोर मार्ग है, पर श्रेयस्कर भी। इसमें नए अनुभवों के प्रकाश में उसके विश्वासों और विचारों की अनवरत परीक्षा और पुनः परीक्षा करना अपेक्षित है और उसे सतत देदीप्यमान और प्रज्वलित रखने के लिए उसकी जाँच पड़ताल जारी रहनी चाहिए।

किसी व्यक्ति का जीवन-दर्शन और मूल्य संबंधी धारणा उसकी जीवन पद्धति से परिलक्षित होती है—वह जिस प्रकार सोचता, बोलता, चलता या काम करता है या छोटे-मोटे कामों में जैसा व्यवहार करता है। जो व्यक्ति अधिक अनुशासित हैं वे अपने विचारों और मूल्यों के अनुसार अपना जीवन ढाल लेते हैं और इस प्रकार विवेकपूर्वक और अपने कौशल से जीवन की निजी शैली बना लेते हैं जो व्हाइटहीड के अनुसार *मानव-मन की उच्चतम नैतिकता है और मनुष्य का सर्वोत्कृष्ट मानसिक गुण है।* उनके अनुसार शैली किसी पहले से देखी गई सादी और निर्दोष वस्तु की प्रत्यक्ष उपलब्धि की सराहना पर आधारित सौंदर्य भावना है। किसी भी शारीरिक और मानसिक कार्य को जब कम से कम प्रयास से सुन्दर ढंग से पूरा किया जाता है तो उसमें सुंदरता आ जाती है। शैली ही मनुष्य है। गीता कहती है—*यो यच्छ्रद्धः स एव सः।* व्यक्ति की जैसी श्रद्धा होती है वैसा ही वह होता है। श्रद्धा शब्द को और किसी तरह व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसका अर्थ है मूल्यों और आस्थाओं के प्रति मनुष्य की प्रतिबद्धता, जिसके साथ उसका तादात्मीकरण होता है।

इस संदर्भ में थोड़े प्रकारांतर से गीता में उठाये गये प्रश्न का उल्लेख प्रासंगिक होगा जिसमें आदर्श शिष्य अर्जुन ने आदर्श गुरु श्रीकृष्ण से स्थितप्रज्ञ के गुणों और समाधि के लक्षणों के बारे में पूछा था कि अपने ऊपर पूर्ण नियंत्रण रखने वाला बुद्धिमान व्यक्ति कैसा आचरण करता है :—

> स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
> स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत् व्रजेत किम्।।

बुद्धिमान व्यक्ति कैसी भाषा बोलता है, उसके बोलने का ढंग क्या है? वह कैसे बैठता है या कैसे चलता है?

यह जिज्ञासा किसी व्यक्ति की कार्यपद्धति की शैली से संबंधित है जिसने पूर्णता प्राप्त कर ली है और जिसके कार्य उसके मन के गुणों को प्रकट कर देते हैं।

इस संबंध में मैं एक दोहे का उद्धरण देने के लोभ का संवरण नहीं कर सकता जो मुझे महत्वपूर्ण लगता है :—

मुख, श्रवण, दृक, नासिका सब ही के एक ठौर।
हँसिबो, सुनिबो, बोलिबो चतुरन को कछु और।

प्रत्येक मनुष्य के चेहरे पर, मुँह, कान, आँख और नाक अपने स्थान पर स्थित हैं लेकिन बुद्धिमान व्यक्ति के हँसने, सुनने, बोलने का ढंग अन्य लोगों से अलग प्रकार का होता है।

चतुर व्यक्ति की पहचान उसकी शैली से होती है। वह शिक्षा बेकार है जो व्यक्ति को सभी कठिन कलाओं में भी सबसे कठिन कला *जीवन की कला* नहीं सिखाती। यह स्वयं संकल्प की कला है जिसे उच्च विचार, मानवीय मूल्य, परिष्कृत रुचि से प्रेरणा और मार्गदर्शन मिलता है।

अब, हमें यह देखना है कि शिक्षा प्राप्त करने के बाद कोई व्यक्ति अपने साथ घर पर क्या ले जाता है? उसकी थाती क्या है जो जीवन में उसके साथ बनी रहती है? निश्चय रूप से यह तथ्यों और विभिन्न विषयों के अध्ययन में प्राप्त ज्ञान नहीं है। ज्ञान लगातार बढ़ता रहता है और जो कुछ कोई भौतिकी, रसायन, प्राणिशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान में आज सीखता है वह समय बीतने पर पुराना पड़ जाता है। फ्रेंच निबंध लेखक मानटेन ने इसे बहुत अच्छे ढंग से कहा है कि *मैं अपने मस्तिष्क में ज्ञान भरने की अपेक्षा उसे सँवारना पसंद करता हूँ।* मैंने पहले ही कहा है कि मनुष्य को शिक्षा के दौरान यह अवसर मिलता है कि वह स्वयं के बारे में अपनी कल्पना के अनुसार अपने मन और तौर तरीकों का विकास करे।

इस संदर्भ में उस प्रश्न का उल्लेख रोचक है जो शिष्य अर्जुन की शिक्षा पूरी हो जाने पर गुरु श्रीकृष्ण ने पूछा थाः—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञान सम्मोहःप्रणष्टस्ते धनंजयः।।

हे अर्जुन, तुमने मुझे ध्यान से सुना है, अब मुझे यह बतलाओ कि अज्ञान के कारण तुम्हारी जिन विचारों और मूल्यों में आसक्ति थी, क्या इस शिक्षा के फलस्वरूप नष्ट हो गयी है।

अर्जुन का उत्तर भी विचार योग्य है। वह कहता है :—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव। ।

हे कृष्ण आपकी कृपा से अज्ञान और भ्रम के कारण उत्पन्न मेरी आसक्ति दूर हो गयी है। मैं अपने को जान गया हूँ और जिस बात को मैं सत्य और उचित समझता हूँ उस पर दृढ़ हूँ और मेरे मन में कोई संदेह नहीं है। अब मैं आपके उपदेशों के अनुसार आचरण करुँगा।

संक्षेप में अर्जुन उस ज्ञान या विचार से अनभिज्ञ है जिसकी परीक्षा या छानबीन नहीं की गई है। वह संदेहों से मुक्त हो गया है और सत्य धर्म के संबंध में अपनी धारणा में दृढ़ है।

लेकिन, एक प्रश्न उठता है। जब अर्जुन श्रीकृष्ण को यह आश्वासन देता है कि वह श्रीकृष्ण के आदेशों का पालन करेगा तो उसका आशय क्या था? जब एक महान् गुरु के उपदेशों से अर्जुन का मन मुक्त हो गया था तो अपने गुरु की शिक्षाओं को आँख मूँद कर पालन करना कहाँ तक उचित था? उसे तो अपने कर्म के बारे में स्वयं विचार करना उचित था। इसका सही उत्तर पाने के लिए श्रीकृष्ण के उन शब्दों को ध्यान में रखना चाहिए, जिनका उल्लेख अर्जुन ने

किया है। प्राचीन परंपरा के अनुसार गुरु अपने शिष्य को जीवन में कुछ मार्गदर्शक सिद्धांतों (अनुशासन) का पालन करने का उपदेश देता था और यह श्रीकृष्ण ने पहले के एक श्लोक में बता दिया था जिसका मैं उल्लेख करूँगा :—

इतिस्ते ज्ञानमाख्यां न गुह्यादगुह्य तरंमया।
विमृश्चैतदशेषेण यथैच्छसि तथा कुरु।

श्रीकृष्ण कहते हैं :— *मैंने तुम से अत्यंत गूढ़ विषय के संबंध में बात की है (तुम्हारी शिक्षा पूरी हो गयी है और अब मैं तुम्हारे लिए निम्न आचार संहिता निर्धारित करता हूँ।)*

1. *मैंने जो कुछ कहा है उस पर बार-बार विचार करो और सभी दृष्टिकोणों से उसकी परीक्षा करो।*
2. *ऐसा करने के बाद तुम जो ठीक समझते हो, वैसा ही करो। इसके लिए तुम स्वतंत्र हो।*

श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को किसी शिक्षित व्यक्ति की दो प्रमुख विशेषताओं से संबंधित दो निर्देशों में पहला है — अनासक्ति और विनम्रता। अर्जुन को बतलाया गया है कि वह अपने विचारों के अलावा अन्य सभी विचारों पर ठीक और तर्कसंगत विचार करे और अन्य लोग सत्य को जिस रूप में देखते हैं उस पर ध्यान दे। मुझे ओलिवर क्रामवेल का यह वचन याद आ गया है *मैं ईसा मसीह के नाम पर तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि समझो कि सम्भव है तुम गलत हो।* किसी प्रशिक्षित व्यक्ति की प्रमुख विशेषता उसकी विनम्रता है। भारत में पुराने लोग कहा करते थे : विद्या ददाति विनयं— *ज्ञान से विनम्रता पैदा होती है।* हठधर्मी ज्ञान से अहंकार का संबंध है।

श्रीकृष्ण द्वारा दिया गया दूसरा निर्देश किसी प्रशिक्षित व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता का घोषणापत्र है, जिसमें सत्य की खोज करने और जैसा देखे उसी तरह अभिव्यक्ति करने के लिए कहा गया है। सत्य से संबंधित धारणा के बारे में बोलने की स्वतंत्रता और कार्य करने की स्वतंत्रता मन की उस स्थिति से जुड़ी हुई है जो भय से मुक्त है। अभय का अर्थ है जहाँ भय न हो।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी *गीतांजलि* में स्वतंत्रता के जिस स्वर्ग की कल्पना की है उसमें व्यक्ति का मन भयमुक्त है और उसका सिर ऊँचा है। भय की भावना अज्ञान से जुड़ी है और जहाँ भय है वहाँ सुख नहीं है। इस संदर्भ में प्राचीन भारतीय विचारधारा उल्लेखनीय है, जिसके अनुसार सच्ची स्वतंत्रता आत्मानुशासन से प्राप्त होती है। खास तौर पर मन पर शासन करने वाले छः शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने से—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर को वश में करने से—भय से मुक्ति संभव है।

शिक्षा की सच्ची भावना के बारे में कोई भी दीक्षान्त भाषण मानव उत्कर्ष के लिए इतना प्रेरक और सुसंगत नहीं हो सकता है जैसा कि श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को गीता में दिया गया उपदेश है। श्रीकृष्ण के अंतिम आदेश के अनुसार अर्जुन ने कार्य करने की जैसी पेशकश की थी वह अंधे आज्ञापालन का कर्म नहीं था। इसके विपरीत अर्जुन के शब्दों में शिक्षा की सच्ची भावना के प्रति प्रतिबद्धता ध्वनित होती है।

शिक्षा की दूसरी समान रूप से आवश्यक और शाश्वत उपलब्धि विवेक है। यह कौशल परिष्कृत एवं आवेश रहित विचार से प्राप्त होता है। विवेक विचार और कर्म के समूचे क्षेत्र में व्याप्त है, जिसमें वैज्ञानिक, दार्शनिक और ज्ञान के अन्य क्षेत्र शामिल हैं। प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन में विवेक बहुत आवश्यक है। कोई भी शिक्षित व्यक्ति धक्के खाने की स्थिति का सामना करता है और स्वयं निर्णय करने और तदनुसार कर्म करने की स्वतंत्रता की रक्षा करता है। भारत

के प्राचीन पुराणों में इसके प्रचुर उदाहरण उपलब्ध हैं जहाँ विवेक न होने से व्यक्ति का पतन दिखाया गया है। विवेक जिज्ञासा की भावना को जाग्रत रखने में सहायक होता है।

प्राचीन भारत में किसी शिक्षित व्यक्ति की दूसरी विशेषता *समत्व भाव* की मान्यता बताई गई है जिसमे सब को बराबर समझा जाता था। समानता को मनुष्य की प्रतिष्ठा के लिए मूल प्रकृति माना जाता था। यह आजकल की समानता के राजनीतिक सिद्धांत से जिसमें एक व्यक्ति और एक वोट का नारा लगाया जाता है, कहीं अधिक गंभीर आचरण की अपेक्षा रखने वाली समानता थी। व्यक्ति की स्वतंत्रता और उसका आत्मनिग्रह मनुष्यमात्र की समानता को समादृत करते हैं। ईशोपनिषद् में इस धारणा को दो प्रकार से व्यक्त किया गया है :—

यस्तु सर्वाणि भूतोन्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते। ।
यस्मिन सर्वाणि भूतान्यात्मै वाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कःशोक एकत्वमनुपश्यत् :। ।

इन दोनों धारणाओं का सारांश यह है :—
जो व्यक्ति दूसरे प्राणियों को अपने जैसा समझना सीख गया है, वह दूसरे से घृणा नहीं कर सकता। जिस व्यक्ति को सच्चा ज्ञान प्राप्त हो गया है और जिसने अन्य व्यक्तियों में समानता का अनुभव किया है उसे कोई दुख और आसक्ति नहीं हो सकती। भगवद्गीता के अनुसार किसी सुसंस्कृत व्यक्ति की विशेषता उसका समदर्शी होना है। वह सबको समान समझता है चाहे वह छोटी जाति का हो या कुत्ता हो *शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः।* आचरण की सभी अमूर्त धारणाओं की तरह समानता की धारणा समझने के लिए इसके क्षेत्र और स्तर को निर्धारित करने मे सूक्ष्म विवेक अपेक्षित है ताकि स्थूल भाव में यह न समझ लिया जाये कि सभी उत्कृष्ट गुणों को उपयोगी और समान स्तर पर लाने के प्रयास में उन्हें निम्नतम स्तर पर पहुँचा देना है। मस्ती वाले जीवन से लगाव और सामाजिक जीवन में नैतिक मूल्यों में गिरावट का प्रायः परिणाम यह होता है कि यह मनुष्य की समानता का अन्यथा आपवादिक सिद्धांत राजनीतिक मुहावरे में *एक व्यक्ति, एक वोट* के रूप में प्रकट होता है जिसमें नैतिक कुरूपता के बावजूद तानाशाही को सुगम समझ कर स्वीकार कर लिया जाता है।

अच्छी शिक्षा से जो अंतिम किन्तु महत्वपूर्ण लाभ मिलता है वह भारतीय पद्धति में अपने धर्म को सच्चे अर्थ में समझना है। मैं *धर्म* के लिए पर्यायवाची शब्द नहीं पाता लेकिन एक मामले में मुझे विश्वास है कि धर्म का अर्थ वह नहीं है जो आमतौर पर *क्रीड* या *रिलिजन* शब्दों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है। धर्म शब्द के एक ही साथ कई अर्थ हैं जैसे शाश्वत, नियम, न्याय, कर्तव्य, व्यावहारिक नैतिकता, और कभी-कभी प्रथा का अर्थ भी निहित है। शाब्दिक अर्थ में परिवर्तन के बीच जो धारण करता है—'धारयति इति धर्मः'—वह धर्म है।

धर्म व्यक्ति का वह प्रयास है जो वह वस्तुओं और घटनाओं के केन्द्रीय क्रम में पहुँचने के लिए करता है और जिनका अस्तित्व संदेह से परे होता है। सारे समाज को एक साथ रखने के लिए धर्म आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अन्तरात्मा और बाहरी दुनिया के लिए धर्म की धारणा के अनुसार काम करना और प्रतिबद्ध होना अपेक्षित है। यह उसकी शिक्षा का अनिवार्य अंग है क्योंकि इससे यह निश्चित होता है कि उसकी व्यक्तिगत उपलब्धियों और स्थिति के अनुसार उसके जीवन से क्या आशा की जाती है। महामहोपाध्याय डा० काणे के अनुसार

धर्म एक जीवन पद्धति है जो समाज के एक सदस्य के रूप में व्यक्ति के कार्यों और गतिविधियों को नियंत्रित करती है ताकि व्यक्ति का क्रमशः विकास होता रहे और वह मानव अस्तित्व के अंतिम लक्ष्य तक पहुँचने में सहायक हो। धर्म एक व्यापक सिद्धांत है जो नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन के सिद्धांतों को एक सूत्र में पिरोता है। धर्म की धारणा के अनुसार आचरण करने वाला व्यक्ति अपने व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन, निजी और व्यावसायिक व्यवहार में दोहरा आचरण नहीं कर सकता। सामान्य भाषा में धर्म का सर्वोत्कृष्ट रूप दया है, करुणा है, तप या आत्मिक पवित्रता है और क्षमा है, सार रूप में धर्म व्यक्ति के कर्तव्य की धारणा है। यह निश्चित करता है कि व्यक्ति जीवन में अपना खेल कैसे खेलता है।

यहाँ मैं इस विस्तार में नहीं जाऊँगा कि किसी अध्यापक से क्या आशा की जाती है। इस विषय में मेरे विचार श्री किरीट जोशी के सौजन्य से एक लेख में लिपिबद्ध हैं जो शिक्षा मंत्रालय के एक प्रकाशन में हाल में ही छपा है। लेकिन यदि मैं अपने लेख में उस गुण का उल्लेख न करूं जो किसी शिक्षक को महान बनाता है तो न्यायोचित नहीं होगा। यहाँ पर उन दो महान अध्यापकों का स्मरण करना चाहता हूँ जिनके बारे में लार्ड स्नो ने एबरडीन विश्वविद्यालय में रेक्टोरियल भाषण देते हुए कहा था। दोनों उदाहरण लार्ड स्नो के अपने विश्वविद्यालय कैम्ब्रिज के अध्यापकों के थे जिनसे मालूम होता है कि कोई महान विश्वविद्यालय क्यों महान होता है।

पहली कहानी कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के एक पुराने और बहुत प्रसिद्ध अध्यापक की है, लेकिन खेद है कि मुझे उनका नाम याद नहीं है लेकिन अपने समय में उन्हें अपने क्षेत्र में महान अध्यापकों की कोटि में अत्यंत आदर से ऊँचा स्थान दिया जाता था। एक दिन उन्होंने एक पत्र लिखकर अपने कुलपति को आश्चर्य में डाल दिया कि वह अपने सम्मानित पद से त्याग पत्र देना चाहते हैं, लेकिन एक शर्त के साथ कि उनके शिष्यों में से एक को उनके स्थान पर उस पद पर नियुक्त किया जाये। उन्होंने अपने युवा विद्यार्थी को अपने से अधिक योग्य गणितज्ञ समझ लिया था। इसके बाद संसार में यह विदित हो गया कि वह विद्यार्थी सर आइज़ाक न्यूटन थे।

दूसरा उदाहरण कुछ समय पहले का है जब प्रोफेसर हार्डी कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के अध्यापक थे। उनके पास किसी अज्ञात गणितज्ञ के हस्तलिखित कागजात भेजे गए थे। पहले तो उन्होंने उसे निरर्थक कह कर अस्वीकार कर दिया, लेकिन उन्हें आश्चर्य था कि कोई व्यक्ति क्योंकर कोई निरर्थक बात लगातार लिखता रहा था जैसा कि पाण्डुलिपि से जाहिर था। उन्होंने पाण्डुलिपि की समीक्षा की और अधिक ध्यान से उसकी छानबीन की। उन्होंने एक महान गणितज्ञ की खोज कर ली। यह श्री रामानुजम थे। प्रो० हार्डी रामानुजम के इतने प्रशंसक हो गये कि उन्होंने अपने जीवन का सर्वोत्तम समय रामानुजम को पढ़ाने में लगा दिया, जो बिना पढ़े हुए भी विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न थे, किन्तु गणित की आधुनिक शब्दावली से अनभिज्ञ थे। उन्होंने रामानुजम के गणित संबंधी सूत्रों का आधुनिक भाषा में अनुवाद किया ताकि तत्कालीन गणितज्ञ उससे लाभ उठा सकें। यदि प्रो० हार्डी न होते तो रामानुजम भी एक साधारण क्लर्क के रूप में अपना जीवन बिता देते जैसे कि अनेक लोग सरकारी दफ़्तरों में आने के बाद अज्ञात रूप से चुपचाप जीवन समाप्त कर देते हैं।

दोनों महान अध्यापकों की उदारता महान थी कि उन्होंने ऐसे लोगों में महानता देखी जहाँ उसकी बहुत कम संभावना थी। दूसरे लोगों में महानता देखने की उदारता से ही महान अध्यापक और महान विश्वविद्यालय बनते हैं।

कोई अध्यापक या विश्वविद्यालय उससे अधिक महान नहीं बन सकते जितना कि समाज

उन्हें बनाने की अनुमति देता है। राजनीतिक नेता और अधिकारी लोकतंत्र के नाम पर समाज पर शासन करते हैं जो शक्ति और अधिकार समेटने के चक्कर में अध्यापकों और विश्वविद्यालयों जैसी संस्थाओं से, जो समाज के भविष्य का निर्माण करते हैं, उदासीन रहते हैं। वे अध्यापकों के प्रति बहुत कम आदर भाव रखते हैं। गोया यदि वह अध्यापन न करता तो अन्यत्र उसे कोई न पूछता। इस संबंध में बहुत पहले लगभग 1000 ई० के आस-पास अपने देश में अध्यापकों के गौरव को स्मरण करना रुचिकर होगा। मैं एक तिब्बती यात्री श्री नागत्से द्वारा उल्लिखित घटना का हवाला दे रहा हूँ जो उन्होंने विक्रमशिला विश्वविद्यालय के एक समारोह के बारे में लिखा है। उस समारोह में पहले पधारने वाले श्री विद्याकोकिल थे, जिन्हें उस समारोह का सभापतित्व करना था। अधिक विख्यात भिक्षुओं को आरक्षित स्थान दिए गए। विक्रमशिला के राजा (मगध का राजा जो विश्वविद्यालय को धन और अन्य साधनों से चलाता था) को एक ऊँचा आसन दिया गया। उनके आगमन पर पुराने और नये भिक्षुओं में से किसी ने भी ध्यान नहीं दिया लेकिन जब विद्वान भिक्षु श्री वीरवज्र पधारे तो पुराने और नये सभी भिक्षु अपने आसन पर खड़े हो गये। इस घटना से राजा को कोई असमंजस नहीं हुआ। यह अपने प्रकार की एकाकी घटना नहीं थी। देश की महान परम्पराओं के अनुसार विद्वता को सर्वोपरि स्थान दिया जाता था और विद्वानों और विश्वविद्यालयों को धन देने वाला शासक उनसे विनम्र व्यवहार करता था जिससे उसकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ जाती थी। महान अध्यापक केवल सभ्य और सुसंस्कृत समाज में प्रकट होते हैं। किसी अधिकारमूलक समाज में उनका विकास नहीं हो सकता। मैथ्यू आर्नोल्ड ने अपने अध्यापकों का सुन्दर चित्र खींचा है जो इन शब्दों में द्रष्टव्य है :— *कठोर अध्यापकों ने मेरी युवावस्था को समझा, उन्होंने मेरे विश्वासों और उसकी आग का नियमन किया। उन्होंने सत्य का ऊँचा दिव्य तारा दिखलाया और मुझे उसे देखने और वहाँ तक पहुँचने के लिए प्रेरणा दी।*

मेरे मन में एक बड़ा प्रश्न है कि क्या हमारे शासकों में यह साहस है कि ऐसे अध्यापकों का भार उठा सकें? केवल महान समाज ही महान अध्यापक दे सकते हैं और महान अध्यापक ही महान समाज का सृजन कर सकते हैं। लघुचेतना वाले व्यक्ति विक्रमशिला द्वारा प्रस्तुत उदाहरण से शिक्षा नहीं ले सकते।

मैं पचास वर्षों से शिक्षा के अधिकांश क्षेत्रों—प्राथमिक, माध्यमिक, विश्वविद्यालयी, व्यावसायिक और तकनीकी क्षेत्रों मे काम करता रहा हूँ। मैं एक अध्यापक, स्कूलों का निरीक्षक, सार्वजनिक शिक्षा का निदेशक, सरकार का सचिव रहा हूँ और देश मे शिक्षा नीति के निर्माण और उसके कार्यान्वियन मे भागीदार रहा हूँ। मैं शिक्षा जगत में होने वाले परिवर्तनों का साक्षी रहा हूँ और मै जानता हूँ कि वर्तमान शिक्षा की बुराइयों को दूर करने के लिए क्या उपाय अत्यंत आवश्यक हैं। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं:—

पहला उपाय यह है कि शिक्षा में से राजनीतिक हस्तक्षेप दूर करने के लिए कदम उठाया जाए और शिक्षा को राजनीति और अफसरशाही से मुक्त रखा जाए। उनका प्रभाव पूर्णरीति से हटाना कठिन है लेकिन कम करके अन्य दिशाओं में मोड़ा जा सकता है जो बेहतर कामों में लगाया जा सकता है। वर्तमान स्थिति देश में शिक्षा के लिए दारुण और हानिकर है। उदाहरण के लिए विचार कीजिए अध्यापकों के स्थानांतरण पर जो राज्य के सरकारी स्कूलों और कालेजों में होते रहते हैं जिनमें से अधिकांश विधायकों और सत्ताधारी दलों के नेताओं को प्रसन्न करने के लिए किए जाते हैं। मुझे ऐसे कुत्सित तबादलों का व्यक्तिगत अनुभव है। मैं जानता हूँ कि दबाव मे आकर एक स्कूल के रसायन अध्यापक का तबादला कर दिया गया जब कि वह

विद्यार्थियों में लोकप्रिय था और उसकी जगह अर्थशास्त्र का अध्यापक तैनात कर दिया गया क्योंकि किसी व्यक्ति को प्रसन्न करना था। ये तबादले अधिकार और लाभ के लिए किए जाते हैं। अब समय आ गया है कि शिक्षा सांविधिक रूप से स्वायत्तता सम्पन्न निकायों को सौंप दी जाये जिनमें योग्य एवं अनुभवी व्यक्ति हो, और जिनकी ईमानदारी संदेह से परे हो। विश्वविद्यालय अनुदान के कार्यों से मालूम होता है कि सरकार और शिक्षा संस्थाओं के बीच तटस्थ रूप से काम करने एवं अवांछित दबाव कम करने से शैक्षणिक प्रशासन कारगर हो सकता है। सजग क्षेत्रों में, जिनका भाषायी आधार आवश्यक नहीं है, ऐसे स्वायत्त निकायों का गठन आवश्यक है। स्वायत्त निकायों का अधिकार क्षेत्र भाषायी राज्यों की सीमाओं से हटकर बनाना चाहिए, जिससे शिक्षा को भाषायी राज्यों के फलस्वरूप उत्पन्न अशोभन चौधराहट से मुक्त रखा जा सके। शिक्षा को मानवीय रूप और राष्ट्रीय महत्व देने के लिए हर संभव प्रयास किया जाना चाहिए। कुछ ऐसे विचारक हैं जिनको यह पसंद होगा कि इसे राष्ट्रीय महत्व दिया जाना चाहिए और इन संस्थाओं से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध स्थानीय समुदायों को भी शामिल किया जाये।

मैं जिस दूसरे उपाय की सिफारिश कर रहा हूँ वह यह है कि अध्यापकों की भर्ती योग्यता के आधार पर और केवल योग्यता के आधार पर की जाये, जो राष्ट्रीय या क्षेत्रीय आधार पर समय-समय पर इस प्रयोजन के लिए विशेष रूप से गठित सक्षम परीक्षा निकाय द्वारा ली जाने वाली प्रतियोगिता मूलक परीक्षा के आधार पर निश्चित की जाये। योग्यता पर आधारित चयन के बाद समुचित अवधि के लिए प्रशिक्षण दिया जाये और इस अवधि में उम्मीदवार की अध्यापन संबंधी प्रतिबद्धता की परीक्षा की जाये। यह भी इतना ही आवश्यक है कि जो व्यक्ति हृदय से इस काम में नहीं रहना चाहते उन्हें यथासंभव शीघ्र हटा कर ऐसे काम में लगा देना चाहिए जिसमें उन्हें संतोष हो। ऐसा अक्षम अध्यापक बेकार है जिसे अपने काम में आनन्द की अनुभूति न हो, और जो स्कूल का तथा उसमें पढ़नेवाली कई पीढ़ियों का सत्यानाश कर देता है। स्कूल और विश्वविद्यालय औसत व्यक्ति के लिए शरणार्थी शिविर नहीं बने रह सकते। बिहार विश्वविद्यालय जाँच आयोग ने मेरी अध्यक्षता में हाल ही में एक रिपोर्ट में यह सिफारिश की थी कि किसी विश्वविद्यालय या कालेज में, चाहे वह सरकारी हो या गैर सरकारी, किसी प्रवक्ता की नियुक्ति योग्यता के आधार पर की जानी चाहिए जिसका निर्णय राज्य सरकार के स्तर पर किसी स्वतंत्र रूप से गठित सांविधिक निकाय द्वारा आयोजित प्रतियोगी परीक्षा के आधार पर किया जाना चाहिए। शिक्षाशास्त्रियों ने इस प्रस्ताव का उचित स्वागत किया है।

तीसरा महत्वपूर्ण सुझाव एक स्वतंत्र निरीक्षण प्रणाली का सृजन है जैसा कि इंग्लैंड में स्कूलों के निरीक्षण के लिए है जिसका काम शिक्षा के स्तर पर मार्गदर्शन, पर्यवेक्षण और रिपोर्ट तैयार करना, शिक्षा नीतियों का क्रियान्वयन और सभी स्तरों पर शैक्षणिक संस्थाओं की स्थिति देखना होता है। आज जैसी स्थिति है, जिन लोगों को महत्वपूर्ण निर्णय करने का काम दिया जाता है वे भी नहीं जानते कि देश के दूर-दराज के क्षेत्रों में शिक्षा की वास्तविक स्थिति क्या है। राष्ट्र और संसद को किसी सक्षम, निष्पक्ष अधिकरण के माध्यम से शिक्षा की वास्तविक स्थिति पर बिना भय के स्वतंत्र रिपोर्ट के द्वारा जानकारी पाने का अधिकार है। मैं व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर जानता हूँ कि शिक्षा पर किस तरह बहुत से संसाधनों और शक्ति का दुरुपयोग हो रहा है और यह बहुत घटिया काम है। आँकड़ों और नीरस रिपोर्टों पर निर्भर रहने की अपेक्षा देश को वास्तविकता से परिचित कराने की आवश्यकता है। 'अशिक्षा' का स्थान खराब शिक्षा नहीं ले सकती। जिस प्रकार के निरीक्षकों के लिए प्रस्ताव है उन्हें सरकारी तंत्र का अंग न बनाया जाये। उनके लिए पहले प्रस्तावित स्वायत्त निकायों से अधिक निकट का संपर्क बनाना उचित है।

उन्हे वस्तुस्थिति का पता लगाने और बिना भय के रिपोर्ट भेजने की स्वतंत्रता दी जानी चाहिए।

अंत में, मैं समझता हूँ कि हम में यह स्वीकार करने का साहस होना चाहिए कि हमारे नेताओं ने महात्मा गाँधी की बुनियादी शिक्षा की धारणा को ओछे ढंग से अस्वीकार कर दिया जब कि उचित परीक्षण भी नहीं किया गया था। हम शिक्षा संबंधी अंग्रेजी नमूने से इतने अधिक चौंधिया गए थे कि इस संबंध में यह नहीं सोच पाये कि भारतीय समाज में इस समय जैसी स्थिति है उसमें विदेशी प्रणाली कितनी जीवंत या सुसंगत हो सकती है। भारतीय समाज उनसे बिल्कुल भिन्न प्रकार का है। उन्हें एक विशाल साम्राज्य पर शासन करने का घमंड है और औद्योगिक विकास से उनका समाज बहुत समृद्ध हो चुका है। हमारे शासक वर्ग ने अंग्रेजी भाषा को स्वीकार कर लिया था। भाषा अकेले नहीं आती। उसके साथ संस्कृति भी आती है जो मन पर प्रभाव डालती है और स्वभाव पर ऐसा असर होता है कि वे आदतें छोड़ना कठिन हो जाता है। महात्मा गांधी मे यह साहस था कि भारतीय शिक्षा को भावात्मक दृष्टि से भारतीय बनाने के लिए अकेले डटे रहे और वे देश के पिछड़े और ग्रामीण तथा कृषि प्रधान क्षेत्रों की आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा को नया रूप देने के लिए प्रयत्नशील रहे। उन्होंने बताया कि कठिन परिश्रम, उत्पादक श्रम और शारीरिक काम शैक्षणिक नीति के केन्द्र होने चाहिए जिनसे ज्ञानवर्धन, हस्तकला और जीवनोपयोगी विचार तथा स्वभाव का विकास करने की प्रेरणा प्राप्त होगी। इस प्रकार हमारे देश की प्राचीन सांस्कृतिक परम्पराओं की सर्वोत्तम धारणाएँ भी शिक्षा में परिलक्षित होंगी। वे कुछ लोग जो गंभीरता से विचार करते हैं, उन्हें दिनोंदिन यह एहसास होता जा रहा है कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली से शिक्षित और अशिक्षित व्यक्तियों के विशाल समूह के बीच की खाई लगातार गहरी होती जा रही है और किस प्रकार शिक्षित लोग अशिक्षित लोगों का शोषण कर रहे हैं। भारतीय शिक्षा आयोग ने इस दिशा में विचार तो अवश्य किया और थोड़ा आगे जाकर स्कूलों में *कार्य अनुभव* की व्यवस्था की सिफारिश की। यह महात्मा गांधी के शिक्षा संबंधी दर्शन की आधे मन से स्वीकृति थी। अब फिर से नये तकनीकी ज्ञान तथा सामाजिक और आर्थिक विकास के फलस्वरूप देश में आई हुई जागृति को देखते हुए बुनियादी शिक्षा की धारणा पर विचार करने और नयी व्याख्या करने का समय आ गया है। शिक्षा प्रणाली में ऐसा परिवर्तन किया जाना चाहिए कि कठिन परिश्रम और काम के साथ सीखने की संस्कृति का विकास किया जा सके। महात्मा जी पर धर्माचारी संतों की भावना का प्रभाव था जो तीन बातों — ज्ञान, कठिन परिश्रम और नैतिक शक्ति में विश्वास रखते थे। जीवन की वर्तमान परिस्थितियों में यह सोचा भी नहीं जा सकता कि अधिकांश स्कूलों को ठीक ढंग से चलाने के लिए आवश्यक सभी संसाधन जुटाये जा सकते हैं। फिर भी स्कूलों के पास मानव संसाधन — नवयुवक विद्यार्थी, पर्याप्त अवकाश और अध्यापकों का नेतृत्व पर्याप्त रूप से उपलब्ध है। यदि अवसर दिया जाये तो स्कूल ज्ञानार्जन को उत्पादन के साथ जोड़ सकते हैं। उदाहरण के लिए एक क्षण के लिए इंजीनियरिंग कालेजों की कीमती मशीनों के बारे में सोचिये, जो प्रायः सप्ताह में कुछ खास अवधि के लिए प्रदर्शन के प्रयोजन के हेतु प्रयुक्त होती हैं। विद्यार्थियों की युवाशक्ति का उपयोग किया जाये और उपलब्ध मशीनों का उनके कालेज के लिए आवश्यक वस्तुओं का निर्माण करने में पूरा उपयोग हो। शिक्षा की नयी नीति का लक्ष्य यह होना चाहिए कि नयी और सृजनात्मक गतिविधियों का विकास हो ताकि कठिन परिश्रम से अनुराग हो और शैक्षणिक संस्थाओं में शिक्षा के स्तर से सुधार के लिए आवश्यक संसाधनों में से कुछ का उत्पादन भी संभव हो।

शिक्षा में कोई सुधार कारगर न होगा यदि देश अध्यापक की हैसियत और मर्यादा को पुनः स्थापित करने पर ध्यान नहीं देता, क्योंकि अध्यापक, कक्षा में अपने सामने बैठे हुए भविष्य के

निर्माताओं को नये साँचे में ढालने का उत्तरदायित्व सँभालता है। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि किसी अध्यापक की मर्यादा समाज में बरकरार रखने की गारंटी नहीं दी जा सकती। यह उसे स्वयं अपने काम, आचरण और उत्तरदायित्व के लिए प्रतिबद्धता द्वारा अर्जित करना होगा। जिस अध्यापक को शिकायत हो और जो थोड़े से लाभ के लिए स्थानीय नेताओं के इर्द-गिर्द मँडराता हो, वह अपनी दयनीय दशा का प्रदर्शन करता है। कोई भी अध्यापक कुछ न्यूनतम आवश्यकताओं का हकदार है जैसे — सादा किन्तु आरामदेह घर, किताबों और पत्रिकाओं तक पहुँच, उसकी व्यावसायिक योग्यता में सुधार के अवसर और स्वयं अध्यापक और उसके परिवार के लिए आवश्यक सुविधाओं की व्यवस्था। एक अच्छा अध्यापक समाज की अन्तरात्मा है। उसे अनासक्त भाव से काल चक्र की गति का अध्ययन करना चाहिए और समझना चाहिए कि समाज किधर जा रहा है। यदि उसमें दम है तो वह समाज के कृत्यों और अभिरुचियों का निष्पक्ष आलोचक हो सकता है। शैली ने कवियों के बारे में कहा था कि वे *संसार के अनजाने विधायक* हैं। उसका कथन सही था। फिर भी अध्यापक नयी व्यवस्था को रूप और प्रयोजन देने के लिए प्रत्यक्ष रूप से अधिक उत्तरदायी हैं जो वर्तमान व्यवस्था के स्थान पर प्रतिष्ठित होगी। कालक्रम में उस पर विश्वास रखना फलदायी होगा।

किसी अध्यापक की सफलता उस संबंध पर निर्भर है जिसका वह अपने विद्यार्थी के प्रति विकास करता है। इस संदर्भ में मैं तैत्तिरीय उपनिषद् में *शांतिपाठ* के रूप में दी गई एक सुंदर प्रार्थना का उल्लेख करना चाहता हूँ। यह प्रार्थना अध्यापक और विद्यार्थियों द्वारा संयुक्त रूप से निवेदित है।

हरि ओउम्। सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

हे भगवन् हमारी रक्षा करो, हमारा पालन करो, हमें शक्ति दो, हमें ज्ञान दो, हम एक-दूसरे से द्वेष न करें।

शिक्षा, शिक्षक और शिक्षार्थी का संयुक्त प्रयास है। यदि इनमें से कोई एक असफल रहता है तो शिक्षा नहीं होगी, न प्रकाश ही।

दौलतसिंह कोठारी

शिक्षा और जीवन - मूल्य



दौलतसिंह कोठारी

6.7.1906

दौलतसिंह कोठारी (जन्म 1906) लब्धप्रतिष्ठ विद्वान हैं। इन्होंने अपनी डॉक्टरेट की उपाधि कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से प्राप्त की। विशिष्ट वैज्ञानिक के रूप में खगोल-भौतिकी के क्षेत्र में इनका योगदान उल्लेखनीय है। ये शिक्षा आयोग (1964-66) एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष रह चुके हैं। भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के महा अध्यक्ष और भारत सरकार के रक्षा मंत्रालय के वैज्ञानिक सलाहकार के पदों पर भी इन्होंने काम किया है। 1962 में पद्मभूषण और 1973 में पद्मविभूषण से इन्हें विभूषित किया जा चुका है। आजकल ये जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के कुलपति हैं। अभी हाल में इन्हें "यूनेस्को के उद्देश्यों और कामों के लिए विशिष्ट योगदान" करने के निमित्त, यूनेस्को द्वारा सम्मानित किया गया है। स्वर्गीय एच.जे. भाभा के साथ मिलकर लिखी गई इनकी न्यूक्लियर एक्सप्लोजंस एंड देयर इफेक्ट्स पुस्तक को नाभिकीय भौतिकी के क्षेत्र में मूल्यवान अवदान के रूप में माना जाता है। यह पुस्तक जर्मन, रूसी और जापानी भाषाओं में अनूदित हो चुकी है।

शिक्षा और जीवन - मूल्य

जिस चुनौती भरे समय का हम सामना कर रहे हैं, उसमें गुण और मात्रा दोनों दृष्टियों से सक्षम शिक्षा राष्ट्रीय विकास, एकता, कल्याण और सुरक्षा के लिए सर्वोपरि सशक्त साधन है। पर इस साधन का सही विवेकपूर्ण प्रयोग होना चाहिए। शिक्षा इस प्रकार का सशक्त साधन है कि बुरी शिक्षा शैक्षिक दृष्टि से ही बुरी नहीं, अपितु वह चिरस्थायी क्षति पहुँचा सकती है।

संभवतः वर्तमान युग का सबसे महत्वपूर्ण लक्षण यह है कि मानव-इतिहास में पहली बार विश्व ज्ञान-आधारित, विशेषतः विज्ञान और प्रौद्योगिकी आधारित हो गया है। यह कहना आवश्यक है कि मैं *विज्ञान* शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में कर रहा हूँ जिसमें गणित तथा सामाजिक एवं अन्य संबद्ध विज्ञान भी शामिल हैं। ज्ञान-आधारित विश्व का लक्षण यह है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी 10-15 वर्ष की अवधि में दुगुना बढ़ जाते हैं। अर्थात् विज्ञान और प्रौद्योगिकी की वृद्धि और विकास की दृष्टि से अगले 10 वर्ष में ज्ञान इतना बढ़ जाता है जितना कि मानव जाति ने पिछली अनेक सदियों में अर्जित किया है।

विकास के प्रमुख क्षेत्रों में ज्ञान-आधारित विश्व में निश्चित भविष्यवाणी नहीं हो सकती है। कल जिस नए ज्ञान की खोज और उपलब्धि होगी, वह आज अज्ञात है। यदि वह *आज* ज्ञात होता तो वह *कल नया* ज्ञान कैसे हो सकेगा और फिर ज्ञान की प्रगति कैसे होगी। दूसरे शब्दों में *ज्ञान-आधारित विश्व एक खुला विश्व* है। अतीत के अनुभव और आदर्श इस तीव्रगति से बदलते हुए विश्व की नई चुनौतियों और समस्याओं का सामना करने में प्रायः विफल सिद्ध होते हैं। मनुष्य को अब ऐसे विश्व में रहने की आदत डालनी है, जो कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में अनिश्चित है। वह अब कहीं अधिक चुनौती भरा है और जीवन के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में सर्जनात्मकता के लिए कहीं अधिक अवसर प्राप्त हैं। सर्जनात्मकता तथा उपलब्धि के नए स्तर और आयाम खुल रहे हैं। इलेक्ट्रानिक क्रांति-आटोमेशन, कृत्रिम बुद्धि, वैयक्तिक कंप्यूटर तथा और भी अनेक बातों को ही देखें तो कितना जबर्दस्त परिवर्तन दीख पड़ता है। आने वाले वर्षों में कंप्यूटर द्वारा शिक्षा निश्चित ही एक महत्वपूर्ण विषय होगा। नए विकासों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ेगा—कुछ अर्थों में पाँच सौ वर्ष पहले हुए प्रिंटिंग प्रेस के आविष्कार से भी अधिक गहरा प्रभाव। हमें उसके लिए तैयार रहना है। इसकी झलक वर्तमान चिंतन में मिलनी चाहिए।

हमारा वर्तमान युग औद्योगिक युग से आगे एक नए युग में संक्रमित हो रहा है। यह संक्रमण काल मानव जाति द्वारा झेले गए खतरों में सबसे अधिक खतरनाक है। किसी भी समय कुछ भी घट सकता है। हिरोशिमा बम से लाखों गुना भयावह शक्ति वाले न्यूक्लियर बम प्रतिक्षण विस्फोट के लिए तैयार हैं। आज मनुष्य पहली बार ऐसी स्थिति का सामना कर रहा है जब *पूर्ण विध्वंस* के लक्षण प्रकट हैं। मानव इतिहास के इस भयंकर संकट काल में शिक्षा की भूमिका

विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। आज शिक्षा का जितना महत्व है, उतना पहले कभी नहीं रहा है। *आज शिक्षा और उत्तरजीविता तथा प्रगति-विचार अक्षरशः एकार्थी बन गए हैं।*

* * *

मुझे आइंस्टीन के गंभीर शब्दों की याद आती है — *मैंने अपने दीर्घ जीवन में एक सबक सीखा है। यथार्थ के सम्मुख सारे विज्ञान का मानदण्ड आदिम तथा बचपना जैसा है, फिर भी हमारे पास वही सबसे बहुमूल्य वस्तु है।* अतः यह आवश्यक है कि आधुनिक शिक्षा में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी को केन्द्रीय और महत्वपूर्ण स्थान दिया जाए। पर हम यह याद रखें कि कुछ अति विशिष्ट क्षेत्रों में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की भी कड़ी सीमा रखी जाए। इस सीमा की अवहेलना मनुष्य की प्रगति और उत्तरजीविता के लिए सांघातिक होगा। नील्स बोर कहा करता था कि केवल *तर्कयुक्त* होना ही वास्तविक *चिंतन* नहीं है। *चिंतन* में सर्जनात्मकता का अंश आवश्यक है। केवल *तर्कयुक्त* होने का अर्थ है कि कार्य-कारण शृंखला का तत्व तो विद्यमान है, पर नव प्रवर्तन अथवा सर्जनात्मकता का तत्त्व उसमें नहीं है। *चिंतन* में तार्किकता के अतिरिक्त कुछ और भी अपेक्षित है। विज्ञान और मानविकी, ज्ञान और विवेक के बीच का व्यवधान खत्म होना चाहिए। किस तरह यह उपलब्ध हो, यह सरल नहीं है।

विज्ञान और मानविकी के बीच का व्यवधान अवश्य समाप्त होना चाहिए, अन्यथा होता यह है कि हम *विशेषज्ञ* पैदा करते हैं *शिक्षित मनुष्य* नहीं और *विशेषज्ञ* क्या है? उसके पास ज्ञान है, पर विवेक नहीं। विवेक अथवा नैतिक मूल्यों के बिना व्यक्ति में अहंकार का विकार उत्पन्न होता है। इससे व्यक्ति के लिए उस ज्ञान की उपादेयता नहीं रह जाती और समाज को भी कोई लाभ नहीं पहुंचता। *विज्ञान* और *जीवन मूल्यों* के बीच व्यवधान दूर करने में यह अवश्य ध्यान रखना है कि विज्ञान की *स्वायत्तता* और *वस्तुनिष्ठता* पर आँच न आए। वस्तुनिष्ठता में कमी होने पर असाधारण कठिनाई आ जाएगी। हमें अति महत्वाकांक्षी नहीं होना चाहिए। सौभाग्यवश भौतिक और जैविक विज्ञान दोनों में ही वर्तमान काल में अत्यंत महत्वपूर्ण प्रगति हुई है, जिसके फलस्वरूप विज्ञान और नैतिक मूल्यों के बीच कठोर विभाजन दूर करने की दिशा में पूर्णतः आशातीत संभावनाएँ प्रकट होने लगी हैं। इस संबंध में मैं दो संक्षिप्त उद्धरण प्रस्तुत कर रहा हूँ।

आर. डब्ल्यू. स्पेरी ने अपने नोबल प्राइज भाषण (1981 ई.) में *प्रमस्तिष्कीय खण्ड को विलग करने के कुछ प्रभाव* पर बड़े ही स्पष्ट रूप से यह मत प्रतिपादित किया है कि मनुष्य तथा विश्व के वैज्ञानिक और मानविकीय विचारों में अब विरोध नहीं है। उनका निष्कर्ष है कि —

> एक वृहत प्रभावपूर्ण सूत्र में आबद्ध करने वाले व्याख्यात्मक मनोभाव का उद्भव हो रहा है जिसका सुदूरगामी प्रभाव केवल विज्ञान के साथ ही नहीं अपितु उन तात्विक मूल्यों तथा आस्थागत आदर्शों पर भी है जिसके सहारे मानव जाति जीने का प्रयास करती रही है और जिसमें उसे जीवन की सार्थकता मिली है।

बहुधा उद्धरित होने वाले वक्तव्य (1951 ई.) में एरविन श्रीडिंगर ने कहा है —

> मैं सोचता हूँ कि एक महान् दार्शनिक प्रश्न का उत्तर देने के लिए विज्ञान हमारे प्रयास का एक अभिन्न अंग है, जिसमें अन्य सभी प्रश्न समाहित हैं। उस प्रश्न को प्लोटिनस ने सूत्रवत

कहा है — *हम कौन हैं?* और उससे भी अधिक, मैं इसे अनेक कार्यों में से एक कार्य नहीं मानता, बल्कि इसे *ही* विज्ञान का मुख्य कार्य मानता हूँ। वस्तुतः एक यही कार्य सर्वाधिक महत्व का है।

मनुष्य के महान् सौभाग्य के रूप में विज्ञान, शायद अप्रत्याशित ही, धीरे-धीरे किन्तु सतत एकतापूर्ण विश्वमत की ओर अग्रसर हो रहा है जिसमें ज्ञान तथा मूल्य *दोनों ही पूरक और परस्पर शक्तिदायी रूप में* समाहित हैं।

हम क्रमशः *बीसवीं शताब्दी के विज्ञान की उन कठोर वर्जनाओं* से मुक्त हो रहे हैं जिसमें कहा जाता था कि *ज्ञान के साथ मूल्यों का मेल अवैध और निषिद्ध है।* जब *विज्ञान और अहिंसा* का साथ हो सकता है तो विश्व के सामने *सबके लिए* स्वतंत्रता, न्याय, संपन्नता और हर्ष की प्राप्ति तथा संवर्द्धन का मार्ग खुला हुआ है और *बुद्ध* तथा *महात्मा गांधी* के इस देश में हम उसी दिशा में अपना संकल्पकृत अभियान प्रारंभ कर सकते हैं!

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि विज्ञान और मूल्यों के बीच का व्यवधान अतीत की ओर लौटकर दूर नहीं किया जा सकता। उस समय आज के अर्थ में विज्ञान का अस्तित्व नहीं था। विज्ञान आदिम अवस्था में था, जबकि दर्शन बहुत उन्नत और समृद्ध था। आधुनिक विज्ञान का मूल 1900 ई० में अन्वेषित *प्लांक कांस्टैंट* में निहित है। *समुन्नत विज्ञान और समुन्नत दर्शन को जोड़ना आज का काम है,* हमें अब शुद्ध गणित, भौतिक विज्ञान, तंत्रिका विज्ञान तथा अन्य शास्त्रों के प्रगतिशील विचारों का प्रयोग करना है।

* * *

प्रश्न उठता है कि आज की शिक्षा के लिए एक सार्थक *समन्वित ढाँचा* क्या है? शैक्षिक सुधार और पुनर्गठन के आधार-स्वरूप कौन से मूल सिद्धांत और *नियम* हैं? *समन्वित ढाँचा* के लिए सबसे पहली बात यह है कि आधुनिक विश्व *एक विश्व* है। यह एक *सार्वभौम गाँव* है। संपूर्ण मानव जाति की नियति एक साथ है। *विज्ञान हमें बताता है कि वैज्ञानिक और तकनीकी अर्थ में मानव जाति — वस्तुतः संपूर्ण जीव जंतु — पारिस्थितिकीय रूप से एक ही व्यवस्था में बँधे हैं।* ऐसा संभव नहीं है कि हम एक देश में अथवा अन्य देशों के एक भाग में प्रगति और विकास करें और दूसरा भाग उपेक्षित रह जाए। *इससे तो सभी की बर्बादी होगी।* विज्ञान का पहला महान सबक है कि *मानव जाति अविभाज्य है।*

अब दूसरे बिन्दु पर आएं। जैसा पहले कहा जा चुका है यह 10 से 15 वर्ष की अवधि में दुगुने ज्ञान-विस्फोट का समय है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विस्फोट हो रहा है पर विवेक का ह्रास हो रहा है, यह घटता जा रहा है। ज्ञान बढ़ रहा है और मानक-व्यक्तित्व घट रहा है। ज्ञान के विस्फोट और विवेक के ह्रास के कारण हम अनेक प्रकार की पथभ्रष्टता, असंतुलन और विपत्तियों के शिकार हो रहे हैं। जनसंख्या का भी विस्फोट है। अनेक रूपों में हिंसा भड़क रही है। *लोभ, घृणा* और *मोह* तेजी से भयंकर सर्पाकार रूप ग्रहण कर रहे हैं। अतः एक ओर तो *विज्ञान, प्रौद्योगिकी* और *उत्पादकता* का विकासमान सर्पिल रूप और दूसरी ओर *लोभ, घृणा* और *मोह* का घातक सर्पिल रूप है। विश्वस्तर पर प्रति मिनट सैनिक व्यय एक करोड़ रुपए से अधिक हो रहा है और उसे प्रज्वलित करने के लिए लोभ, घृणा और मोह का भयावह रूप है। एक

मिनट पहले जैसी दुनिया थी, उससे बदतर अरक्षित दुनिया बनाने के लिए प्रति मिनट लाखों डालर खर्च किये जा रहे हैं। आज मनुष्य की यही त्रासदी है। वैज्ञानिकों और अभियंताओं की आधी से अधिक संख्या विश्व को अच्छा नहीं, बदतर बनाने के लिए विध्वंसक हथियार बनाने में लगी हुई है। इन विध्वंसकारी शस्त्रों में अपार वृद्धि और उनकी सुलभता विकराल रूप धारण कर चुकी है। जब हम *आत्मनिग्रह* और स्वानुशासन की प्रशिक्षा के साधनों की बात सोचते हैं, तो यह स्थिति और भी विदारक लगती है जिसका शब्दों में वर्णन नहीं हो सकता। इससे छुटकारा कहाँ है? जहाँ तक संभव है, इसका समाधान अच्छी शिक्षा — *सत् विज्ञान* में है। जब मैं सत् विज्ञान की बात कहता हूँ तो मेरा आशय *मानवीय लक्ष्यों* के लिए विज्ञान के प्रयोग से है। यदि शिक्षा द्वारा ही समाधान का मार्ग मिलना है तो *अच्छी शिक्षा* का महत्व स्वतः स्पष्ट है, क्योंकि आज की ये सांसारिक परिस्थितियाँ बहुत कुछ *बुरी शिक्षा* के मूल्यों तथा चरित्र-निर्माण से रहित शिक्षा के ही कारण पैदा हुई हैं।

मैं बार-बार विज्ञान और मूल्यों की अंतःक्रिया की नितांत आवश्यकता पर बल देता रहा हूँ। *ज्ञान और मूल्यों* को परस्पर जोड़ने का क्या अर्थ और अभिप्राय है? यह मूलतः चरित्र-निर्माण है अर्थात् अपने कार्यों में वैयक्तिक, सामूहिक और सार्वभौमिक दृष्टि से नैतिक सुन्नयन का प्रयास। आइंस्टीन के प्रेरणाप्रद शब्दों (नवम्बर 1950) में —

> सबसे अधिक महत्वपूर्ण मानव प्रयास अपने कार्यों में नैतिकता लाने का प्रयास है। हमारा आंतरिक संतुलन तथा हमारा अस्तित्व तक इस पर निर्भर है। अपने क्रिया-कलापों में नैतिकता से ही जीवन में सौन्दर्य और प्रतिष्ठा की प्राप्ति हो सकती है। इसे एक जीवंत शक्ति बनाना तथा उसे स्पष्ट अंतश्चेतना में लाना ही शिक्षा का सर्वोपरि कार्य है। नैतिकता का आधार पुराण या किसी संदेहास्पद कल्पित गाथा पर आश्रित नहीं होना चाहिए और न किसी ऐसी प्रामाणिकता पर ही आधारित हो जो कार्य और निर्णय की नींव को ही खतरे में डाल दे।

मेरे सत्य के प्रयोग में गाँधीजी ने अपने अनुभव तथा दक्षिण अफ्रीका में 'टाल्सटाय फार्म' पर शिक्षक के रूप में किए गए प्रयोगों पर चार संक्षिप्त अध्यायों में लिखा है। उसका एक उद्धरण —

> मैंने उनकी शिक्षा के लिए चरित्र-निर्माण को ही उपयुक्त आधार माना। मुझे विश्वास था कि आधार सुदृढ़ रहने पर बालक स्वयं अथवा मित्रों की सहायता से अन्य सारी बातें स्वयं सीख सकते हैं। ज्योंही मैं उनके निकट संपर्क में आया, मैंने देखा कि केवल पुस्तकों द्वारा आत्मा की शिक्षा नहीं प्रदान की जा सकती। जिस प्रकार शारीरिक व्यायाम द्वारा शारीरिक शिक्षा, बौद्धिक साधना द्वारा बौद्धिक शिक्षा दी जा सकती है, उसी प्रकार आत्मा की शिक्षा आत्मा की साधना से ही संभव है। और *आत्मा की साधना पूर्णतः शिक्षक के जीवन और चरित्र पर निर्भर है।* ... अतः मैंने अनुभव किया कि साथ रहने वाले बालक-बालिकाओं के लिए आदर्शरूप मुझे स्वयं एक शाश्वत वस्तुपाठ बनना चाहिए। इस तरह वे शिक्षार्थी मेरे शिक्षक हो गए और मैंने सीखा कि उनके लिए ही सही, पर मुझे अवश्य ही सात्विक और सरल जीवन बिताना चाहिए। मैं कह सकता हूँ कि टाल्सटाय फार्म पर मैं अपने ऊपर जो अनुशासन और निग्रह बढ़ाता गया वह अधिकतर अपने विद्यार्थियों के ही कारण था।

विलक्षण और आश्चर्यजनक तीव्र गति से बदलते हुए विश्व में यह महत्व की बात है कि शैक्षिक समस्या और विकास पर व्यावसायिक रूप से प्रतिबद्ध व्यक्तियों में निरंतर गंभीर चिंतन चल रहा है। राधाकृष्णन आयोग की रिपोर्ट के आधार पर भारतीय शिक्षा में एक महत्वपूर्ण विकास यह हुआ कि *विश्वविद्यालय अनुदान आयोग* की स्थापना हुई। अब आवश्यकता इस बात की है कि केन्द्र तथा राज्यों में स्थायी विद्यालय आयोग की स्थापना हो। इसका यह अर्थ होगा कि सरकार द्वारा निर्धारित सामान्य ढाँचे के अंतर्गत शिक्षा संबंधी नीति और निर्णय बहुत कुछ उन लोगों के हाथ में होगा जो शिक्षा के संबंध में समझ रखते हैं, समाज की आवश्यकताओं के बारे में परिचित हैं और नए शैक्षिक विकास तथा देश में और अन्यत्र भी होने वाले शोधकार्यों से अनभिज्ञ हैं।

शैक्षिक पुनर्गठन तथा सुधार संबंधी किसी भी योजना में *लचीलापन और विविधता* का तत्व नितांत आवश्यक है। आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, जिसमें रोजगार का रूप भी शामिल है, स्थिति इतनी अधिक बदल रही है कि शिक्षा आयोग की रिपोर्ट जब तक प्रकाशित होगी, तब तक उसकी अनेक संस्तुतियाँ पुरानी पड़ जाएंगी। उदाहरण के लिए शिक्षा की दृष्टि से अनेक उन्नत देश अनेक कारणों से गंभीरतापूर्वक सोच रहे हैं कि प्रथम डिग्री कोर्स की अवधि तीन वर्ष से घटाकर दो वर्ष कर दी जाए। यह बात हम लोगों के लिए भी प्रासंगिक है।

वर्तमान विज्ञान और प्रौद्योगिकी आधारित विश्व में, जब कि प्रति 10-15 वर्ष में ज्ञान दुगुना हो रहा है, अध्यापक, शिक्षा के साधनों और विधि संबंधी प्रवर्तनों के तेजी से पुराने पड़ जाने के लक्षण प्रकट हो रहे है। इनके अतिरिक्त अभिनवीकरण पाठ्यचर्या तथा ग्रीष्मकालीन संस्थानों में महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रशिक्षकों को भी अपने प्रशिक्षार्थियों से सीखने का पर्याप्त अवसर मिलता है। उनसे हम बहुत कुछ सीख सकते हैं, क्योंकि वे अभी युवक हैं और पूर्वग्रहों तथा पूर्वकल्पित विचारों से मुक्त हैं। शिक्षक निरंतर शिक्षार्थी है। वह शिक्षार्थियों से उतना सीख सकता है, जितना वह उन्हें पढ़ाता है।

* * *

जैसा मैंने पहले कहा है, हम मानव-इतिहास के महान संक्रमण काल से गुजर रहे हैं — सभ्यता के एक स्तर के सर्वथा भिन्न सभ्यता के दूसरे स्तर का संक्रमण। औद्योगिक युग से परमाणु युग का उद्भव हुआ। अब हम एक नए युग की ओर बढ़ रहे हैं — *विज्ञान और अहिंसा का युग।* इसे *सौर युग* भी कहा जाता है क्योंकि भविष्य में विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऊर्जा का प्रमुख स्रोत सौर-ऊर्जा होगी जो सर्वत्र प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सौर ऊर्जा प्राप्त करने के लिए बड़े ही उन्नत विज्ञान और तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता है। *दूसरे शब्दों में सौर युग परमाणु युग का परवर्ती युग होगा, पूर्ववर्ती नहीं।* ऐसे लक्षण प्रकट होने लगे हैं कि अँधेरी अर्द्धरात्रि शायद जा चुकी है और हम नए युग का सूर्योदय देख रहे हैं। शिक्षा में तथाकथित संकट और दुर्व्यवस्था (यह एक विश्वव्यापी स्थिति है) भी संक्रमण प्रक्रिया का ही एक भाग है जिसे हम आधुनिक विश्व में शिक्षा के आधारभूत नियम की संज्ञा दे सकते हैं।

1983 ई. की एक महत्वपूर्ण रिपोर्ट से एक उद्धरण दे रहा हूँ —

यदि किसी विरोधी विदेशी शक्ति ने हमारे ऊपर निम्नकोटि की शैक्षिक व्यवस्था लादने का

प्रयास किया है और वह आज विद्यमान है तो हमें उस कार्य को युद्ध के रूप में समझना चाहिए। जैसी कि स्थिति है, हमने अपने ऊपर उसे घटित होने की अनुमति दे रखी है ... ... । हम वस्तुतः एक विचारहीन एकतरफा शैक्षिक निरस्त्रीकरण का काम कर रहे हैं।

इस रिपोर्ट में कहा गया है कि सन् 1957 (स्पुतनिक वर्ष) से ऐसी सामान्य सहमति कभी नहीं हुई थी कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में हाई स्कूल शिक्षा बहुत घपले में है। देर-सबेर *प्रशासन को इसमें हस्तक्षेप करना ही पड़ेगा।* रिपोर्ट की अन्य चौंकाने वाली बातों में यह भी कहा गया है कि 2 करोड़ से अधिक अमेरिकन वयस्क पढ़ नहीं सकते, लिख नहीं सकते, अंग्रेजी भाषा समझ नहीं सकते।

यह महत्वपूर्ण है कि हम शैक्षिक संकट की स्थिति को उसके सही परिप्रेक्ष्य में समझें। यह उसी विश्वव्यापी असाधारण तीव्र गति से होने वाली अतिशय परिवर्तनकारी स्थिति का ही अंग है। *हम एक ऐसे गतिशील विश्व में रह रहे हैं जैसा इतिहास में पहले कभी नहीं था।* इस दुर्व्यवस्था का एक बड़ा कारण उन लाखों-करोड़ों लोगों को नए अवसर और उनकी आकांक्षाएँ हैं जिन्हें अब तक शिक्षा नहीं मिलती थी और वे दुःखद अभावग्रस्त जीवन बिता रहे थे। वह संकट इस सामान्य तथ्य को प्रतिबिंबित करता है कि शिक्षा उत्तरजीविता और प्रगति के लिए कितनी महत्वपूर्ण है और वैयक्तिक तथा सामूहिक रूप से मनुष्य के उत्कर्ष के लिए योगदान देने के कितने महान अवसर सुलभ हैं। इस प्रयास में छोटे से छोटे कदम का भी महत्व है।

* * *

अब हम शिक्षा और उत्पादकता को जोड़ने वाली कड़ी की बात करेंगे। यह शिक्षा पर आधारित समाज का मूल लक्षण है। शिक्षा और उत्पादकता का संबंध अथवा उनका संयोग निश्चित ही इस तथ्य को प्रकट करता है कि आधुनिक विश्व में सर्वाधिक उत्पादन के कार्य विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी आधारित हैं। यह भविष्य में और भी बढ़ता जाएगा। *कोई भी देश शिक्षा और राष्ट्रीय उत्पादकता को प्रभावी ढंग से जोड़े बिना इतना साधन संपन्न नहीं हो सकता कि वह सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा और सार्वजनिक साक्षरता प्रदान कर सके।* यदि शिक्षा का उत्पादकता में (प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से) योगदान नहीं है, तो वह अत्यंत थोड़े लोगों — संपूर्ण जनसंख्या के सुविधाभोगी वर्ग तक ही सीमित रहेगी। प्राचीन और मध्यकाल में यही स्थिति थी। इस संपूर्ण प्रक्रिया में शोध का स्थान और उसकी भूमिका भी स्पष्ट है। हम जानते हैं कि कृषि उत्पादकता (हरित क्रांति) बढ़ाने के लिए विज्ञान और प्रौद्योगिकी की आवश्यकता है।

शि. शो. उ. (शिक्षा शोध उत्पादकता) का संबंध अपेक्षाकृत नया विचार है। उत्पादकता का व्यापक अर्थ लेना चाहिए। इसमें शिक्षा की लागत-प्रभविष्णुता में सुधार लाना आवश्यक है। शि. शो. उ. इस युग की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है। इनकी अंतःक्रिया से ही *सार्वजनिक* प्राथमिक शिक्षा संभव होती है।

वह शिक्षा *जड़ शिक्षा* है जब तक उसमें शोध का अवयव न हो, और उसका भी कोई उपयोग नहीं जब तक वह कुछ सीमा तक उत्पादकता से संबंधित न हो। *क्या पढ़ाया जाए? कैसे पढ़ाया जाए? बच्चे कैसे सीखते हैं? तथा बच्चों के विकास का पूरा मनोविज्ञान* आदि के संबंध में शोध की यथार्थ और तत्काल आवश्यकता है। यह अत्यंत रोचक और महत्वपूर्ण क्षेत्र है।

* * *

शिक्षक ही पाठ्यक्रम को जीवन प्रदान करता है, चाहे जैसा भी पाठ्यक्रम हो। भला या बुरा, शिक्षक ही उसे क्रियान्वित करता है और पाठ्यक्रम को यदि जीवंत बनाना है तो शिक्षक को शैक्षिक प्रयोग तथा नव प्रवर्त्तन के लिए अपने कार्य से निरंतर कुछ नए अधिगम के लिए यथेष्ट स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। हमें यथासंभव सभी प्रकार से शिक्षक की अग्रगामिता और साधन संपन्नता को *प्राथमिक स्तर पर और भी* प्रोत्साहित करना चाहिए।

मैंने शिक्षार्थियों और शिक्षकों के लिए आवश्यक मानक पुस्तकों की प्राप्ति से संबंधित वर्तमान निराशाजनक स्थिति के संबंध में कुछ नहीं कहा है। पुस्तकों के मूल्य प्रायः क्रेताओं के साधनों से कहीं अधिक है। इस प्रश्न पर भी गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

अब हम शिक्षा की *श्रेष्ठता* पर विचार करें। श्रेष्ठता के अंतर्गत रुचि, क्रियाकलाप आदि संबंधी व्यापक क्षेत्र भी निहित हैं — अर्थात् अध्ययन, शोध, शिक्षण, तकनीकी कौशल, सामाजिक और नैतिक मूल्यों का उत्कर्ष, खेल-कूद आदि-आदि। *श्रेष्ठता के अर्थ और उसके अभिज्ञान की विधि को निरंतर जाँचते रहने की आवश्यकता है।* यह कार्य यथासंभव बिना किसी पूर्व कल्पित विचार या पूर्वग्रह के संपन्न करना है। यह सरल कार्य नहीं है। जब तक पूरी सावधानी नहीं बरती जाएगी, तब तक प्रतिभा की पहिचान का वास्तविक प्रयोजन पूरा नहीं होगा।

वह शिक्षा जिसमें श्रेष्ठता का मूल्य और उत्कर्ष नहीं है अंततः प्रयास और साधनों का अपव्यय ही है। श्रेष्ठता का समर्थन अवसर की समानता के विचार का विरोधी नहीं है। फिर इस पर भी बल देना है कि *व्यक्ति मे श्रेष्ठता का अर्थ अपने विशिष्ट क्षेत्र में सामुदायिक हित के प्रति अपने दायित्व का बोध होना है, विशेषतः समुदाय के निर्बल वर्ग के प्रति दायित्व का बोध होना।* जहाँ यह नहीं होगा, शिक्षा द्वारा संपन्न और विपन्न वर्गों के बीच का अंतर और बढ़ेगा, घटेगा नहीं। *शिक्षा को धनी और निर्धन के बीच की खाई पाटने मे सहायक होना चाहिए, अन्यथा वह असफल ही नहीं, हानिकारक भी होगी।*

श्रेष्ठता पर बल देने के सिद्धांत की उपेक्षा करना शिक्षा के मूल तत्व का — आत्मा का हनन करना है। *श्रेष्ठता रहित शिक्षा से नकारात्मक अभिवृत्तियाँ बढ़ती हैं और शिक्षार्थियों तथा शिक्षकों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।* श्रेष्ठता पर बल, विशेषतः शिक्षा के इस तीव्र प्रसार के समय अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्रसार से सामान्यतः गुणता में कमी आती है। ऐसा क्यों? क्योंकि पूर्व अनुभव के आधार पर हम कह सकते हैं कि जब विद्यार्थियों की संख्या 10 वर्ष से भी कम समय में दुगुनी हो जाती है तो दुगुनी संख्या में योग्य, समर्थ और समर्पित शिक्षक मिलने में उससे कहीं अधिक समय लग जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद 1950 और 60 के दशकों में उच्च शिक्षा मे विद्यार्थियों का नामांकन अनेक देशों में बड़ी तीव्र गति से बढ़ा, एक दशक में ही उनकी संख्या दुगुने से भी अधिक हो गई। यही स्थिति हमारे देश में भी हुई। अब सर्वत्र प्रसार की गति बहुत कम है। *नामांकन की प्रवृत्ति सामान्यतः विश्वव्यापी घटना है, विश्व एक 'सार्वभौम गाँव' है।*

श्रेष्ठता के उच्च शिखरों के संबंध में एक बात। इनकी प्रतिस्पर्द्धा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर होनी चाहिए। आधारभूत शोध की प्रकृति सार्वभौम होती है। अपनी आवश्यकताओं के अनुसार सावधानी के साथ इनका चयन होना चाहिए। निश्चित ही हम उतनी संख्या में शिखरों का चयन नहीं कर सकते जितनी संख्या में औद्योगिक दृष्टि के उन्नत राष्ट्र दीर्घकालीन उच्च उत्पादकता से लाभान्वित होने के कारण चुन सकते हैं। शिखरों की संख्या में हम उनके साथ प्रतियोगिता नहीं कर सकते। यह महत्वपूर्ण नहीं है कि ये शिखर संख्या में कितने कम हैं, महत्वपूर्ण यह है कि गुणता में इनका प्रयास उच्चतम अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक पहुंचने का होना चाहिए। शिक्षा के मनोबल

विशेषतः प्रतिभाशाली युवकों के मनोबल की दृष्टि से यह अत्यंत महत्वपूर्ण है।

प्रतिभाशाली, मेधावी युवक राष्ट्र की अमूल्य संपत्ति हैं। पहले लिखा गया है कि गणित जैसे कुछ विशिष्ट क्षेत्रों को छोड़कर अन्य क्षेत्रों में प्रतिभा की सही पहिचान सरल कार्य नहीं है और अधिकतर हम इसमें गलत सिद्ध हो सकते हैं। इतना ही कठिन प्रतिभा का पोषण-पल्लवन भी है। एक प्रतिभा संपन्न व्यक्ति को अवकाश और स्वतंत्रता भी चाहिए। उसे विश्वविद्यालयी नियमों से स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। प्रतिभा की पहिचान और उसका विकास विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् का विशेष उत्तरदायित्व है।

* * *

आज उच्च विज्ञान और घोर निर्धनता तथा दुःख साथ-साथ दिखाई पड़ते हैं। ऐसा क्यों है? क्योंकि ज्ञान के प्रति अनुराग, जनहित के प्रति अनुराग से भिन्न हो गया है। ये दोनों ही अपने स्थान से गिर गए हैं। अब हमारी आवश्यकता, और वस्तुतः प्रत्येक देश की आवश्यकता यह है कि हम शिक्षा, शोध और उत्पादकता को विवेक के साथ अपनाएं और जनकल्याण को ध्यान में रखें। अतः हम शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं से अपना कार्य प्रारंभ करें। थोड़ी संख्या रहने पर भी *प्रतिबद्ध समर्पित शिक्षकों का महान् प्रभाव पड़ सकता है।* यह विशेष महत्व की बात है।

अंततः शिक्षा में प्रत्येक अवयव का आधार स्वानुशासन और आत्म निग्रह है। *स्वानुशासन आरोपित अनुशासन नहीं है।* यह उच्च चरित्र और संकल्प वाले व्यक्तियों के उदाहरण से प्राप्त होता है। ऐसे उदाहरण बड़े प्रभावशाली होते हैं और उनका प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। अवगुण भी संक्रामक होते हैं किन्तु गुणों का प्रसार अपेक्षाकृत अधिक होता है। अंधकार के ऊपर प्रकाश की और असत्य के ऊपर सत्य की सदा ही विजय होती है। शैक्षिक संस्थाओं में किसी भी प्रकार की हिंसा के लिए चाहे वह विचार में हो, वाणी में हो या कर्म में हो — स्थान नहीं है। *अहिंसा उत्तम शिक्षा का मूल और फल दोनों है।* हिंसा अंततः अधिक हिंसा की ओर ले जाती है। यदि स्वानुशासन तथा सामाजिक और नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा, पोषण और संवृद्धि शिक्षा संस्थाओं में नहीं होगी तो और कहाँ होगी?

विनायक कृष्ण गोकक

शिक्षा में मानव - मूल्य



विनायक कृष्ण गोकक

विनायक कृष्ण गोकक *(जन्म 1909) विख्यात कवि एवं उपन्यास लेखक हैं। विदेशों में हुए अनेक साहित्यिक एवं शैक्षिक सम्मेलनों मे इन्होंने भारत का प्रतिनिधित्व किया है। ये बंगलूर विश्वविद्यालय और सत्य साईं उच्च शिक्षार्जन संस्थान के उप कुलपति; हैदराबाद के सेंट्रल इंस्टीच्यूट ऑफ इंग्लिश के निदेशक; शिमला के इंडियन इंस्टीच्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडी के निदेशक; और ज्ञानपीठ पुरस्कार चयन समिति के अध्यक्ष रह चुके हैं। आजकल ये साहित्य अकादमी के अध्यक्ष हैं। इनका उपन्यास* नरहरि, प्रॉफेट ऑफ न्यू इंडिया *(संयुक्त राज्य अमरीका से प्रकाशित) काफी चर्चित रहा है।*

शिक्षा में मानव-मूल्य

किसी एक धर्म के घेरे से मुक्त मानव-मूल्यों का सिद्धांत यहाँ प्रस्तुत है। यह पूर्णतः धर्मनिरपेक्ष सिद्धांत है, क्योंकि इसके अनुपालन के लिए किसी विशेष धार्मिक विश्वास की आवश्यकता नहीं है। शिक्षा के इस सिद्धांत को व्यापक स्वीकृति मिलनी चाहिए। यह बौद्धिक शिक्षा के साथ-साथ नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा का आधार हो सकता है। इस सिद्धांत में एक निश्चित विश्वदृष्टि प्रकट होती है। यह विश्वदृष्टि धर्मपरक अथवा ईश्वरपरक नहीं है और न ही वैज्ञानिक है। यह अंशतः मानवीय है और अंशतः रहस्यात्मक, क्योंकि यह उस सत्ता —आत्मा— के अस्तित्व में विश्वास करता है, जिसका प्राचीन भारतीय दर्शन में विशेष महत्व है।

सामान्यतः व्यवहृत आज के शिक्षा-सिद्धांत को पाँच सरल शब्दों में समाहृत किया जा सकता है। इनमें पहला है *ज्ञान।* यह ज्ञान के लिए ज्ञान है, जिसे विद्यार्थियों को प्रदान करना हमारे विश्वविद्यालयों का लक्ष्य है। ज्ञान सत्य है जो बौद्धिक दृष्टि से समझा जाता है। दूसरा शब्द है — *कौशल।* यह शिक्षा की प्रमुख संकल्पनाओं में से एक है। कौशल के अनेक पक्ष हैं। व्यक्तिगत स्वास्थ्य और स्वच्छता विज्ञान से लेकर व्यावसायिक कौशल अथवा स्वयं अपने शैक्षिक विषय की पूर्ण ग्रहणशीलता तक इसमें शामिल हैं। वस्तुतः यह नैतिक कौशल है। तीसरा शब्द है — *शांति* जो 'संतुलन' अथवा 'साम्यावस्था' के शिक्षा-सिद्धांत को प्रस्तुत करता है। शिक्षा द्वारा प्रदत्त यह सर्वोच्च वरदान है। इससे हमें सभी विवादों से ऊपर उठने, समन्वय-दृष्टि प्राप्त करने अथवा विरोधी बातों में सामंजस्य पैदा करने में सहायता मिलती है। यह व्यक्ति की संस्कृति का उत्तम लक्षण है कि उसने यह संतुलन प्राप्त कर लिया है और वह विभिन्न दृष्टिकोणों में सामंजस्य उत्पन्न कर उनमें एकता पैदा कर सकता है। इससे विकारग्रस्त और क्षतिप्रद प्रवृत्तियाँ दूर होती हैं और वे परिष्कृत तथा उदात्त बनती हैं। शिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्ति तनाव और दबाव की स्थिति में भी यह संतुलन बनाए रखते हैं। मनुष्य, जिस समाज और पर्यावरण में रहता है, *उसका बोध और उसके प्रति जागरूकता* शिक्षा की चौथी संकल्पना है। यह बोध मनुष्य की किसी एक मानसिक क्षमता से संबंधित नहीं है, अपितु विचार (बुद्धि) और भाव (हृदय) के संयुक्त प्रक्षेपण का प्रतिफल है। विचार और भाव दोनों मनुष्य को अपने पर्यावरण के प्रति प्रतिक्रियाएं हैं, जो मनुष्य को पर्यावरण के प्रति जागरूक बनाए रखने के लिए अग्रसारित करती हैं। 'बोध' शब्द से यही व्यंजित होता है। मनुष्य की सहज क्रियात्मक प्रवृत्ति अथवा कार्य की प्रेरणा इस संयुक्त प्रक्षेपण को रूपरंग प्रदान करती है। सामाजिक जागरूकता कार्य के प्रति आरंभिक प्रवृत्ति है और वह अपने चरम उत्कर्ष में अहिंसा अथवा विश्वप्रेम है। इसका क्रियात्मक पक्ष स्पष्टतः एक ओर हिंसा से विरक्ति और दूसरी ओर प्रेम की क्रियाशील अभिव्यक्ति के प्रति आग्रह में परिलक्षित होता है। पांचवां शब्द है — *सौम्यता* अथवा *शिष्टता* । इसका संबंध न्यूमैन की उस परिभाषा से है जिसमें शिक्षित व्यक्ति को सज्जन की संज्ञा प्रदान की गई है। सभी परिस्थितियों और दशाओं में व्यक्ति की शिष्टता

और मिलनसारिता उसकी संस्कृति के लक्षण हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ज्ञान, कौशल, संतुलन, बोध और सौम्यता एक शिक्षित व्यक्ति के प्रमाणचिह्न हैं। विद्यार्थी अपने विश्वविद्यालयी जीवन में इन्हें अर्जित और संवर्द्धित करता है। जब वह इसके बाहर आता है, तो वह सामान्य तथा विशिष्ट क्षेत्रों में ज्ञानवान और कुशल तथा अपने स्वभाव और आचरण में सौम्य तथा संतुलित माना जाता है। उसमें बोध और जागरूकता—सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना रहती है। आज भारत में कोई नहीं कह सकता कि हमारे विश्वविद्यालयों में ये सभी लक्षण प्राप्त होते हैं। एक औसत विद्यार्थी में ज्ञान की कुछ मात्रा और कुछ कौशलों का उपार्जन मात्र देखा जाता है। यह उपार्जन भी सामान्यतः आंशिक और अधूरा होता है। जहाँ तक संतुलन और सौम्यता का प्रश्न है, यह सच है कि ये भी विश्वविद्यालयी संस्कृति के प्रमाण-चिह्न हैं। किन्तु इन्हें प्राप्त करने के लिए हमारे विश्वविद्यालयों में कोई विशेष प्रयास नहीं किया जाता। इसे संयोग पर छोड़ दिया जाता है, विद्यार्थी चाहे इन्हें अर्जित करे या न करे।

ये पाँच मूल्य, जिन्हें शिक्षा प्रसारित करना चाहती है, मनुष्य की मानसिक क्षमता और उसकी आत्मा से संबंधित है। मानसिक क्षमताएँ हैं—बुद्धि, संकल्प और हृदय। बोध और सामाजिक जागरूकता लाने में बुद्धि और हृदय दोनों का योग रहता है और कुछ सीमा तक संकल्प का भी। पर्यावरण के प्रति संयुक्त प्रतिक्रिया के रूप में ये बोध और सामाजिक जागरूकता लाते हैं। इस अर्थ में बोध *अनुभूत विचार* है। बुद्धि या विवेक सत्य का द्योतक है। संकल्प कौशल तथा कुछ करने का द्योतक है और हृदय संतुलन तथा साम्यावस्था का द्योतक है। निर्मल प्रेम आत्मा से प्रस्फुटित होता है।

इन पाँचों शब्दों पर, जो शैक्षिक प्रक्रिया के अंग हैं, कुछ और विचार करना उचित प्रतीत होता है। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, ज्ञान अथवा सत्य वह सच्चाई है जो बुद्धि द्वारा प्राप्त होती है। एक कथन लें—*आग जलती है।* यह हमारे दैनिक अनुभव का तथ्य है। इसमें कार्य कारण संबंध है और इसे वैज्ञानिक सत्य माना जा सकता है, ठीक उसी प्रकार के कथन की भांति कि *हाइड्रोजन के दो भाग और आक्सीजन के एक भाग के मिलने से पानी बन जाता है।* एक बौद्धिक सत्य वैज्ञानिक सत्य से भिन्न है। *सभी मनुष्य मरणशील है* — यह कथन केवल प्रेक्षण के आधार पर पूर्णतः संगत नहीं माना जा सकता। हमने यह निष्कर्ष तथ्यों की शृंखला के आधार पर निकाला है। क मरणशील है, ख मरणशील है, ग मरणशील है और आगे भी ऐसे ही। ऐसे कथनों की अनंत शृंखला से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि *सभी मनुष्य मरणशील है*। हम सीमित प्रेक्षणों के आधार पर विवेकीकरण की ओर अग्रसर होते हैं और एक निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। हम विद्यालयों और महाविद्यालयों की कक्षाओं में जो अध्ययन करते है, वे वैज्ञानिक सत्य तथा बौद्धिक सत्य होते हैं। वे किसी खास विषय या विषयों से संबंधित होते है।

दूसरा शब्द *कौशल* हमें इस तथ्य से परिचित कराता है कि व्यक्ति की शिक्षा अनंत है। उसे एक के बाद दूसरे कौशल की शृंखला सीखनी है।

(1) *स्वसेवी कौशल :* बालक को अपने दाँत साफ करना और स्वच्छ वेशभूषा का तरीका सीखना है, उदाहरणतः शरीर-रक्षा की प्रकृति, जीवन के प्रत्येक स्तर पर बदलती जाती है।

(2) *सामाजिक कौशल :* कक्षा मे तथा सड़क पर व्यवहार के तरीकों से संबंधित कौशलों से धीरे-धीरे समूह कार्य, विद्यालय और महाविद्यालय में समिति कार्य, कुछ प्रशासनिक कार्य जैसे व्यायामशाला का संचालन और परामर्शीय तथा स्वैच्छिक कार्य जैसे कालेज यूनियन की बैठकें आदि कौशलों का विकास होता है। इन कार्यों को प्रशिक्षण काल अथवा कार्यक्रमों के

रूप मे ग्रहण करने के बदले हमारे विद्यार्थी इस प्रकार का व्यवहार करने लगते हैं, जैसे वे स्वयं मंत्री और प्रधानमंत्री हों। इस प्रवृत्ति मे प्रभावपूर्ण ढंग से परिवर्तन लाना है। आगे जब वे पूर्ण रूप से नागरिक बन जाते हैं और सार्वजनिक क्रियाकलापों के संचालन में भाग लेने लगते हैं, नए तथा उत्तरदायी पदों पर आसीन होते हैं तो यह उनके लिए उपयोगी सिद्ध होगा कि वे इन पाँचों प्रकार के कौशलों के क्षेत्र में नई-नई बातें अर्जित करने और उन्हें आत्मसात करने की आदत बनाए रखें। उनके कार्य के लिए यह मूल्यवान साबित होगा।

(3) *कक्षा तथा विषय-कौशल :* कौशल के दूसरे प्रकार का भी सतत विकास आवश्यक है, यथा—स्मरणशक्ति तथा विषय-ज्ञान से संबद्ध कौशलों का विकास। उदाहरण के लिए प्रारंभिक स्तर पर याद करने का अर्थ है कोई गद्यांश या पद्यांश, गीत या प्रार्थना याद करना। दूसरे स्तर पर इसका अर्थ है कि बिना किसी सहायता के पूरी कविता या गद्य अवतरण दुहराना। अंत में इसका अर्थ होगा संपूर्ण नाट्य संवाद याद करना और बिना किसी त्रुटि के विभिन्न भूमिकाओं का पाठ प्रस्तुत करना। विषय के अधिकार से संबंधित कौशल अनेक हो सकते हैं। जब बालक को पढ़ने-लिखने और अंकगणित का प्रारंभिक ज्ञान हो जाता है तब अर्थग्रहण के विविध रूप प्रारंभ होते हैं, जैसे—सामान्य संकल्पनाओं और भाववाचक संज्ञाओं को समझना, व्यक्तिवाचक और जातिवाचक नाम समझने के बाद संयुक्त और मिश्र वाक्यों का अर्थग्रहण, मुहावरों, अलंकारिक भाषा, रूपक, प्रतीक, शब्दों के सूक्ष्म भेद, शब्द-लय और वाक्य-लय, छंद शास्त्र, मुक्त छंद और आरोह अवरोह, शैली के विभिन्न प्रकार तथा लेखक की व्यक्तिगत शैली आदि का बोध। यहाँ हमने भाषा से संबंधित कौशलों का ही विश्लेषण किया है। प्रत्येक कला-विषय, प्रत्येक भौतिक, सामाजिक या व्यावसायिक विज्ञान से संबंधित कौशलों का समूह होता है और बिना उन पर अधिकार प्राप्त किए उन्हे क्रियान्वित नहीं किया जा सकता। भौतिक अथवा प्रायोगिक विज्ञान के प्रयोगशालायी कौशल होते हैं और कृषि अथवा इंजीनियरिंग जैसे व्यावसायिक विज्ञान के भी कक्षा से बाहर कौशल होते हैं।

(4) *व्यावसायिक कौशल :* कानून, इंजीनियरिंग, कृषि या औषध विज्ञान जैसे विषयों मे निष्णात हो जाने के बाद भी वकील, कृषि-स्नातक और इंजीनियर को अप्रेंटिसशिप करनी पड़ती है। डाक्टर को इंटर्नशिप करनी पड़ती है। शिक्षकों को प्रशिक्षण महाविद्यालय में जाकर पाठ्यक्रम निर्माण के विज्ञान और कला, कक्षा-शिक्षण और मूल्यांकन की शिक्षा लेनी पड़ती है। वस्तुतः प्रत्येक स्नातक को, जो समाज में अपने ज्ञान का प्रयोग करना चाहता है, अपने क्षेत्र में कार्य करने की सर्वोत्तम विधि सीखनी पड़ती है। इस अभ्यास में कुछ कौशल सन्निविष्ट होते है। केवल महाविद्यालयी शिक्षक ही ऐसा है जो नियमित *इंटर्नशिप* से मुक्त है और शिक्षा विशेषज्ञ यह अनुभव करने लगे है कि उनके लिए भी कुछ होना चाहिए। हमारे देश में पाश्चात्य देशों जैसा वातावरण नहीं है जहॉ महाविद्यालय के शिक्षकों पर भी इस नैतिक अनिवार्यता का दबाव रहता है कि वे अपने कार्य की विधियों और साधनों से अवगत रहे।

(5) *नैतिक और आध्यात्मिक कौशल :* पॉचवे प्रकार के कौशल जिन्हें विद्यार्थियों को जीवन पर्यन्त प्रवर्द्धित करना है वे है जिनका संबंध दृढ़ और उत्कृष्ट चरित्र से है। *चरित्र* समुज्जवल संकल्पशक्ति है जिसका निर्माण हम अपने अंतःकरण मे करते है ताकि हम अपने उच्च आदर्शों के स्वप्न को साकार कर सकें। *चरित्र* ही आदर्शों को कार्यरूप में परिणत करता है। इसमें साध्य और साधन दोनों की पवित्रता का ध्यान रखना पड़ता है। *चरित्र* जीवन के संदर्भ मे इस न्याय-विधि की अनुभूति करता है जो विश्व की रचना मे अंतर्भूत है।

सरल प्रार्थना करने तथा थोड़ी देर के लिए शांतमुद्रा मे बैठने से बालक आध्यात्मिक जीवन

प्रारंभ कर सकता है। तत्पश्चात् वह आत्मालोचन तथा आत्मविश्लेषण और आत्म-परीक्षण करना सीखता है। यदि व्यक्ति अपनी गहराइयों को परखना और अपनी ऊँचाइयों को मापना चाहता है तब वह ध्यानावस्थित होता है।

तीसरा शब्द *संतुलन* प्राण अथवा जीवात्मा और संवेगों मे समन्वय स्थापित करने का द्योतक है। अपने संवेगों और आवेगों पर इस प्रकार का नियंत्रण संस्कृति का निश्चित लक्षण है।

बोध और *सामाजिक जागरूकता* से यह प्रकट होता है कि किसी की शिक्षा उस समय तक पूर्ण नहीं हुई है जब तक वह सहज रूप मे अपने पड़ोसी अथवा परायों की देखभाल के लिए अग्रसर न हो। यह कहा गया है कि शीतल मंद समीर और प्रकाश रश्मियों से युक्त इस सुंदर धरती पर रहने के लिए ईश्वर का ऋण चुकाना दूसरों के लिए कल्याण-कामना में निहित है। अपने सामाजिक कर्तव्यों के प्रति इस प्रकार की जागरूकता प्राचीन अथवा आधुनिक विश्व मे महत्वपूर्ण सद्‌गुण है।

अंतिम शब्द सौम्यता *निश्छल* मैत्रीभाव से परिपूर्ण स्वभाव का द्योतक है। एक शिक्षित व्यक्ति को वचन और कर्म में कभी भी उग्र और अविवेकी नहीं होना चाहिए। अनुचित रूप से अपमानित होने पर भी वह प्रसन्नचित्त रहता है। सुकरात तब भी शांतचित्त ही बना रहा था, जब उसकी कर्कशा पत्नी किसी बात को लेकर उसे डाँट-डपट रही थी और अंत में सुकरात के शांत बने रहने पर उसके सिर पर उसने ठंडे पानी का घड़ा उड़ेल दिया था। तब भी सुकरात ने शांत भाव से यही कहा था—*बड़ी देर तक मेघ गरज रहा था, अब वह बरस पड़ा है।* व्यक्ति कितना ही विद्वान और सर्वगुण संपन्न क्यों न हो, पर उसकी शिक्षा उस समय तक पूर्ण नहीं होती है जब तक वह संतुलित और सौम्य होना न सीख ले।

इस बिन्दु पर यह स्पष्ट करना उचित होगा कि *अंतर्बोध* और *प्रेम* के क्या अर्थ हैं। इन पांच मूल शब्दों में प्रेम पाँचवाँ और अंतिम शब्द है। विशुद्ध प्रेम सीधे आत्मा से निसृत होता है और बुद्धि, संकल्प, भाव (हृदय) तथा बोध के संपर्क में आते ही उन्हें रूपान्तरित कर देता है और उन्हें उदात्त बना देता है। निम्न अथवा साधारण धातु को वह सोना बना देता है। अन्तर्बोध से हमारा तात्पर्य उस तादात्मीकरण से है, जिसका अनुभव और प्रत्यक्षीकरण व्यक्ति स्वयं अपने और अन्य वस्तु के बीच करता है, वह वस्तु चाहे कोई व्यक्ति हो अथवा वृक्ष हो अथवा शिलाखंड हो। प्रेम द्वारा हम इस तादात्मीकरण का अनुभव करते है। प्रत्यक्षीकरण और अनुभव दोनों उच्च चेतना जगत के तत्व हैं। मस्तिष्क के बाएँ भाग को स्मृति और मेधा का स्थल कहा जाता है। दायाँ भाग अंतर्बोध का स्थल है। हममें से अधिकतर लोग आधे मस्तिष्क से काम करते हैं, क्योंकि हमने कभी भी अपने अंतर्बोध को जागृत नहीं किया और न ही इसके सौन्दर्य तथा दिव्यता का अनुभव ही किया। सौम्यता प्रेम में परिणत हो जाती है जब प्रेम का अथवा अंतर्बोध के साथ उसका प्रगाढ़ मिलन होता है। अंतर्बोध या प्रेम संबंध शिक्षा के चारों उपर्युक्त उद्देश्यों—ज्ञान, कौशल, संतुलन और बोध—में से प्रत्येक के साथ स्थापित हो सकता है। अंतर्बोध या प्रेम का प्रभाव इन मूल्यों में से प्रत्येक को सापेक्ष से निरपेक्ष मूल्य में रूपांतरित कर देता है। ये चारों मूल्य शिक्षित व्यक्ति में जो परिष्कार लाते हैं, वे बहुत कुछ सतही होते हैं। ये आत्मा की गहराई की जगह त्वचा की गहराई तक ही रह जाते हैं। प्रेम का क्षणिक संपर्क भी शिक्षा के इन सापेक्षिक मूल्यों को निरपेक्ष मूल्यों में रूपान्तरित कर देता है। शिक्षा के चार मूल्यों के प्रतिरूप ये चार निरपेक्ष मूल्य आगे लिखे गए शब्दों द्वारा अभिव्यक्त होते हैं—*सत्य, धर्म* अर्थात् उचित कर्त्तव्य, *शांति* और *अहिंसा* अर्थात् बोध। प्रेम स्वतः सौम्यता की ही रूपांतरित अथवा अध्यात्मीकरण की स्थिति है। प्रेम समग्र शिक्षा के मूलभूत पांच संघटकों — ज्ञान, कौशल,

संतुलन, प्रेम, अहिंसा— में एक था। परन्तु यह कहना अधिक स्पष्ट और निकटतर सत्य है कि आत्मा से निसृत प्रेम एक सर्वनिष्ठ संज्ञा है जो इस कोष्ठक के बाहर स्थित है, जिसमे शिक्षा के ये चार सापेक्ष—मूल्य-ज्ञान, कौशल, संतुलन और बोध— रखे जाते हैं। प्रेम अपनी अंतर्बोधक क्षमता के रूप में शिक्षा के इन चार सापेक्ष मूल्यों को निरपेक्ष मूल्यों में रूपांतरित करता है। मूलतः दो रहस्यात्मक संज्ञाओं— *अंतरात्मा,* जो अंतर्यामी है और *जीवात्मा* (ईश्वर का अंश जो मानव शरीर से परे है, और उसके भीतर आबद्ध नहीं है) का प्रयोग प्रेम और अहिंसा अथवा विश्वप्रेम के लिए किया जाता था। केवल आत्मा का प्रभाव ही अब चारों निरपेक्ष मूल्यों को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है और शेष ढाँचा पूर्णतः मानवीय है। आत्मा से निसृत प्रेम ही वह कीमियाकारी तत्व है जो ऐहिक मूल्यों को आध्यात्मिक मूल्यों में रूपांतरित करता है। समग्र शिक्षा के सिद्धांत में ऐहिक शिक्षा के पाँचों मूल्यों के साथ-साथ आध्यात्मिक शिक्षा के अन्य पाँचों मूल्य भी शामिल हैं। जब पाँचों सापेक्ष मूल्य इस प्रकार अर्जित हो जाते हैं कि इनका मूल आत्मा तक पहुँच जाता है तभी आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति होती है। जब यह निष्पत्ति हो जाती है तब शिक्षा स्वयं पूरी होती है और समग्र बनती है।

हमने *बोध* को *सामाजिक जागृति* के अर्थ में स्पष्ट किया है। जब यह सामाजिक जागृति आत्मा मे लीन होती है और उसके द्वारा रूपांतरित होती है, तो यह अहिंसा में और विश्वप्रेम मे भी परिणत हो जाती है।

यहाँ मूल्यों की दो कोटियाँ हैं—एक सापेक्ष और दूसरी निरपेक्ष। सापेक्ष मूल्यों के अर्जन को सामान्य रूप से *शिक्षा* कहते है। इसकी प्राप्ति हमें तथ्यात्मक अथवा बौद्धिक सत्य, कौशल, नैतिक आचरण, शांति अथवा संतुलन और सज्जनता अथवा सौम्यता के रूप में होती है। एक उत्तम शैक्षिक संस्था मे केवल कुछ ही नहीं वरन् ये सभी मूल्य अर्जित हो सकते हैं। किन्तु यदि हम संपूर्ण अथवा समग्र शिक्षा की इच्छा रखते है तो हम इन सापेक्ष मूल्यों के अर्जन के बाद अपना शैक्षिक प्रयास भंग नहीं कर सकते। व्यक्ति के आध्यात्मिक जीवन का मार्ग प्रशस्त करना होगा। विद्यार्थी को निरपेक्ष मूल्यों का आस्वादन कराना होगा, जैसे— शाश्वत सत्य, सहज प्रकृति के रूप में ईश्वरीय विधान, सहज आध्यात्मिक प्रतिक्रिया के रूप मे कार्य, रचनात्मक शांति, जो केवल संतुलन मात्र नहीं है वरन् आह्लादकारी शीतल धारा के समान है और वह मस्तिष्क में तथा शेष शरीर मे प्रवाहित होती रहती है, अहिंसा और विश्वप्रेम जो 'बोध' का निरपेक्ष अथवा उदात्त रूपांतरण है। ये अपरिवर्तनशील और निरपेक्ष मूल्य हैं, क्योंकि ये शाश्वत सत्ता से उद्‌भूत होते हैं। अंतर्बोधात्मक विवेक-बुद्धि ही अपरिवर्तनशील सत्य का साक्षात् करती है। अंतर्बोधात्मक संकल्प ही ईश्वरीय विधान को समझता है और उसे प्रतिबिम्बित करता है। अंतर्बोध जब संतुलन के साथ मिल जाता है तब वह रचनात्मक शांति में प्रतिफलित होता है और यही *शाश्वत आनंद* का पूर्वाभास है। अंतर्बोध जब *अनुभूत विचार* अथवा बोध के साथ मिलता है तो इससे अहिंसा अथवा विश्वप्रेम का उद्‌भव होता है। आध्यात्मिक जीवन से हमारा तात्पर्य है— अन्य मानसिक क्षमताओं— बुद्धि, संकल्प, हृदय और अनुभूत विचार अथवा बोध के साथ मिलकर अंतर्बोध द्वारा व्यक्तित्व के चार विभिन्न भागों में प्राप्त इन चार आध्यात्मिक मूल्यों का संवर्द्धन। जब हृदय की संवेदनाएँ आत्मा से निसृत प्रेम के साथ मिल जाती है, तब हमे विशुद्ध प्रेम अथवा अंतर्बोध की प्राप्ति होती है जो सापेक्ष मूल्यों में से प्रत्येक का स्पर्श करती है और उन्हे निरपेक्ष बना देती है।

आध्यात्मिक जीवन सामान्यतः आत्मज्ञान से संबंधित है। अतः कुछ लोग सोच सकते हैं कि *सत्य, धर्म, शांति* और *विश्वप्रेम* की सिद्धि के रूप में आध्यात्मिक जीवन के वर्णन का अर्थ

है—आध्यात्मिक जीवन का विभाजन। किन्तु यह सत्य से परे है। ये चार शब्द और प्रेम—सर्वनिष्ठ रूपांतरकारी शक्ति—हमें अखंड आध्यात्मिक जीवन के सारतत्व का विस्तृत परिचय प्रदान करते हैं। ये पाँच शब्द इंगित करते हैं कि हमारे अंतश्चेतना के प्रत्येक भाग में अध्यात्मीकरण होता है। प्रत्येक मानसिक क्षमता आत्मोन्मुख हो उठती है और उसका सम्यक साधन बन जाती है। अंतर्बोधात्मक विवेक बुद्धि हमें निरपेक्ष सत्य का दर्शन कराती है, अंतर्बोधात्मक संकल्प यौगिक कौशल अथवा सम्यक कर्म का साधन बनता है। अंतर्बोधात्मक बोध अहिंसा अथवा विश्वप्रेम में परिणत होता है। आत्मा की प्रेम-क्षमता अथवा अंतर्बोध एक प्रभावशाली रूपांतरकारी शक्ति है जो मनुष्य को अपने व्यक्तित्व, ईश्वर और सृष्टि की खोज के लिए अग्रसर करती है। इन समस्त अभिवृत्तियों की सहज एकता के बिना आध्यात्मिक जीवन अपने सच्चे रूप मे संभव नहीं।

समग्र शिक्षा का अर्थ है—ऐहिक के साथ-साथ आध्यात्मिक मूल्यों का विकास। पहले ऐहिक मूल्यों की आवश्यकता है और फिर उनके द्वारा विद्यार्थियों को धीरे-धीरे कुशल तरीकों से आध्यात्मिक मूल्यों की ओर अभिमुख किया जाता है। सामान्यतः विद्यार्थियों द्वारा इनका विकास तत्काल ही नहीं हो जाता। उन्हे इनका अभ्यास अपने जीवन में दिन-प्रतिदिन करना पड़ता है। शिक्षक को यह प्रयास करना है कि विद्यार्थी यह महसूस करने लगे कि उन्हें अपने कार्य-क्षेत्र में अपनी विवेक-बुद्धि, संकल्प, हृदय और बोध को विकसित और परिष्कृत करने की आवश्यकता है। उन्हे इस आवश्यकता के प्रति भी समान रूप से जागरूक बनाना है कि उनकी प्रत्येक मानसिक क्षमता अंतर्बोध से अनुप्राणित हो और वे ऐहिक अथवा सापेक्ष मूल्यों को आध्यात्मिक अथवा निरपेक्ष मूल्यों मे रूपांतरित करने मे समर्थ है। दूसरे शब्दों में, इन दोनों कोटियोंके मूल्यों से परिचित कराने के बाद उनके सामने विकास का मार्ग प्रशस्त रखा जाए। प्रत्येक विद्यार्थी को न तो सन्त बनाया जा सकता है और न प्रत्येक को रहस्यवादी ही। यह रूपांतरण विद्यार्थियों को स्वयं अर्जित करना है। समग्र शिक्षा को जिस कार्य का प्रारंभ और प्रयास करना है, वह है—विद्यार्थी मे पहले सुसंस्कृत नागरिक बनने, फिर तीर्थयात्री की भांति कर्त्तव्य पथ अपनाने और समाज तथा विश्व की सेवा में दीप्तिमान स्वयंसेवक होकर काम करने की तीव्र भावना भर देना। उन्हें पहले सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना से नागरिक के रूप में और विवेक के लिए उत्साही जिज्ञासु के रूप में विकसित होना है। तदुपरांत उन्हें मानवता की सेवा में दीप्तिमान स्वयंसेवक और सत्य के पथ पर सक्रिय तीर्थयात्री के रूप मे विकसित होना है।

बसंती दुलाल नाग चौधरी

शिक्षा का नृवैज्ञानिक आयाम



बसंती दुलाल नाग चौधरी

बसंती दुलाल नाग चौधरी *(जन्म 1917) ने भौतिकी मे डॉक्टरेट की उपाधि बर्कले के कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय से प्राप्त की। ये जिन महत्वपूर्ण पदों पर रहे, उनमें से कुछ हैं: निदेशक, साहा इंस्टीच्यूट ऑफ न्यूक्लियर फ़िजिक्स, कलकत्ता; वैज्ञानिक सलाहकार, सुरक्षा मंत्रालय, भारत सरकार; उप कुलपति, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली; अध्यक्ष, रिसर्च एडवाइज़री कौंसिल, नेश्नल फ़िज़िकल लेबोरेटरी, दिल्ली। ये अनेक शैक्षिक निकायों के फेलो हैं जिनमें प्रमुख हैं: भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी, दिल्ली; भारतीय विज्ञान अकादमी, इलाहाबाद; भारतीय विज्ञान अकादमी, बंगलूर; इंडियन फ़िज़िकल सोसाइटी, कलकत्ता। भारत और विदेशों की अनेक महत्वपूर्ण समितियों के सदस्य होने के साथ-साथ ये नई दिल्ली की वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद् की पर्यावरणीय अनुसंधान समिति के अध्यक्ष हैं। इनकी प्रमुख पुस्तकें हैं:* साइंस एंड सोसाइटी; टेक्नोलोजी एंड सोसाइटी; *और* इंट्रोडक्शन टु एनवायरनमेंटल मैनेजमेंट इन डेवलपिंग सोसाइटीज़।

शिक्षा का नृवैज्ञानिक आयाम

हम बिना अधिक विवाद के यह स्वीकार करते हैं कि हम मानव अपने विकास के परिणाम हैं। पर विचित्र बात यह है कि हम उसके परिणामी निष्कर्षों से प्रायः बचते हैं। उदाहरणतः आदि मानव से संबंधित नृवैज्ञानिक शोध यह दर्शाते हैं कि केवल *होमोसेपियन्स* ही नहीं, वरन् उनके पूर्वज *होमोइरेक्टस* सहभोजी और अनन्य सहयोगी थे। वस्तुतः जैसा कि रिचर्ड लीके का कहना है—

> "आखेट तथा संग्रहण की मिश्रित अर्थव्यवस्था वातावरण के साधनों को अधिक अच्छी तरह से सर्वाधिक काम में लाती है और सामाजिक अन्तर्क्रिया की धार भी तीव्र होती है—और ये दोनों बातें मानव प्राणी की अनुकूलन-क्षमता को बढ़ाती हैं तथा विकासवादी शक्तियाँ उसके विकास मे सहायक होती हैं। वह (सहयोग) मानव जाति के अभ्युदय में संभवतः अकेला सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक है।" (*ओरिजिन्स*— रिचर्ड ई. लीके, पृ. 234)।

यह निष्कर्ष आज की प्रतियोगिता मूलक विद्यालयी शिक्षा के प्रति हमारे दृष्टिकोण के सर्वथा विपरीत है। मानव विकास में सहयोग के अतिरिक्त दो और उल्लेखनीय लक्षण स्पष्ट हैं, जिनके कारण मनुष्य विशिष्ट प्राणी बन सका है। ये लक्षण हैं—अपने चतुर्दिक विश्व के संबंध मे सीखने की असीम क्षमता और उसकी विवेचना करने का प्रयास, तथा विविध रूपों में वातावरण के परिचालन और संरचना की योग्यता। इनमें पहला तो अंशतः शिक्षा का आधार है और दूसरे का संबंध संस्कृति के निर्माण से है।

पशुशावकों की तुलना में मानव शिशु सांसारिक परिस्थितियों का सामना करने में कम सक्षम होता है। उसकी जन्मजात प्रवृत्तियाँ कम और निर्बल होती हैं। फिर भी मानव शिशु में सीखने की अपार क्षमता होती है। इस क्षमता से वह वातावरण के बारे में सीखता है, जैसे, अपने परिवेश में भाषा-ध्वनियों को सुनना, माता-पिता की मुखाकृति पहिचानना, रूपरंग देखना आदि। सीखने की क्षमता से ही हम घर-परिवार, विद्यालय और समुदाय के सदस्य बनते हैं। यह व्यवहार-पद्धति अथवा उसका अधिकांश हमारे मस्तिष्क में रूढ़बद्ध नहीं है। मानव-मस्तिष्क की रचना सुनिर्दिष्ट है। इसकी रचना इस प्रकार की है कि इसमें अधिकाधिक व्यवहार-अनुकूलता की प्रवृत्ति पाई जाती है। इससे सरलतापूर्वक यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मनुष्य अपनी जैविक सीमाओं के भीतर वातावरण तथा परिस्थितियों की विविधताओं, अनेकानेक स्थितियों और परिवेशों में जीवन को अनुकूल बना लेता है। यह अत्यधिक नम्यता सारे विश्व में अनेक समाजों के सांस्कृतिक प्रतिरूपों और विविधताओं में परिलक्षित होती है। फिर भी विकास की परवर्ती अवस्थाओं में—लगभग 20 लाख वर्ष पूर्व या शायद उससे भी 10 लाख वर्ष पहले सामाजिक

व्यवहार का एक प्रतिमान बहुत महत्वपूर्ण हो गया। यह उपधारणा तर्कसंगत है कि प्राकृतिक चयन की शक्तियों ने सहयोग को निश्चित स्वीकृति दी होगी जो मानव-मस्तिष्क में कहीं गहरे अन्तर्स्थापित हो गया है।

झीलों और नदियों के तटों के मृदा-स्तरों से मिले प्रमाण हमारे पूर्वजों के अतीत की झलक देते हैं। इस अतीत में अंधा सहयोग नहीं था, अपितु वातावरण के प्रति नम्य अनुक्रिया, विकासोन्मुख मानसिक स्वतंत्रता, अंगुलियों का कौशल, समूह की पहिचान और सामूहिक प्रयास आदि विशेषताएँ थीं। सामाजिक नियम और प्रथाएँ ऐसा ढाँचा प्रस्तुत करती हैं जिनके माध्यम से समूह की भावना अभिव्यक्त होती है। समूह के साथ तादात्म्य स्थापन की प्रवृत्ति, आत्मीयता की भावना, आधुनिक समाज में खेल-कूद, विद्यालयीय निबद्धता, क्लब्स तथा अन्य प्रकार के सामूहिक क्रियाकलापों में देखी जाती है। सहयोग के लिए मनुष्य की जन्मजात इच्छा में सामूहिक तादात्म्य का भाव भी हम देखते हैं। यह भाव ही सब प्रकार की निष्ठा, सामूहिक भावना, सहयोगी प्रयास आदि का आधार है। यह भी तर्क दिया जाता है कि इस प्रकार का समूह-तादात्म्य और निष्ठा संसार में होने वाले द्वंद्वों या संघर्षों का स्रोत है। इस तर्क के परीक्षण की आवश्यकता है। सुस्थापित समाजों मे संघर्ष का कारण कब्जा या अधिकार-क्षेत्र या प्रादेशिकता होती है। आखेट एवं संग्रहण जीवी समाजों मे प्रादेशिक संघर्ष प्रायः नहीं के बराबर थे, क्योंकि वहाँ बचाने के लिए या छीनने के लिए किसी प्रदेश या भूखंड का सवाल नहीं था। अतः शायद कभी किसी बहुत ही दबाव की स्थिति में यह संघर्ष हो जाता रहा हो, जैसे अनावृष्टि की स्थिति मे किसी जलाशय को लेकर। शिकारजीवी और संग्रहण जीवी समाजों में ऐसे अवसर बहुत ही कम आते होंगे। सभ्यता की अन्न उत्पादन वाली अवस्था शुरू होने पर कृषि-कार्य, खेती, सिंचाई, अगली खेती के लिए बीज संग्रह, भूमि के प्रति निहित स्वार्थ, भू-स्वामित्व आदि के कारण कालांतर में अन्न, धन और शक्ति के साधनों का महत्व बढ़ता गया। कृषि-क्रांति लगभग 10 हजार वर्ष पूर्व पहले इराक में, टर्की में—तेब्रिज पहाड़ों की तराई में शुरू हुई और बड़ी तेजी से संपूर्ण एशिया, दक्षिणी यूरोप और उत्तरी अफ्रीका के भूमि खंड में फैल गई। कुछ हजार वर्षों में ही अफ्रीका, एशिया और यूरोप के जननिवास वाले क्षेत्रों में कृषि का प्रसार हो गया। स्पष्ट है कि कृषि-क्रांति के बाद शक्ति-अधिकार और उसके विस्तार की संभावना अधिक बढ़ी। यह भी स्पष्ट है कि 10 हजार वर्ष या उससे कुछ कम की अवधि जैविक दृष्टि से इतनी छोटी है कि उस समय के आखेट जीवी तथा संग्रहण जीवी पूर्वजों का मस्तिष्क हमारे आज के मस्तिष्क से कोई विशेष भिन्न नहीं रहा होगा। आठ-दस हजार वर्ष पूर्व के हम जैसे लोगों ने विज्ञान, टेक्नालॉजी और उद्योग के क्षेत्रों में युगांतरकारी परिवर्तन किए हैं। हमारे उन पूर्वजों की मानसिक क्षमता वही थी जो हमारी है, जिससे उन्होंने अपने चतुर्दिक विश्व का विश्लेषण किया। हम अधिक लाभकारी स्थिति में इसलिए हैं कि हमारे पास विश्व का संचित अनुभव और समय के साथ-साथ उत्तरोत्तर समुन्नत कौशलों का प्रयोग और उनकी उपयोगिता का ज्ञान सहयोग द्वारा जुड़ता गया है जिसे हम भावी पीढ़ी को सौंपते जाते है ताकि आगे उसका भी संचय हो सके।

मनुष्य का एक प्रमुख आविष्कार भाषा है और संप्रेषण की क्षमता या योग्यता से *सहयोग* को सहायता मिलती है। संप्रेषण का विकास शोरगुल, मुखमुद्रा तथा अन्य संपर्क विधियों से आगे बढ़ते हुए स्पष्ट उच्चरित सार्थक ध्वनियों के रूप मे हुआ जिनका पुनः प्रस्तुतीकरण संभव था। मस्तिष्क के अग्र भाग में बायीं ओर स्थित *ब्रोका* वाक् क्षेत्र है। मस्तिष्क के इस भाग का संबंध वागिन्द्रियों—मुख; जिह्वा, ओष्ठ, काकल आदि की पेशियों के संचालन द्वारा वाक् संरचना और व्याकरण से है। अत्यधिक निर्देशन के बावजूद बंदर क्यों नहीं बोल पाते, इसका कारण

यही है कि उनमें *ब्रोका* वाक् क्षेत्र का अभाव है। *ब्रोका* वाक् क्षेत्र स्नायुतंतु समूह द्वारा एक दूसरे क्षेत्र—*वर्निक्* क्षेत्र से जुड़ा हुआ है, जो मस्तिष्क के काल सूचक खण्ड *(टेम्पोरल लोब)* में स्थित है। यह दृश्य, श्रव्य और मौखिक स्मृति का प्रमुख संचय केन्द्र है। *वर्निक* क्षेत्र ही कालसूचक खंड मे स्थित स्मृति भंडार से उपयुक्त शब्दों को चुनता है और *ब्रोका* क्षेत्र में उनका निर्माण संरचनापूर्ण भाषा में होता है। *ब्रोका* वाक् क्षेत्र मानव-मस्तिष्क में एक बहुत ही महत्वपूर्ण विकास — तथाकथित अति साहचर्य क्षेत्र *(सुपर एसोसिएशन एरिया)* के अत्यंत निकट है। मानव मस्तिष्क की एक विशेषता वह विधि है जिसके द्वारा वह संकेतकों में से सूचना संबंधी सारे कणों को चुन लेता है और उन्हे एक साथ तुलना तथा संयोजन द्वारा साहचर्य क्षेत्र में ले आता है। संकेतकों की तुलना और उनके अनुबंधन की युक्ति का चरम उत्कर्ष अति साहचर्य क्षेत्र में पाया जाता है, जहाँ ज्ञानेन्द्रियों—आँख, नाक, कान, त्वचा से प्राप्त सूचनाएँ वह ग्रहण करता है और उन्हें स्पष्ट विचारों में गूँथता है। यही प्रक्रिया उच्चरित या लिखित वाक्यों का स्रोत है।

ब्रोका वाक् क्षेत्र खोपड़ी के भीतर एक छोटा उथला सा अंतहाशिया छोड़ देता है। राल्फ हॉलोवे नामक अमेरिकी नृविज्ञानी ने पुरानी खोपड़ियों के अभ्यंतर के आक्षीर साँचों के प्रयोग तथा उनकी परस्पर तुलना द्वारा मस्तिष्क विकास के अध्ययन का एक तरीका निकाला है। स्टेफन तथा उसके साथियों ने फ्रैंकफर्ट के *मैक्स प्लैंक इंस्टीट्यूट ऑफ ब्रेन रिसर्च,* में तथा यू.एस.ए. के हॉलोवे ने फासिल खोपड़ियों के अभ्यंतर के आक्षीर साँचों के *इंडोकास्ट्स* द्वारा जो अनुसंधान किए हैं, उनसे पता चलता है कि मानव मस्तिष्क के निर्माण की प्रक्रिया का विकासवाद के इतिहास से बहुत गहरा और दीर्घकालीन संबंध है। यह संबंध लगभग 30 लाख वर्ष पुराना है, जब हथियार बनाना और शिकार करना जीवन का अंग बना, शायद उसके भी पहले से है। सीखने की योग्यता के मानव-वरदान, विकासक्रम मे वागिन्द्रियों और जबड़ों की नई रूप-रचना आदि से उच्चारण की क्षमता बढ़ती गई। पर हम निश्चित रूप से यह नहीं कह सकते कि बोलना संप्रेषण का सबसे सशक्त साधन कब बना। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि दस हजार वर्ष पूर्व भाषा में कुछ प्रौढ़ता आ गई थी और उसके बाद शीघ्र ही सुमेर में लिखित भाषा एक रूप लेने लगी थी। आज अत्यंत आदिम जातियाँ भी सारभूत शालीन उच्चरित भाषा का प्रयोग करती है। पर इसमें संदेह है कि हमारे पूर्वजों ने संप्रेषण के लिए दस लाख वर्ष पूर्व सुनिश्चित सारभूत भाषा का विकास कर लिया था। दस लाख वर्ष की *होमोइरेक्टस* खोपड़ियों के *इंडोकास्ट्स* से *ब्रोका* वाक् क्षेत्र का कोई आभास नहीं मिलता। इससे पता चलता है कि उस समय आज की तरह बोलना नहीं शुरू हुआ था। पर दूसरी ओर सशक्त सहयोगी संरचना और सफल शिकारी जीवन का इतिहास जतलाता है कि संप्रेषण की आवश्यकता का वागिन्द्रियों — जिह्वा, काकल आदि तथा मौखिक संरचना और मस्तिष्क के वाक् केन्द्रों के विकास के लिए मनुष्य की विकासवादी प्रक्रिया पर दबाव पड़ रहा था।

निश्चित ही सबल सहक्रियाओं ने मानव विकास के अंतिम दस लाख वर्षों में भाषा के विकास, सहयोग, शस्त्र-निर्माण आदि को आगे बढ़ाया होगा, जिन्हें अब नृवैज्ञानिक प्रमाणों के रूप में ढूंढ़ पाना कठिन है, क्योंकि भाषा और सहयोग के कोई चिह्न फासिल्स में नहीं मिल सकते। अतः अप्रत्यक्ष प्रमाणों पर ही विश्वास करना होगा।

शैक्षिक प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले कुछ सामान्य *पैरामीटर्स* को जतलाने के लिए उपर्युक्त वर्णन पर्याप्त हैं। दुर्भाग्यवश आज नृविज्ञान और शैक्षिक विषयों में शायद ही कोई संबंधसूत्र हो। अतः प्रारंभ में ही मेरा प्रस्ताव है कि शिक्षा-व्यवस्था मे बच्चों को एक-दूसरे के साथ प्रतिस्पर्द्धा करने के लिए आयोजित सहक्रियाओं का वर्गीकरण किसी यादृच्छिक निष्पादन-मूल्यांकन

के आधार पर न किया जाए। यह दबाव बच्चों मे परस्पर सहयोग करने की विकासवादी अंतःप्रेरणा व अपनी साहसिक सृष्टि का निर्माण करने तथा आत्मनिहित अन्वेषणात्मक प्रवृत्ति के विरुद्ध है। एक-दूसरे से आगे बढ़ जाने की कक्षा-शिक्षण संबंधी प्रतियोगिताएँ इसलिए हानिकारक हैं कि उनमें सहयोग के विकास का अवसर नहीं मिलता, अधिगम संबंधी कार्यों को पूरा करने के लिए सहयोगी क्रियाओं के लिए प्रोत्साहन नहीं मिलता, बच्चों में नवीनीकरण और आविष्कार की प्रवृत्ति नहीं पनपती, और सोपानीकृत वर्गीकरण तथा अंक-व्यवस्था के कारण सामूहिक क्रियाओं के प्रति उत्साह नहीं रह जाता क्योंकि अंक-व्यवस्था में अंकों के क्रमानुसार ही बच्चों को श्रेणी या स्थान प्रदान किया जाता है, जो उनके अहं को चोट पहुँचाता है। इससे भी बढ़कर, जैसा मैंने दिखाने का प्रयास किया है, यह है कि यह नृविज्ञान की दृष्टि से असंगत और प्रकृति विरुद्ध है। एक दूर का उदाहरण यह है कि जापानी उद्योग की वृहत् उत्पादकता का आधार सामूहिक कार्य और सहयोग है न कि वैयक्तिक निष्पादन अथवा उत्पादन-मान। किसी समूह की सफलता या असफलता के भागीदार समूह के सभी सदस्य होते हैं, इस प्रकार सामूहिक बद्धता और भी सुदृढ़ होती है। जापानी उद्योग का उत्पादन अमेरिकन उत्पादन की अपेक्षा बहुत ही ऊँचा है, इसका एक कारण जापानियों की सामूहिक मनोवृत्ति है। इस उदाहरण से स्पष्ट है, सहकारी सामूहिक क्रियाएँ समूह के अंतर्गत प्रतियोगात्मक क्रियाओं से कम या कमजोर नहीं होतीं, बल्कि इसके विपरीत शिक्षा के क्षेत्र में, जहाँ तक बच्चों और किशोरों का संबंध है, प्रतियोगात्मक कक्षा-शिक्षण किशोरों के व्यक्तित्व-विकास और उनमे परस्पर सहयोग की दृष्टि से हानिकारक सिद्ध होता है। प्रतियोगिता का परित्याग बच्चों के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है। यह बहुत हानिकारक न रहने पर भी उच्चतर माध्यमिक स्कूलों और कालेजों के छात्रों में अवांछित अभिवृत्ति का साधन तो है ही। अतः जितनी जल्दी हम जैविक दृष्टि से उपयुक्त शैक्षिक प्रक्रियाओं की स्थापना कर सकें, उतनी ही जल्दी अधिक स्वस्थ और गतिशील समाज बना सकने में हम समर्थ हो सकेंगे।

नृविज्ञान की दृष्टि से उपयुक्त शिक्षा संबंधी समस्याओं के अनेक पहलू हैं। उनमे से एक भाषा-विकास और भाषा सीखने का उल्लेख मैंने किया है। भाषा मूलतः मानव-संपदा है, जो बंदरों की चींचीं, चिड़ियों की चहचहाहट, गिब्बन तथा भेड़ियों की चिल्लाहट से सर्वथा पृथक है। मैंने यह संकेत किया है कि भाषा का अस्तित्व दस हजार साल से है। निश्चित ही यह दस लाख वर्ष पुराना नहीं है। भाषा के विकास के लिए सुदृढ़ विकासवादी दबाव है, जैसे कि आठ-दस महीने के बच्चों की तुतलाहट (बैब्लिंग) या तीन-चार वर्ष के बच्चों में उच्चारण संबंधी प्रयास से स्पष्ट हो जाता है। अन्य प्राइमेट से इसकी तुलना नहीं की जा सकती। इस संबंध में हमारे पास कोई सामान्य निर्देशन-आधार या सादृश्य नहीं है। बच्चे भाषा सीखने के लिए अभिक्रमित होते हैं, पर किसी एक विशेष भाषा के लिए ही नहीं। एक भारतीय मूल का बालक अपनी प्रारम्भिक अवस्था में चाइनीज़ या जर्मन भाषी गाँव मे यदि पलता है तो वह उतनी ही आसानी से चाइनीज़ या जर्मन भाषा सीख लेता है जितनी आसानी से यहाँ हिंदी। चाम्सकी का कुछ संशोधन करते हुए हम कह सकते हैं कि भाषिक सामर्थ्य हम मे आनुवंशिक विशेषक के रूप में बनी होती है। यह सामर्थ्य किसी विशेष भाषा के लिए नहीं होती। भाषा सीखने की सामर्थ्य एक या दो भाषा ही सीखने तक सीमित नहीं होती। यह तो एक सामान्य क्षमता है जो बच्चों में पहले ही वर्ष शुरू हो जाती है और दो से लेकर आठ-नौ वर्ष तक अपनी पराकाष्ठा पर होती है। ग्यारह-बारह वर्ष के बाद भाषा सीखने की सामर्थ्य बहुत कुछ समाप्त हो जाती है। इस तथ्य से हमारे शिक्षा के कर्णधारो को एक महत्वपूर्ण नृवैज्ञानिक सबक सीखना है कि चूँकि भाषा बाल्यावस्था में आसानी से सीखी जाती है, अतः इसे छोटी उम्र में ही बच्चों को सिखाना

चाहिए। एक से अधिक भाषाओं को पाठ्यक्रम मे रखने से बच्चों पर अधिक भार पड़ता है, यह तर्क भी असंगत है। द्विभाषी अथवा बहु भाषी समाजों के बच्चे दो या तीन भाषाएँ आसानी से बाल्यावस्था मे ही सीख लेते हैं। स्विट्जरलैण्ड के बच्चे 6 वर्ष की उम्र मे ही बिना किसी प्रत्यक्ष प्रयास के चार भाषाएं बोलने लगते हैं। व्याकरणिक योग्यता बाद में भाषा-विषयक शिक्षा द्वारा प्रदान की जा सकती है। भाषा-सीखने की क्षमता बच्चे में दो से आठ वर्ष के बीच सर्वाधिक होती है। यदि हम उस उम्र में बच्चों को भाषा नहीं सिखाते है, तो आगे चल कर बच्चों के लिए भाषा सीखना बहुत कठिन और दुःसाध्य हो जाएगा। हमारे वर्तमान स्कूल-पाठ्यक्रम का एक दोष यह है कि भाषा की शिक्षा हम देर से प्रारंभ करते हैं, जबकि बच्चे के जीवनकाल में भाषा सीखने की सर्वोत्तम अवस्था समाप्त हो जाती है। यह दोष विद्यालयों में गलत शिक्षण पद्धतियों के कारण और भी बढ़ जाता है। फलतः बच्चों को भाषा सीखने के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता और भाषा की शिक्षा नीरस तथा बोझिल बन जाती है।

बच्चे के मानसिक गठन में सहयोग का तत्व बहुत प्रबल होता है। अतः कठोर, उत्साहहीन, रोजमर्रा के कक्षा-शिक्षण के नीरस वातावरण की जगह सामूहिक क्रिया-कलापों, जैसे गायन, खेल, परस्पर वार्तालाप, अनुकरण आदि के अनुकूल वातावरण मे बच्चे अधिक आसानी से सीखते हैं। खेल बच्चों का एक मानसिक गुण है और उसकी उपयोगिता भी सुविदित है, फिर भी शिक्षकों और शिक्षा-शास्त्रियों द्वारा भाषा सिखाने के अभिप्राय से उसका प्रयोग नहीं किया जाता। बाल्यावस्था में भाषा सीखने की सहज योग्यता का लाभ उठाने के लिए स्कूलों में भाषा की शिक्षा यथाशीघ्र शुरू नहीं की जाती। प्रारंभिक अवस्था में बच्चों की कठिनाइयों के बारे में भी हम प्रायः आसान सा किन्तु झूठा तर्क दे देते हैं। ये कठिनाइयाँ बच्चों की शैक्षिक समस्याओं से संबंधित न होकर शिक्षकों की अनिच्छा अथवा हमारी पूर्वकल्पित कठिनाइयों से संबंधित होती हैं।

संप्रेषण के अतिरिक्त भाषा के और भी आयाम हैं, पर वे परस्पर असंबद्ध नहीं हैं। भाषा-प्रयोग की परिशुद्धता से विचारों में स्पष्टता आती है। यह बालक के व्यक्तित्व-विकास का आधार है और वयस्क के आत्म विकास में भी प्रमुख योगदायक है। भाषा सहयोगात्मक परिस्थितियों में सबसे अच्छी तरह सीखी जाती है जिसे हम बच्चों में खेल या कार्य करते समय देख सकते हैं। इस प्रक्रिया में वे एक-दूसरे से नए शब्द और पदबंध सीखते हैं। यही नहीं, बल्कि खेल और कार्यात्मक स्थिति में वे नए शब्द और पदबंध गढ़ भी लेते हैं। संप्रत्ययों की स्पष्टता और उनके निर्माण में भाषा का योगदान सुविदित है। हम प्रायः इस ज्ञान का अपनी शिक्षा-प्रणाली में अनुसरण और प्रयोग नहीं करते।

प्रत्यक्ष ज्ञान के परिष्कार तथा नैतिक और सौंदर्यबोधात्मक संप्रत्ययों से मनुष्य की संवेदनशीलता के विकास का घनिष्ठ संबंध है। इस संवेदनशीलता में हमारे सौंदर्यपरक तथा नैतिक बोध और मानवीय संबंध — संतानीय, कौटुम्बिक, पारिवारिक तथा इनसे भी आगे मित्र, पड़ोस, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं तक व्याप्त संबंधों की व्यापकता — समाहित है। मानवता और संवेदनशीलता के विकास का एक अद्भुत उदाहरण हमें टर्की और इराक की सीमाओं के पास के जेग्रोस पर्वत की तराई में शानीदार गुफा में प्राप्त एक कब्र से मिलता है। यह कब्र पचास हजार वर्ष पुरानी है। पेरिस में *मुसी डेल होम* के पुरातत्व विज्ञानियों ने इसका अध्ययन कर यह दिखाया है कि शव को फूलों और पत्तियों की शय्या पर रख कर दफनाया गया था। शाखाओं और पत्तों की खुरदरी शय्या पर शव रखा गया था जिसके चारों ओर अनेक पौधों के पुष्प सजाए गए थे। पचास हजार साल पुराने इस सुसज्जित शवाधान के तथ्य से

मानवआत्मा के प्रति रुचि और अपनापे की भावना प्रकट होती है। फूलों की सजावट मृत व्यक्ति के प्रति स्नेह और सम्मान तथा सौंदर्यपरक संवेदनशीलता के महत्व को प्रकट करती है। उससे भी अधिक विचित्र बात यह है कि शानीदार शवाधान में प्रयुक्त पौधों की अनेक किस्मे ऐसी हैं जिनका प्रयोग जड़ी-बूटी की औषधियों में किया जाता है अथवा उनमें औषधीय गुण पाए जाते हैं। इस शवाधान से शानीदार के निवासियों की अंतश्चेतना, उनका सौंदर्यबोध तथा नैतिक जागृति की अंर्तदृष्टि की झलक मिलती है। फूलों और पौधों की जानकारी तथा पौधों के औषधीय गुणों का परिचय आश्चर्यजनक रूप से व्यापक लगता है। यह सब देखते हुए इस कब्र से उन निवासियों की संवेदनात्मक विनयशीलता तथा उपलब्धियों का पता चलता है। इससे भी अधिक स्तब्धकारी बात यह है कि ये लोग *नेआंडरथल* मानव थे। यद्यपि वे हमारे निकटवर्ती बंधु मानव की ऐसी उपजाति के थे जो विलुप्त हो चुकी है, हम केवल यह उपधारणा बना सकते हैं कि उस समय *नेआंडरथल* लोगों की तुलना में हम *होमोसेपियन्स* कम विकसित नहीं थे, प्रकृति और कला के प्रति कम संवेदनशील नहीं थे, कम कुशल नहीं थे। अतः विनम्र, सुशील और संवेदनशील होने के हमारे पास यथेष्ट आधार हैं।

दुर्भाग्यवश हमारी शिक्षा में स्नेह और संवेदनशीलता को निरुत्साहित करने और कभी-कभी तो इसे बिल्कुल ही विकृत या नष्ट कर देने की प्रवृत्ति पाई जाती है। हम प्रायः संवेदनशीलता और सौंदर्य भावना को शिक्षा के संदर्भ में निरर्थक और अप्रासंगिक बताकर बच्चों को संज्ञाहीन बना देते हैं। हम स्नेह और प्रेम के प्रति भय अथवा संकोच का भाव रखते हैं। अत्यधिक प्रतियोगिता प्रायः बच्चों की कलात्मक और संगीतात्मक संवेदनाओं को प्रस्फुटित होने से रोकती है या नष्ट कर देती है, स्नेह और सौहार्द को निरुत्साहित करती है और प्रकृति के प्रति कौतूहल तथा विस्मय की भावनाओं को, जो विज्ञान का स्रोत पटल है, कुंठित कर देती है। यदि हमें विद्यालयों में शिक्षा के द्वारा बालकों और किशोरों में बुद्धि, कुशलता और सहृदयता को समुन्नत करना है, तो हमे उन्हें केवल *क्या* पढ़ाएँ ही नहीं वरन् *कैसे* पढ़ाएँ पर भी पुनः विचार करना होगा।

मानव का एक महत्वपूर्ण पक्ष उसकी अत्यधिक जातिगत विविधता है। यह तर्क दिया गया है कि यह असाधारण विविधता विपुल उत्तरजीविता-मूल्य प्रदान करती है। हम उत्तरजीवी इसलिए हैं कि हममें अनेक प्रच्छन्न वरदान और अज्ञात निधियाँ विद्यमान हैं। भिन्न-भिन्न और विविध परिस्थितियों में ये बीजभूत गुण अपना चमत्कार दिखाते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि मनुष्य समस्त प्राणियों में सबसे अधिक अनुकूलन-क्षमता रखता है और यही उसकी सफलता का रहस्य है। मनुष्य ने पृथ्वी के सभी भागों में प्रवेश किया है और केवल ध्रुवीय प्रदेशों के अत्यंत शीतल स्थानों को छोड़कर सभी जगह उसने सफलता और संपन्नता अर्जित की है। विविधता इस प्रकार हमारा अमूल्य संचित गुण है। फिर भी दुर्भाग्यवश हमारी शिक्षा-व्यवस्था में और हमारे स्कूलों में इस विविधता को निरुत्साहित तथा एकरूपता को प्रोत्साहित किया जाता है। यह प्रवृत्ति हमारी प्रगति और परिस्थित्यनुकूलता के विकास में बाधक है। इस अपरिमित विविधता का लाभ उठाने के लिए हमारी विद्यालयी शिक्षा में निश्चित ही नम्यता होनी चाहिए। इसमें बालकों और किशोरों में निहित शक्तियों को खोजने का प्रयास होना चाहिए। इन अंतर्भूत शक्तियों को प्रस्फुटित करने के लिए शिक्षा को बहुत ही नम्य और लचीला होना चाहिए। कठोर प्रतिबंधित पाठ्यक्रम यथार्थ नम्य शिक्षा का प्रतिरोधी होता है। दुर्भाग्यवश हमारा समाज एक पुरातन और रूढ़ समाज है। हमारे विचार और व्यवहार में बड़ा अन्तर है। वस्तुतः नम्यता संबंधी हमारी बात प्रायः परंपरागत कार्यों के दकियानूसी समाधानों में ही समाप्त हो जाती है। हम यह नहीं देखते कि एक बच्चे की भाषा और उसका कौशल किस प्रकार खेल और सहयोगी क्रिया-कलापों के माध्यम से दूसरे

बच्चों में स्थानांतरित हो जाता है। समय-समय पर दूसरे देशों के फ्रेरे जैसे शिक्षकों और अनुभवी शिक्षा-शास्त्रियों ने इस सीधे जैकेट वाली शिक्षा प्रणाली के विरुद्ध विद्रोह किया है। फ्रेरे ने विद्यालय विहीन समाज की बात चलाई। भारत ने अधिकतर यूरोपीय विचारों से अनुप्राणित होकर विचार गोष्ठियाँ आयोजित की हैं। अनेक शिक्षा आयोग गठित हुए हैं और उनके द्वारा प्रस्तुत संस्तुतियों के सैकड़ों पृष्ठ हमारे सामने है। इन संस्तुतियों में समस्या के मूल में जाने का प्रयास नहीं किया गया है। क्रियान्वित करते समय इन संस्तुतियों को बहुत ही हल्के रूप में लिया गया है। परिणामतः हम उसी पुरानी परिचित स्ट्रेट जैकेट मे वापस आ जाते हैं और यह संतोष कर लेते हैं कि हमने पाठ्यक्रम में एक वर्ष यहाँ जोड़ दिया है अथवा कुछ महीने वहाँ घटा दिए है, अथवा हमने कुछ विज्ञान या गणित के प्रकरण जोड़ दिए हैं।

शिक्षा के मूल प्रश्न ये हैं कि वह किस प्रकार मनुष्य की विविधता को ध्यान में रखे और शिक्षा का स्वरूप इस प्रकार गठित हो कि प्रतिगामिता की जगह वह प्रगति में सहायक हो। शिक्षा द्वारा किस प्रकार पता लगे कि बच्चा किस विषय मे अच्छा है ताकि उसे उस दिशा में प्रोत्साहित किया जाए? शिक्षा द्वारा बच्चों मे किस प्रकार दूसरों के प्रति और अपने वातावरण के प्रति संवेदनशीलता का विकास किया जाए, किस प्रकार बच्चों को प्रतियोगिता की जगह सहयोग के लिए प्रोत्साहन मिले? भाषा की शिक्षा कितनी जल्दी शुरू की जाए? हस्तकौशलों और भाषा-कौशलों का किस प्रकार विज्ञान और टेक्नालॉजी की संप्रत्यात्मक अभिवृत्तियों को विकसित करने के लिए प्रयोग किया जाए। यह केवल विज्ञान को गौरवान्वित करने के लिए नहीं, अपितु बच्चों और किशोरों को विज्ञान और टेक्नालॉजी के सकारात्मक तथा नकारात्मक पक्षों को समझाने की दृष्टि से भी आवश्यक है।

हम सीधी-सरल बातें भूलते रहते हैं। हम जानते हैं कि चालीस वर्ष की अपेक्षा चार वर्ष की आयु में भाषा सीखना आसान है। बच्चों के लिए परस्पर विरोध की जगह मिल जुलकर काम करना अधिक आनंदप्रद है। यह अधिक विवेकपूर्ण है कि बच्चों को यह अवसर अथवा मौका दिया जाए ताकि वे पता लगा सकें कि उनके लिए रुचिकर क्या है और किसमे वे अधिक निपुण है। इस आखिरी सुझाव में यह याद रखना महत्वपूर्ण है कि ये दोनों समानार्थी नहीं हैं और हम मार्ग से भटक सकते है। बच्चा भी अपने परिवार, मित्र या शिक्षक के सुझावों के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभावों से गलत दिशा मे जा सकता है। एक दूसरा विस्मृत अथवा उपेक्षित तत्व है—तकनीकी और हस्तकौशलों को अर्जित करने की आवश्यकता। यह बात केवल थोरो के नैतिक बिन्दु की दृष्टि से ही नहीं, वरन् मूल नृवैज्ञानिक कारणों से है क्योंकि अंगुलियों, विशेषतः सम्मुख अंगुष्ठ के संचालन और मस्तिष्क के साहचर्य केन्द्रों के बीच गहरा संबंध है। हम प्रायः इसलिए कार्य करते हैं कि हम सोच सकें। एक कलाकार या चित्रकार तो एक कदम और आगे जाता है। वह रेखांकन या चित्र बनाते समय अपनी अंगुलियो के साथ सोचता है। यह कहा जाता है कि एक न्यूरोसर्जन अपनी अंगुलियों द्वारा उतना ही सोचता है जितना अपने मस्तिष्क द्वारा, और ऐसा ही एक चित्रकार, सितारवादक या रसायनज्ञ भी करता है। हाथ और मस्तिष्क का इस प्रकार का साहचर्य उस साहचर्य से भिन्न है जिसकी आवश्यकता किसी कारखाने में किए जाने वाले बोझिल हस्तकार्यों मे होती है। मस्तिष्क के कार्य और कुशल अंगुलियों के कार्य के बीच जो यह गहरा साहचर्य है, वह उन लोगों में प्रायः देखा जाता है जो प्रमस्तिष्कीय कार्यों में तल्लीन रहते हैं। वैज्ञानिक, दार्शनिक, लेखक और कवि प्रायः कभी विश्राम के लिए और कभी किसी समस्या या प्रश्न पर ध्यान केन्द्रित करने के लिए साधन रूप में हाथ का काम करने लगते हैं। शिक्षा की रूपरेखा बनाते समय वह व्यवहार पद्धति कुछ फलदायक सिद्ध हो सकती है।

अंत में हम उपर्युक्त विचारों से संबंधित निष्कर्षो को विद्यालयी शिक्षा के संदर्भ मे देखने का प्रयास करें। हमें यह विचार करना है कि परीक्षा पद्धति के कारण हमारे विद्यालयों में प्रतियोगिता की भावना कितने गहरे रूप मे बद्धमूल है। यदि हमारे विचार तर्कसंगत हैं तो हमें सबसे पहले इस परीक्षा पद्धति पर ही चोट करनी होगी। इसे प्रतियोगिता की भावना को बढ़ाने वाला और बच्चों की सहयोगी भावना को नष्ट करने वाला प्रमुख स्रोत समझकर, हटाने का प्रयास करना होगा। सैद्धांतिक आधारों पर भी इस परीक्षा-पद्धति को हटाने की आवश्यकता हम समझ सकते है। व्यवहार मे यह बहुत कठिन सिद्ध होता है क्योंकि हम तत्काल ही उसके स्थान पर कोई और पद्धति ढूँढने लगते हैं जबकि हमारा प्रयास सहयोगी सामूहिक क्रियाकलापों के आधार पर पूर्णतः भिन्न रूप से कार्य निरूपण-संबंधी विचारों का अभिनवीकरण करना है। जापान में वैयक्तिक निष्पादन की अपेक्षा सामूहिक निष्पादन के आधार पर कारखानों के कार्य का बड़े पैमाने पर अभिनवीकरण किया गया है। स्वीडन मे सहकारी मूल्यांकन के पुरातन रूप की जगह ऐसे निष्पादन मानक स्थापित किए गए हैं जिनसे सापेक्षिक वैयक्तिक निष्पादन को या तो उपेक्षित कर दिया जाता है या उसे कम महत्व दिया जाता है। अनेक विश्वविद्यालयों में परीक्षाओं की जगह मूल्यांकन के अनेक नए प्रकार प्रचलित हो रहे हैं यद्यपि हम अभी नहीं जानते कि इन विविध तरीकों में से कौन स्वीकृति पाएगा और कौन नहीं। दयनीय बात तो यह है कि सदुद्देश्यपूर्ण अभिज्ञान और शिक्षा आयोगों तथा अन्य शिक्षा-अधिकारियों द्वारा प्रस्तुत प्रबोधनों के बावजूद हम इस खाँचे से निकल पाने में समर्थ नहीं हो पा रहे हैं। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा हमारे विंश्वविद्यालय बड़े ही प्रबल तर्कों द्वारा यह स्वीकार करते हैं कि अब परीक्षा-पद्धति की उपयोगिता नहीं रह गई है, फिर भी वे उचित कदम उठाने में पंगु से दीख पड़ते है। नए तरीकों के नवीनीकरण की अपेक्षा वे इसके स्थानापन्न तरीके ढूँढने लगते है। इस पंगुता का एक कारण तो अपने में विश्वास का अभाव है। हमें भय लगता है कि हम कोई उचित स्थानापन्न नहीं ढूँढ पाएँगे या हमसे त्रुटियाँ हो जाएँगी। यह एक दुखद बात है, क्योंकि सौभाग्य से मनुष्य में त्रुटि करने और फिर उसे सुधारने की अद्भुत शक्ति है क्योंकि जैविक दृष्टि से हम सामान्यीकृत है। एक गतिहीन, कुछ न करने की स्थिति अधिक खतरनाक है क्योकि इससे समस्याएँ जुटती जाती हैं और वे समाज के भविष्य को संकट में डाल सकती हैं। परीक्षा हटाने का अर्थ बिना प्रतियोगिता के कार्य करना है। कुछ अर्थों में यह उस अभिनवीकरण में सहायक है जो सामूहिक प्रयास और सहयोग के लिए प्रोत्साहन के महत्व पर बल देता है। हमारी शिक्षा में सहयोग के जैविक महत्व की प्रायः उपेक्षा कर दी जाती है। अब वह समय आ गया है जब कि हम अपनी कक्षाओं में सहयोग को पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास करें।

परीक्षा के हटाने से प्रतियोगिता के महत्व को कम करके सहयोग लाने के अनेक लाभ हैं। अधिक उन्मुक्त शिक्षण परिस्थितियाँ निर्मित की जा सकती हैं जिनमें प्रतियोगिता का महत्व कम हो, विविधता को प्रोत्साहन मिले और विभिन्न प्रतिभाओं की अनेकता का लाभ उठाकर नम्य शैक्षिक प्रणाली को विकसित किया जाए। यह व्यक्ति के सर्वोपरि हित मे है, और भी महत्वपूर्ण बात यह है कि इस प्रकार की शिक्षा समाज के लिए भी हितकर है। समग्र प्रगति के लिए अनेक प्रकार की प्रतिभाओं एवं कुशलताओं की आवश्यकता है।

भाषा सीखना एक दूसरा पक्ष है, जिसमें नृवैज्ञानिक तथ्यों का उपयोगी प्रयोग किया जा सकता है। बच्चे अपने वातावरण की भाषा सीखने के लिए अभिक्रमित होते है। यह बात उनके संबंध मे उनकी दो या तीन वर्ष की उम्र से ही लागू हो जाती है, अतः विद्यालयी शिक्षा में भाषा सीखने का आरंभ उसी समय हो जाना चाहिए जब बच्चे का प्रवेश होता है, न कि उसे हम उस

समय तक स्थगित रखें जब भाषा सीखने का जैविक दबाव क्षीण होने लगता है। यह तर्क दिया जाता है कि यह बच्चों के ऊपर बोझ है किन्तु प्रमाण इसके विपरीत हैं। बालक की प्रारंभिक अवस्था की अपेक्षा किशोरावस्था या उसके बाद यह बड़ा बोझ बन जाता है। वास्तविकता यह है कि शुरू में भाषा की शिक्षा हम इस भय से रोकते है कि यह शिक्षक और विद्यालयी व्यवस्था के ऊपर भार है। मैंने देखा है कि बच्चे कितनी आसानी से भाषाएँ सीख लेते हैं। दिल्ली की एक चार-पाँच वर्ष की बालिका मेक्सिको में बिना किसी शिक्षा के कुछ सप्ताह में ही स्पेनिश बोलने लगी और शीघ्र ही अपनी माँ की मदद खरीदारी के समय करने लगी। मैंने देखा है कि पाँच-छः वर्ष के पंजाबी बालक-बालिकाएँ कलकत्ता में बंगाली बोलने वाले बच्चों के साथ खेलते हुए बंगाली सीख लेते हैं। आयु बढ़ने के साथ-साथ भाषा सीखने की सहज शक्ति क्षीण पड़ने लगती है, पर हम बिना सोचे-समझे इस मानव-विज्ञान की उपेक्षा कर देते हैं और अपने विद्यार्थियों पर भाषा सीखने का बोझ उस समय डालते हैं जब उनकी भाषा सीखने की योग्यता का ह्रास होने लगता है। ये विचार *ब्रोका* वाक् क्षेत्र तथा किशोरावस्था मे उसके विकास से संबंधित ज्ञात तथ्यो से भी भली भाँति मेल खाते है। इसका तात्पर्य यह है कि भाषा सीखने के लिए बच्चों को प्रोत्साहित करना चाहिए। भाषा उन्हें यथाशीघ्र प्रारंभिक अवस्था में ही, यथासंभव शैशवावस्था से ही स्कूल मे और खेल के समय सिखानी चाहिए। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि हमें अधिक प्रयास करना होगा और शिक्षण को कुछ भिन्न प्रकार से संगठित करना होगा। यदि हम बच्चों को निष्ठापूर्वक भाषा सिखाना चाहते हैं, तो इसे सही वैज्ञानिक तरीके से सिखाना होगा।

बच्चों को केवल एक ही कौशल—लिखना-सिखाने पर हम बल देते है। स्कूलों में अन्य कौशलों की शिक्षा से हम बचना चाहते हैं और शायद इसका कारण यह है कि उन्हें वर्तमान कठोर विद्यालयी व्यवस्था में समाविष्ट करना कुछ कठिन होता है। सहयोग संबंधी कुछ कुशलताएँ बालक-बालिकाओं द्वारा खेल-कूद, स्काउटिंग, कैम्पिंग आदि क्रिया-कलापों से अर्जित की जाती है, पर यह बहुत ही सीमित रहता है। इस दिशा में अनेक पर्यवेक्षित क्रियाकलापों, जैसे—यांत्रिकी, स्वचालित यंत्र, इलेक्ट्रानिक, बागवानी, भवन-निर्माण आदि के द्वारा बहुत कुछ सीखना सभव है। विद्यार्थियों की सुरक्षा के लिए, और उपकरणों को क्षति न पहँचे, इन सीमाओं का ध्यान रखते हुए सीखने की स्थितियों में यथासंभव पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। दूसरे प्रकार के कौशल मृदा, मिट्टी, पत्थर तथा जल के गुणों का अध्ययन, मानव-जीवन के विभिन्न रूपों की पहिचान, मूर्तिकला तथा पुरातत्व आदि के द्वारा अनेक प्रकार के कौशलों को भी सिखाया जा सकता है। ये सारी बाते पठन द्वारा नहीं, वरन् कार्य द्वारा होनी चाहिए। निस्संदेह ही विद्यालयी पाठयक्रम और कक्षा-शिक्षण के प्रतिबंधों से संगठनात्मक कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी। अनेक देशों मे शिक्षा-वैज्ञानिकों और शिक्षकों ने अनेक कारगर युक्तियों का सुझाव दिया है जिनका अध्ययन स्कूल के प्रशासकों द्वारा उत्तम प्रणाली चुनने के उद्देश्य से होना चाहिए। प्रशासकों द्वारा निर्धारित दकियानूसी पद्धति की जगह अब प्रत्येक विद्यालय को स्वतंत्र रूप से अपने समाधान ढूँढने और कार्यपद्धति अपनाने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

शिक्षा के एक और पक्ष पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। हमारे अधिकतर शैक्षिक प्रयास बच्चों को अपने वातावरण, घर-परिवार तथा अन्य लोगों के प्रति संवेदनाशून्य बना देते हैं। संवेदना एक महान् वरदान और मानव-सर्जनात्मकता का प्रमुख स्रोत है। मैंने शानीदार के अपने बंधु-पूर्वजों की संवेदनशीलता का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया है। संभव है यह अकेला ही उदाहरण हो, जो अप्रत्याशित रूप से पचास हजार वर्षों के भूगर्भीय और जलवायु परिवर्तनों के बाद भी विद्यमान है। मानवीय संवेदना का भी क्रमिक विकास अवश्य हुआ होगा क्योंकि

इसकी भी विकासवादी उपयोगिताएँ हैं। अतः शिक्षा द्वारा संवेदनशीलता का पोषण एक महत्वपूर्ण बात है, इसे हम शुष्क न होने दें। यह वस्तुतः ऊँची कल्पना है, क्योंकि संवेदनशीलता के उद्भव तथा उसके विकास के बारे में हमारा ज्ञान नगण्य सा है। चूँकि संवेदनशीलता का योगदान हमारे समाज और सभ्यता के लिए अप्रत्यक्ष होते हुए भी बहुत ही गहन और प्रभावकारी है, अतः इसके उत्कर्ष के लिए अध्ययन, पोषण और साधन ढूँढना शिक्षा-विज्ञान का उत्तरदायित्व हो जाता है।

डी.पी. चट्टोपाध्याय

नई शिक्षा नीति
कुछ ठोस सुझाव



डी.पी. चट्टोपाध्याय

डी.पी. चट्टोपाध्याय *(जन्म 1933) ने डॉक्टरेट की उपाधियां कलकत्ता विश्वविद्यालय और लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स से प्राप्त कीं। ये अनेक शैक्षिक और अनुसंधान संगठनों से संबद्ध रहे हैं। ये संसद सदस्य, केन्द्रीय मंत्री, और राष्ट्रीय अध्यापक आयोग (I) के अध्यक्ष रह चुके हैं। आजकल ये जादवपुर विश्वविद्यालय में दर्शन शास्त्र पढ़ाते हैं तथा भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली; इंडियन इंस्टीच्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडी, शिमला; एवं केन्द्रीय संस्कृत मंडल, नई दिल्ली के अध्यक्ष हैं। सामाजिक और राजनीतिक दर्शन, सामाजिक विज्ञानों की प्रणाली, तथा ज्ञान और सौन्दर्य शास्त्र के सिद्धान्त पर इन्होंने नौ पुस्तकें लिखी और संपादित की हैं।*

नयी शिक्षा नीति : कुछ ठोस सुझाव

अंग्रेजी शब्द *एजुकेशन* (एडुकेशन) का शाब्दिक अर्थ, कम से कम आंशिक रूप से, शिक्षा के लक्ष्य में अंतर्निहित धारणा के अनुरूप नहीं प्रतीत होता। अंग्रेजी शब्द *एजुकेशन* (एडुकेशन) का अर्थ है (बच्चों, जानवरों का) पालन-पोषण करना अर्थात् उनकी शारीरिक आवश्यकताओं, जैसे भोजन और देखरेख की व्यवस्था करना। यह लैटिन शब्द *एडुकेट* से निकला है। बाद मे इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ मे किया जाने लगा कि कम आयु के व्यक्तियो की आदतों, तरीकों, बौद्धिक और शारीरिक रुचियों का उचित विकास किया जा सके। एक तरह से अंग्रेजी शब्द का अर्थ व्यापक है। इसमें कम आयु के व्यक्तियों के व्यक्तित्व के महत्वपूर्ण पक्षों जैसे शारीरिक, मानसिक और नैतिक विकास का ध्यान रखा गया है। लेकिन दूसरे अर्थ मे इस अंग्रेजी शब्द का तात्पर्य अपने क्षेत्र मे इतना व्यापक नहीं है। पहले इसका मतलब केवल कम आयु के मनुष्यों तक सीमित है। इससे ऐसा लगता है कि जब व्यक्ति की आयु अधिक हो जाती है तो शिक्षा से उसका कोई सरोकार नहीं रहता। स्पष्ट है कि यह कोई मान्य या सही विचार नहीं है। दूसरे इस *एजुकेशन* शब्द से यह ध्वनि निकलती है, भले ही अनजाने में, कि जिन कम आयु वालों को शिक्षा दी जानी है, वे मूल रूप से रोगी हैं अर्थात् अपने उद्यम मे अभिकर्ता या सक्रिय न होकर कुछ पाने के पात्र हैं। यह भी शिक्षा की तर्कसंगत प्रणाली के अनुरूप नहीं है। इसके विपरीत संस्कृत के *शिक्षा* शब्द का अर्थ है प्रयासपूर्वक सीखना और उसका अभ्यास करना। शिक्षित व्यक्ति को अनुप्राणित और उद्यमी होना चाहिए। जब तक कोई व्यक्ति *सीखने* का इच्छुक न हो, तब तक उसे सर्वोत्तम ढंग से शिक्षित करना कठिन है। पिछले कुछ वर्षों में, यूनेस्को के कुछ प्रकाशनों मे शिक्षा में सीखने के महत्व पर काफी जोर डाला गया है। और यह ठीक ही है। इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शिक्षा केवल किसी निश्चित अवधि का काम नहीं है। शिक्षा एक सतत उद्यम, एक अनवरत साधना है। इस संबंध मे ध्यान देने योग्य दूसरी बात यह है कि आदर्श शिक्षा किसी खास व्यक्ति द्वारा अकेले किया जाने वाला उद्यम नहीं है, क्योंकि जब तक समाज के अन्य लोग इसमें सहयोग न दे तब तक इसे बरकरार नहीं रखा जा सकता। दूसरे शब्दों में शिक्षा को सीखने के अर्थ में लिया जाना चाहिए जिसका संबंध समाज से है न कि केवल व्यक्ति से। समाज को अंधकार में रखकर कोई व्यक्ति विद्वान नहीं हो सकता या समुचित रीति से शिक्षित तक नहीं कहा जा सकता। यदि किसी व्यक्ति की विद्वत्ता को अन्य व्यक्तियों की शक्ति या समर्थन न मिले तो उसका प्रकाश धीरे धीरे मंद पड़ जाता है।

शिक्षा वास्तव में क्या है, इसे सही रूप में समझने का काम राजनीतिज्ञों या सरकारी कर्मचारियों पर ही नहीं छोड़ा जाना चाहिए। हाँ, यह अवश्य है, जैसा कि प्लेटो ने कहा है, कि यह शासन-कला का एक अंग है। आधुनिक संदर्भ में शिक्षाविद् का संबंध राज्य की अपेक्षा समाज की आवश्यकताओं से अधिक होना चाहिए। राज्य को समाज धारण करता है। राज्य समाज की

शक्तिसंपन्न महासंरचना है। यदि किसी समाज के व्यक्ति राज्य की ही आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शिक्षित किये जाएँ तो यह स्वयं राज्य के लिए और संबंधित व्यक्तियों के लिए भी बुरा होगा। समाज की सामान्य आवश्यकताओं और व्यक्तियों की खास विशेषताओं एवं अभिरुचियों को ध्यान में रख कर तर्कसंगत शिक्षा प्रणाली बनायी जानी चाहिए। सभी व्यक्तियों को एक ही प्रकार की शिक्षा देना निश्चय ही गलत होगा। इससे किसी व्यक्ति के विशेष गुणों के विकास में अवरोध पैदा हो जाता है। लेकिन आज का समाज सहज रूप में प्रत्येक समस्या का समाधान अत्यंत सामान्यीकृत रूप में करना चाहता है। नए उत्साह मे इस प्रकार का आचरण कोई अनजानी बात नहीं है। हमें अच्छी तरह विचार करके ऐसी शिक्षा प्रणाली को चलाना चाहिए जिसमें इन त्रुटियों से बचा जा सके।

ऐसी शिक्षा पद्धति वांछनीय है जो विकासशील सामाजिक संदर्भ में व्यक्तियों की पेचीदा समस्याओं का समाधान करने में समर्थ हो। भारत न तो आदिम समाज की स्थिति में है और न ही अति विकसित या उद्योग प्रधान देश है। भारत में आदिवासी इलाके अवश्य हैं। यहाँ औद्योगिक क्षेत्र भी है। शिक्षा की राष्ट्रीय प्रणाली के लिए विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों और उनकी अलग अलग आवश्यकताओं का ध्यान रखना आवश्यक है। शिक्षा नीति के आज के निर्माताओं को आने वाले कल के व्यक्तियों की आंतरिक और बाह्य विभिन्नताओं पर भी ध्यान देना होगा। जब हम नई शिक्षा नीति की योजना बनाएँ तो समाज के विकासशील स्वरूप का भी ध्यान रखे। इसका प्रमुख लक्ष्य यह होना चाहिए कि सभी लोग और खासतौर से नवयुवक सामाजिक परिवर्तन और आर्थिक विकास के नये विचारों और तकनीकों को ग्रहण करने के लिए उत्सुक हों। यद्यपि सामाजिक और आर्थिक विकास पर जोर दिया जाना वांछनीय है फिर भी हमे जीवन के सूक्ष्म तत्वों जैसे सौंदर्य शास्त्र और आचारशास्त्र के महत्व को कम नहीं करना चाहिए। आज यह एक व्यापक आधुनिक विचार है कि एक उच्चशिक्षा प्राप्त वैज्ञानिक या तकनीकी विशेषज्ञ के लिए समसामयिक आचार और सौंदर्यशास्त्र की जानकारी रखना आवश्यक नहीं है। इसके विपरीत दूसरी धारणा भी है कि मानविकी और ललित कलाओं का बिलकुल अलग स्थान है। इस विज्ञान विरोधी कल्पना से यह गलत धारणा बनती है कि कला के विद्वान और उनके शिष्य प्रयोग जन्य तरीकों, उपलब्धियों और प्रौद्योगिकी से अनभिज्ञता सहज ही गवारा कर सकते है। इन दोनों संस्कृतियों के मिथ्याद्विभाजन को सम्मानपूर्वक कब्र मे गाड़ देना चाहिए।

मनुष्य एक पूर्ण इकाई है और उसकी शिक्षा भी अपने क्षेत्र में पूर्ण होनी चाहिए। मनुष्य मानसिक जिज्ञासा रखनेवाला प्राणी है। और उसमे सहज आध्यात्मिक विचार पैदा होते हैं। शिक्षा की युक्ति संगत प्रणाली में पूर्ण मानव स्वभाव की विभिन्न किन्तु परस्पर पूरक आवश्यकताओं के बीच संतुलन बना रहना चाहिए। इस संबंध में यह याद करना दिलचस्प होगा कि श्री नेहरू अपने व्यक्तिगत जीवन में नास्तिवादी थे, लेकिन व्यवहार में उन्होंने विज्ञान और अध्यात्म दोनों की उन्नति के लिए प्रयास किया। उन्हीं की तरह इन्दिरा गांधी ने भी वैज्ञानिक शिक्षा, तकनीकी प्रगति और व्यक्ति की आध्यात्मिकता के संतुलित महत्व पर जोर दिया। इसी प्रकार यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि बहुत से समाजवादी देश जो पहले धर्म के सभी तरीकों के विरुद्ध थे, अब खुले तौर पर अतीत की *आध्यात्मिक सभ्यता* को पुनरुज्जीवित करने की आवश्यकता पर जोर दे रहे हैं। उदाहरण के लिए आज चीन में शिक्षा की सरकारी नीति में *आध्यात्मिक गरिमा* को खुलकर मान्यता दी जा रही है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि सोवियत रूस जैसे समाजवादी देशों में सभी पेशेवर जैसे डाक्टर, इंजीनियर और व्यवस्थापकों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपने देश की स्वीकृत विचारधारा से अवगत हों। विचारधारा में दर्शन, राजनीति और अर्थशास्त्र

शामिल हैं। मै जानबूझ कर इन तथ्यों का हवाला दे रहा हूँ क्योंकि इन दोनों संस्कृतियों की गाथा भारत में व्यापक रूप से फैल चुकी है। हमारी नयी शिक्षा प्रणाली में इनका समन्वय और सामंजस्य किया जाना चाहिए। इस काम का व्यौरा शिक्षा के स्तर के अनुरूप तैयार कर संबंधित विशेषज्ञों को सौंप दिया जाना चाहिए।

नयी शिक्षा प्रणाली का बुनियादी लक्ष्य यह होना चाहिए कि वर्तमान समाज को प्रशिक्षु समाज में बदला जा सके। इस लक्ष्य की प्राप्ति में पहला कदम यह होगा कि संवैधानिक रूप *से मान्य सार्वभौम शिक्षा के सिद्धांत को कार्यान्वित किया जाये।* 6 वर्ष से 14 वर्ष के सभी बच्चों के लिए शिक्षा निःशुल्क, सार्वभौम और अनिवार्य होनी चाहिए। जब तक इस नीति को प्रभावकारी ढंग से शीघ्रतापूर्वक लागू नहीं किया जाता तब तक नीति-निर्माता जनता का विश्वास नहीं प्राप्त कर सकते। हमारी राष्ट्रीय नीति के इस बुनियादी लक्ष्य को लागू न किए जाने के मुख्य कारण सर्वविदित हैं यथा: (क) आर्थिक अपर्याप्तता, (ख) योग्य अध्यापकों का पर्याप्त संख्या में न मिलना, (ग) प्रेरणा का अभाव व (घ) निर्धनता।

उपर्युक्त कारणों को दूर करने के लिए सभी संभव तरीकों का पता लगाया जाना चाहिए। प्रारंभिक शिक्षा को सार्वभौम बनाने के लिए राज्य को पहले पर्याप्त धन की *व्यवस्था* करनी चाहिए। जब तक आवश्यक धन की व्यवस्था नहीं की जाती, तब तक अन्य विचार चाहे कितनी भी नेकनीयती से लागू किए जायें, वांछित फल नहीं प्राप्त किये जा सकते। केन्द्र द्वारा शिक्षा के लिए आबंटित किया जाने वाला धन हमारे लक्ष्य की तुलना में बहुत कम है। यह धारणा इतनी बुनियादी है कि यदि इसे लागू करने के लिए कुछ दबाव या अनिवार्यता का सहारा लेना पड़े तो हमें कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। इस संबंध में प्रश्न यह है कि शिक्षा की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए किस प्रकार के संसाधन जुटाये जायें। इस संबंध में हमें सामाजिक परिवर्तन या राष्ट्रीय विकास के लिए शिक्षा के महत्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार करना चाहिए। यदि शिक्षा को, जैसी कि वर्तमान स्थिति है, *सर्विस सेक्टर* के रूप में स्वीकार किया जाता है तो उसके लिए निर्धारित किया जाने वाला धन निराशाजनक रूप से कम होगा। हमारे विकासशील समाज की आवश्यकताओं के संदर्भ में इसे *उत्पादक क्षेत्र* के रूप में मान्यता दी जानी चाहिए। अतएव योजना आबंटन के धन में इसे अधिक राशि दी जानी चाहिए। जब तक सुनियोजित स्कीम में शिक्षा को उत्पादक महत्व नहीं दिया जाता तब तक हम चाहे जितनी ऊँची बातें सुनें या कहें शिक्षा उपेक्षित रहेगी और लक्ष्य पूरा नहीं हो पाएगा।

दूसरे, *अब समय आ गया है कि हमें उन लोगों पर, जो आसानी से दे सकते है, शैक्षिक कर लगाना चाहिए।* उन लोगों पर भी जो *आसानी से* कर नहीं दे सकते, शिक्षा के काम के लिए उनकी आमदनी का कुछ प्रतिशत अपेक्षाकृत कम मात्रा में ही सही देने के लिए कहा जाये। चूंकि शिक्षा से कुल मिलाकर सारे समाज को लाभ होता है इसलिए, बड़े व्यापारी घरानों द्वारा अपने संकीर्ण उद्देश्यों के लिए नियंत्रित प्राइवेट ट्रस्टों का धन भी इस काम के लिए लिया जा सकता है।

तीसरे, अध्यापकों के प्रशिक्षण कार्यक्रम को सूझबूझ के साथ महत्व देने की आवश्यकता है। यह तब तक संभव नहीं होगा जब तक कि विद्यालय क्षेत्र और उच्चतर शिक्षा क्षेत्र के बीच अधिक निकट का सपर्क नहीं रखा जाता। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को निकट सहयोग के साथ काम करने की आवश्यकता है। निकट सहयोग की आवश्यकता पर जोर और समुचित प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

चौथे, राष्ट्रीय अध्यापक आयोगों (1983-85) द्वारा अध्यापकों के कल्याण के लिए दिए

गए सुझावों पर शीघ्रतापूर्वक विचार करके उन्हें क्रियान्वित किया जाना चाहिए। जब तक नयी शिक्षा नीति के निर्माण और कार्यान्वियन में अध्यापकों को प्रमुख भूमिका नहीं दी जाती, इसका भी वही हाल होगा जो पहले की नीतियों का हुआ था। अध्यापक का पेशा आकर्षक, कुशल, उल्लेखनीय और सम्मानजनक बनाया जाना चाहिए। अभिभावकों और महिलाओं के संगठनों तथा अन्य स्वैच्छिक संगठनों और प्रचार माध्यमों को आगे आकर जनता, खासकर गरीब लोगों को बच्चों की शिक्षा के लिए प्रेरित करना चाहिए और देखना चाहिए कि बच्चे बीच में पढ़ाई न छोड़ दें। शिक्षा की योजना का गरीबी दूर करने की अन्य योजनाओं और मानव संसाधनों की योजनाओं के साथ कारगर समन्वय किया जाना चाहिए। इसे बार-बार कहने की आवश्यकता नहीं है कि हम औपनिवेशिक शिक्षा को समाप्त करना चाहते हैं बल्कि अब हमे नयी शिक्षा नीति की रूपरेखा और उसके लक्ष्यों के संबंध में ठोस कार्यक्रम पेश करना चाहिए। यह काम इतना आसान नहीं है लेकिन विचार करने और दृढ़ संकल्प के साथ काम करने से ऐसा करना संभव है।

पाँचवें, प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम पर गंभीरतापूर्वक काम शुरू करना है। प्रारंभिक शिक्षा को सार्वभौम बनाने के प्रयास में देश की वयस्क जनसंख्या को शिक्षित करने की आवश्यकता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस मामले में एक बार फिर महिला संगठनों और स्वैच्छिक संगठनों की सेवाओं की सहायता ली जा सकती है।

छठवे, यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि उपलब्ध *औपचारिक शिक्षा-प्रणाली* के माध्यम से शिक्षा के पात्र सभी लोगों को शिक्षित करने के लिए आवश्यक साधन उपलब्ध नहीं हैं। *अनौपचारिक शिक्षा* के महत्व को भी स्वीकार करना चाहिए। अनौपचारिक शिक्षा के मार्ग शीघ्रतापूर्वक खोले जाने चाहिए और उनका उपयोग किया जाना चाहिए। इस प्रकार की शिक्षा भी गुणवत्ता की दृष्टि से औपचारिक तरीके से दी जाने वाली शिक्षा के समकक्ष होनी चाहिए। उपर्युक्त दोनो प्रणालियों को लचीली बनाकर परस्पर संबंधित बनाना चाहिए।

सातवे, हमारे सभी सुझावों और आशाओं के बावजूद यह विश्वास करना कठिन होगा कि लोग अपने बच्चों को स्कूल भेजने के लिए प्रेरित होंगे और बीच मे पढ़ाई छोड़ने वाले बच्चों की संख्या कम हो जायेगी। इसलिए, प्रोत्साहन के उपर्युक्त कार्यक्रमों के अलावा, हमें निम्नलिखित कार्यक्रम भी शुरू करने के बारे में विचार करना है: (क) *शिक्षा कार्यक्रम के लिए भोजन,* और (ख) *लड़कियों के लिए वस्त्र।*

ये कार्यक्रम सभी राज्यों में शुरू करने चाहिए। इन कार्यक्रमों को लागू करने के लिए खर्च की कमी के कारण सरकार को इनसे मुँह मोड़ लेना उचित नहीं होगा। हमारे जैसे गरीब देश में शिक्षा का प्रभाव बहुत व्यापक और महत्वपूर्ण होगा। चूँकि हमारी मिश्रित या कल्याणकारी अर्थव्यवस्था में सरकार रोजगार का आश्वासन नहीं देती, इसलिए, शिक्षा नीति के निर्माताओं के लिए आवश्यक है कि वे शिक्षा के लिए ऐसे तरीकों का पता लगायें जिनसे शिक्षित व्यक्तियों को रोजगार दिया जा सके और उनके द्वारा उत्पादित माल का बाजार में मूल्य मिल सके। हमारी शिक्षा प्रणाली के विरुद्ध प्रमुख आलोचना यह है कि यह व्यावहारिक नहीं है और इस पर गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। फलस्वरूप *कौशल, व्यवसाय* या *जीवन वृत्ति* के तत्वों को हमारी शिक्षा प्रणाली के विभिन्न स्तरों पर सोच-समझकर शामिल किया जाना चाहिए। विद्यार्थियों को प्रारंभिक (6 से 14 वर्ष के आयु वर्ग) स्थिति में भाषा, गणित, इतिहास और भूगोल की पढ़ाई के अलावा कोई *कला-कौशल* भी अवश्य सिखाया जाना चाहिए।

दूसरे *व्यावसायिक* शिक्षा को (क) काम धंधा पाने, (ख) स्वयं रोजगार करने, और (ग) ज्ञानोपार्जन के अर्थ में वास्तविक रूप से उपयोगी बनाने के लिए हमें 4 वर्ष का पाठ्यक्रम

(15 से 18 वर्ष के आयुवर्ग में) शुरू करने के बारे मे विचार करना चाहिए।

सभी दृष्टियों से विचार करने के बाद इस समय चल रहे (क), (ख) और (ग) व्यावसायिक पाठ्यक्रम आकर्षक नहीं हैं। 10+2 पाठ्यक्रम में व्यावसायिक शिक्षा का तत्व इतना कम है कि उससे विद्यार्थी, अभिभावक या नियोजक चाहे वह निजी हो या सरकारी क्षेत्र में हो, उत्साह का अनुभव नहीं करता।

अच्छी सामान्य शिक्षा देने के नाम पर सभी विद्यार्थियों की पसंद या तरजीह पर ध्यान दिये बिना उनके बहुमूल्य समय (15-16) को बरबाद करना ठीक नहीं है। हमें अपने विकासशील राष्ट्र के संदर्भ और आवश्यकताओं पर भी ध्यान देना होगा। इस संबंध में चीन जैसे अन्य देशों में शुरू किये गये इसी तरह के सफल प्रयोगों पर भी ध्यान देना उचित होगा। 8+4 पाठ्यक्रमों के विरुद्ध बहुचर्चित तर्क अर्थात *पाठ्यक्रम निर्धारण में बार-बार प्रयोग (अर्थात् 10+2) अवांछनीय है* बिलकुल युक्तिसंगत नहीं है और इससे गलत धारणाओं और उसके फलितार्थों का निराकरण नहीं होता। एक बार हमने समझ लिया है कि 10+2 व्यावसायिक पाठ्यक्रमों से वांछनीय फल नहीं प्राप्त होंगे तो इस पर पुनर्विचार करके इसे बदलने का विचार न करना निरा कठमुल्लापन है। नयी शिक्षा नीति के निर्माताओं में इतना साहस और बुद्धिमानी होनी चाहिए कि वे देखें कि यह शिक्षा नीति सचमुच नयी और उपयोगी होगी। इसके साथ ही हमें सावधानीपूर्वक विचार करना है कि 10+2 पाठ्यक्रमों को प्रस्तावित 8+4 पाठ्यक्रमों में बदलने मे उसके दुष्प्रभावों को यथासंभव कितना कम कर सकेंगे। व्यावसायिक पाठ्यक्रम अर्थात् इंजीनियरिंग, कानून, डाक्टरी और प्रबंध के लिए 4 या 5 वर्ष का समय दिया जाना चाहिए। अर्थात् 22 या 23 वर्ष की उम्र आते-आते छात्र को स्नातक हो जाना चाहिए। (14+4+4/5) 8+4 पाठ्यक्रम के सुपात्र विद्यार्थियों को एक वर्ष या कुछ अधिक समय की छूट देनी चाहिए, ताकि वे अपना व्यावसायिक जीवन कुछ पहले (21-22 वर्ष की आयु) ही शुरू कर सकें।

उच्चतर शिक्षा को *चयनात्मक* होना चाहिए और उसे देश की सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं से संबंधित होना चाहिए। महाविद्यालय और विश्वविद्यालय की शिक्षा, जिसमें अनुसंधान भी शामिल है, पर दबाव कम करना आवश्यक है। इस संबंध में हमें सोवियत संघ या अमेरिका जैसे देशों मे प्रचलित शिक्षा की परिपाटी को भी ध्यान में रखना चाहिए। सबसे अच्छे विद्यार्थियों को सर्वोत्तम शिक्षा नहीं दी जा सकती यदि कक्षा में अत्यधिक असमान विद्यार्थी पढ़ते हों। महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में भर्ती की पात्रता की कसौटी बढ़ानी होगी। हमारे देश में भर्ती का तरीका अमेरिका जैसे पूंजीवादी और सोवियत संघ जैसे समाजवादी देश, दोनों से भिन्न है। पहले मामले में यह अत्यंत चयनात्मक और खर्चीला है। दूसरे मामले में अत्यंत चयनात्मक किन्तु निःशुल्क है। हमारा तरीका सस्ता लेकिन सामाजिक आवश्यकताओं और लागत से असंबद्ध है। हमारे *शिक्षा संबंधी अर्थशास्त्र पर कड़ाई और गहराई से विचार करना वांछनीय है।* यह तर्क कि चूँकि विद्यार्थियों को काम नहीं दिया जा सकता इसलिए उन्हें महाविद्यालय में भर्ती कर लेना चाहिए, बकवास है। यह बेतुका और बेहूदा दोनों है। इस समस्या का समाधान शिक्षा के व्यवसायीकरण, औद्योगिक संस्कृति की भावना पैदा करने और स्वयं व्यवसाय करने के तरीके से ढूँढ़ा जा सकता है।

सारे देश में उच्च शिक्षा का स्तर वस्तुनिष्ठता की दृष्टि से समान होना चाहिए। शिक्षित व्यक्तियों को देश के एक भाग से दूसरे भाग में जाने की दृष्टि से ऐसा करना आवश्यक है। जब तक ऐसा नहीं किया जाता तब तक हमारे आर्थिक लाभ वास्तविक रूप से होने वाले लाभों से बहुत कम रहेंगे। इसके अलावा यह राष्ट्रीय एकता की शक्तियों को सुदृढ़ करेगा।

निम्न स्तर के महाविद्यालय और विश्वविद्यालय प्रायोजित और नियमित किये जा रहे है, जिनके पीछे शिक्षा-विरोधी नहीं तो शिक्षेतर कारण काम कर रहे हैं। यद्यपि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ऐसे मामलों में प्रायः अपनी नापसंदगी जाहिर करता है लेकिन अंततोगत्वा यह देखने में आता है कि इनमें से अधिकांश संस्थाओं को शैक्षणिक, प्रशासनिक और वित्तीय सभी प्रकार का संरक्षण प्राप्त हो जाता है। उस प्रकार का ओछापन हमारी शिक्षा प्रणाली को व्यापक हानि पहुँचा रहा है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का महत्व कम होकर अब केवल अनुदान देने वाली संस्था तक सीमित हो गया है। इसकी प्रशासनिक शक्ति और शैक्षणिक हित व्यवहार में अत्यल्प हो गए हैं। इस दयनीय स्थिति के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ही पूर्ण रूप से उत्तरदायी नहीं है। राजनीतिक निर्णय-कर्ताओं ने उच्च शिक्षा के क्षेत्र में इस शिक्षा विरोधी रुझान को रोकने मे पूरी दिलचस्पी नहीं दिखाई है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की छवि भारत सरकार के छात्रवृत्ति वातायन से बदल कर एक शक्तिशाली संस्था के रूप में होनी चाहिए।

शिक्षा के व्यापक हितों की रक्षा के लिए समवर्ती संवैधानिक शक्तियों का उपयोग सूझबूझ के साथ किया जाना चाहिए। केन्द्रीय विश्वविद्यालयों के अलावा कलकत्ता, बंबई और मद्रास के प्रेसीडेसी विश्वविद्यालयों को अखिल भारतीय स्वरूप देने में सहायता की जानी चाहिए। तथ्यों और आँकड़ों से प्रकट है कि केन्द्रीय विश्वविद्यालय केवल क्षेत्रीय विश्वविद्यालय बन कर रह गए हैं, जिनमं अत्यंत सीमित क्षेत्रों के विद्यार्थी और अध्यापक आ रहे हैं। उपर्युक्त पुराने विश्वविद्यालय अपने प्रशासनिक कार्यभार से इतने दबे हुए हैं कि शैक्षणिक या अनुसंधान संबंधी कार्यों पर शायद ही गंभीर ध्यान दे पाते हों। सार्वजनिक हित के इस महत्वपूर्ण क्षेत्र मे केन्द्र और राज्यों के बीच चलने वाले विवाद को घसीटना उचित नहीं लगता।

काफी समय से यह अनुभव किया जा रहा है कि तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग जैसी संस्था का होना आवश्यक है। तकनीकी शिक्षा के लिए अखिल भारतीय टेक्निकल शिक्षा परिषद् इस आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर पाती। इस परिषद् का पुनर्गठन किया जाना चाहिए, ताकि इसका स्वरूप मुख्यतः शैक्षणिक हो सके या इसे वि.अ.आ. में मिला दिया जाये और समन्वित संगठन को नया नाम और सार्थक स्वरूप दिया जाये।

शिक्षा के सभी तरीकों को सामान्य रूप से और अनुसंधान को विशेष रूप से संविधान मे उल्लिखित राष्ट्रीय उद्देश्यों और भावनाओं के अनुरूप होना चाहिए ताकि वह आर्थिक और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके और आज के विद्यार्थियों को कल के सुयोग्य नागरिक बनाने और उत्पादन कार्य में समर्पित भावना से काम करने वालों को तैयार कर सके। नीति-निर्माताओं से जहाँ यह अपेक्षित है कि वे विशुद्ध अनुसंधान-कार्य को प्रोत्साहन देंगे, वहीं कृषि और औद्योगिक उत्पादन, नयी खोज और स्वदेशीकरण, वैज्ञानिक वातावरण के साथ आधुनिकीकरण तथा न्याय पर आधारित सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने की आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

सी.एस.आई.आर., आई.सी.एम.आर., आई.एन.एस.ए., आई.सी.एस.एस.आर., आई.सी.एच.आर., आई.सी.सी.आर., आई.सी.पी.आर. और आई.आई.ए.एस. शिमला जैसी विभिन्न अनुसंधान परिषदों/संस्थाओं के कार्यक्रम और कामकाज मे ऐसा तालमेल रखा जाये कि एक ही काम दो जगहों मे न किया जाये और समय तथा धन की बरबादी न हो तथा वित्तीय और मानवीय उपलब्ध साधनों का सर्वोत्तम सदुपयोग किया जा सके। सोवियत संघ और चीन की विज्ञान एकादमियों के नमूनों पर उपयुक्त संशोधनों के साथ विचार किया जा सकता है, जो अपने देश के प्रयोजन के अनुकूल हों। यू.जी.सी. और ए.आई.सी.टी.ई. की प्रस्तावित और

पुनर्गठित संरचनाओं को परस्पर संबद्ध शैक्षणिक संस्थाओं की नयी योजनाओं के निकट लाना चाहिए। इन दोनों संस्थाओं को अपने साथ 'विचार कोष' रखना चाहिए ताकि उनकी वित्तीय सहायता से चलने वाली परियोजनाओं के मूल्यांकन में सहायता मिल सके।

बहुत खास मामलों को छोड़कर आई.आई.टी. और ए.आई.आई.एम.एस. (दिल्ली, चंडीगढ़ और पांडिचेरी) जैसी उच्च शिक्षा संस्थाओं से निकले व्यक्तियों को विदेशों में स्थायी काम करने के लिए जाने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। हमारे जैसे गरीब.देश प्रशिक्षित व्यक्तियों जैसे संसाधनों के विपरीत-प्रवाह की हानि उठाने की स्थिति मे नहीं है। चार-पाँच वर्ष की अवधि में डेढ़ लाख रुपये के खर्च से तैयार डाक्टर/इंजीनियर स्नातकों में से श्रेष्ठ 65 प्रतिशत विदेशों मे जाकर संपन्न देशों में कुशल जन शक्ति संबंधी आवश्यकताएँ पूरी करे यह हमें स्वीकार नहीं। इस संबंध में हमें चीन जैसे देशों के अनुभवों से लाभ उठाना चाहिए। यह तर्क कि हम उन्हें अपने देश मे ऊँचे वेतन या सुविधाएँ नहीं दे सकते इसलिए उन्हें बाहर जाने से रोकने का भी हमे कोई अधिकार नहीं है, न तो सबल है और न ही उचित। आखिरकार उनकी शिक्षा का अधिकांश खर्च सरकार उठाती है। इसके अलावा, अधिक महत्व इस बात का है कि हमारे गाँवों और कस्बों मे रहने वाले अपेक्षाकृत कमजोर वर्गों को उनके उच्च तकनीकी ज्ञान का लाभ नहीं मिल पाता।

अपनी नयी शिक्षा-नीति की सफलता के लिए केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच सहयोग अत्यंत आवश्यक है। इस मामले में पहल और नेतृत्व के लिए केन्द्र को सामने आना चाहिए। एक केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड गठित किया जाना चाहिए। राष्ट्र के शिक्षा संबंधी हितों की रक्षा के लिए भारतीय शिक्षा सेवा (आई.ई.एस.) जैसी नयी अखिल भारतीय सेवा गठित की जानी चाहिए। शिक्षा का प्रशासन पूर्णतः सामान्य प्रशासकों के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता क्योंकि वे लोग शिक्षा की नाजुक और पेचीदा समस्याओं से अनभिज्ञ रहते है। इसके अलावा अखिल भारतीय शिक्षा सेवा प्रारंभ करने से राष्ट्रीय एकता के तत्वों को बल मिलेगा।

रईस अहमद

नई शिक्षा नीति :
कर्म की पुकार



रईस अहमद

रईस अहमद (जन्म 1923) ने अपनी डॉक्टरेट की उपाधि प्रिंसटन विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमरीका) से प्राप्त की। ये अनेक महत्वपूर्ण पदों पर रहे जिनमें प्रमुख हैं: अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में विद्युत अभियांत्रिकी एवं भौतिकी के प्रोफ़ेसर और विज्ञान संकाय के डीन; राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के निदेशक; कश्मीर विश्वविद्यालय के उप कुलपति; तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के उपाध्यक्ष। ये लंदन विश्वविद्यालय के नफील्ड फाउंडेशन फेलो और भारत सरकार के मंत्रिमंडल की विज्ञान सलाहकार समिति के सदस्य थे। इन्हें 1985 में पद्मभूषण से अलंकृत किया जा चुका है। आजकल ये भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय के परामर्शदाता हैं।

नई शिक्षा नीति : कर्म की पुकार

नयी शिक्षा-नीति पर अभी हाल में हुई परिचर्चाओं के संदर्भ में यह बात उभर कर आई है कि जो *नया* होना है, वह नीति के क्षेत्र में उतना नया नहीं है जितना निश्चय और कार्यान्वियन की दृष्टि से है। अतीत में अच्छे-अच्छे विचारों पर चर्चा हो चुकी है, समितियों और आयोगों द्वारा प्रशंसनीय सुझाव प्रस्तुत किये गए हैं और 1968 में संसद द्वारा पारित प्रस्ताव भी सामने है, किंतु कार्य-योजना इन निकायों के अधिकार क्षेत्र से बाहर मानी जाती है। शायद यह मान लिया जाता है कि सरकार का सचिवालय विचारों को क्रियान्वित करने के लिए उपयुक्त योजना तैयार करेगा।

मूलतः धन और प्रबंध का प्रश्न

क्रियान्वयन की बात उठते ही अनेक प्रश्न उठ खड़े होते हैं। किंतु इनके सूक्ष्म ब्यौरों में गए बिना ही हम कह सकते हैं कि मूलतः यह प्रश्न धन और प्रबंध का है। संसाधनों की आवश्यकता बहुत कम की जा सकती है और की भी जानी चाहिए, किन्तु नये कार्यक्रमों अथवा पुराने कार्यक्रमों में प्रमुख परिवर्तन और अपनी संस्थाओं की सुविधाओं को कुछ सीमा तक नीचे ले आने पर भी धन की आवश्यकता होती है। जो लोग कहते हैं कि हमें पैसे की बात नहीं करनी है अथवा *बिना वित्त-निवेश* के प्रयोजन पूरा हो जायेगा, अथवा किसी एक शैक्षिक प्रयोजन या स्तर से धन हटाकर दूसरे शैक्षिक प्रयोजन में लगा लिया जायेगा, वे यथार्थ धरातल पर नहीं सोचते हैं, इतना तो कहा ही जा सकता है। शिक्षाविद् तथा वे लोग जो शिक्षा में प्रमुख परिवर्तनों के लिए व्यग्र हैं, सामान्य जनता की माँगों को उजागर करना चाहते हैं, जैसे शिक्षा का सार्वजनीकरण, प्रौढ़ निरक्षरता का निराकरण, रोजगारोन्मुख शिक्षा, शिक्षा की गुणता में क्रांतिकारी सुधार, राष्ट्रीय पुनर्गठन में शिक्षा का सन्निवेश, व्यक्तियों तथा संस्थाओं द्वारा आत्मनिर्भर आर्थिक विकास से संबंधित शोध उत्पादकता; वे सभी लोग संसाधनों और अपेक्षाकृत अधिक संसाधनों पर बल देते हैं, क्योंकि ये सभी कार्य विगत दशकों में पूरे मनोयोग से नहीं किए गए हैं और अब एकत्र धनराशि की आवश्यकता और माँग का सामना करना पड़ रहा है।

क्षण भर को हम मान लें कि पूर्ववत् स्थिति बनी हुई है, प्रति छात्र स्थिर रुपये के अर्थ में व्यय बहुत नीचे आ गया है तथा यह और भी नीचे लाया जा सकता है। पर यह क्या उचित होगा? राष्ट्रीय महत्व के कार्यों में हमारे स्नातकों की सामर्थ्य तथा उपलब्ध औसत स्तर की दृष्टि से अथवा आज के प्रतियोगी विश्व में स्थान बनाये रखने के लिए सर्जनात्मक प्रौद्योगिक कार्य की योग्यता की दृष्टि से हम अपने देशवासियों तथा अपने हित के प्रति घोर अन्याय करेंगे। इससे निराशा तथा तज्जन्य संकट और भी गहरे होंगे तथा हमारी शिक्षा प्रणाली पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

वस्तुतः यह सत्य है कि यदि प्रबंध की लागत प्रभावी प्रणाली अपनाई जा सके तो धन की

आवश्यकता को यथेष्ट रूप से घटाया जा सकता है। किंतु हमारी लोकतांत्रिक प्रणाली की सीमाएँ हैं। संभवतः हम इस स्थिति में नहीं है कि लोगों को शैक्षिक क्रियाकलापों के लिए अपने समय का कुछ भाग अर्पित करने की *आज्ञा* दे सकें। इंडोनेशिया का उदाहरण लें। वहाँ ग्रामीण शिक्षा एवं ग्रामोत्थान में एक वर्ष की अनिवार्य सेवा का नियम उन सब लोगों के लिए है जो विश्वविद्यालयों से स्नातक उपाधि प्राप्त करने के इच्छुक हैं। और भी देश हैं, जो सामुदायिक या सामाजिक सेवा और प्रौढ़ शिक्षा के लिए दल (ब्रिगेड्स) संगठित करने में समर्थ हैं।

वादविवाद के पंथ से कर्मपंथ की ओर

हमारी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि हम शब्दों, वायदों, नीति वक्तव्यों, प्रस्तावों और संकल्पों की दुनिया में रहते हैं। हम इनके तथा इनकी सहवर्ती विचार गोष्ठियों, सम्मेलनों, उच्च स्तरीय बैठकों के बिना नहीं रह सकते। प्रायः सूक्ष्म नीति निर्धारण अथवा रिपोर्ट तैयार करने में इतना समय लग जाता है कि इस बीच टीम और नेतृत्व बदल चुका होता है जिस कारण उनके द्वारा प्रस्तुत उपागम में संशोधन अथवा कभी-कभी विपरीत परिवर्तन की आवश्यकता पड़ जाती है। चूँकि उपलब्ध परिणाम सीमित होते है अतः आसानी से मान लिया जाता है कि पुरानी टीम नालायक थी। यदि इस प्रकार की सामान्य स्थिति होती तो अप्राप्त लक्ष्यों का कारण हम कैसे दे सकते थे, अथवा राष्ट्रीय शिक्षा नीति पर सर्वसम्मति से संसद द्वारा पारित प्रस्ताव की अवहेलना कैसे कर सकते थे? हर कोई जानता है कि सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा का लक्ष्य बहुत बड़े अंतर से अपूर्ण रह गया है। व्यावसायिक शिक्षा तो यथार्थ रूप में शुरू ही नहीं हुई। प्रमुख राज्यों मे 10+2+3 प्रणाली क्रियान्वित नहीं की गई। यद्यपि इस प्रस्ताव मे असंदिग्ध रूप से कहा गया था कि *उपर्युक्त आधारों पर शिक्षा के पुनर्गठन के लिए अतिरिक्त धन की आवश्यकता पड़ेगी। लक्ष्य यह है कि शिक्षा पर क्रमशः पूँजी निवेश बढ़ाया जाये और यथाशीघ्र इसे राष्ट्रीय आय के छः प्रतिशत तक पहुँचाया जाए।* पर विगत 18 वर्षों में जब भी राजनैतिक वित्तीय निर्णय लिए गए, इस निश्चय पर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

अतीत मे केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने अनेक प्रस्ताव पारित किये हैं तथा सभी विश्वविद्यालयों के कुलपतियों की द्विवर्षीय बैठकों में संस्तुतियाँ की गई है; राज्यों के शिक्षा मंत्री तथा शिक्षा सचिव अनेक मुद्दों पर विचार करने के लिए बार बार मिले हैं किंतु कार्यक्रमों को नियोजित ढंग से क्रियान्वित करने के लिए शायद किसी स्पष्ट सहमति का प्रयास कभी नहीं किया गया। इन बैठकों के पीछे *परिचर्चा, विचारों का आदान-प्रदान* अथवा *नीति-निर्धारण* की ही उपधारणा थी, लेकिन विशिष्ट कार्यक्रमों को संपन्न करने के लिए किसी दृढ़ निश्चय अथवा स्पष्ट निर्णय लेने का प्रयास नहीं किया गया। यही शिक्षा के विकास के अवरोध का कारण है। अतः हमे अब राष्ट्रीय अथवा राज्य स्तर की बैठकों मे *कार्यान्वियन-रणनीति* का निर्धारण करना है, जिसमें प्रतिभागी राज्यों/विश्वविद्यालयों/केन्द्रीय अभिकरणों को निश्चित उद्देश्यों और लक्ष्यों को पूरा करने के लिए पूर्ण सहमति से एकजुट होना है और हाथ में लिये गये कार्यक्रमों के लिए केन्द्रीय तथा राज्य की निधि प्रतिबद्ध रूप से सुलभ करना है।

महाविद्यालयी विकास के नए उपागम

अभी हाल में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने एक नई विलक्षण योजना द्वारा महाविद्यालयों की सहायता के लिए जो निर्णय लिया है, उससे इस नए उपागम का चित्र स्पष्ट होता है। आयोग ने शिक्षकों की अभिप्रेरणा और संस्थागत विकास के लिए *स्वायत्तता* को मूल उपादान के रूप में

माना है। उसने परीक्षा-सुधार, नई शिक्षण विधियों, रोजगार की दृष्टि से पाठ्यक्रमों में परिवर्तन, कार्य-दिवसों की न्यूनतम संख्या आदि अनेक कार्यक्रमों का सुझाव दिया है और उनके लिए निधि की भी व्यवस्था की है। तथापि आकर्षक कार्यक्रमों की ओर जिनको आर्थिक सहारा दिया जा सकता था, संकेत करने मात्र से यह प्रणाली अच्छी तरह प्रभाव न डाल सकी। इसलिए अब आयोग ने संपूर्ण देश में लगभग 400 महाविद्यालयों को पर्याप्त धनराशि और सुधार योजना देकर समर्थ बनाने का निश्चय किया है। बात यह है कि इस साहसिक कार्य में राज्यों से कहा जायेगा कि वे वि.अनु. आयोग के साथ भागीदारी करें और अपने क्षेत्रों मे ऐसे महाविद्यालयों का चयन करें। यदि कोई राज्य सरकार विश्वविद्यालय अथवा महाविद्यालय इस प्रकार के कार्य से अलग रहना चाहते हैं तो रहे। राज्य सरकारों सहित विश्वविद्यालय और महाविद्यालय, इस प्रकार, वि.अनु. आयोग द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहायता के बदले सुधार-कार्यक्रम को चलाकर रचनात्मक ढंग से कृतार्थ हो सकते हैं। इस कार्यक्रम की सफलता को सुनिश्चित करने के लिए, इस कार्यक्रम के आगे का विश्लेषण करने, समायोजन करने, कार्यान्वयन, प्रसार तथा निरीक्षण के हेतु क्षेत्रीय समितियाँ बनाई जायेंगी। यह आशा की जाती है कि यह रणनीति (योजना) कारगर सिद्ध होगी क्योंकि यह स्वैच्छिक, सुनिर्दिष्ट तथा अंतर्निहित दायित्व की भावना से ओतप्रोत होगी।

शिक्षा का प्रशासन शिक्षाविद् चलाएँ

इस नई कार्यपद्धति के अतिरिक्त शैक्षिक परिवर्तन को सुव्यवस्थित बनाने की दृष्टि से दो अन्य बातें भी बड़े महत्व की हैं। पहले भी कई बार उनकी संस्तुति की गई है परंतु अब तो कोई भी कह सकता है कि वे पूर्णतया आवश्यक बन चुकी है। उनमें एक है — शैक्षिक प्रशासन मे शिक्षाविदों को संलग्न करना और दूसरी है, शैक्षिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण।

राष्ट्रीय स्तर पर शैक्षिक प्रशासन की स्थिति बहुत कुछ बदल चुकी है, क्योंकि कोठारी आयोग ने टिप्पणी की थी — *वर्तमान परंपरा यह है कि भारत सरकार के सचिव के पद पर आई.सी.एस. या आई.ए.एस. के वर्ग का व्यक्ति नियुक्त न किया जाये और उसे किसी विख्यात शिक्षाविद् को दिया जाये जिसे 'भारत के शैक्षिक सलाहकार या शिक्षा मंत्रालय के सचिव' जैसे नाम से अभिहित किया जाये। यह एक स्वस्थ परंपरा है और इसे चालू रखना चाहिए।* [1] केन्द्रीय तथा राज्य स्तरों पर नियुक्त सचिवगण आई.ए.एस. वर्ग के प्रशासक है और वास्तव में स्थानांतरित होने से केवल थोड़े समय के लिए इन पदों पर रह पाते हैं। इन बदलते रहने वाले अधिकारियों से, जिनकी कोई शैक्षिक पृष्ठभूमि नहीं होती और जिन्हें आवश्यक अंतर्दृष्टि और संवेदनशीलता का विकास करने का समय भी नहीं मिल पाता, शैक्षिक परिवर्तन की अत्यंत जटिल समस्याओ का सामना करने की अपेक्षा की जाती है। सचिव पद के नीचे भी मंत्रालयों और विभागों मे शिक्षाविद् कठिनाई से मिलेगे। कोठारी शिक्षा-आयोग के प्रतिवेदन मे प्रशासनिक वर्ग के बारे में यह कहा गया है — *पहले, शिक्षा के क्षेत्र में, प्रशासन शिक्षण एवं शोध की सेवा का साधन है, स्वामी नहीं। दूसरे जब तक एक व्यक्ति अच्छा अध्यापक नहीं है वह अच्छा शैक्षिक प्रशासक नहीं बन सकता। तीसरे इस बात की भी संभावना रहनी चाहिए कि एक शैक्षिक प्रशासक पुनः शिक्षण व शोध के क्षेत्र में लौटे और एक अध्यापक अल्पकालिक कार्य को संभालने के लिए प्रशासनिक क्षेत्र में जाये।* [2]

यदि राज्य एवं केन्द्र स्तर पर शैक्षिक प्रशासन को अच्छा काम करके दिखाना है और दूरगामी

---

[1] 'एजुकेशन एंड नेशनल डेवलपमेंट', *रिपोर्ट ऑफ दि एजुकेशन कमीशन,* एन.सी.ई.आर.टी., 1966, पृ.830

[2] उपरोक्त पृ 837.

शैक्षिक परिवर्तन लाना है, जैसे — एक ओर शैक्षिक कार्यक्रमों, शिक्षा संस्थाओं और प्रबंध प्रणाली के बीच वर्तमान खाई को पाटना और दूसरी ओर शिक्षा को राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करना, तो हमें शैक्षिक प्रशासन को शिक्षाविदों के द्वारा ही चलवाना होगा। इन शिक्षाविदों को खास तौर पर कार्यरत अध्यापकों और शोध-कर्ताओं में से चुनना होगा और उनको अल्पकालीन प्रशिक्षण देना होगा। इस प्रकार मध्यम तथा उच्च श्रेणी के प्रशासनिक पदों पर नियुक्त करने के लिए शिक्षाविदों की एक राष्ट्रीय सूची (समष्टि) तैयार करनी होगी और इस समष्टि के शीर्षस्थ पदों पर नियुक्त सदस्यों को देश के एक राज्य या क्षेत्र से दूसरे राज्य या क्षेत्र में स्थानांतरित करने की व्यवस्था भी करनी होगी।

जिला शिक्षा समितियां

हर राज्य में विश्वविद्यालयी स्तर से नीचे की संपूर्ण शिक्षा के लिए शैक्षिक परिषद् और जिला विद्यालय बोर्डों की स्थापना की संस्तुति कोठारी शिक्षा आयोग ने बड़े तर्कसंगत ढंग से दी थी। विशेष रूप से विभिन्न शैक्षिक कार्यक्रमों के बीच जो विभिन्न विभागों और निदेशालयों तक फैले हुए हैं, जैसे कृषि और चिकित्सा शिक्षा, जो कृषि और चिकित्सा विभाग के अंतर्गत है, औद्योगिक प्रशिक्षण जो उद्योग विभाग के अधीन है, प्रौढ़ शिक्षा जो कि सामुदायिक विकास प्रशासन के तथा जनजातियों की शिक्षा जो विभिन्न विभागों का विषय है, तालमेल बिठाने का उल्लेख किया गया था ताकि शिक्षा का समन्वित दर्शन उभरे, उनको अधिक स्पष्टता से समझा जा सके और इन कार्यक्रमों को जल्दी पूरा किया जा सके। परामर्शदाताओं के रूप में विद्वानों को और शिक्षा के 'उपभोक्ता' के रूप में समाज को भी इस कार्य में संलग्न करना भी उतना ही महत्वपूर्ण है।

अभी हाल में व्यावसायिक शिक्षा व रोजगार, समाजोपयोगी उत्पादक कार्यों या विद्यालय स्तर पर कार्य अनुभव जिसमें आंशिक रूप से छात्रों को विकासात्मक कार्यों तथा खेतों और कारखानों तथा विस्तार सेवा एवं शैक्षिक कार्यों में लगाया जाता है, आदि पर होने वाले विचार-विमर्शों के माध्यम से जिला शिक्षा समिति का विचार उभरा है, जो विभिन्न शैक्षिक संस्थाओं को अपने में समेट कर शैक्षिक क्रियाकलापों को पूरा करने में सहायक सिद्ध होंगी। इन समितियों के माध्यम से स्थानीय तौर पर अर्थसंग्रह करने, धनेतर साधनों को जुटाने, जैसे — सुविधाओं का सहकारिता के आधार पर उपयोग, मध्याह्न भोजन, पुस्तकों और वस्त्रों (विशेष रूप से लड़कियों के लिए) का एकत्रीकरण आदि विचार भी सामने आये हैं। अतः ऐसा जान पड़ता है कि ऐसी समितियों का निर्माण और उनके दायित्वों का निर्धारण नए शैक्षिक कार्यक्रमों के प्रसार तथा क्रियान्वयन में बहुत कुछ सहायक होगा। वास्तव में विस्तार सेवाएँ और व्यावसायिक कार्यक्रम आदि इस प्रकार की समितियों के अभाव में महत्वपूर्ण सफलता न पा सकेंगे।

राज्य शिक्षा परिषदें

राज्य शिक्षा परिषदों के साथ-साथ, जिनकी संस्तुति कोठारी शिक्षा आयोग ने की है, और जो विश्वविद्यालय के अतिरिक्त शिक्षा के अन्य कार्यों के लिए हैं, एक उच्च शिक्षा की राज्यव्यापी परिषद् भी जोड़ी जा सकती है, जो एक ऐसी कानूनी संस्था होगी और जिसका काम महाविद्यालयों की शिक्षा के विस्तार तथा उसके भावी रूप को उसकी उपयुक्तता के संदर्भ में परखना, विश्वविद्यालयों के कार्य, विशेष रूप से शोध क्षेत्र में, समायोजन करना तथा विश्वविद्यालयों की आर्थिक आवश्यकताओं की जाँच-परख तथा निश्चय करना होगा। शैक्षिक प्रतिमानों को स्थिर

रखने मे यह परिषद् वि.अनु.आयोग के साथ सहयोग करेगी और इस उद्देश्य से वह एक सांख्यकीय तथा प्रसारात्मक 'सेल' की स्थापना करेगी। इस परिषद् में राज्य सरकारों के कुछ सचिव हो सकेंगे जिनमें से कुछ पेशेवर शिक्षा की विभिन्न शाखाओं तथा सामान्य शिक्षा के मामलों को निपटायेंगे। और कुछ सार्वजनिक तथा निजी उद्योगों, और कृषि से संबंधित प्रतिनिधि भी होंगे, परंतु, इसके अधिकांश सदस्य उपकुलपति और दूसरे विद्वान होंगे। परिषद् को काफी स्वायत्तता देनी होगी ताकि वह अनेक योजनाओं की तथा उच्च शिक्षा में शैक्षिक सुधारों की सफलता के लिए प्रभावी भूमिका अदा कर सके।

सरकार को यह जोरदार संस्तुति दी गई है कि वे सभी मंत्रालय एवं विभाग जिनके पास विकास के बड़े-बड़े कार्यक्रम हैं और साथ ही धन भी उपलब्ध है, मानव-शक्ति के विकास के लिए 5 प्रतिशत धन सुरक्षित रखें। इस प्रकार इन दो राज्य परिषदों के लिए साधन जुटा कर उपलब्ध कराए जायें ताकि उनका उपयोग दूरदर्शितापूर्ण (कल्पनाशील) मानवीय संसाधनों के विकास के लिए हो सके।

शैक्षिक प्रबंध के ढाँचे में यह परिवर्तन उतना ही आवश्यक है जितना धन क्योंकि इससे उत्साह पैदा होगा, नए-नए विचार सामने आयेंगे, शैक्षिक सुधारों के लिए नए उपागमों को स्वीकार कराने में सहायता मिलेगी और उन जटिल मामलों में जो आज प्रशासकों को किंकर्तव्यविमूढ़ बना देते हैं, तुरंत निर्णय होने की स्थिति पैदा होगी।

आइए, हम आशा करें कि साहसिक उपागमों की क्षमता, जो वर्तमान सरकार प्रदर्शित कर चुकी है, शीघ्र ही शैक्षिक जगत में नए जीवन का संचार करेगी। आज प्रत्येक व्यक्ति कर्म के लिए प्रतीक्षारत है।

पी.एल. मल्होत्रा

विद्यालयी शिक्षा
विचार के लिए कुछ मुद्दे

पी.एल. मल्होत्रा

विद्यालयी शिक्षा
विचार के लिए कुछ मुद्दे



पी.एल. मल्होत्रा

पी.एल. मल्होत्रा *(जन्म 1936) ने डॉक्टरेट की उपाधि लंदन विश्वविद्यालय से प्राप्त की। ये दिल्ली विश्वविद्यालय में डीन ऑफ कॉलेजेज़ थे। दिल्ली विश्वविद्यालय के ही कॉलेज ऑफ़ वोकेशनल स्टडीज़ के संस्थापक-प्रिंसिपल भी ये ही थे। ये अनेक महत्वपूर्ण शैक्षिक एवं व्यावसायिक समितियों तथा आयोगों के सदस्य रह चुके हैं जिनमे प्रमुख हैं: संयुक्त राष्ट्र में भारतीय शिष्टमंडल एवं इंडियन नेशनल कमीशन फॉर कोआपरेशन विद यूनेस्को। नेशनल डेवेलपमेंट ग्रुप, एपीड इंडिया (विद यूनेस्को) के महासचिव भी ये रह चुके हैं। आजकल ये राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के निदेशक हैं। इन्हें ब्रिटिश काउंसिल फेलोशिप मिल चुकी है। साथ ही फोर्ड फाउंडेशन फैकल्टी एक्सचेंज अवार्ड और रोटरी अवार्ड भी इन्होंने प्राप्त किए हैं। इनके प्रकाशन हैं:* एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ लॉर्ड एल्गिन इन इंडिया 1894-99; एवं करेज टु चेंज—ए न्यू अप्रोच टु पोस्ट सेकंडरी एजुकेशन। नेहरूः एन एंथोलॉजी फॉर यंग रीडर्स *पुस्तक इन्होंने संपादित की है।*

विद्यालयी शिक्षा
विचार के लिए कुछ मुद्दे

देश मे अत्यंत तीव्र गति से सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवर्तन हो रहे है। इससे ऐसी नीतियों तथा कार्यो को अपनाने की आवश्यकता हमारे विचार-विमर्श का केन्द्रीय विषय बन गई है जो नई उभरती प्रवृत्तियों से मेल खा सके तथा जो दीर्घावधि शैक्षिक सरोकारों के लिए प्रासंगिक हो। शिक्षा अपने वास्तविक रूप मे गतिशील होती है और लगातार चलती रहने वाली प्रक्रिया है। इसलिए नीति बनाने के लिए सतत मूल्यांकन तथा आलोचनात्मक विश्लेषण को आधार बनाने की आवश्यकता है। किंतु ऐसा करते समय इस बात को ध्यान में रखना होगा कि हम क्या प्राप्त करना चाहते हैं तथा अभिभावकों, शिक्षकों तथा शिक्षार्थियों की आवश्यकताएं क्या हैं, जिनको हम शिक्षित करना चाहते हैं उनमें शिक्षा ग्रहण करने की योग्यता किस स्तर की है। सबसे अधिक व्यावहारिक नीतियों को पहचानने तथा उनको कार्य रूप में परिणत करने के लिए निम्नांकित बातों की अद्यतन सूचना प्राप्त कर उसके अध्ययन की आवश्यकता होगी :

(i) विकास के सभी क्षेत्रों से संबद्ध बदलती हुई राष्ट्रीय नीतियों की दिशाएँ।

(ii) शैक्षिक विकास के विविध पहलुओं, जनसंख्या की वृद्धि और शिक्षा व्यवस्था, रोजगार तथा उत्पादकता पर इसके प्रभाव संबंधी आँकड़े।

(iii) उचित अवधि के दौरान शैक्षिक कार्यक्रमों के लिए उपलब्ध होने वाला वित्तीय और मानव संसाधन।

(iv) पहले से लागू की गई नीतियों तथा पूरे किए गए कार्यों के विषय में जानकारी हासिल करना और जो कार्यक्रम सफलतापूर्वक चल रहे हैं उनके आधार पर विकसित की गई तकनीकों और अवधारणाओं के व्यापक इस्तेमाल के लिए रणनीति बनाना।

भूतकाल मे शिक्षा के क्षेत्र मे उठाये गए सुधारात्मक कदमों मे से कुछ की असफलता का एक कारण यह भी रहा है कि जनमत को प्रभावित करने तथा विभिन्न स्तरों पर दबाव डालने की प्रक्रिया का आधार व्यापक नहीं रहा है। शिक्षा के क्षेत्र मे कार्यरत लोगों, अभिभावकों और सीखने वालों के मार्ग में पैदा होने वाली बाधाओं, उनकी गंभीरता तथा उनके प्रभाव में भागीदार बनने के लिए हमको सजग प्रयास करना चाहिए, साथ ही हमें शैक्षिक सुधार तथा नवीनीकरण की प्रक्रिया में भी उनको भागीदार बनाना चाहिए। *अतः विद्यालयी शिक्षा को जन-आंदोलन का रूप देना होगा।* शिक्षा से जुड़े राष्ट्रीय प्रश्नों को महत्व देने की आवश्यकता है, लेकिन पिछड़े

हुए इलाकों, सुदूर के अलग-थलग पड़े क्षेत्रों, गंदी बस्तियों आदि जैसे गैर प्राथमिकता वाले क्षेत्रों पर ध्यान देने के लिए समाज के प्रभावशाली वर्ग का दबाव होता है इसलिए इनको उचित महत्व नहीं मिल पाता है।

परिप्रेक्ष्य

सातवीं पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत जो दृष्टिकोण (उपागम) अपनाया गया है, उसमें निम्नांकित बातों को विशेष रूप में रेखांकित किया गया है : संवृद्धि, समता तथा सामाजिक न्याय, आत्मनिर्भरता, उन्नत क्षमता तथा उत्पादकता। इसमे मानव संसाधनों को सुधारने-सँवारने और न्यायसंगत विकास के लिए उनकी क्षमता को बढ़ाने पर विशेष बल दिया गया है।

ऊपर जिस दृष्टिकोण (उपागम) की चर्चा की गई है, उसको ध्यान में रखकर यदि शिक्षा का उद्देश्य तय किया जाए तो वह उद्देश्य होगा : आयु, सामाजिक वर्ग और आर्थिक स्तर के भेदभाव से ऊपर उठकर सभी व्यक्तियों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए अवसर उपलब्ध कराना ताकि वे अपने व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को विकसित करने में सहायक ज्ञान, दक्षता, रुचि तथा अभिवृत्ति जैसी बातें अपने भीतर पैदा कर सकें और जो उनके संप्रेषण, उत्पादन तथा व्यावसायिक दक्षता को विकसित कर सके, ऐसी दक्षता जो अतीत की सांस्कृतिक विरासत तथा वर्तमान की सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं और भविष्य की सामाजिक तथा राजनीतिक आकांक्षाओं के लिए प्रासंगिक हो।

विचार के लिए मुद्दे

नीति निर्धारण में जिन मुद्दों की भूमिका की कोई सार्थकता हो सकती है, वे नीचे दिए जा रहे हैं :

(1) शिक्षा व्यवस्था की बढ़ती हुई माँग और उसकी तुलना में शिक्षा के विकास के लिए उपलब्ध सीमित संसाधन।

(2) दबाव, जिसके चलते समाज के कमजोर वर्गों के बच्चे औपचारिक शिक्षा-व्यवस्था से बाहर रहने के लिए बाध्य होते है। इससे उनकी उत्पादकता के विकास मे बाधा आती है और उनके कल्याण में रुकावट।

(3) संसाधनों के प्रभावहीन तथा अल्प-उपयोग के कारण औपचारिक शिक्षा-व्यवस्था की निम्न क्षमता, अवरोध और बीच में पढ़ाई छोड़ कर चले जाने के कारण निम्न उत्पादकता, तथा व्यवहार मे परिवर्तन और उपलब्धि के संदर्भ में निम्न गुणवत्ता।

(4) इस आधार पर वर्तमान शिक्षा प्रणाली की आलोचना की जाती है कि देश की जरूरतों के लिहाज से इसकी विषय-वस्तु तथा इसकी प्रक्रियाएँ निष्क्रिय हैं तथा जिनको यह शिक्षा दी जाती है उनमें से अधिकांश की आवश्यकताओं, आर्थिक हितों, जीवन-शैली आदि की दृष्टि से यह अप्रासंगिक है।

इसलिए वे मुख्य क्षेत्र, जिन पर ध्यान देने की आवश्यकता है, इस प्रकार हैं :

(i) शैक्षिक विकास के जिन विभिन्न भागों को अलग-अलग प्राथमिकता दी गई है उसी के हिसाब से एकत्र किए गए संसाधनों का बँटवारा।

(ii) जनता के जीवन की गुणवत्ता को सुधारने तथा राष्ट्रीय विकास में उनकी भागीदारी को बढ़ाने के लिए सब लोगों को शिक्षा के समान अवसर उपलब्ध कराने की गारंटी।

(iii) शिक्षा को सीखने वालों की जरूरतों के अनुकूल बनाने के लिए पाठ्यक्रम में परिवर्तन (नवीकरण) के जरिए सभी स्तरों पर शिक्षा की गुणवत्ता, प्रासंगिकता और स्तर में सुधार; उपयुक्त आधारिक संरचना संबंधी सुविधाओं का प्रावधान; नवाचारी शिक्षक-प्रशिक्षण पद्धतियों को अपनाना; गुणात्मक सुधार के लिए नवीन प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल तथा नए, प्रभावकारी और विकेन्द्रीकृत प्रबंध संबंधी विकल्पों को अपनाना।

(iv) समुदाय तथा देश के सामाजिक और आर्थिक लक्ष्यों के अनुकूल, शिक्षा, रोजगार तथा विकास के बीच गतिशील और लाभकारी संबंध स्थापित करना।

(v) राष्ट्रीय एकता, धर्म निरपेक्षता, प्रजातंत्र, समाजवाद तथा श्रम की गरिमा जैसे मूल्यों को बढ़ावा देना।

संसाधन की आवश्यकताएँ

लोगों की बढ़ती हुई संख्या के हर स्तर से शिक्षा की बढ़ती हुई माँग तथा उनको शिक्षित करने के लिए उपलब्ध संसाधनों के बीच की खाई ज्यों की त्यों बनी हुई है। शिक्षा के लिए वित्त उपलब्ध कराना पूरी तरह सरकार का दायित्व हो गया है। इसमें गैर राजकीय क्षेत्रों का योगदान तेजी से गिर रहा है। वित्तीय बाधाओं को दूर करने के लिए, विशेष रूप से प्राथमिकता वाले क्षेत्रों में, नई शिक्षा-नीति में निम्नलिखित बातों पर विचार किया जाना चाहिए :

(क) विकास की अन्य गतिविधियों से वित्तीय संसाधनों को हटाकर शिक्षा में लगाया जाए। शिक्षा के लिए अधिक धन मुहैया कराया जाए जिससे शिक्षा पर किया जाने वाला व्यय सकल राष्ट्रीय आय का कम से कम 6% हो सके।

(ख) प्राथमिकता के विभिन्न क्षेत्रों में वर्तमान संसाधनों का पुनर्वितरण किया जाए। प्रारंभिक शिक्षा में निवेश की लाभ दर माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा की तुलना में कहीं अधिक है, इसलिए प्रारंभिक शिक्षा के लिए अधिक संसाधन दिए जाने चाहिए।

(ग) अक्षमताओं को समाप्त कर तथा प्रौद्योगिकी में परिवर्तन के जरिए शिक्षा की इकाई लागत में कमी की जाए।

(घ) पूर्णकालिक अध्यापकों की सहायता के लिए शिक्षार्थी अध्यापकों की सेवाओं का उपयोग करके अध्यापक के ऊपर होने वाले खर्च को कम किया जाए। शिक्षार्थी अध्यापकों की सेवा भी एक निश्चित अवधि तक ली जा सकती है।

(ङ) निजी क्षेत्रों द्वारा विद्यालयों की स्थापना को प्रोत्साहन देकर समुदाय के वित्तीय समर्थन या सहायता वाली संस्थाओं की संख्या में बढ़ोतरी की जाए।

(च) जो क्षेत्र शिक्षा व्यवस्था से निकले हुए दक्ष हाथों का उपयोग करते हैं, शिक्षा की लागत में उनको हिस्सेदार बनाया जाये और कुछ चुने हुए मदों पर उपकरण लगाया जाए।

(छ) अधिगम सुविधाओं को सुदृढ़ बनाकर तथा गैर परंपरागत शिक्षण कार्मिकों का उपयोग करके वर्तमान शैक्षिक कार्यक्रमों की लागत प्रभाविता को बढ़ाया जाये।

शिक्षा में निष्पक्षता

शैक्षिक अवसरों में असमानता के कारण इस क्षेत्र में भी असमानता को बढ़ावा मिला है। औपचारिक शिक्षा का लाभ गरीब लोगों को नहीं मिल सका है। इसलिए प्राथमिकता वाले हर समूह के गरीब लोगों तक पहुँचने का तथा ग्रामीण क्षेत्रों में दी जाने वाली शिक्षा मे गुणात्मक सुधार का सजग प्रयास किया जाना चाहिए। निष्पक्षता संबंधी नीति मे निम्नांकित बातों को विशेष रूप से उजागर किया जाना चाहिए :

(1) संभावित न्यूनतम अवधि में प्रारंभिक शिक्षा का सार्वजनीकरण तथा प्रौढ़ निरक्षरता का उन्मूलन। शिक्षा के सार्वजनीकरण में निम्नांकित बातों को शामिल किया जाना चाहिए : सभी के लिए शिक्षण सुविधाओं की व्यवस्था, हर एक का स्कूल मे नामांकन, जब तक शिक्षा पूरी न हो तब तक सब को स्कूल में बनाए रखने की व्यवस्था, गुणवत्ता में सुधार, बच्चों को इस योग्य बनाना ताकि वे सफलतापूर्वक आरंभिक शिक्षा पूरी कर सकें। रणनीति के रूप में, प्रथम कक्षा से शुरू करके विभिन्न चरणों में शिक्षा के सार्वजनीकरण के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सुसंगठित प्रयत्न करना वांछित होगा। प्राइमरी शिक्षा (कक्षा I से V) के सार्वजनीकरण के लिए प्रयास किया जाना चाहिए। इसके बाद माध्यमिक स्तर (कक्षा VI से VIII तक) पर शिक्षा के सार्वजनीकरण के लिए प्रयास किया जाना चाहिए। यहाँ तक कि प्राथमिक स्तर पर भी शिक्षा के सार्वजनीकरण के लिए दो चरणों मे प्रयास किया जा सकता है। जिन राज्यों मे आज भी शिक्षा के सार्वजनीकरण का कार्य पूरा नहीं हो सका है, उनमें प्रथम तीन कक्षाओं के सार्वजनीकरण का प्रयास किया जाना चाहिए और उसके बाद कक्षा IV और V के लिए कोशिश की जानी चाहिए।

(2) सुधार कार्यक्रमों को लागू करना, जो समाज के कमजोर वर्ग के बच्चों को लाभ पहुँचाएँगे। इनमें अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के बच्चे भी होंगे।

(3) ग्रामीण इलाकों, जनजातीय क्षेत्रों तथा सुदूर देहाती इलाकों की संस्थाओं को आधारिक संरचना संबंधी पर्याप्त सुविधाएँ मुहैया कराकर तथा संतुलित संसाधन उपलब्ध कराकर वंचित जनों को अच्छे किस्म की शिक्षा प्रदान करना होगा।

(4) जो बच्चे औपचारिक शिक्षा-प्रणाली का लाभ नहीं प्राप्त कर सकते, उनको अनौपचारिक शिक्षा-पद्धति तथा मुक्त विद्यालय-प्रणाली द्वारा शैक्षिक अवसर प्रदान करना होगा। लेकिन इस बात के प्रति पूरी सावधानी बरती जानी चाहिए कि अधिगम की अनौपचारिक प्रणाली कहीं औपचारिक प्रणाली का घटिया स्थानापन्न बन कर न रह जाए। अनौपचारिक शिक्षा-प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जो बच्चे में ऐसी योग्यता पैदा करे कि यदि बच्चा चाहे तो अनौपचारिक से औपचारिक शिक्षा-पद्धति में जा सके। कुछ खास दक्षताओं की उपलब्धि के विषय मे स्थिति को स्पष्ट किया जाना चाहिए ताकि नीचे से ऊपर की ओर या समानांतर दिशा में गतिशीलता को संभव बनाया जा सके।

(5) शैशवकालीन शिक्षा के कार्यक्रम का विकास किया जाना चाहिए, ताकि समाज के कमजोर वर्ग को प्रारंभिक शिक्षा के घेरे में लाने के लिए समर्थनकारी कार्यक्रम के रूप मे इसका उपयोग किया जा सके। प्रयास किया जाना चाहिए कि विभिन्न चरणों

में प्रत्येक प्राथमिक स्कूल के साथ शिशुओं की शिक्षा का एक केन्द्र स्थापित किया जा सके।

(6) जो लोग सफलतापूर्वक प्राथमिक शिक्षा पूरी कर लेते हैं, उन लोगों की माध्यमिक तथा उच्च माध्यमिक शिक्षा की बढ़ती हुई मांग पूरी करने के लिए माध्यमिक स्कूल खोलना चाहिए और साथ ही वैकल्पिक मार्ग जैसे खुला विद्यालय, अनौपचारिक शिक्षा आदि की व्यवस्था करना चाहिए, खासतौर से ग्रामीण इलाकों में।

(7) पड़ोसी विद्यालय की अवधारणा को स्वीकारना जिससे जातिगत तथा आर्थिक हैसियत के भेदभाव के बिना बच्चे अपने पड़ोस के विद्यालय में दाखिला ले सकें।

(8) स्कूल स्तर पर तीन भाषा सूत्र को साथ ही मातृभाषा अथवा क्षेत्रीय भाषा को स्कूल स्तर पर शिक्षण के माध्यम के रूप में अपनाना चाहिए। प्रारंभिक स्तर पर सिर्फ एक भाषा अनिवार्य रूप में पढ़ाई जानी चाहिए, चाहे मातृभाषा चाहे क्षेत्रीय भाषा, (इन दोनों में जिसे भी छात्र पढ़ना चाहे)। माध्यमिक स्तर पर भाषा के पाठ्यक्रम में हिंदी भाषी क्षेत्रों तथा केन्द्रशासित प्रदेशों मे एक आधुनिक भारतीय भाषा तथा अंग्रेजी का अध्ययन कराया जाना चाहिए तथा अहिंदी भाषी राज्यों में अंग्रेजी तथा हिंदी पढ़ाई जानी चाहिए।

गुणात्मक सुधार

सभी स्तरों पर शिक्षा में गुणात्मक सुधार लाने को सर्वोच्च प्राथमिकता मिलनी चाहिए। इसके लिए निम्नांकित बातों की आवश्यकता होगी :

(1) सभी स्कूलों में, खासतौर से ग्रामांचल के स्कूलों में पर्याप्त और उचित मात्रा में भौतिक और अन्य साजो सामान संबंधी सुविधाओं की व्यवस्था।

(2) घटिया दर्जे के तथा कम सुविधा वाले स्कूलों की स्थापना पर रोक लगाई जानी चाहिए।

(3) पाठ्यक्रम तथा शिक्षण सामग्री को संपन्नता और नवीनता प्रदान करना जिससे वे पढ़ने वाले लोगों की जरूरतों के संदर्भ में सार्थक हों।

(4) अध्यापक को इस बात के लिए छूट देनी चाहिए कि स्कूल के सामाजिक, सांस्कृतिक और भौतिक पर्यावरण के किसी पहलू से अपने शिक्षण को पाठ्यक्रम के दिए गए ढाँचे के अंतर्गत जोड़ सके।

(5) शिक्षण संस्थाओं का एक ऐसा जाल बिछाना चाहिए जिससे संगम शाला का रूप बन सके जिसमें बड़े तथा अच्छी साज सज्जा वाले विद्यालय, छोटे तथा कम सुविधा वाले स्कूलों के साथ मिलकर काम करें, इस तरह एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र में सभी बच्चों की आवश्यकताओं का स्कूलों में ध्यान रखा जायेगा। प्रत्येक संगम शाला में एक माध्यमिक स्कूल तथा एक उच्च माध्यमिक स्कूल, इसके केन्द्र के रूप में कार्य करेंगे। यही ढाँचा उच्च स्तर पर दुहराया जायेगा यानी कालेज और विश्वविद्यालय के विभाग एक तरफ होंगे तथा दूसरी तरफ माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक विद्यालय होंगे। ये दोनों एक दूसरे के आसपास होंगे।

(6) स्कूलों के प्रबंध में समुदाय की भागीदारी अपेक्षाकृत अधिक होगी। जरूरी योजनाएँ

बननी चाहिए जिनमे स्कूलों को धीरे-धीरे अपनी व्यवस्था अपने हाथ में लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। जैसे-जैसे उनकी क्षमता तथा तत्परता बढ़े उन पर वैसे-वैसे दायित्व छोड़ते जाना चाहिए।

(7) कई संसाधन केन्द्रों की स्थापना की जानी चाहिए जिसमें बच्चों के इस्तेमाल की विभिन्न प्रकार की चीजें उपलब्ध हों, औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों ही तरह के शिक्षा केन्द्रों पर नामांकित छात्र इनका इस्तेमाल कर सके।

(8) गुणात्मक सुधार तथा शिक्षक-प्रशिक्षण दोनों ही कार्यों के लिए जन-संचार माध्यमों की समर्थनकारी, संपन्न बनाने वाली तथा निष्पादनकारी भूमिका का अधिकाधिक प्रयोग।

(9) अध्यापकों का सेवाकालीन प्रशिक्षण चलाया जाना चाहिए जिससे वे अपनी क्षमता बढ़ा सकें तथा विषय-वस्तु के ज्ञान को अद्यतन कर सकें और इसके साथ ही शिक्षण-पद्धतियों से संबंधित अपने शैक्षिक ज्ञान का विकास कर सकें। सेवाकालीन प्रशिक्षण के लिए योग्यता को आधार बनाना होगा तथा स्थानीय आवश्यकता और परिस्थितियों को इसके केन्द्र में रखना होगा। इसके लिए सुदूर अधिगम प्रणाली की जरूरत होगी, बहुमाध्यमीय सामग्री और स्वशिक्षण सामग्री की आवश्यकता होगी। इसके साथ ही प्रखंड और जिला स्तर पर संसाधन केन्द्र स्थापित करने होंगे।

(10) धीरे-धीरे पहले माध्यमिक तथा उच्च माध्यमिक स्तर पर सार्वजनिक परीक्षाओं की समाप्ति और नौकरी को डिग्री से अलग करने का काम विभिन्न चरणों मे पूरा किया जाना चाहिए। इसमें परीक्षणों का विकेन्द्रीकरण पहले जिला स्तर पर शुरू किया जाना चाहिए, बाद में चल कर इसको प्रखंड स्तर तथा संस्था के स्तर पर किया जा सकता है। इसके साथ-साथ नौकरी पाने के लिए या उच्च अध्ययन में प्रवेश पाने के लिए चयन परीक्षा आरंभ करने की आवश्यकता पड़ेगी। इस प्रकार के विकेन्द्रीकरण से आरंभ में दिक्कत हो सकती है लेकिन बाद में चलकर यह लाभदायक साबित होगी।

(11) राष्ट्रीय स्तर के तथा स्थानीय स्तर के परीक्षण का एक मिला-जुला रूप आयोजित किया जाना चाहिए। कुछ खास विषयों की परीक्षा केन्द्रीय स्तर पर आयोजित की जानी चाहिए जब कि कुछ अन्य अकादमिक विषयों की परीक्षा स्थानीय अथवा जिला स्तर पर आयोजित की जानी चाहिए। विद्यालयों के लिए अपने निजी प्रश्न-पत्र बनाना, उनको संशोधित कराना संभव है। यह कार्य प्रशासन के समक्ष विशेषज्ञ अध्यापकों द्वारा कराया जा सकता है जिससे इसे क्षेत्रीय स्तर के समतुल्य किया जा सके। सभी कक्षाओं में पूरे साल शिक्षार्थी की प्रगति को जाँचने के लिए सतत मूल्यांकन पद्धति को प्रचलित करना जरूरी हो गया है। शिक्षा के स्तर तथा छात्र की उपलब्धि के संदर्भ में राज्यों के बीच में असमानता और असंतुलन के कारण उच्च शिक्षण संस्थानों मे प्रवेश में समस्याएँ खड़ी होने लगी हैं। इसलिए छात्र की उपलब्धि को जाँचने के लिए एक राष्ट्रीय प्रणाली को विकसित करना आवश्यक हो गया है। इस कार्य को संपन्न करने के लिए एक राष्ट्रीय परीक्षा सेवा के विकास की आवश्यकता है तथा राष्ट्रीय परीक्षा सेवा के परीक्षण के आधार पर ही उच्च शिक्षण संस्थानों में प्रवेश मिलना चाहिए।

(12) शिक्षा में गुणात्मक सुधार के लिए जनता की अपार निरक्षरता को दूर करने के लिए, अब तक जिन्हें अवसर नहीं मिला था उनको शैक्षिक अवसर प्रदान कराने के लिए, क्षेत्रीय तथा सामाजिक समूहों के बीच के असंतुलन को कम करने तथा शिक्षकों के प्रशिक्षण में आधुनिक प्रौद्योगिकी हमारे समक्ष अपार संभावनाओं के साथ खड़ी है। शिक्षण संस्थानों में अधिगम को संपन्न बनाने के लिए प्रौद्योगिकी में हुए विकास का लाभ उठाया जाना चाहिए।

शिक्षा और कार्य

शिक्षा तथा व्यवसाय के बीच संबंध स्थापित करने के कार्य को गंभीरता से करने की आवश्यकता है, खास तौर से शिक्षा के मिडिल, माध्यमिक तथा उच्च माध्यमिक स्तरों पर। शिक्षा नीति का ध्यान निम्नांकित बिंदुओं पर जाना चाहिए :

(1) शिक्षा देने की प्रक्रिया में ऐसी शिक्षा को महत्व मिलना चाहिए जो उत्पादक कार्यों से जुड़ी हो। कार्य विषयक गतिविधियों को इस तरह चुनना होगा कि उपयोगी नागरिक के रूप में समाज में बच्चे के स्थान और उसकी शारीरिक क्षमताओं तथा जरूरतों से वे मेल खाती हों। मिडिल, माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक स्तर पर काम शिक्षा का अविभाज्य अंग होना चाहिए। हर विद्यार्थी को अपने समय का पर्याप्त भाग उत्पादक कार्य में लगाना चाहिए।

(2) उच्चतर माध्यमिक स्तर पर शिक्षा के व्यावसायिक स्वरूप को खासतौर से बढ़ावा दिया जाना चाहिए ताकि अर्थव्यवस्था को शिक्षा द्वारा दक्ष व्यक्ति प्रदान किये जा सके जिससे संवृद्धि तथा उत्पादकता में मदद मिल सके। इसके लिए विभिन्न पेशों से संबंधित पाठ्यक्रम और शिक्षण-सामग्री तैयार करने की आवश्यकता है। शिक्षा को राष्ट्रीय विकास और रोजगार से जोड़ने के महत्व को देखते हुए +2 स्तर पर शिक्षा के व्यावसायीकरण के कार्यक्रम को लागू करने में केन्द्रीय सरकार को अधिक सकारात्मक और प्रभावशाली भूमिका अदा करनी होगी।

(3) व्यावसायिक शिक्षण से संबंधित विभिन्न प्रणालियाँ एक-दूसरे से अलग-अलग हो कर काम कर रही है तथा केन्द्र और राज्य स्तर पर इस क्षेत्र मे कार्यरत विविध अभिकरणों के मध्य कोई आपसी तालमेल नहीं है। इसलिए इस क्षेत्र में जितनी भी संस्थाएँ कार्य कर रही हैं उनको एक राष्ट्रीय अभिकरण के अंतर्गत समेट कर एक करना है। मानव शक्ति की आवश्यकताओं का पता लगाने, विविध प्रकार की दक्षताओं के स्वरूप का पता लगाने, व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिए साधन और स्थान को खोजने तथा लागत में भागीदारी आदि बातों के लिए संगठित क्षेत्र से संपर्क कायम करना भी आवश्यक है। इसके साथ-साथ असंगठित क्षेत्र की क्षमताओं के उपयोग को बढ़ाने के लिए, ग्रामीण परंपरागत व्यवसायों में, औपचारिक तथा अनौपचारिक माध्यमों से, प्रशिक्षण देने की संभावनाओं की खोज की जानी चाहिए। +2 स्तर पर व्यावसायिक पाठ्यक्रमं पूरा करने वाले छात्रों को एप्रेंटिसशिप सुविधाएँ देने के उद्देश्य से राष्ट्रीय एप्रेंटिसशिप अधिनियम को संशोधित किया जाना चाहिए।

नैतिक शिक्षा तथा राष्ट्रीय एकता

सार्वजनिक जीवन मे मूल्यों की बढ़ती हुई गिरावट ने स्कूल-स्तर पर मूल्य-शिक्षा के विविध

पक्षों की आलोचनात्मक परीक्षा करने की आवश्यकता को केन्द्रीय विषय बना दिया है। भारतीय शिक्षा को नये सिरे से अभिविन्यस्त करने की आवश्यकता है जिससे इसे देश की नई आकांक्षाओं और आशाओं के अनुरूप ढाला जा सके। मानवतावादी, विवेकवादी, समाजवादी, राष्ट्रीय एकता, नागरिक बोध तथा प्रजातंत्र और साथ ही आचारगत तथा नैतिक मूल्यों को बढ़ावा देने वाली शिक्षा को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम, शिक्षण सामग्री तथा शिक्षण-पद्धति का निर्धारण किया जाना चाहिए।

सामाजिक स्थिरता और राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देना आवश्यक हो गया है, विशेष रूप से ऐसे समय में जब विघटनकारी प्रवृत्तियाँ हमारे राष्ट्रीय जीवन में उभर रही हों। शिक्षा सामाजिक बदलाव का महत्वपूर्ण उपकरण है, इसलिए राष्ट्रीय एकता तथा धर्म-निरपेक्षता जैसे मूल्यों को प्राप्त करने में इसका दायित्व सबसे अधिक बन जाता है। इस दृष्टि से सभी विषयों की पाठ्य-पुस्तकों की समीक्षा की जानी चाहिए ताकि राष्ट्रीय एकता को हानि पहुँचाने वाली और पक्षपात पूर्ण दृष्टिवाली सामग्री को उसमें से छाँटा जा सके, साथ ही यह भी आवश्यक है कि पाठ्य सामग्री मे ऐसी विषय-वस्तु का समावेश किया जाए जिससे राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा मिले। विद्यालयी शिक्षा के हर स्तर पर स्वतंत्रता संग्राम का इतिहास और स्वतंत्रता के लिए लोगों द्वारा किए गए त्याग तथा बलिदान की गाथाएँ पढ़ाई जानी चाहिए। एक ऐसी केन्द्रीय विषय-वस्तु तैयार की जानी चाहिए जिसके द्वारा स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए किए गए त्याग तथा बलिदान से देश के विभिन्न भागों के बच्चों को परिचित कराया जा सके।

शैक्षिक योजना और प्रशासन

कार्यक्रमों को बनाने, लागू करने, उनका संचारेक्षण करने तथा मूल्यांकन करने के लिए सभी स्तरों पर प्रशासनिक क्षमताओं को सुधारने के लिए उचित कदम उठाए जाने चाहिए। यह बात नई शिक्षा-नीति में सुझाए गए परिवर्तनों तथा बल दिये जाने वाले मुद्दों से निकल कर आई है। योजना, संचारेक्षण तथा मूल्यांकन के वर्तमान ढाँचे को सुदृढ़ बनाना होगा, खास तौर से जिला और राज्य स्तर पर, ताकि इनको सक्षम बनाया जा सके। शैक्षिक प्रशासन के प्रत्येक स्तर पर परियोजनाओं/कार्यक्रमों के समय से संचारेक्षण और मूल्यांकन के लिए प्रक्रियाएँ निर्धारित करनी पड़ेंगी ताकि बिना विलंब के जब और जहाँ आवश्यक हो, उपचारात्मक कदम उठाए जा सकें।

शैक्षिक प्रशासकों को प्रशिक्षित करने के कार्यक्रमों को और सुदृढ़ बनाना होगा ताकि राज्य स्तर पर प्रशासन को सुदृढ़ किया जा सके तथा प्रबंध-क्षमताओं का विकास किया जा सके।

संख्या की दृष्टि से शैक्षिक सुविधाओं का काफी विस्तार हुआ है और अध्यापकों की बड़ी संख्या में नियुक्तियाँ की गई हैं। इससे शैक्षिक योजनाकार और प्रशासक संस्थाओं से दूर हटते चले गए हैं। शिक्षा के अपार विस्तार की वजह से निरीक्षक का उत्तरदायित्व कई गुना बढ़ गया है और अब वह इस स्थिति में नहीं रह गया है कि अपने दायित्व का प्रभावी और सक्षम तरीके से निर्वाह कर सके। दूसरा पक्ष, जिस पर गंभीरता से विचार किया जाना चाहिए, वह है विषय का विद्यालय निरीक्षक, खास तौर से माध्यमिक स्तर पर काम करने वाला निरीक्षक।

आबादी का भयानक यथार्थ ऐसा मूलगामी मुद्दा है जिसको सदैव ध्यान में रखना आवश्यक है। जहाँ हमारी आबादी की 29 करोड़ जनता साक्षर है (यह आबादी संयुक्त राज्य अमरीका की पूरी आबादी से भी अधिक है) वहीं 40 करोड़ से भी अधिक लोग निरक्षर हैं। हमारे स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों की संख्या लगभग 11 करोड़ है, 50 लाख विद्यालय शिक्षक हैं और 5 लाख विद्यालय हैं। इसके बावजूद हमारी प्रारंभिक पाठशालाओं में से 40 प्रतिशत ऐसी हैं जिनमें

केवल एक शिक्षक होता है। बीच में पढ़ाई छोड़ने वालों की दर तकरीबन 60 प्रतिशत है। दो लाख विद्यालय ऐसे हैं जहाँ भवन नहीं हैं या जिनके पास आधारभूत सुविधाओं का अभाव है।

अगले कुछ सालों के दौरान हमें 6 करोड़ और बच्चों को औपचारिक शिक्षा-प्रणाली मे लेना होगा तथा 10 करोड़ बच्चों को अनौपचारिक शिक्षा-प्रणाली में। ऐसा करके ही हम प्राथमिक तथा आरंभिक शिक्षा का सार्वजनीकरण कर सकते है।

यह बात साफ है कि यह मुद्दा सिर्फ संसाधन केन्द्रों की स्थापना का, तथा वर्तमान में चल रहे विद्यालयों के, संसाधन केन्द्रों के रूप मे काम करने मात्र का नहीं है, बल्कि यह मुद्दा देश में आंदोलन चलाने का है जिससे संसाधनों को जुटाने मे समुदाय की अधिक भागीदारी हो सके। संभवतः साक्षरता को बढ़ावा देने के लिए एक राष्ट्रीय न्यास की स्थापना की जरूरत है तथा वित्तीय संसाधन एकत्र करने के लिए अधिक साहसिक कदम उठाये जाने चाहिए। क्या निम्नांकित तरीकों से शिक्षा के लिए संसाधन नहीं जुटा सकते हैं : पैट्रोल की लागत पर दो प्रतिशत कर लगाकर, प्रत्येक रेल टिकट पर एक प्रतिशत कर, 2 प्रतिशत कृषि आय पर कर (उन पर जिनके पास 5 एकड़ से अधिक की जोत हो), पाँच प्रतिशत शहरी अभिजात वर्ग पर कर (जिनके पास भूमि संपत्ति है या फार्म है), 2 प्रतिशत चाय तथा काफी पैदा करने वालों पर; क्या हम पाँच प्रतिशत शिक्षा कर शहरी संपति से नहीं वसूल सकते है (जो भूमि के क्षेत्रफल के हिसाब से बढ़ेगी) जो 200 वर्ग गज से अधिक भूमि पर बनी हो। जो रकम विदेशों से आती है क्या हम उन पर 2 से 5 प्रतिशत तक का कर नहीं लगा सकते हैं। ये कुछ स्फुट विचार है। लेकिन जो सबसे आवश्यक है वह है निष्पक्षता तथा श्रेष्ठता के लिए अधिक सकारात्मक कार्यवाही।

जिन मुद्दों पर मैंने बात की है, उनमें एक महत्वपूर्ण मुद्दा है शिक्षा में निष्पक्षता। यह बात मैं बड़ी शिद्दत से महसूस कर रहा हूँ कि यदि कहीं किसी सकारात्मक कदम की आवश्यकता है तो वह है उस खाई को कम करना जो सुविधा भोगी तथा वंचित तबके के बीच दिनों-दिन चौडी होती चली जा रही है, यह खाई सबसे अधिक हमारी विद्यालयी व्यवस्था में नजर आती है।

नीति, नियोजन तथा प्रशासनिक ढाँचे में नए आचरण की आवश्यकता है, ऐसा आचरण जो न सिर्फ शिक्षा-व्यवस्था को नियंत्रित करेगा बल्कि उसमें व्याप्त असमानता को भी कम करेगा।

मुझे पूरा विश्वास है कि आप लोग राष्ट्रीय आकांक्षाओं के प्रति संवेदशील हैं, अतः एकता की भावना से परिचालित होकर अपने क्षेत्र में इस प्रकार की शैक्षिक तथा सामाजिक परियोजनाएँ अपने हाथ मे लेंगे। इसमें आप छात्रों तथा अध्यापकों की भी मदद लेंगे। सामाजिक तथा शैक्षिक असमानता को दूर करने में आपका योगदान आपके इस कार्य मे प्रतिबिंबित होगा।

के. वेंकट सुब्रह्मण्यम

शिक्षा कुछ और प्रकार की होनी चाहिए

के. वेंकट सुब्रह्मण्यम

शिक्षा कुछ और प्रकार की होनी चाहिए



के. वेंकट सुब्रह्मण्यम

के. वेंकट सुब्रह्मण्यम (जन्म 1929) ने अर्थशास्त्र में डॉक्टरेट की उपाधि बड़ौदा के एम.एस. विश्वविद्यालय से प्राप्त की। ये तमिलनाडु के शिक्षा निदेशक और राज्य योजना आयोग के सदस्य रह चुके है। दोपहर के मुफ़्त भोजन की योजना, विद्यालय सुधार योजना और + 2 स्तर पर व्यावसायिक शिक्षा योजना जैसे नवाचार के कार्यक्रमों को शुरू करने का श्रेय इनको ही है। ये अनेक राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय शैक्षिक निकायों के सदस्य रहते आए हैं। आजकल ये पांडिचेरी के केन्द्रीय विश्वविद्यालय के उप कुलपति हैं।

शिक्षा कुछ और प्रकार की होनी चाहिए

जून 1985 में *शिक्षा की नयी राष्ट्रीय नीति* पर मद्रास में आयोजित गोष्ठी का उद्घाटन करते हुए तत्कालीन केन्द्रीय शिक्षा मंत्री माननीय श्री कृष्णचन्द्र पंत ने कहा था,

> "वर्तमान शिक्षा प्रणाली की राष्ट्रीय नीति की व्यापक समीक्षा की जा रही है, ताकि शिक्षा को सामाजिक रूपांतर और राष्ट्रीय विकास के लिए एक कारगर साधन बनाया जा सके। भविष्य मे शिक्षा की समस्या केवल विद्यार्थियों और उनके अभिभावकों के ही लिए चिंता का विषय न होगी। राष्ट्रीय विकास में परिवर्तन के प्रमुख उपकरण के रूप मे अब शिक्षा को मुख्य निवेश समझना चाहिए। दरअसल आज ऐसा कोई कार्यक्षेत्र अथवा क्षेत्रीय विकास कार्य नहीं है जिसका प्रभाव शिक्षा प्रणाली पर न पड़ता हो। इक्कीसवीं सदी की चुनौती ने हमें अपनी शिक्षा प्रणाली के ऐसे पुनर्गठन का दायित्व सौंपा है जो भविष्य की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुकूल सिद्ध हो सके। शिक्षा मानव संसाधनों के विकास का घोषणापत्र है। इसलिए, शिक्षा को राष्ट्र के विकास और भविष्य की आवश्यकताओं के लिए उत्पादक पूंजी-निवेश के रूप में समझा जाना चाहिए।"

संक्षेप मे यह भविष्य की शिक्षा के लिए हमारी आकांक्षाओं का दिग्दर्शन है।

मद्रास गोष्ठी में भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय में विशेष सचिव श्री किरीट जोशी ने अपने मुख्य भाषण में कहा था,

> "मानव व्यक्तित्व मे शारीरिक, जैविक और मानसिक क्षमताओं का समन्वय होता है, जिनका मार्गदर्शन सत्यं शिवं सुंदरम् के तीन मानवीय मूल्यों द्वारा किया जाता है, जो हमारे समन्वित व्यक्तित्व के गहनतम केन्द्र में अंतर्भूत हैं। एक पूर्ण विकसित व्यक्तित्व में विवेक, शक्ति और कार्य तथा कौशल की श्रेष्ठता का उत्तरोत्तर समन्वय परिलक्षित होता है। शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया का ऐसा संगठन किया जाना चाहिए कि व्यक्तित्व की क्षमताओं और शक्तियों को मानवीय मूल्यों के प्रेरक प्रवाह द्वारा निरंतर सिंचित और पोषित किया जा सके।"

अब समय आ गया है कि हम भारत में शिक्षा के विकास का सामान्य मूल्यांकन शुरू करें और सभी क्षेत्रों मे होने वाले विकास तथा समाज, अर्थव्यवस्था एवं व्यक्तियों की आवश्यकताओं के अनुरूप आज एवं कल की शिक्षा की चुनौतियों पर विचार करें। शिक्षा के क्षेत्र में यदाकदा

किए गए छोटे-मोटे सुधारों से ठोस शिक्षा प्रणाली का निर्माण नहीं होगा और समग्र परिवर्तन के लिए आवश्यक लक्ष्यों का अभिनवीकरण एवं पुनर्मूल्यांकन किया जाना चाहिए ताकि राष्ट्र की आज और कल की आवश्यकताओं के लिए शिक्षा पर्याप्त एवं सक्षम सिद्ध हो सके। हमें शिक्षा के क्षेत्र की प्राथमिकताओं पर भी नये दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए और इन प्राथमिकताओं को अधिक वास्तविक और नवप्रवर्तित तरीके से निर्धारित किया जाना चाहिए। अब समय आ गया है कि भविष्य के लिए न केवल व्यावहारिक स्तर पर, वरन् विचारों और आदर्शों की दृष्टि से भी आवश्यक शिक्षा-प्रणाली के लिए शक्तिशाली कदम उठाए जायें।

अवरोध रहित शिक्षा

देश के लिए उपयुक्त शिक्षा प्रणाली अति आवश्यक मानवीय और आर्थिक आवश्यकताओं के अनुरूप बनाई जानी चाहिए, न कि पराई और अमूर्त धारणाओं पर आधरित शिक्षा को आदर्श माना जाए। वर्तमान शिक्षा की खामियों पर विचार करने और भावी दृष्टिकोण निर्धारित करने के बाद ही शिक्षा मे सुधार की मुख्य दिशाएँ निर्धारित की जानी चाहिए। तभी हमारा देश उन अवरोधों को पार करने में सफल होगा जो हमारी आकांक्षाओं की पूर्ति मे बाधा डालते हैं और हमारे विश्वास को पंगु बना देते है।

शिक्षा में सुधारों को पर्याप्त और प्रभावी बनाने के उद्देश्य से उन्हे कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं रखा जाना चाहिए, वरन् उन्हें शिक्षा और समूची सामाजिक प्रणाली के बीच अंतर्निहित कड़ी का भी ध्यान रखना चाहिए तथा साथ ही कुछ ऐसी महत्वपूर्ण शक्तियों पर भी विचार करना चाहिए जो परिवर्तन को प्रभावित कर सकती है। *दिक और काल* से परे भविष्य का एक सपना जिसमें उन अवरोधों को समाप्त कर दिया जाएगा, जिनके कारण स्कूल समाज से और निर्माणकार्य प्रशिक्षण से पृथक हो जाते है; पीढ़ियों के बीच की दूरी कम करने के लिए लगातार प्रयास; और सांस्कृतिक जीवन को, जहाँ-कहीं उसके विकास और पल्लवित होने की संभावना हो, प्रेरणा देना आदि कुछ ऐसी व्यावहारिक आवश्यकताएँ हैं जो सफल शैक्षिक सुधार के लिए वांछनीय हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक दीर्घकालीन योजना की आवश्यकता है जो भविष्य की शिक्षा के लिए साहसिक संकल्प प्रस्तुत करे और ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करे जो समाज का पुनर्निर्माण करने में सक्षम हों।

अतएव शिक्षा प्रणाली के समग्र निदान के लिए एक सर्वेक्षण किया जाना चाहिए; उसके लक्ष्यों में क्रांतिकारी परिवर्तन करना चाहिए; प्राथमिकताओं की एक सूची बनाई जानी चाहिए और शिक्षा की प्रणालियों, विषय सामग्री, तथा शिक्षण पद्धतियों को प्रभावित करने की दृष्टि से *प्रवेश-बिंदुओं* की स्पष्ट रूपरेखा भी बननी चाहिए। यह भी आवश्यक है कि उनका चयन इस प्रकार से किया जाए कि नवीकरण की स्थिति में सभी दिशाओं में महत्वपूर्ण सृजनात्मक भावना को प्रोत्साहन मिल सके।

भविष्य का निर्माण

शिक्षा-नीति के नवीकरण का लक्ष्य भविष्यवाणी करना न होकर भविष्य का निर्माण होना चाहिए। नई इमारत का निर्माण महत्वपूर्ण आधारशिला पर होना चाहिए। शिक्षा का रूप कुछ भिन्न प्रकार का होना चाहिए जिसमे निम्नलिखित चार पहलुओं पर ध्यान दिया जाना चाहिए : (1) जीवन परक शिक्षा जो न केवल नौकरी के लिए व्यक्तियों का निर्माण करती हो बल्कि समाज और तकनीकी ज्ञान में होने वाले सतत परिवर्तनों के अनुरूप हो। इसके अंतर्गत् परामर्श सेवा

भी शामिल है ताकि आम जनता के समक्ष आने वाली चुनौतियों से संबंधित उनकी प्रतिक्रियाओं का समंजन किया जा सके। (2) अध्यापक, विद्यार्थी और उनके माता-पिता को शामिल कर समाज को सहभागी बनाया जाये। (3) व्यक्ति के व्यक्तित्व और अभिवृत्तियों का विकास कर उसे अधिक सक्षम और पूर्ण मनुष्य बनाया जाए जो अपने निर्माण का स्वयं स्रष्टा हो और अपने व्यक्तित्व के विभिन्न उपांगों के मध्य संतुलन बनाए रख सके एवं (4) समाज के सतत विकास में सक्रिय अभिकरण बनकर शिक्षा लोक की उन्नति में सहायक हो।

जीवनपरक शिक्षा

आगे आने वाले वर्षों में शिक्षा की नीतियों के लिए प्रमुख अवधारणा यह होगी कि शिक्षा जीवन-पर्यंत जारी रहे। अब शिक्षा भविष्य में निश्चित पाठ्यक्रम से संबंधित नहीं रखी जा सकती, जिसे आत्मसात कर लिया जाए बल्कि इसे मानव जीवन की ऐसी प्रक्रिया के रूप में देखा जाना चाहिए जिससे मनुष्य अपने को व्यक्त करना, विचारों का आदान-प्रदान करना, अपने विभिन्न अनुभवों के आधार पर विश्व के प्रति जिज्ञासु बने रहना और उत्तरोत्तर हर समय अपने को अधिकाधिक ज्ञानसंपन्न बनाए रखना सीखता है।

जीवनपरक शिक्षा वर्तमान शिक्षा के विचारों का इस अर्थ में नवीकरण है कि यह पहले से विद्यमान संरचना में एक नयी संरचना का जोड़ा जाना है किंतु उसका मतलब यह होगा कि शिक्षा का समग्ररूप से पुनर्गठन कर दिया जायेगा। आवर्ती शिक्षा का ढाँचा ऐसा दिखाई देगा जिसमे जीवन-पर्यंत शिक्षा एक वास्तविक तथ्य बन जाएगी। शिक्षा में नवीकरण का सिद्धांत किसी कार्य या संगठन की अपेक्षा अपने व्यापक परिप्रेक्ष्य मे एक विचारधारा है।

शिक्षा प्रणाली में इस प्रकार के परिवर्तन वांछनीय होंगे जिनसे वैज्ञानिक विशेषज्ञता के संचित ज्ञान के साथ प्रत्येक क्षेत्र में ज्ञान के त्वरित विस्फोट से जीवन में हो रहे दूरगामी परिवर्तनों से उत्पन्न समस्याओं का निराकरण किया जा सके। इस समय तकनीकी ज्ञान के विस्फोट का युग शुरू हो गया है और विद्यार्थियों को इससे उत्पन्न खतरों तथा तकनीकी नव-प्रवर्तनों से होने वाले लाभों के बारे में अवगत किया जाना चाहिए। इस संदर्भ में शिक्षा का कार्य व्यक्तियों को परिवर्तनों के लिए तैयार करना, उन्हें स्वीकार करने के लिए लोगों को समझाना, उनसे लाभ उठाना और गतिशील मानसिक वृत्ति का सृजन करना है।

ऊर्जा केन्द्र के रूप में शैक्षिक संस्थाएँ

भविष्य में शिक्षा संस्थाओं को ऐसा होना होगा कि वे केवल ज्ञान प्राप्त करने के केन्द्र ही न हों, बल्कि बच्चों, नवयुवकों और वयस्क व्यक्तियों के ऐसे जीवन्त समुदाय का सृजन करने के केन्द्र हों जहाँ उनकी सामाजिक, स्वाभाविक और उत्पादक शक्तियो को गतिमान बनाया जा सके, जहाँ उनके सामान्य वैज्ञानिक, तकनीकी और व्यावसायिक प्रशिक्षण के विभिन्न प्रकारों मे समन्वय किया जा सके। विज्ञान पढ़ाने का बुनियादी उद्देश्य यह होना चाहिए कि ज्ञान और क्रिया में अन्योन्याश्रित संबंध हों। इस समस्या का हल निकालने के लिए विज्ञान और तकनीकी शिक्षण में ऐसा परिवर्तन करना चाहिए जिसमे अनुसंधान, व्यावहारिक विकास और उनके कार्यान्वियन में संबंध बना रहे।

जीवन-पर्यन्त शिक्षा दक्षतापूर्ण परामर्श पर भी निर्भर करती है, जिससे विद्यालय की पुरानी परिपाटी जिसमें शिक्षा वयस्कता प्राप्त करने की भूमिका मात्र का काम करती थी, समाप्त होगी और नई शिक्षा संपूर्ण जीवन को सम्पन्न बनाने में मार्गदर्शन करेगी। परामर्श उन बुनियादी सिद्धांतों

को लागू करने के लिए न केवल साधन मात्र है जिससे भविष्य मे शिक्षा दी जायेगी बल्कि वह स्वयं मे एक सिद्धांत है। यह शिक्षा का सीमान्त पक्ष नहीं है बल्कि उसके दो भिन्न पक्षों अर्थात् नवीकरण और मार्गदर्शन के बीच मे केन्द्रित है। शैक्षिक प्रक्रिया को पूर्णता प्रदान करना शिक्षक के कार्य का अभिन्न अंग है।

समाज की सहभागिता

समाज और शिक्षा के बीच के संबंध का स्वरूप ही बदलता जा रहा है। जब समाज महान परिवर्तनों के कगार पर खड़ा होता है तो शिक्षा न केवल अतीत के ज्ञान की आवृत्ति करना बंद कर देती है बल्कि नए समाज के निर्माण के लिए लोगों को तैयार करने में रचनात्मक भूमिका अदा करती है।

अब परीक्षा प्रणाली के बदले शिक्षा प्रणाली पर ध्यान देना चाहिए। शिक्षा की वही प्रणाली सही है जो समाज की विशेष आवश्यकताओं और प्रयोजनों के अनुकूल हो। इस संदर्भ में स्कूलों का काम वर्तमान स्थिति से भिन्न प्रकार का होगा। इसके लिए प्राइमरी शिक्षा की पुनर्रचना, शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार, अध्यापन-प्रणाली में क्रांतिकारी परिवर्तन, शिक्षकों के दृष्टिकोण तथा पाठ्यक्रमों आदि में नवीकरण अपेक्षित है। इसके साथ ही व्यावसायिक शिक्षा के ढॉचे में ऐसा परिवर्तन किया जाना चाहिए कि कार्य मे पहल तथा आत्म-निर्भरता आदि गुणों के विकास का लक्ष्य प्राप्त किया जा सके।

विद्यार्थी — परिवर्तन के उत्प्रेरक साधन

विद्यार्थियों को विश्व के रूपांतरण की भूमिका अदा करनी है। उन्हें परिवर्तन के लिए उत्प्रेरक साधन बनना चाहिए। अभी तक हमने शिक्षा की समस्या पर अध्यापन के लक्ष्य को ध्यान में रखकर विचार किया था। अधिगम हमारा साध्य है और अध्यापन उसके अनेक साधनों में से एक साधन। सीखने और सिखाने का कार्य कठोरतापूर्वक पृथक-पृथक नहीं रखना चाहिए बल्कि समस्या-केन्द्रित अधिगम सहित अंतर्विषयक उपागम अपनाया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में शिक्षा से *विवेक* का नया रूप प्राप्त होना चाहिए। शिक्षा से न केवल ज्ञान उपलब्ध करना अपेक्षित है बल्कि साधन संपन्नता और उसका विकास भी वांछनीय है। अधिगम का अर्थ *संपूर्ण व्यक्ति* के अधिगम से है। यह विकास शिक्षक और विद्यार्थी के बीच नए तथा अधिक उपयोगी संबंधों से ही प्राप्त किया जा सकता है। अध्यापक, विद्यार्थी और माता-पिता के परस्पर सहयोग से विद्यार्थियों के लिए ज्ञान के व्यापक क्षेत्र का मार्ग प्रशस्त होगा।

शिक्षा का लक्ष्य — मनुष्य का निर्माण

शिक्षा का सार ऐसे विकसित मनुष्य का सृजन करना है जो अपने पर्यावरण के साथ रचनात्मक अंतःक्रिया में कुशल सिद्ध हो। लोगों के गहन अंतरतम में निहित संसाधनों और संभाव्य शक्तियों को गतिशील, वैज्ञानिक और तर्कसंगत संगठन के माध्यम से जाग्रत करना चाहिए, जैसा कि स्वामी विवेकानंद ने कहा था, शिक्षा का उद्देश्य *मनुष्य का निर्माण* करना है।

हर बच्चे को समर्थ मार्गदर्शन के अंतर्गत व्यक्ति के रूप में और परस्पर निर्भर तथा अनेक सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सामुदायिक और राजकीय अभिकरणों से परिपूर्ण समाज के सहयोगी सदस्य के रूप मे पूर्ण और उत्कृष्ट विकास का अवसर दिया जाना चाहिए।

जिज्ञासा की भावना

शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो प्रत्येक नागरिक में तीन बातों के विकास के लिए प्रोत्साहन दे — जिज्ञासु मस्तिष्क, दूसरों से सीखने की योग्यता, और समाज के स्वतंत्र तथा समान सदस्य के रूप मे अपनी स्थिति मे बुनियादी विश्वास। शिक्षा की संपूर्ण प्रणाली मे जिज्ञासा की भावना व्याप्त रहनी चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य केवल उन आदर्शों पर जोर देना ही नहीं है जिनके आधार पर पाठ्यक्रम बनाए जाएँ, बल्कि व्यक्ति जिन कार्यकलापों में संलग्न हों उन पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। मानव के अनुभवों के व्यापक क्षेत्र मे आने वाले क्रियाकलापों में सामाजिक अंतःसंचार, शारीरिक दक्षता, कुशल नागरिकता, सामान्य सामाजिक संपर्क और संबंध, सामान्य मानसिक दक्षता, अवकाश में काम, धार्मिक कृत्य और अभिवृत्ति, माता पिता का दायित्व, व्यावसायिक गतिविधियाँ आदि शामिल हैं। साथ ही सांस्कृतिक मूल्य, सामाजिक आवश्यकताएँ और ज्ञान, बोध तथा कौशल के प्रति शिक्षार्थी के अनुभव के आधार पर पाठ्यक्रम निर्धारित किया जाना चाहिए। इसलिए प्राथमिक शिक्षा प्रणाली को इस रूप मे विकसित करना चाहिए कि वह बच्चों को समाज के प्रबुद्ध नागरिक के रूप में तैयार कर सके।

लोकतंत्र और विकास का अभिकरण

समाज और व्यक्ति की आवश्यकताएँ एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो न केवल नई पीढ़ी के सामने लोकतंत्र की एक संपूर्ण जीवन-प्रणाली के रूप में व्याख्या करे बल्कि हर नई पीढ़ी के साथ उत्तरोत्तर ऊँची जीवन पद्धति मे परिपक्वता का विकास करती रहे।

वैज्ञानिक और तकनीकी क्रांति के कारण दैनिक जीवन के सभी पक्षों में आए परिवर्तनों और तनाव से ग्रस्त संसार मे, लोकतांत्रिक मूल्यों के संरक्षण और पोषण के दबावों से विद्यालयों पर बच्चों और युवकों के बौद्धिक, सामाजिक, शारीरिक, सौंदर्यबोधात्मक और नैतिक विकास के लिए नए उत्तरदायित्वों का भार आ गया है।

शिक्षा के लिए समान अवसर की व्याख्या पाठ्यक्रम का आधार व्यापक और विस्तृत करने के प्रयास के तौर पर की जा रही है। अब स्कूलों का पाठ्यक्रम *विषय केन्द्रित* की जगह *शिशु केन्द्रित* बनाना अधिक अभीष्ट होगा। सभी बच्चों के लिए शिक्षा की सुविधाओं के द्वारा ही सभी बच्चों को शिक्षा के समान अवसर नहीं प्राप्त होंगे, जब तक कि पाठ्यक्रमीय क्रियाओं का केन्द्र विषयों से हटाकर शिशु को नहीं मान लिया जाता। इसलिए स्कूलों को बच्चों के समग्र विकास का पूर्ण दायित्व नहीं ग्रहण करना चाहिए, बल्कि यह देखना चाहिए कि बच्चों और युवकों के पूर्ण विकास के लिए प्रावधान अवश्य सुलभ हों।

मानवीय मूल्य

उच्च शिक्षा के मामले मे विश्वविद्यालयों का परम्परागत कार्य ज्ञानार्जन, ज्ञान का संरक्षण और उसका प्रचार-प्रसार करना रहा है। उनके अन्य कार्यो में शामिल हैं — मानवीय मूल्यों का विकास, समस्याओं का समाधान, निर्णय की योग्यता पैदा करना, अपनी संस्कृति के श्रेष्ठ तत्वों का अन्य संस्कृतियों के साथ तालमेल रखना, राष्ट्रीय एकता मे सहायता देना, तर्कसंगत दृष्टिकोण का विकास करना, व्यक्तियों के पूर्ण व्यक्तित्व का विकास जिसमें सामूहिक और सामाजिक हित के कामों में सहभागी होना शामिल है, दक्षता के कार्यो मे पूर्ण रूप से जुट जाना, राष्ट्रीय लक्ष्य जिसमे सामाजिक न्याय भी शामिल है, प्राप्त करने के लिए सेवा भावना से युक्त तथा कर्मठ व्यक्तियों की पूर्ति करना आदि।

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में कुछ नवीनताओं का समावेश किया गया है जैसे खुले विश्वविद्यालय खोलना, जिनमें शिक्षा के क्षेत्र में नई तकनीक का विकास किया जा रहा है, जहाँ सतत मूल्यांकन सहित विद्यार्थीपरक कार्यक्रम चलाया जाएगा। इस प्रकार के अनेक नूतन प्रवर्तन के कार्यक्रम चलाए जाने चाहिए जो स्वयं मूल्यांकन का उदाहरण पेश करें।

शैक्षिक अभिप्रेरणा

सभी स्तरों पर उपयुक्त नीतियों के द्वारा एक सशक्त शैक्षिक अभिप्रेरणा प्रदान करना अपेक्षित है। शैक्षिक नवोत्थान की यह प्रक्रिया अध्यापकों और विद्यार्थियों की सुषुप्त योग्यता के उपयोग और उनके प्रबुद्ध हितों की व्यापक क्षेत्र में रक्षा कर लागू की जा सकती है। शिक्षा की संगठनात्मक और प्रशासनिक व्यवस्था में ऐसा संशोधन किया जाये कि उसमें अधिक लचीलापन लाया जा सके और शैक्षणिक मामलों में उनके भाग लेने और पहल करने की प्रेरणा उत्तरोत्तर बढ़ती जाये।

यह स्पष्ट है कि उच्चतर शिक्षा का स्तर उठाने और राष्ट्र की तत्कालीन सामाजिक और आर्थिक स्थिति के संदर्भ में यथोचित सुधार करने के निमित्त अनेक प्रकार के प्रयोग करने होंगे। अतएव इन्हीं प्रयोगों के आधार पर शिक्षित समुदाय — खास तौर से अध्यापकों और विद्यार्थियों का ध्यान आकृष्ट करने और उनकी शक्ति लगाने की आवश्यकता पर जोर दिया जाना चाहिए। संगठनात्मक और प्रशासनिक सुधारों का प्रयोजन इसलिए वांछनीय है कि इसकी सफलता के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि और वातावरण तैयार किया जाए।

निष्कर्ष

शिक्षा के तीन बुनियादी लक्ष्य है : ज्ञान, बोध और क्रियान्वयन। इनके अतिरिक्त ऊँचे स्तर के और तीन लक्ष्य हैं : विश्लेषण, संश्लेषण और मूल्यांकन। विद्यार्थी में ये छः कौशल उपयुक्त पठन-पाठन पद्धतियों से विकसित होने चाहिए।

शिक्षा की प्रणाली में ज्ञान की सीमाएँ लगातार बदलती जा रही हैं और अनुसंधान उच्चतर शिक्षा का महत्वपूर्ण कार्य बन गया है। स्थायित्व की अपेक्षा सांस्कृतिक परिवर्तन ही नियम बन गया है और शिक्षा में नवीनता और नये ज्ञान के प्रसार पर जोर दिया जा रहा है। संस्कृति-संरक्षण को समाप्त नहीं किया जा रहा है, लेकिन विज्ञान से प्रभावित संस्कृति अपनाने के तरीकों में तर्क शक्ति का प्रयोग किया जा रहा है। अब यह उत्तरोत्तर अनुभव किया जा रहा है कि ज्ञान के क्षेत्र का विस्तार स्कूलों और कालेजों की सीमा से बाहर भी होना चाहिए।

शिक्षा की अवधारणा को काल (स्कूल जाने की आयु) और दिक् (स्कूल की इमारत) में सीमित न रखकर व्यापक क्षेत्र में लागू करना चाहिए। विद्यालयी शिक्षा को लक्ष्य न मानकर उसे शैक्षिक कार्य के मूल उपादान के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए जिसमें संस्थागत और विद्यालय के बाहर की शिक्षा, दोनों ही शामिल हैं।

इक्कीसवीं सदी के लिए अभी से तैयारी

आगामी वर्षों मे नयी शिक्षा नीति का निर्धारण करने वाले प्रमुख सिद्धांत इस प्रकार होंगे :

1. राष्ट्रीय एकता;
2. नवीन वैज्ञानिक विचार जैसे कम्प्यूटर शिक्षा प्रारंभ करना;
3. अनुभव के आधार पर शिक्षा; और

4. उच्चतर शिक्षा के क्षेत्र में विश्वविद्यालयों को अनुसंधान के लिए प्रेरित किया जाए जो जनता के लिए उपयोगी हों।

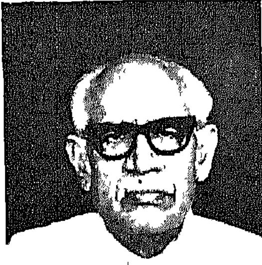
हमारे प्रधानमंत्री, श्री राजीव गांधी ने राष्ट्र का इस प्रकार आह्वान किया है :

हमारे युवकों में अब बीसवीं सदी के बजाय, इक्कीसवीं सदी के बारे मे अंतर्दृष्टि होनी चाहिए क्योंकि केवल नयी पीढ़ी को ही इक्कीसवीं सदी में जाने का सुयोग प्राप्त होगा।

आइये, नई शताब्दी के लिए अभी से योजना तैयार करें।

के.एल. श्रीमाली

शिक्षा के समान अवसर की योजना



के.एल. श्रीमाली

के.एल. श्रीमाली (*जन्म 1909*) *कोलंबिया विश्वविद्यालय के पीएच.डी. हैं, साथ ही उन्हे डॉक्टरेट की मानद उपाधियां कीव विश्वविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, विक्रम विश्वविद्यालय और मैसूर विश्वविद्यालय से मिली है। श्रीलंका के संघराज ने उन्हें विद्या चक्रवर्ती की उपाधि से सम्मानित किया है। ये भारत सरकार मे शिक्षा के उपमंत्री, शिक्षा और वैज्ञानिक शोध के राज्य मंत्री और शिक्षा मंत्री रह चुके है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय एवं मैसूर विश्वविद्यालय के उप कुलपति तथा इंटर यूनिवर्सिटी बोर्ड ऑफ इंडिया के अध्यक्ष भी ये रहे हैं। इन्हें 1976 में पद्मविभूषण से विभूषित किया गया। आजकल ये उदयपुर में विद्याभवन सोसाइटी के अवैतनिक प्रशासक हैं। इनकी उल्लेखनीय पुस्तकें हैं:* दि प्रास्पेक्ट्स ऑफ़ डेमोक्रैसी इन इंडिया, ए सर्च फॉर वैल्यूज़ इन इंडियन एजुकेशन एवं दि मिथ ऑफ यूनिवर्सिटी आटोनमी एंड अदर एसेज़। बच्चों की कुछ समस्याएं *जैसी अनेक पुस्तकें इन्होंने हिन्दी में ही लिखी हैं।*

शिक्षा के समान अवसर की योजना

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 45 में उल्लेख है कि संविधान लागू होने के दस वर्ष के भीतर सरकार 14 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने का प्रयास करेगी। यद्यपि यह लक्ष्य पूरा नहीं हुआ है, किंतु इसकी पूर्ति के लिए सरकार ने यथेष्ट प्रयास किया है। प्राथमिक स्तर पर छात्रों के नामांकन की वृद्धि से यह स्पष्ट है। 1950-51 में कक्षा 1 से कक्षा 5 तक 6 से 11 वर्ष के आयुवर्ग में बच्चों का नामांकन केवल 42.6 प्रतिशत और कक्षा 5 से 8 तक 11 से 14 वर्ष के आयुवर्ग में बच्चों का नामांकन केवल 12.7 प्रतिशत था।[1] 1978 में 6 से 11 वर्ष के आयुवर्ग में कक्षा 1 से 5 तक नामांकन 82.31 प्रतिशत और 11 से 14 वर्ष के आयुवर्ग में नामांकन 36.92 प्रतिशत पहुँच गया।[2]

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि देश के अल्प वित्तीय साधनों को भी सुरक्षा-प्रयोजनों में लगाना पड़ा, यह उपलब्धि मामूली नहीं है। जिस समय संविधान का प्रारूप बना था, उसके निर्माताओं को यह आशंका नहीं थी कि हमें पड़ोसी देशों की शत्रुता का सामना करना पड़ेगा और उनसे युद्ध भी करना होगा। भारत अपने समस्त साधनों का प्रयोग शिक्षा तथा अन्य विकास-कार्यक्रमों के लिए करना चाहता था, पर उसे उन साधनों को सुरक्षा कार्यों में लगाने के लिए बाध्य होना पड़ा। आज भी पाकिस्तान को युद्ध के अनेकानेक उन्नत आधुनिक शस्त्रास्त्रों से लैस किया जा रहा है। इस प्रकार की उत्पन्न परिस्थितियों के प्रति भारत उदासीन नहीं रह सकता और उसे अपनी सुरक्षा शक्ति को सुदृढ़ करना ही होगा। यह अत्यंत खेदजनक है कि जब जन-जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए सभी साधनों को शिक्षा तथा अन्य विकास योजनाओं में लगाना चाहिए, हमें उनको सैनिक-व्यय में लगाना पड़ रहा है।

यद्यपि सरकार ने प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के लिए 1990 को लक्ष्य-वर्ष घोषित किया है, पर 1985-86 के बजट में शैक्षिक रूप से पिछड़े हुए नौ राज्यों की केन्द्रीय सहायता के लिए जो 8.50 करोड़ की मामूली धनराशि प्रदान की गई है, उसे देखते हुए यह संभव नहीं प्रतीत होता कि 1990 तक सार्वजनीकरण का लक्ष्य पूरा होगा। 6 से 14 वर्ष के आयुवर्ग में कुल अनामांकित बच्चों का 80.3 प्रतिशत शैक्षिक रूप से पिछड़े इन नौ राज्यों में ही है।[3]

योजना आयोग ने छठी पंचवर्षीय योजना मे अनुच्छेद 45 के क्रियान्वयन में वांछित प्रगति न होने का मुख्य कारण बताया है— प्रतिकूल सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि में निर्धनता के कारण माता-पिता अपने बच्चों को स्कूल भेजने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। अनुसूचित जाति के 38 प्रतिशत तथा अनुसूचित जनजाति के 56 प्रतिशत बालक स्कूल जाने में असमर्थ हैं। हमारी प्राथमिक शिक्षा की सबसे अधिक निराशाजनक बात यह है कि 76.6 प्रतिशत बालक बीच में ही— अपनी बुनियादी शिक्षा पूरी करने के पहले ही स्कूल छोड़ देते हैं।[4] ये बच्चे केवल निर्धनता के कारण शैक्षिक सुविधाओं के लाभ से वंचित रह जाते हैं। ये अपने माता-पिता की

आर्थिक सहायता के लिए आवश्यक हो जाते हैं। माता-पिता जब खेतों पर काम करते हैं, तब ये बच्चे पशुओं को चराने में या अपने छोटे भाई-बहनों की देख भाल में लगे रहते हैं।

संविधान विकास के समान अवसर की गारंटी देता है। अतः यह सरकार का उत्तरदायित्व है कि आजीविका की दौड़ में राष्ट्र के सभी बच्चों को, चाहे वे धनी परिवार के हों या निर्धन परिवार के, समान अवसर दिया जाए। हमारे समाज में धनी और निर्धन के बीच बड़ी विषमता है। निर्धन परिवार से आने वाले बच्चों के लिए धनी परिवार वाले बच्चों के साथ प्रतियोगिता में सफल होना असंभव है। अतः जैसाकि यू.के. की प्लाउडन समिति ने कहा है, *रचनात्मक विभेद* का सिद्धांत अपनाना आवश्यक है। घर और पड़ोस, जहाँ से ये निर्धन छात्र आते हैं, शिक्षा के लिए न तो सहायक होते हैं और न प्रेरणादायी ही। अतः इस अभाव को पूरा करने के लिए एक सुंदर वातावरण प्रदान करना स्कूल का कर्तव्य हो जाता है। पर वास्तविक व्यवहार में हम इस आदर्श से बहुत दूर हैं। इस समय चार श्रेणियों की शिक्षा व्यवस्था चल रही है। अधिकाधिक शुल्क देने में समर्थ संपन्न वर्ग के बच्चों के लिए पृथक पब्लिक स्कूल हैं। शहरों में सरकारी अनुदान प्राप्त प्राइवेट स्कूल हैं, जिनमें मध्यम तथा उच्च मध्यम वर्ग के बच्चे शिक्षा ग्रहण करते हैं। गाँवों तथा शहरों में नगर पालिका के अथवा सरकारी स्कूल हैं, जिनमें निर्धन वर्ग के बच्चे पढ़ते हैं। चौथी श्रेणी में वे अनौपचारिक शिक्षा संस्थाएँ हैं, जिन्हें अभी हाल में ही सरकार ने उन बच्चों के लिए स्थापित किया है, जो स्कूल जा सकने में असमर्थ थे, अथवा यदि स्कूल गए भी तो जिन्हें एक या दो वर्ष में स्कूल छोड़ देना पड़ा क्योंकि आजीविका के लिए अपने माता-पिता की सहायता करना उनके लिए आवश्यक था। अब सरकार ने "*पेससेटर* स्कूलों के रूप में माडल स्कूलों की स्थापना" का प्रस्ताव रखा है। पर अधिक संभावना यही है कि इन स्कूलों से भी धनी वर्ग ही अधिक लाभ उठाएगा।

वर्तमान शैक्षिक व्यवस्था की स्थिति ऐसी है कि वह सामाजिक गतिशीलता का साधन बनने की जगह वर्तमान सामाजिक संरचना को बनाए रखना तथा उसे और सुदृढ़ करना चाहती है। धनी वर्ग अपने बच्चों को पब्लिक स्कूलों में शिक्षा दिलाकर उनके लिए सैनिक, असैनिक, व्यावसायिक आदि क्षेत्रों में उच्च वेतन पाने वाले प्रशासनिक अथवा अधिशासी पद प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। मध्यम वर्ग के लोगों को कम आय वाले पदों, शिक्षक, क्लर्क, अर्द्धकुशल कार्यों—पर ही संतोष करना पड़ता है। अत्यंत सुविधाहीन वर्ग के बच्चे, जो प्राथमिक शिक्षा भी पूरी नहीं कर पाते, कारखानों या खेतों पर श्रमिक का काम करने के लिए विवश रहते हैं, भले ही वे बुद्धि में किसी से कम न हों।

इस बात के ज्वलंत प्रमाण हैं कि सामाजिक वर्गों का प्रभाव शैक्षिक उपलब्धियों पर पड़ता है। किसान-मजदूर परिवार के बच्चों की अपेक्षा उन परिवारों से आए हुए बच्चे, जिनके माता-पिता ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठित हैं, उच्च शैक्षिक उपलब्धियों का अवसर पा जाते हैं। इसका कारण यह है कि उच्च वर्ग के बच्चों को ज्ञानात्मक प्रतिपुष्टि का लाभ मिलता रहता है जो निम्न वर्ग के बच्चों को नहीं मिल पाता। इस *सांस्कृतिक निधि के अभाव* में, जैसा कि पियरे बोर्ड्यू ने संकेत किया है, निम्न श्रेणी—किसान और मजदूर श्रेणी—के बच्चे माध्यमिक और उच्च शिक्षा प्राप्त करने से वंचित रह जाते हैं।[5]

यदि हम समान अवसर प्रदान करना चाहते हैं; तो हमें ग्रामीण क्षेत्रों के अभावग्रस्त स्कूलों के स्तर को ऊँचा उठाकर राष्ट्रीय स्तर पर लाना होगा। इसका अर्थ यह है कि सरकार को इन अभावग्रस्त क्षेत्रों के स्कूलों को देश के सर्वोत्तम स्कूलों के समान बनाने के लिए प्रमुखता देनी होगी। यह एक महान कार्य है। यदि हम देश के सभी बच्चों को अवसर की समानता देना

चाहते हैं तो सरकार इस उत्तरदायित्व की उपेक्षा नहीं कर सकती।

विगत तीन दशकों के हमारे अनुभव दर्शाते हैं कि शैक्षिक अवसरों की समानता मामूली स्तर के निःशुल्क प्राथमिक स्कूल खोल देने मात्र से नहीं प्राप्त हो सकती। सभी प्रकार की सुविधाओं—योग्य शिक्षक, आवास के आरामदेह कक्ष, विस्तृत खेल के मैदान, पौष्टिक भोजन, सुसज्जित पुस्तकालय और प्रयोगशाला आदि से युक्त पब्लिक स्कूलों से गाँव के एक-शिक्षक वाले उन स्कूलों की समता कैसे की जा सकती है, जहाँ अधिकतर छात्र भूखे और अधनंगे रहते हैं, जहाँ न कोई पुस्तकालय होता है, न खेल या मनोरंजन की सुविधाएँ होती हैं। यह बात कल्पना से भी परे है कि गाँव के प्राइमरी स्कूल के बच्चों को शिक्षा के वे ही अवसर प्राप्त हो सकते हैं जो पब्लिक स्कूलों या शहरों में सरकारी अनुदान से चलने वाले प्राइवेट स्कूलों में पढ़ने वाले सौभाग्यशाली छात्रों को प्राप्त हैं। इस प्रकार वर्तमान शिक्षा व्यवस्था सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक गतिशीलता का साधन बनने की जगह संभ्रांत वर्ग की सुविधाओं को सुरक्षित रखने में सहायक हो रही है। ये सामाजिक और सांस्कृतिक कारक जहाँ धनी परिवार के बच्चों के शैक्षिक निष्पादन को ऊँचा करते हैं, वहीं निर्धन परिवार के बच्चों के शैक्षिक निष्पादन को गिरा देते हैं। परिणामतः सुसंपन्न परिवार के बच्चे समाज में उच्च स्तर और पद प्राप्त कर लेते हैं और निर्धन परिवार के बच्चे घोर निर्धनता के शिकार बने रहते हैं।

प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण में मुख्य बाधा बच्चों द्वारा पढ़ाई के बीच में ही स्कूल छोड़ देना है। 1979-80 में 59.8 प्रतिशत बच्चों ने प्राथमिक शिक्षा के अंत तक और 76.6 प्रतिशत बच्चों ने मिडिल कक्षाओं के अंत तक स्कूल छोड़ा था।

केन्द्र सरकार द्वारा पिछड़े हुए राज्यों की आर्थिक स्थिति की भी जाँच करनी होगी और उन राज्यों में प्राथमिक शिक्षा के विकास के लिए अपेक्षित धनराशि की भी व्यवस्था करनी होगी। ऐसा लोकतंत्र निरर्थक है, यदि बच्चे पढ़ना, लिखना और साधारण गणित भी नहीं जानते और न उन्हें नागरिकता का मूल ज्ञान है। राष्ट्र के सभी बच्चों के लिए समान अवसर का सुनिश्चित आश्वासन केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों दोनों का ही कर्तव्य है जिससे ये बच्चे बड़े होकर कुशल नागरिक के रूप में कार्य कर सकें, अपनी आजीविका चला सकें और लोकतांत्रिक प्रक्रिया में सक्रिय भाग ले सकें।

पिछड़े हुए वर्गों, विशेषतः आदिवासी बालकों की सबसे बड़ी बाधा भाषा की है। स्कूल में जिस भाषा का प्रयोग किया जाता है, वह उनके घर और समुदाय की बोली से बिल्कुल भिन्न होती है। इससे उन्हें दोहरी हानि उठानी पड़ती है— एक तो शिक्षा की माध्यम भाषा (तथाकथित मातृभाषा) उनके लिए विदेशी होती है और दूसरे विषय सामग्री को समझना भी उनके लिए कठिन होता है। इवान इलिच के अनुसार बोली और विद्यालय की भाषा के बीच का अंतर वैसा ही है जैसे *माँ के दूध की जगह बोतल द्वारा दूध पिलाना या साधारण गुजर-बसर की जगह कल्याणकारी स्थिति का सपना देखना या उपयोग के उत्पादन की जगह व्यापार के लिए उत्पादन।* आगे वह कहता है कि *बोली को हीन समझकर उसकी जगह क्रमशः मूल्यवान किंतु कृत्रिम विद्यालयी भाषा का प्रयोग बाजार-संकुल समाज के आगमन का सूचक है।*[7] बुद्धि सभी बच्चों में समान रूप से वितरित है, चाहे वे ग्रामीण क्षेत्रों से आएँ या शहरी क्षेत्रों से। किन्तु भाषा की योग्यता और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का अंतर प्रायः उनकी शैक्षिक उपलब्धियों में भी अंतर ला देता है। अधिकतर शिक्षक भी शहरी प्रवृत्ति के होते हैं और वे स्थानीय बोली नहीं समझते। उनमें अभावग्रस्त परिवारों के बच्चों के प्रति सहानुभूति नहीं होती। इन सभी कारणों से बच्चे विद्यालय छोड़ देने के लिए विवश हो जाते हैं। अतः विद्यालयी शिक्षा के प्रारंभिक वर्षों में स्थानीय बोली का प्रयोग

वांछित होगा। फिर उसके बाद धीरे-धीरे उन्हें शिक्षा की मान्य भाषा से परिचित करना उचित होगा। यह प्रयोग पेरू में सफल हो चुका है। उसका प्रयोग हमारे ग्रामीण स्कूलों मे भी किया जा सकता है।[8] पर चूँकि हमारी बोलियों का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन नहीं हुआ है, इसलिए यह समस्या उतनी सरल नहीं है। इस दृष्टि से उपयुक्त शिक्षण सामग्री जैसे पाठ्यपुस्तकों का निर्माण आवश्यक होगा और नई तकनीक अपनाने के लिए शिक्षकों को भी तैयार करना होगा। इसके लिए शिक्षाशास्त्रियों और भाषा वैज्ञानिकों के बीच घनिष्ठ सहयोग आवश्यक है। आदिवासी बच्चों के लिए विशेष प्रकार की कक्षाएं आयोजित करनी होंगी, जिससे वे शिक्षा की माध्यम भाषा से अवगत हो सकें। फिर भी भाषा योग्यता का यह अभाव उन कारणों में से केवल एक है जो निर्धन तथा आदिवासी बच्चों की शिक्षा में गंभीर व्यवधान उत्पन्न करते हैं।

ग्रामीण क्षेत्र के बालकों की संपूर्ण सांस्कृतिक पृष्ठभूमि शहरी क्षेत्रों के उन बच्चों से बिल्कुल भिन्न है जो रेडियो, टेलिविजन, समाचार पत्र तथा अन्य सांस्कृतिक माध्यमों और साधनों के संपर्क में रहते हैं। अतः निर्धन परिवार के बच्चों के लिए धनी परिवार के बच्चों के साथ प्रतियोगिता असंभव है। परिणामतः वे समाज में ऊँचा स्थान नहीं प्राप्त कर सकते। अतः अभावग्रस्त ग्रामीण परिवार के बच्चों के हित के लिए *रचनात्मक विभेद* के सिद्धांत को लागू करना आवश्यक है।

यदि गाँव के बच्चों को स्कूल में आकर्षित करना और उन्हें वहाँ टिकाए रखना है तो सरकार को अनेक उपाय अपनाने होंगे तथा सहायक साधन जुटाने होंगे, जैसे स्कूल में भोजन और दूध, मुफ्त पाठ्यपुस्तकें, कागज-कलम, स्कूल की पोशाक की व्यवस्था, छात्रवृत्तियों का प्रावधान आदि। आंध्रप्रदेश और तमिलनाडु के राज्यों ने मध्याह्न भोजन की योजना अपनाई है। हाल में ही गुजरात सरकार ने भी ऐसी योजना शुरू करने का निर्णय लिया है। यदि शिक्षा के सार्वजनीकरण के लक्ष्य को यथार्थरूप देना है, तो अन्य राज्यों को भी मध्याह्न भोजन की योजना तथा अन्य सहायता-सेवाएं अपनानी होंगी। अनुमान है कि गाँव के दो-तिहाई बच्चे कुपोषण के शिकार हैं, इनमें से आधे से भी अधिक ऐसे वयस्क बनते हैं, जो प्रत्यक्ष ही अतिक्षीण शारीरिक शक्ति, न्यून उत्पादकता और अवरुद्ध मानसिक क्षमता वाले व्यक्ति होते हैं?

विद्यार्थियों के लिए सहायक सेवाओं के अतिरिक्त ग्रामीण स्कूलों, विशेषतः एक-शिक्षक वाले स्कूलों की दशा में भी सुधार करना आवश्यक है। इस समय गाँव के स्कूलों का पूरा वातावरण—जैसे शिक्षकों की योग्यता, फर्नीचर तथा अन्य शैक्षिक उपकरणों से संबंधित साधन इतना अनाकर्षक और अरुचिकर है कि बालक स्कूल में टिक नहीं पाते। शैक्षिक रूप से वंचित इन बच्चों को अतिरिक्त सहायता देने तथा उनके पक्ष में अनुकूल व्यवहार करने की जगह वर्तमान स्थिति उनके शारीरिक और बौद्धिक विकास की दृष्टि से प्रतिकूल ही है। अतः इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि वे स्कूल में प्रवेश के बाद शीघ्र ही पढ़ाई छोड़ देते हैं। यह गलत विश्वास है कि किसी भी प्रकार के अंधाधुंध स्कूल खोल देने मात्र से अवसर की समानता देने में हम समर्थ हो जाएंगे। सामाजिक न्याय की माँग है कि ग्रामीण क्षेत्रों में स्कूल यदि बेहतर नहीं, तो कम से कम देश के सर्वोत्तम स्कूलों के समान हों। सरकार को चाहिए कि वह सभी उपेक्षित और साधनहीन स्कूलों को *शैक्षिक प्रमुखता के क्षेत्र* घोषित करे, जैसा कि प्लाउडन समिति ने कहा है।[10]

जब भी हम प्राथमिक शिक्षा के सुधार और विकास की बात करते हैं तो हमारे सामने वित्तीय-अभाव की समस्या आ जाती है। यह सत्य है कि धन का अभाव है, लेकिन शिक्षा के लिए जो भी धनराशि प्राप्त है, उसका भी प्रयोग सुनियोजित रूप से नहीं हो रहा है। प्राथमिक

शिक्षा की तुलना में उच्च शिक्षा का विस्तार अधिक हुआ है यद्यपि माध्यमिक और सामान्य उच्च शिक्षा के प्रतिफल की सामाजिक दर प्राथमिक और मिडिल शिक्षा के प्रतिफल की दर से बहुत ही कम है।[11] संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में किए गए अध्ययन से निस्संदेह यह सिद्ध होता है कि कालेज शिक्षा के प्रतिफल की दर प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के प्रतिफल की दर से बहुत ही कम है।[12]

अतः हम चाहे किसी भी दृष्टि से देखें, निष्कर्ष यही निकलता है कि उच्च शिक्षा को प्रतिबंधित करके जो धनराशि बचे, उसे प्राथमिक शिक्षा के गुणात्मक सुधार में लगाया जाए। इसके लिए शिक्षा योजना के संव्यूहन (स्ट्रेटजी) में पूर्ण परिवर्तन की आवश्यकता होगी। अभी उच्च आय वाले वर्ग के विद्यार्थी ही उच्च शिक्षा का लाभ उठाते हैं। कालेज मे प्रवेश की मांग केवल 5 से 10 प्रतिशत लोग (उच्च आय वाले वर्ग से) ही करते है, जो प्रति माह 100 रु. से अधिक खर्च करने में समर्थ है, शेष 90 प्रतिशत किशोर बालक तो अपनी फीस और पाठ्यपुस्तकों तथा कालेज-पोशाक का खर्च देने में भी असमर्थ हैं।[13] सर्वोच्च आय वाला वर्ग, जो उच्च शिक्षा का सर्वाधिक लाभ उठाता है, अपनी शिक्षा के व्यय का अधिकाधिक भार क्यों न उठाए। सरकार केवल निर्धन और योग्य अधिकारी छात्रों के लिए ही शिक्षा-वृत्तियों की व्यवस्था करे। अवसर की समानता तब तक संभव नहीं होगी जब तक समाज की सामाजिक और आर्थिक संरचना में आमूल परिवर्तन न किया जाए और ग्रामीण क्षेत्रों से आने वाले बच्चों का पारिवारिक वातावरण संपन्न वर्ग के बच्चों के पारिवारिक वातावरण के समकक्ष न हो। लगभग 50 प्रतिशत लोग गरीबी की रेखा के नीचे जीवन बिता रहे हैं और अत्यंत कठिन परिस्थितियों में अपनी जिंदगी खींच रहे हैं। ग्रामीण परिवारों का वर्तमान वातावरण, जिसमें अधिकतर बच्चे पल और पढ़ रहे हैं, उनकी शिक्षा के अनुकूल है ही नहीं। भारत तथा बाहर दोनों जगहों पर इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि विभिन्न सामाजिक वर्गों से आने वाले बच्चों की शैक्षिक उपलब्धि की भिन्नता मुख्यतः उनकी अपनी सामाजिक और आर्थिक पृष्ठभूमि के कारण है।[14]

निर्धन और निरक्षर परिवार के बच्चे एक गहन बाधा के साथ स्कूल में प्रवेश लेते हैं। अतः केवल प्राथमिक स्कूल खोलकर शैक्षिक सुविधाएँ प्रदान करना ही काफी नहीं है, अपितु साथ-साथ ऐसे कदम भी उठाने आवश्यक हैं जिनसे गरीबी की रेखा के नीचे जीने वाले लोगों की सामाजिक और आर्थिक दशाओं में सुधार हो सके। स्वतंत्रता के बाद प्राथमिक शिक्षा के विस्तार के लिए सरकार द्वारा किए गए महान प्रयास यद्यपि प्रशंसनीय हैं, तथापि बेकार व्यक्तियों और गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले लोगों का अनुपात भी बहुत बढ़ा है। धनी और निर्धन के बीच विषमता की खाई भी गहरी हुई है। निर्धन व्यक्ति बड़ी ही फटे हाल स्थिति में जीवन बिता रहे हैं। उनकी बौद्धिक, सांस्कृतिक और सामाजिक स्थिति ऐसी नहीं है जो उनके बच्चों की शिक्षा के लिए अनुकूल हो। इसी कारण निर्धन परिवार के बच्चे वर्तमान शैक्षिक सुविधाओं का भी पूरा लाभ नहीं उठा पाते। यद्यपि सरकार ने अनुसूचित तथा अनुसूचित जन जाति के बच्चों के लिए छात्रवृत्तियों तथा शिक्षावृत्तियों की व्यवस्था करके बहुत बड़ी राहत दी है, किंतु अब वह समय आ गया है कि सरकार यही सुविधाएँ आर्थिक दृष्टि से अभावग्रस्त तथा कठिनाई से गुजर करने वाले अन्य वर्गों के लिए भी प्रदान करे।

अभावग्रस्त क्षेत्रों से आने वाले बच्चों को शिक्षा के प्रति आकर्षित करने के लिए दूसरा उपचारी तरीका सरकार को यह अपनाना है कि इन क्षेत्रों के स्कूलों में सर्वोत्कृष्ट सुयोग्य शिक्षकों को नियुक्त किया जाए। पर ऐसा करने के बजाय शिक्षा विभाग सामान्यत : अत्यंत न्यून योग्यता वाले शिक्षकों को उन स्कूलों में स्थानांतरित कर देता है। कभी-कभी शिक्षा निरीक्षक समस्या

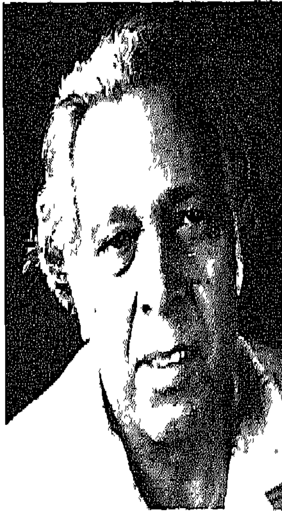
बने हुए शिक्षकों को दंड देने की दृष्टि से सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में भेज देते हैं। इस प्रकार ग्रामीण विद्यालयों की अनेक प्रकार से अवहेलना की जाती है। इन स्कूलों के भवन टूटी-फूटी दशा में पड़े रहते हैं। आवश्यक शैक्षिक साधन और उपकरण भी नहीं रहते और फिर इनके साथ अयोग्य शिक्षकों के कारण इनकी स्थिति और भी बदतर हो जाती है। इन शिक्षकों में इस प्रकार की कोई रुचि नहीं रहती कि वे बच्चों को मन लगाकर पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करें। अतः इन अभावग्रस्त क्षेत्रों के स्कूलों में शिक्षकों की भर्ती के प्रति शिक्षा विभाग को अपनी नीति में परिवर्तन करना होगा। ग्रामीण क्षेत्रों में सेवा करने के लिए शिक्षकों को अतिरिक्त भत्ता देना चाहिए। जो शिक्षक ग्रामीण क्षेत्रों की कठिन परिस्थितियों में पढ़ा रहे हैं, उन्हें विशेष सम्मान और पुरस्कार मिलना चाहिए। इन शिक्षकों को जिस दूसरी कठिनाई का सामना करना होता है, वह है उचित आवास का अभाव। गाँवों में आसानी से उचित आवास नहीं मिलते, जहाँ शिक्षक शालीनता से रह सकें। अतः जब भी विद्यालय भवन का निर्माण हो तो आवश्यक शर्त यह होनी चाहिए कि साथ-साथ शिक्षकों के आवास का निर्माण भी करना होगा।

प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण तथा इसके साथ ही अवसर की समानता का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए हमें बहुत लंबा रास्ता तय करना है। यात्रा बहुत लंबी और कठिन है और इक्कीसवीं शताब्दी में भी हम शायद यह लक्ष्य न प्राप्त कर सके। पर यदि लोकतंत्र को सार्थक बनाना है तो हमें जाति, धर्म, लिंग, सामाजिक पृष्ठभूमि आदि के भेद-भाव से ऊपर उठकर प्रत्येक बच्चे को अवसर की समानता प्रदान करने के लिए निष्ठा के साथ प्रयास करना होगा। हमारी जनता बहुत दिनों से सामाजिक भेद-भाव और आर्थिक अन्याय का शिकार रही है और यदि सामाजिक द्वन्द्व को दूर करना है तो हमें इस अन्याय को मिटाने के लिए तत्काल कदम उठाने होंगे। इसमें कई वर्ष लग सकते हैं, पर एक राजनैतिक निर्णय अवश्य लेना है और हमे लक्ष्य-प्राप्ति के लिए उत्तरोत्तर आगे बढ़ना है। भारतीय लोकतंत्र के लिए यह सबसे बड़ी चुनौती है।

1. *दि एजुकेशन क्वार्टर्ली*, शिक्षा और संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार *(अप्रैल 1984, पृ. 3)*
2. *चतुर्थ अखिल भारतीय शैक्षिक सर्वेक्षण*, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, *(1978 पृ. 60-61)*
3. *दि एजुकेशन क्वार्टर्ली*, शिक्षा और संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार, *(अप्रैल 1984, पृ.4)*
4. *दि स्टेट्समैन*, संसद में शिक्षा मंत्री का भाषण, *9 अप्रैल, 1985)*
5. पियरे बोर्द्यू, दि स्कूल ऐज़ ए कंजर्वेटिव्ह फोर्स, स्कालेस्टिक एंड कल्चरल इनइक्वेलिटीज इन स्कूलिंग एड कैपिटलिज्म, ओपेन यूनिवर्सिटी प्रेस के सहयोग से रोगर डेल एंड अदर्स, लंदन तथा हेले राउतलेज एंड केगन पॉल द्वारा संपादित, *(1976, पृ. 112)*।
6. *दि स्टेट्समैन, (29 जनवरी, 1985)*
7. इवान इलिच, वर्नाक्यूलर वैल्यूज एंड एजुकेशन इन टीचर्स कॉलेज रिकार्ड, *(पृ.सं. 42-49)*
8. गैब्रियल कैरन और ता नागोक चाड, दि रोल ऑफ एजुकेशनल प्लैनिंग, रिडक्शन ऑफ रीजनल डिस्पैरिटीज़, इंटरनेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ एजुकेशनल प्लानिंग, दि यूनेस्को प्रेस, पेरिस, *(पृ.स. 105-106)*
9. *दि स्टेट्समैन*, दिल्ली, *(15 दिसंबर, 1984)*
10. *चिल्डरेन एंड देयर प्राइमरी स्कूल्स*, दि सैंट्रल एडवाइजरी बोर्ड ऑफ एजुकेशन इन इंग्लैंड, हिज मैजेस्टीज़ स्टेनरी ऑफिस, (पृ. 57)
11. ब्लाग मार्क, ऐन इंट्रोडक्शन टु दि इकोनोमिक एजुकेशन, ऐलेन लेन, दि पेंग्विन प्रेस, लंदन, 1970 *(पृ. 240-41)*
12. वाल्टर एल. गार्म्स एड अदर्स, स्कूल फाइनेंस, दि इकोनोमिक्स एंड पालिटिक्स ऑफ पब्लिक एजुकेशन, प्रेन्टिस हाल, इन्क. 1978 *(पृ. 56-58)*
13. सतीश सबरवाल, एजुकेशन एंड इनइक्वेलिटी इन इकोनोमिक एंड पोलिटिकल वीकली 1972, *(वाल्यूम, 7, पृ. 409)*
14. सुरभि पी. पटेल, *इक्वैलिटी ऑफ अपार्चुनिटी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1983 (पृ. 74-77)*, वालटर एल गार्म्स, एंड अदर्स, स्कूल फाइनेंस, दि इकोनोमिक्स एड पालिटिक्स ऑफ पब्लिक एजुकेशन, प्रेन्टिस हाल, इन्क 1978, *(पृ.60)*

मूनिस रज़ा, यश अग्रवाल

भारत में साक्षरता के स्तरों में असमानता का विश्लेषण



मूनिस रज़ा



यश अग्रवाल

मूनिस रज़ा (जन्म 1925) विख्यात समाज वैज्ञानिक है। ये राष्ट्रीय शैक्षिक योजना एवं प्रशासन संस्थान के निदेशक; जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के रेक्टर; क्षेत्रीय विकास अध्ययन केन्द्र के संस्थापक अध्यक्ष; क्षेत्रीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय के प्रिंसिपल; तथा अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के सामान्य शिक्षा कार्यक्रम के अध्यक्ष रह चुके हैं। आजकल ये दिल्ली विश्वविद्यालय के उप कुलपति; ज.ने.वि. के प्रोफेसर एमेरिटस; अंतर्राष्ट्रीय भूगोल संघ की भारतीय राष्ट्रीय समिति के अध्यक्ष; और संयुक्त राष्ट्र क्षेत्रीय विकास केन्द्र, नागया की सलाहकार समिति के सदस्य हैं। इनकी लिखी बारह पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

यश अग्रवाल (जन्म 1948) ने अर्थशास्त्र और सांख्यिकी दोनों में एम.ए. करने के बाद ज.ने.वि. से क्षेत्रीय विकास पर डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। अंतर्विषयी अनुसंधान कार्य मे इनकी विशेष रुचि है। देश-विदेश की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में इनके लेख प्रकाशित होते रहते हैं। ट्रांसपोर्ट ज्योग्राफ़ी ऑफ इंडिया: एन एनालिसिस ऑफ कमोडिटी फ़्लोज़ एंड दि रीजनल स्ट्रक्चर ऑफ दि इंडियन इकोनोमी *नामक पुस्तक इन्होंने मूनिस रज़ा के साथ मिलकर लिखी है जो शीघ्र ही प्रकाशित होगी।*

भारत में साक्षरता के स्तरों में असमानता का विश्लेषण

अक्षर-ज्ञान बहुस्तरीय शैक्षिक पिरामिड के लिए आधारशिला है, इसलिए इसे एक महत्वपूर्ण निवेश के रूप में देखना चाहिए जो विकास प्रक्रिया की सम्पूर्णता से अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है। अक्षर-ज्ञान में स्थान के अनुसार अलग-अलग ढाँचों और उनमें क्षेत्र के अनुसार विभिन्नताओं का इस संदर्भ में विशेष महत्व इसलिए है कि वे असंतुलन के ढाँचे और साथ ही राष्ट्रीय विकास की विषमताओं के बीच कड़ी का काम करती हैं। अतएव, साक्षरता के प्रसार मे विभिन्नता का सही विश्लेषण शिक्षा के क्षेत्र में परस्पर आश्रित प्रणालियों में एक ऐसे तत्व के रूप में किया जाना चाहिए जो विकास की प्रक्रिया से दो दिशाओं से जुड़ा हुआ है। भारत में इस छोर से उस छोर तक फैले हुए विभिन्न क्षेत्रों में सामाजिक और आर्थिक स्थितियों में स्पष्ट होने वाले अवसरों में भी दूरी के अनुसार अन्तर बढ़ता जाता है, जिसके फलस्वरूप कुछ क्षेत्रों को मानव संसाधन-विकास और मानव पूँजी-निर्माण की दृष्टि से दूसरों की अपेक्षा अधिक लाभ मिल जाता है।

इस बात का उल्लेख करना महत्वपूर्ण है कि यह आवश्यक नहीं है कि साक्षरता की दर मे वृद्धि के फलस्वरूप विकास के विभिन्न चरणों में अन्तःक्षेत्रीय और अन्तरक्षेत्रीय विषमताओं में कमी आयेगी। किसी क्षेत्र के द्विपदीय तत्वों की विषमताओं की विशाल शृंखला में विद्यमान विभिन्नताएँ साक्षरता की दर में वृद्धि के विभिन्न चरणों में *अनेकता को स्थायित्व* प्रदान करने की दिशा मे जाने वाले मार्ग का अनुसरण कर सकती हैं। हमें इस गत्यात्मक संबंध का विश्लेषण करते समय सावधानी रखनी होगी और ऐतिहासिक प्रक्रिया से सैद्धांतिक निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए। यह भी उल्लेखनीय है कि साक्षरता की वक्रता का यथार्थ आकार एक स्थान से दूसरे स्थान के अंतर के अनुसार बदलता रहेगा और शैक्षिक योजना और संसाधन नियतन में प्रत्येक के लिए अलग-अलग नीति अपनानी होगी। चाहे साक्षरता को विकास प्रक्रिया में निवेश के रूप में देखा जाए या उसका परिणाम समझा जाये, समूचे राष्ट्र में इसके प्रसार के विश्लेषण में यह महत्वपूर्ण कदम होगा, इसलिए, साक्षरता के आदर्श विकास के लिए बेकार की खोज से काम नहीं चलेगा बल्कि साक्षरता के स्तरों में अन्तःक्षेत्रीय और अन्तरक्षेत्रीय कमी बेशी की पहचान और उसकी व्याख्या करने के बाद उचित नीति बनाई जानी चाहिए ताकि समानता के साथ विकास होता रहे।

विकास के पहले और दूसरे दशक में विकास के तरीके का बुनियादी दबाव वृद्धि की ओर था, जैसे ए ला हरोड डोमर माडेल। तीसरी दुनिया की विकासशील अर्थव्यवस्था के संदर्भ में

सामाजिक-आर्थिक नियोजन के उपकरण के रूप में *वृद्धि* के आदर्श की मर्यादाएँ सातवें दशक तक स्पष्ट दिखाई पड़ने लगीं क्योंकि बहुत से विकासशील देशों में इस *वृद्धि* की रफ़्तार न केवल धीमी थी अपितु यह वांछित फल प्राप्त करने में विफल सिद्ध हुई और साथ ही अन्तःक्षेत्रीय और अन्तरक्षेत्रीय असमानताओं में भी बढ़ोत्तरी होती गई। इस संदर्भ में योजना बनाते समय केवल *वृद्धि* पर नहीं बल्कि *वृद्धि के साथ उसकी समानता* पर जोर दिया जा रहा है, जो अब बहुत से विकासशील देशों में सामाजिक योजना का प्रमुख उद्देश्य हो गया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि समानता और विकास की माँग में कोई विरोधाभास नहीं है। विकास के बिना समानता एक अवरुद्ध गन्दे ताल की तरह बन जाती है, जहाँ केवल मुसीबत, अज्ञानता, रूढ़िवादिता और अंधविश्वास का ही समान वितरण किया जा सकता है। समानता के बिना विकास से संरचनात्मक विषमता बढ़ती जाती है, जिससे विकास में स्वतः रुकावट आ जाती है। समाज की दिलचस्पी दोनों मे है और इनका समाधान एक साथ किया जा सकता है जिसमें दोनों परस्पर एक-दूसरे को सहयोग देते हुए अपना अस्तित्व बनाए रख सकते हैं। शिक्षा के क्षेत्र मे इस दृष्टिकोण का महत्व और भी बढ़ जाता है क्योंकि यह साधनों से वंचित लोगों के लिए न केवल एक नैतिक दायित्व है बल्कि स्वयं राष्ट्र निर्माण के लिए उचित दृष्टिकोण है।

इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में तीसरी दुनिया के शैक्षिक और सामाजिक योजनाकर्ताओं की अनेकों में से एक बड़ी दिलचस्पी साक्षरता के सार्वजनीकरण की थी। यदि अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त कर लिया गया होता, तो अब तक अन्तः और अन्तरक्षेत्रीय विषमताये, खासतौर पर शैक्षिक बहुस्तरीय पिरामिड के बुनियादी स्तर पर स्वतः घटकर शून्य पर पहुँच गयी होतीं। लेकिन सही हालत तो सचमुच दयनीय है। तीसरी दुनिया के बहुत से देशों में गम्भीर प्रयास के बावजूद निरक्षरता उन्मूलन की दिशा में अभी कई मंजिलें पार करना बाकी हैं, जिसका नतीजा यह है कि अभी भी कई स्तरों पर विषमतायें बरकरार हैं। 1971-81 के दशक में लगभग 2 करोड़ 80 लाख निरक्षर प्रौढ़, जिनमें से 2 करोड़ 20 लाख देहाती इलाकों के थे, लगभग 21 करोड़ की वर्तमान निरक्षरों की संख्या में जुड़ गये। यूनेस्को (1978) के एक अध्ययन से मालूम हुआ है कि सन् 2000 ई० तक भारत में साक्षरता की दर लगभग 55 प्रतिशत बढ़ जायेगी और पुरुषों और स्त्रियों की साक्षरता के अंतर में कुल मिलाकर बहुत मामूली कमी आएगी। जब तक इस बीमारी को दूर करने के लिए कोई गम्भीर प्रयास नहीं किया जाता तो सन् 2000 ई० तक अन्तः और अन्तरक्षेत्रीय विषमताये बरकरार रहेंगी। अतएव, निरक्षरता का अल्पकालिक स्थायित्व अविकसित देशों, खासकर तीसरी दुनिया के देशों में एक अंगीभूत तत्व मान लिया गया है। विषमताओं की विद्यमानता के साथ उसमें निहित साक्षरता के विकास की धीमी रफ़्तार एक तरफ तो साम्राज्यवादी शासन के अंतर्गत सामाजिक प्रणाली में व्यापक तोड़-मरोड़ के मिले-जुले प्रभाव के कारण हुई तो दूसरी तरफ विरासत में मिली इस बीमारी से देश को मुक्त करने में विकास की वर्तमान व्यूह रचना में कमजोरियों और सीमाबद्धता के कारण हुई है।

भारत एक ऐसी राज्य-व्यवस्था का उदाहरण है जहाँ सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में व्यापक क्षेत्रीय असमानताओं और विकृत आर्थिक आधार की विशेषता है साक्षरता का निम्नस्तर। इसलिए, भारतीय संदर्भ में साक्षरता की सर्वसुलभता राष्ट्र निर्माण और आधुनिकीकरण के लिए एक महत्वपूर्ण उपकरण के रूप में मान्य हुई और इसी संदर्भ में भारतीय संविधान के निर्माताओं ने निःशुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा को शिक्षा नीति का प्रमुख उद्देश्य बनाया और साथ ही शैक्षिक विकास के लिए व्यूह रचना की, ताकि नियोजित विकास के पहले दशक में ही यह लक्ष्य प्राप्त किया जा सके। फलस्वरूप पहली पंचवर्षीय योजना (1951) में, वर्तमान

अंतरक्षेत्रीय विषमताओं को ध्यान में रखते हुए शिक्षा के अवसरों का समान वितरण करने की आवश्यकता पर खास जोर दिया गया और स्पष्ट शब्दों में उसका निरूपण किया गया और देश में शैक्षिक योजना के प्रमुख लक्ष्यों में उसका हवाला दिया गया। तालिका 1 में पुरुष-स्त्री साक्षरता दरों की प्रवृत्ति दिखाई गई है, जिससे असमानताओं का सतत टिकाऊ व्यवहार स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाता है।

तालिका 1
भारत में साक्षरता की दरें — 1901-81
(कुल जनसंख्या का प्रतिशत)

वर्ष	व्यक्ति	पुरुष	स्त्री
1901	5.35	9.83	0.60
1911	5.92	10.56	1,05
1921	7.16	12.21	1.81
1931	9.50	15.59	2.93
1941	16.10	24.90	7.30
1951	16 67	24.95	7.93
1961	24.02	34.44	12 95
1971	29.45	39.45	18.69
1981	36 23,	46.89	24.82

पहले यह विचार किया गया था कि देश मे साक्षरता के निम्नस्तर का कारण यह है कि सभी स्थानों पर स्कूलों की व्यवस्था समान रूप से नहीं है, खासकर इस मामले में देहाती क्षेत्रों की घोर उपेक्षा हुई है। इसलिए ऐसी आशा की गयी थी कि देहाती क्षेत्रों में शिक्षा सुविधाओं में असाधारण वृद्धि के जरिये इस क्षेत्र की असमानताओं को कम से कम करने में स्कूलों को सक्रिय साधन बनाया जाये। दूसरी पंचवर्षीय योजना के अंत में यह अनुभव किया गया कि साक्षरता का स्तर ऊँचा उठाये बिना सामाजिक-आर्थिक विकास का लक्ष्य प्राप्त करना संभव नहीं है। इसी संदर्भ में तीसरी पंचवर्षीय योजना में जन-धन के संसाधनों के समुचित उपयोग पर विचार किया गया। 1968 के राष्ट्रीय नीति प्रस्ताव में क्षेत्रीय विषमताओं को कम करने और प्रौढ़ शिक्षा के व्यापक कार्यक्रम के माध्यम से असमानताओं को घटाने के लिए शिक्षा के विकास की नीति स्वीकार की गई। इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए बाद की सभी पंचवर्षीय योजनाओं में स्कूल शिक्षा की व्यवस्था और खासतौर से समाज के साधनहीन लोगों को प्रोत्साहन-राशि की व्यवस्था की गई।

दूसरे अखिल भारतीय शैक्षिक सर्वेक्षण (1965) से मालूम हुआ कि ग्रामीण जनता के 94.96 प्रतिशत लोगों को अपने घर से 1.6 कि.मी. की दूरी के भीतर ही प्राइमरी स्कूल की सुविधा उपलब्ध है। इसके बाद होने वाले सर्वेक्षणों के परिणामों से यह देखा गया कि पिछले दो दशकों में स्कूल पहुँचने वाले बच्चों की संख्या काफी ऊँची बनी रही। तीसरे और चौथे अखिल भारतीय शैक्षिक सर्वेक्षणों से जो संबंधित आँकड़े प्राप्त हुए हैं, वे क्रमशः 92.65 और 95.2 प्रतिशत हैं लेकिन यदि हम इस भारी भरकम संख्या को न देखकर इस स्थिति पर सामाजिक

परिप्रेक्ष्य में विचार करें तो स्कूल जाने वाले बच्चों की असमानता स्पष्ट दिखाई देने लगती है। सामाजिक पृष्ठभूमि की रूपरेखा में गहरे खड्डु और साथ ही ऊँची पहाड़ियाँ देखी जा सकती हैं। देहाती क्षेत्रों मे स्थित स्कूलों से प्राप्त आँकड़ों (चतुर्थ अखिल भारतीय शैक्षिक सर्वेक्षण) से मालूम हुआ है कि अनुसूचित जातियों की आबादी में केवल 31 प्रतिशत प्राइमरी स्कूल हैं, जबकि कुल आबादी के लिए लगभग 47 प्रतिशत स्कूल उपलब्ध हैं। मिडिल स्कूलों के बारे में भी स्थिति कुछ ज्यादा बेहतर नहीं है। यह मालूम हुआ है कि साधारण लोगों के लिए जहाँ मिडिल स्कूलों की संख्या 10.7 प्रतिशत है, उसकी तुलना में अनुसूचित जातियों की बस्तियों में केवल 3.5 प्रतिशत स्कूल हैं। ग्रामीण बस्तियों में लगभग 80 प्रतिशत में प्राइमरी स्कूल है जो या तो बस्तियों के अंदर हैं या एक कि.मी. की दूरी के अंदर हैं।

ऊपर बताये गये तथ्यों से मालूम होता है कि देहाती क्षेत्रों में भी स्कूल सुविधाओं के बढ़ाने के बाद विद्यार्थियों की वर्तमान उपस्थिति शत प्रतिशत दाखिले का लक्ष्य प्राप्त करने में बड़ी बाधा नहीं समझी जानी चाहिए। फिर भी यह अधिकाधिक महसूस किया जा रहा है कि विद्यार्थियों के दाखिले और समाज के सभी वर्गों के लिए उपलब्धता को अलग-अलग नहीं देखा जाना चाहिए। इन दोनों में से पहला स्कूल की दूरी कम से कम करके हासिल किया जाता है तो दूसरा सामाजिक-आर्थिक ढाँचे में संरचनात्मक परिवर्तन की अपेक्षा रखता है। इसी संदर्भ में यह पाया गया है कि शैक्षिक विकास में संकीर्ण क्षेत्रीय दृष्टिकोण से वांछित फल नहीं प्राप्त हो सके हैं, क्योंकि कम दाखिले के कारणों की जड़ें सामाजिक-आर्थिक ढाँचे की गहराई में उलझी हुई हैं। यही कारण है कि प्राइमरी शिक्षा के प्रसार में विभिन्न प्रकार के असंतुलन न ठीक होने के कारण व्यापक प्रयास के बावजूद वांछित फल नहीं मिला है और स्थिति बहुत ही असंतोषजनक बनी हुई है — साक्षरता के आँकड़ों से मालूम होता है कि सातवें दशक मे साक्षर व्यक्तियों की संख्या में जितनी वृद्धि हुई है, उससे डेढ़ गुनी आबादी बढ़ गई है, सुविधा-वंचित समुदायों के संबंध मे यह स्थिति और भी गम्भीर है।

इसलिए, यह अजीब सा लगता है कि शिक्षा के क्षेत्र मे एकीकरण, उपलब्धियों के आकलन और विषमताओं की व्याख्या के विभिन्न पहलुओं पर अभी तक न तो समाजशास्त्रियों द्वारा और न शिक्षा योजनाकारों द्वारा ही सम्यक रीति से खोज की गई है। संबंधित विद्वान अंतरिक्ष हीन आश्चर्य लोक में विषमताओं की सामाजिक-आर्थिक समानधर्मिता के साथ लगभग पूरी तरह व्यस्त रहे हैं, लेकिन इसके क्षेत्रीय आयामों को अभी तक समुचित मान्यता नहीं दी गई है। यह खासतौर से दुर्भाग्यपूर्ण है कि असमानताओं की समस्या अन्योन्याश्रिता की क्षेत्रीय उपप्रणालियों मे गहराई से बद्धमूल है, अतएव, इसका संतोषप्रद विश्लेषण और उन्हें कम से कम करने के लिए उपचारात्मक कार्रवाई भी क्षेत्रीय ढाँचे के भीतर ही कारगर ढंग से शुरू की जा सकती है।

यह केवल कुछ ही समय पहले की बात है कि इस दिशा में रुक-रुक कर कदम उठाये गये हैं। शैक्षिक योजना के अंतर्राष्ट्रीय संस्थान (गैब्रियल एवं नगोक, 1980) द्वारा प्रायोजित अध्ययन शृंखला में शिक्षा में क्षेत्रीय असमानताओं की प्रकृति और ढाँचे का पता लगाने का सुनियोजित प्रयास किया गया। शिक्षा क्षेत्र में विद्यमान इस बीमारी का निदान करने में अन्तःक्षेत्रीय और अन्तरक्षेत्रीय असमानताओं के बीच संबंधों का पता लगाने और विशिष्ट मामलों के अध्ययन द्वारा उदाहरण सहित सामाजिक-आर्थिक विकास प्रणाली का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया था जिसमे बहुत से नवीन उपकरणों का उपयोग किया गया था। विश्वभर में पुरुष और स्त्री साक्षरता के तुलनात्मक अध्ययन से मालूम हुआ है कि साक्षरता के मामले में इनमें बड़ी भारी असमानता है और यह लक्षण आगे भी बना रहेगा। यहाँ इस तथ्य का हवाला भी दिया जा सकता है कि

अफ्रीका में चाड, इथियोपिया, माली, नाइजर, सोमालिया और अपरवोल्टा तथा एशिया में अफगानिस्तान, सऊदी अरब और यमन जैसे बहुत से देशों में साक्षरता की दर 1971 के आसपास तक शून्य के निकट थी (यूनेस्को, 1980)।

राइबा (1979) ने विश्वव्यापी स्तर पर शैक्षिक असमानताओं के क्षेत्रीय पक्षों की जाँच की जिसमें शैक्षिक उपलब्धियों के संबंध में शैक्षणिक प्रावधानों पर विचार किया। उसने बताया है कि विश्लेषण की प्रत्येक माप में क्षेत्रीय असमानता देखी जा सकती है और यह समय बीतने के साथ-साथ उससे चिपकी हुई है। विलियमसंस (1977) ने पश्चिम जर्मनी में शैक्षिक असमानता के ढाँचे के अध्ययन के बाद इस सिद्धांत को जायज़ ठहराया कि शैक्षिक असमानताएँ सामाजिक पर्यावरण में गहराई से बद्धमूल हैं और ये यूरोप के अन्यथा विकसित देशों में भी विकास में बाधा डाल रही हैं।

भारतीय साक्षरता के संदर्भ में असमानताओं की प्रकृति और रीतिनीति के बारे में पिछले कुछ वर्षों में विद्वानों द्वारा अनेक अध्ययन शुरू किये गये हैं। कुंडू एवं राव द्वारा 1961 और 1971 के बीच की साक्षरता दरों में असमानताओं की प्रकृति और रीतिनीति का तुलनात्मक अध्ययन शुरू किया गया है (1982)। इस अध्ययन में विश्लेषण की इकाई के रूप में राज्य को आधार माना गया है। वर्ष 1981 के लिए देहाती और शहरी साक्षरता की दरों में अंतरराज्यीय विभिन्नताओं की जांच पड़ताल डीसूजा द्वारा (1982) की गई। इस अध्ययन में एक ओर शहरीकरण के साथ देहाती-शहरी असमानताओं के बीच साहचर्य की प्रकृति और दूसरी ओर औद्योगीकरण के साथ होने वाली असमानताओं की जाँच की गई है। अहमद (1982) ने बिहार की जन जातियों की साक्षरता दरों में असमानताओं के अन्तर पर जिला आधार पर (वर्ष 1971 के लिए) अध्ययन किया। इन अध्ययनों से मालूम हुआ कि साक्षरता की ओर झुकाव बढ़ रहा है और उसकी दरों में असमानताएँ भी कम हो रही हैं।

उषा राव (1982) ने कर्नाटक की अनुसूचित जातियों की आबादी में साक्षरता की अन्तःराज्यीय असमानताओं का अध्ययन किया है। गुजरात और उसी से मिलती-जुलती आर्थिक स्थिति वाले अन्य राज्यों की साक्षरता में कमी-बेशी की जाँच करने पर मालूम हुआ है कि देहाती मजदूरों में खेती से संबंधित मजदूरों की संख्या चुने हुए गाँवों में साक्षरता की दरों पर काफी प्रभाव डालती है (माया शाह, 1981)। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि भारतीय संदर्भ में किये गये अध्ययनों से मालूम हुआ है कि विभिन्न क्षेत्रों में और समाज के विभिन्न स्तरों पर साक्षरता की ओर झुकाव बढ़ रहा है और असमानताओं में कमी होती जा रही है।

ऊपर जिन अध्ययनों का उल्लेख किया गया है, उनकी कई गंभीर सीमाएँ हैं जिनमें से एक यह तथ्य है कि असमानताओं का अध्ययन करते समय या तो राज्य को इकाई मानकर विश्लेषण किया गया है या जिलों के भीतर किया गया है या एक ही राज्य के उपक्षेत्रों का विश्लेषण किया गया है। यहाँ यह उल्लेख किया जा सकता है कि क्षेत्रीय असमानताओं के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करने के लिए राज्य को विश्लेषण की इकाई बनाना बिल्कुल अनुपयुक्त है, क्योंकि विभिन्नता और असमानता दोनों ही तत्वों की दृष्टि से राज्यों में विषमताएँ विद्यमान हैं। यदि हम छोटा नागपुर के प्लेटू को उत्तरी बिहार के मैदान के साथ या गुजरात के मैदानों को सौराष्ट्र के साथ जोड़ दें, तो उनका कोई सार्थक परिणाम नहीं निकलता। कुछ अर्थशास्त्रियों द्वारा भी इस प्रकार के अध्ययन किये गये हैं जिन्होंने इन असमानताओं को काल्पनिक बता कर उन्हें उड़ा दिया है जिससे उनके निष्कर्षों की वैधता ही संदिग्ध बन गई है। यही बात किसी राज्य की सीमाओं के भीतर असमानताओं की विशालता के बारे में उतने ही जोर के साथ कही जा सकती है।

कैसे कोई भी व्यक्ति तर्कसंगतता के किसी भी स्तर पर जैसलमेर और जयपुर, बर्दवान और सिलीगुड़ी, बंगलौर और गुलबर्गा, हैदराबाद और महबूबनगर तथा मेरठ और गाजीपुर को समान स्तर पर मिला सकता है। इसलिए, केवल एक ही विकल्प रह जाता है कि जिले को विश्लेषण के लिए इकाई मानने पर विचार किया जाये। भारतीय राज्य व्यवस्था में जिला एक प्रशासनिक इकाई है जिसमें सामाजिक एकरूपता, समान बोली और ऐतिहासिक परंपरा के फलस्वरूप विशेष आधार है। यह वह स्तर है जहाँ विशाल प्रक्रियायें सूक्ष्म जगत में बद्धमूल हैं जो भारतीय लोकाचार की विभिन्नता में एकता स्थापित करती हैं। यही वह स्तर है जहाँ क्षेत्रीय योजना की लम्बवत सम्पर्क प्रणाली से बल हटाकर क्षेत्रीय योजना के क्षैतिजिक संपर्क-प्रणाली पर जोर दिया जा रहा है। शैक्षिक विकास के क्षेत्र में यह खास तौर पर सही है, जहाँ विशिष्टता और सार्वजनिकता यथार्थ रूप में परस्पर जुड़ी हुई है।

फिर भी, यह मान लेना चाहिए कि इन अग्रगामी अध्ययनों से असंकलित स्तर पर प्रयोगाश्रित ब्यौरेवार जाँच-पड़ताल की आवश्यकता का अनुभव किया गया है और उसके लिए मार्ग भी प्रशस्त हुआ है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए किसी जिले के प्रतिनिधिक भाग के आँकड़ों के आधार पर उसके आर्थिक आधार, साक्षरता की दर, और साक्षरता दरों मे विभिन्न प्रकार की असमानताओं के बीच पारस्परिक संबंधों की जाँच-पड़ताल करने का प्रयास किया गया है। भारत में जनगणना के आधार पर प्रति दसवे वर्ष मे साक्षरता और सामाजिक-आर्थिक विकास से संबंधित कुछ पहलुओं पर व्यापक आँकड़े इकट्ठे किए जाते हैं। वर्तमान अध्ययन में वर्ष 1981 के लिए इस मूल्यवान स्रोत का उपयोग किया गया है।

वर्तमान अध्ययन के संदर्भ में तीन विभिन्न स्थितियाँ देखी जा सकती है :

1. कोई तथ्य स्थानिक इकाइयों के आर-पार असमान रूप से वितरित है अर्थात् जिले के आर-पार साक्षरता की दरें।
2. एक ही विश्व में दो अवयव हो सकते हैं और उसी स्थानिक इकाई में जो दो के लिए है, एक चुने हुए गुण का मूल्य दूसरे से असमान है अर्थात् किसी जिले में पुरुष और स्त्री की साक्षरता दर।
3. एक चुने हुए गुण से संबंधित विश्व के दो अवयवों में असमानता जो स्थानिक इकाइयों के आर-पार असमान रूप से वितरित हो सकती है अर्थात् जिले के आर-पार पुरुष और स्त्री की साक्षरता दरों में असमानता।

साक्षरता की दरों मे असमानताओं की माप के लिए आँकड़ों की उपलब्धता के आधार पर हमने निम्नलिखित छ· समूहों को मान्यता दी है :—

1. पुरुष-स्त्री
2. देहाती (पुरुष-स्त्री)
3. शहरी (पुरुष-स्त्री)
4. देहाती-शहरी
5. पुरुष (देहाती-शहरी)
6. स्त्री (देहाती-शहरी)

वर्तमान प्रयास में असमानता की तालिका सोफर तालिका के संशोधित विवरण की सहायता से आकलित की गई है जो निम्नलिखित सूत्र में दी गई है। (रज़ा एवं अग्रवाल, 1982)

$$W = Log(L_2/L_1) + Log[(100+I_1) / (100+I_2)] \quad L_2>L_1$$

यहाँ L_1 और L_2 साक्षरता की दरें है और I_1 और I_2 दो तत्वों के बीच निरक्षरता की तदनुरूपी दरें है जिनके बीच असमानता के सूचकांक की गणना की जाती है।

वर्तमान अध्ययन के ढाँचे और आँकड़ों की उपलब्धता को देखते हुए किसी जिले के आर्थिक आधार की निम्नलिखित विशेषताएँ चुनी गई हैं :—

X_1 = प्रतिशत कुल साक्षरता
X_2 = स्त्री-पुरुष साक्षरता की असमानता का सूचकांक
X_3 = देहाती (स्त्री-पुरुष) साक्षरता में असमानता का सूचकांक
X_4 = शहरी (पुरुष-स्त्री) साक्षरता में असमानता का सूचकांक
X_5 = देहाती-शहरी साक्षरता में असमानता का सूचकांक
X_6 = पुरुष(देहाती-शहरी) साक्षरता में असमानता का सूचकांक
X_7 = स्त्री (देहाती-शहरी) साक्षरता में असमानता का सूचकांक
X_8 = प्रतिशत खेतिहर मजदूर
X_9 = प्रतिशत खेतिहर
X_{10} = प्रतिशत अन्य मजदूर
X_{11} = प्रतिशत देहाती साक्षरता
X_{12} = प्रतिशत शहरी साक्षरता
X_{13} = प्रतिशत शहरी जनसंख्या

यह उल्लेखनीय है कि X_8, X_9, X_{10}, X_{11}, X_{12}, X_{13} में परिवर्तनों की परिभाषा वही है जो भारत की 1981 की जनगणना में दी गई है।

एक ओर साक्षरता दरों के साथ असमानता के सूचकांकों के संबंध और दूसरी ओर उनके आर्थिक आधार के सूचकों से संबंध के बारे में प्रतिगामी विश्लेषण के माध्यम से जाँच की गई है। शहरीकरण की दर का उपयोग व्याख्यात्मक अस्थिरता के लिए करने से शहरी और देहाती क्षेत्रों में साक्षरता के स्तरों और साथ ही साक्षरता में असमानताओं के संबंध में अन्तर निकालने के बारे मे कुछ रोचक निष्कर्ष निकालना सम्भव हो सका है।

असमानताओं के पाँच पक्ष

नये-नये आज़ाद हुए बहुत से देशों मे उनकी सामाजिक-आर्थिक संरचना में असमानतायें और विकृतियाँ जुड़ी हुई हैं, और उनकी ऐतिहासिक प्रक्रिया मे, खासतौर से औपनिवेशिक परम्परा में बद्धमूल हैं। सभ्यता के आदिकाल से इनका विकास कार्य-कारण के दो पक्षीय सिद्धान्त से यथार्थ रूप से जुड़ा हुआ है। विभिन्न समुदायों के शैक्षिक स्तरों में पाई जाने वाली असमानता में उनके सामाजिक-आर्थिक विकास के स्तरों के अंतर का कारण और कार्य दोनों हैं। यह साक्षरता के स्तर के बारे में खासतौर से सही है जो शैक्षिक विकास के लिए अनिवार्य पूर्व स्थिति की व्यवस्था करता है। जबकि आज के विकसित देशों में औद्योगिक क्रांति ने ऐसी स्थितियाँ पैदा कर दी थीं जिनमे साक्षर श्रमिकों की आवश्यकता थी और धीरे-धीरे, तथा निरन्तर प्रयास से उन्होंने साक्षरता को सर्वसुलभ बना दिया, किन्तु साथ ही साथ उन्हें औपनिवेशिक साम्राज्य में अविकसित देशों के विकास की प्रक्रिया में शिक्षा के स्तर में असमानताएँ बनाये रखने और आम जनता को निरक्षर रखने की आवश्यकता भी थी।

औपनिवेशिक शासन की आवश्यकताओं ने औपनिवेशिक देशों के आर्थिक विकास को

विफल कर दिया, खेती में तकनीकी प्रगति के मार्ग में रुकावटें डालीं और आत्मनिर्भर औद्योगिक क्षेत्र के अभ्युदय की अनुमति नहीं दी। और फलस्वरूप प्राथमिक से माध्यमिक क्षेत्र को अन्तरित होने वाले अन्तः क्षेत्रीय श्रमिकों पर कठोर नियंत्रण रखा और सबसे बढ़कर यह किया कि विकास कार्य को अधिकतम ह्रासोन्मुख किया। माध्यमिक क्षेत्र पर आधारित हस्तकला का दम घोट कर तकनीकी दृष्टि से अवरुद्ध प्राथमिक क्षेत्र को बोझिल बना दिया और औपनिवेशिक प्रशासन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक तीसरा खोखला क्षेत्र बनाया जो श्रम से दूर रहने वाला और श्रम को घृणा की दृष्टि से देखने वाला था। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप आज के विकसित देशों में उपलब्ध सामाजिक-आर्थिक स्थितियों के कारण उनके यहाँ काम और शिक्षा के बीच की दूरी बहुत कम हो गई है लेकिन तीसरी दुनिया के देशों में इस अभ्युदय की अनुमति नहीं दी गई।

अब हम सामाजिक-आर्थिक संदर्भ पर फिर से विचार करें जिसके अंतर्गत भारत की शिक्षा प्रणाली में वर्तमान असमानतायें पैदा हुई हैं। जिन लोगों को सापेक्ष रूप से वंचित किया गया और जिनके फलस्वरूप असमानताओं की पाँच कोटियाँ दिखायी देती हैं वे इस प्रकार हैं:—

1. अनुसूचित जातियों और दूसरों के बीच,
2. अनुसूचित जनजातियों और दूसरों के बीच,
3. पुरुषों और स्त्रियों के बीच,
4. देहाती और शहरी आबादियों के बीच,
5. विकसित और कम विकसित क्षेत्रों के बीच।

आइये, अब हम इन असमानताओं की उत्पत्ति पर थोड़ा विचार करें।

पहले, अनुसूचित जातियों तथा अन्य लोगों के बीच असमानता की उत्पत्ति ऐतिहासिक पृथक्करण के फलस्वरूप हुई जिसमें उन्हें ज्ञान और सत्ता से हटा दिया गया। अनुसूचित जातियों के श्रमिकों को प्राथमिक क्षेत्र में इकट्ठा किया गया जो अविकसित समाज के संदर्भ में कार्य-कौशल की दृष्टि से निम्नतर स्तर पर थे और उनका काम परम्परागत ज्ञान के आधार पर चलता था और उसमें उत्पादन के आधुनिक साधनों का कोई उपयोग नहीं किया जाता था।

1981 की जनगणना पर श्रमिकों (मुख्य मजदूर) के वितरण के बारे में की गई जांच से मालूम हुआ है कि अनुसूचित जातियों और जनजातियों के मजदूरों की संख्या गैर अनुसूचित आबादी की तुलना में बहुत ज्यादा है, यह अनुसूचित जनजाति के मामले में 42.5 प्रतिशत, अनुसूचित जाति के मामले में 36.1 प्रतिशत और गैर अनुसूचित आबादी के मामले में 32 प्रतिशत है। इसकी आंशिक व्याख्या में कहा जा सकता है कि इन्हें विद्यालयी शिक्षा के स्थान पर बहुत कम उम्र मे मजदूरी में लगा दिया जाता है और बाद मे निवृत्त किया जाता है या इसकी नौबत कभी नहीं आती। इस तथ्य की आगे इससे पुष्टि हो जाती है कि इनमें से अधिकांश मजदूर अर्थव्यवस्था के प्राथमिक क्षेत्र में खेतिहर मज़दूर के रूप में लग जाते हैं। 1971 की जनगणना से प्राप्त आँकड़ों से मालूम होता है कि अनुसूचित जातियों के लगभग 80 प्रतिशत मज़दूरों में से लगभग 52 प्रतिशत खेतिहर मज़दूर के रूप में कार्यरत थे। इनकी तुलना में गैर अनुसूचित आबादी का प्रतिशत क्रमशः 65 प्रतिशत और 20 प्रतिशत था। सातवें दशक के दौरान इसमें कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ है। फिर भी, 1981 के लिए नौ समूहों में मजदूरों के वितरण के आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं।

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि अधिकांश खेतिहर मजदूर निरक्षर हैं और अत्यंत दयनीय स्थिति में रहते हैं और गरीबी की रेखा से नीचे ही बने रहते हैं। मजदूरों के वितरण के बारे में दूसरा दिलचस्प पहलू यह है कि 1971 में संगठित उत्पादन क्षेत्र में अनुसूचित जातियों के मज़दूरों की संख्या केवल 3.5 प्रतिशत थी और गैर अनुसूचित मजदूरों की संख्या लगभग 7 प्रतिशत थी। शिक्षा के निम्नस्तर के कारण उन्हें संगठित क्षेत्र के बजाय अर्ध-कुशल मज़दूरों के रूप में नियोजित किया जाता है।

अनुसूचित जातियों तथा अन्य लोगों के बीच साक्षरता में असमानता के दुराग्रह के कारण प्राप्त स्थिति तालिका 2 में स्पष्ट दिखाई गई है। साक्षरता के क्षेत्र में अनुसूचित जनता को अपेक्षाकृत कितना वंचित किया गया है यह जिलों के आधार पर तैयार किया गया है जिनमें देहाती अनुसूचित जातियों की संख्या कुल देहाती आबादी में 5 प्रतिशत या इससे अधिक है। 1971 में देश के कुल 356 जिलों में से 286 जिले इस कसौटी पर प्रमुख रूप से अनुसूचित जाति वाले जिले माने गये। यह जानना रोचक होगा कि 131 जिलों में अनुसूचित जातियों में साक्षरता की संख्या 12 प्रतिशत से कम थी जबकि ऐसा कोई जिला न था जिसमें गैर अनुसूचित जातियों की साक्षरता का प्रतिशत 12 से कम हो।

यह उल्लेखनीय है कि ऊपर दिखाये गये आँकड़े राष्ट्रीय स्तर पर समग्र चित्र से संबंधित हैं। देहाती क्षेत्रों और सुदूर भीतरी भागों में साक्षरता की स्थिति और भी चौंकाने वाली है क्योंकि यह वितरण अत्यंत विकृत और असमानतापूर्ण हैः।

तालिका 2
साक्षरता की दरें

	अनुसूचित जातियां		गैर अनुसूचित जातियां	
	1971	1981	1971	1981
	%	%	%	%
कुल आबादी	14.67	21.38	33.80	41.30
पुरुष	22.36	31.11	44.48	52.35
स्त्री	6.44	10.93	22.25	29.53
देहाती आबादी	12.77	18.48	27.51	34 22
पुरुष	20 04	27.91	38.10	46.14
स्त्री	5.06	8 44	15.88	21.68
शहरी आबादी	28.65	36.60	55.06	60.39
पुरुष	38.93	47.54	63.73	68.46
स्त्री	16.99	24.34	44.93	51.19

दूसरे, अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य लोगों के बीच असमानता का कारण जनजाति के समुदायों का बहुत दिनों से लगातार अपनी अलग दुनिया में—पहाड़ों की दुर्गम घाटियों, जंगलों में तथा सूखे मरुस्थलों में आबाद रहना है। शैक्षिक विकास की निम्नस्तर क्षेत्रीय खींचतान और दबाव जो आदिम जन जातियों तथा निकटस्थ गैर जनजातियों के बीच विकास के विभिन्न स्तरों

के परिणामस्वरूप अभी भी विद्यमान हैं, इन असमानताओं को कम से कम करके समाप्त किया जा सकता है। 1981 की जनगणना से देखा गया है कि अनुसूचित जनजातियों में साक्षरता का कुल प्रतिशत केवल 16.3 था जबकि शेष जनता में 36.23 प्रतिशत साक्षर थे। अनुसूचित जन-जातियों में केवल 8.4 प्रतिशत देहाती स्त्रियां साक्षर थीं जब कि शहरों में साक्षर पुरुषों की संख्या 47.5 प्रतिशत थी।

तीसरे, पुरुषों और स्त्रियों के शैक्षिक विकास मे व्याप्त असमानतायें औपनिवेशिक युग के नकली आधुनिकीकरण के दौरान कुछ विषमताओं के दुराग्रह में बद्धमूल हैं। इसकी अभिव्यक्ति स्त्रियों को शैक्षिक अवसरों से वंचित रखने के रूप में बड़े तीखे रूप में हुई है। शिक्षा के क्षेत्र में स्त्रियों को अपेक्षाकृत अधिक वंचित रखने का प्रयास खासतौर से द्रष्टव्य है क्योंकि वंचन की विशेषताओं में यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी। इसमें संदेह नहीं कि अनुसूचित जातियों को शिक्षा से वंचित किया गया किन्तु अनुसूचित जाति की स्त्रियों को पुरुषों से भी अधिक वंचित किया गया। स्त्रियों के लिए शिक्षा संस्थाओं के द्वार बंद थे, क्योंकि ऐसा करना, साम्राज्यवादियों की प्रतिगामी नीतियों का एक अविभाज्य अंग था जिसके द्वारा वे राज्य व्यवस्था में दकियानूसी पुरुष वर्ग की चौधराहट की प्रवृत्तियों को सुदृढ़ करते थे। स्त्री साक्षरता का इतने निम्न स्तर पर लगातार बने रहना इस तथ्य को इंगित करता है कि यह 1901 में 0.60 प्रतिशत था जो 1941 तक बढ़ कर केवल 7.3 प्रतिशत हुआ।देहाती जनता साक्षरता से वंचित थी इसमें संदेह नहीं, लेकिन यहां भी स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक वंचित थीं। आजादी के 25 वर्ष के बाद भी अनुसूचित जातियों की देहाती स्त्रियों की साक्षरता 73 जिलों में 1 प्रतिशत से भी कम थी और 286 जिलों में से 116 जिलों मे 2 प्रतिशत से भी कम। ये जिले ऐसे थे जिनकी कुल देहाती आबादी में अनुसूचित जातियों की आबादी 5 प्रतिशत से अधिक थी। भारतीय समाज के संदर्भ में स्त्रियों की शिक्षा के लिए कोई आंदोलन इससे अधिक महत्व रखता है। यह भारतीय शासन व्यवस्था के विषमतापूर्ण सामाजिक ताने-बाने की जड़ों पर सीधा प्रहार करता है जो कि लगातार खून चूसने वाली हैं और उसे रक्तक्षीण और निर्बल बनाती हैं। स्त्रियों की शिक्षा न केवल स्त्रियों के लिए बल्कि समूचे भारतीय समाज की मुक्ति का साधन है।

चौथे, देहाती शहरी असमानताओं के स्थायित्व को अल्प विकास के स्थानीय संगठन में ढूँढा जा सकता है। साम्राज्यवादी प्रक्रिया ने शिक्षा के विकास में न केवल गुणमूलक बल्कि मात्रामूलक कुप्रभाव डाला जो कि उनकी स्थानिक अर्थव्यवस्था में जुड़ी हुई थी। अब केवल एक ही रास्ता है कि साम्राज्यवादी युग में प्रयुक्त और पुष्ट की गई स्थानिक विकृतियों को ठीक किया जाये ताकि वर्तमान विकास कार्यक्रमों की सीमाओं और कमजोरियों को ठीक से समझा जा सके। स्थानिक चाल की साम्राज्यवादी प्रक्रिया उनकी स्थानिक अर्थव्यवस्था में मज़बूती से जुड़ी हुई थी जिसने शहरीकरण की गुणमूलक और मात्रामूलक विशेषताओं को प्रभावित किया। शिक्षा के क्षेत्र में उनके प्रभावी कार्य करने की क्षमता पर काफी असर पड़ा, पहले, शैक्षिक अवसरों का सृजन किया गया जिनसे उत्पादन के आधुनिक साधनों के उपयोग का आधार बना और दूसरे उन क्षेत्रों में स्थित अर्थव्यवस्था के उत्पादक क्षेत्रों मे काम के बहुत तरह के अवसर सुलभ किये गए। इस संदर्भ में इस तथ्य का हवाला दिया जा सकता है कि 1931 में भारत के 34 सबसे बड़े शहरों में साक्षरता की दर पुरुषों के लिए 34.8 और स्त्रियों के लिए 14.9 प्रतिशत थी जबकि समूचे भारत की साक्षरता का प्रतिशत क्रमशः 13.3 और 2.5 था। अतएव, देहाती और शहरी साक्षरता के बीच बड़ी भारी असमानता थी।

पांचवें, क्षेत्रीय विषमताओं और अन्तरक्षेत्रीय असमानताओं का स्थायित्व संकुचित औद्योगिक

आधार तथा तीसरे क्षेत्र के फैलाव में दिखाई देता है जो कि मोटे तौर पर अनुत्पादक है। विकास प्रक्रिया में मज़दूरों का एक ओर तो सीधा ऊपर की ओर दूसरी ओर समानान्तर स्थानान्तरण होता है और यह संबंध बहुत ही महत्वपूर्ण है। परम्परागत अर्थव्यवस्था पर बाहर से लादा गया आधुनिक उद्योग लगभग पूरे का पूरा भारत के कुछ बड़े शहरों, साधारणतया बन्दरगाहों में लगाया गया, जो देश के देहाती क्षेत्र में तकनीकी पिछड़ेपन के महासागर में टापू सदृश विशेषताओं के साथ उभर आये। ये बंदरगाह प्राचीन या मध्यकालीन भारत के बंदरगाहों के विपरीत माल खींचनेवाले यंत्र के केन्द्रबिन्दु थे और आयात-निर्यात करनेवाले व्यापारिक माल के आने जाने के केन्द्र बन गए। इन कार्यविधियों से भी शिक्षा के विकास में क्षेत्रीय असंतुलन उभर आया। 1981 में अरुणाचल प्रदेश में ईस्ट कनेंग में साक्षरता की दर 6.94 प्रतिशत थी। जबकि केरल प्रांत के कोट्टयम में यही दर 81.35 प्रतिशत थी।

यह उल्लेख करना महत्वपूर्ण है कि ये सभी तथ्य अलग-अलग काम नहीं करते। वे सामाजिक-आर्थिक उत्पीड़न की रस्सी में मूलरूप से ताने-बाने के रूप में गुथे हुए हैं जो सामाजिक व्यवस्था को बांधे हुए हैं। जब हम विकसित क्षेत्रों की ऊँची जातियों पुरुषों और शहरी जनता से नीचे उतर कर अपेक्षाकृत कम विकसित क्षेत्रों की अनुसूचित जातियोंः और जनजातियों, स्त्रियों और देहाती जनता तक आते हैं तो हम पाते हैं कि असमानता अधिकाधिक तीक्ष्ण होती जाती है। समष्टि स्तर पर असमानता का पिरामिड चित्र 1 में दिखाया गया है।

तालिका 3
साक्षरता के स्तर के अनुरूप जिलों का संचयी आवृत्ति वितरण -1981

क्रम संख्या	साक्षरता का %	कुल[1] साक्षर	पुरुष साक्षर	स्त्री साक्षर	देहाती[2] साक्षर	देहाती पुरुष साक्षर	देहाती स्त्री साक्षर	शहरी[3] साक्षर	शहरी पुरुष साक्षर	शहरी स्त्री साक्षर
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11
01	< 05			7			28			
02	< 10	1		65	3		136			
03	< 15	7	1	149	26	2	211			
04	< 20	40	2	209	89	8	255			1
05	< 25	105	14	254	170	33	303			16
06	< 30	178	43	297	235	84	339	2		42
07	< 35	234	96	328	282	146	362	7		95
08	< 40	279	159	352	325	208	374	26	3	158
09	< 45	321	215	374	360	265	380	67	10	221
10	< 50	353	265	380	375	309	382	135	21	272
11	< 55	374	308	385	381	346	383	204	56	322
12	< 60	383	355	389	383	373	388	277	124	361
13	< 65	388	375	395	388	384	391	338	212	375
14	< 70	394	389	396	391	388	393	373	306	382
15	< 75	395	393	400	394	390	395	384	360	388
16	< 80	40	399	402	396	395	397	391	386	391
17	< 85	402	402		397	397		392	391	392
18	< 90							392		

नोट—1. असम राज्य के आँकड़े शामिल नहीं हैं।
2. 5 जिलों में कोई शहरी आबादी नहीं है।
3. 10 जिलों में कोई देहाती आबादी नहीं है।

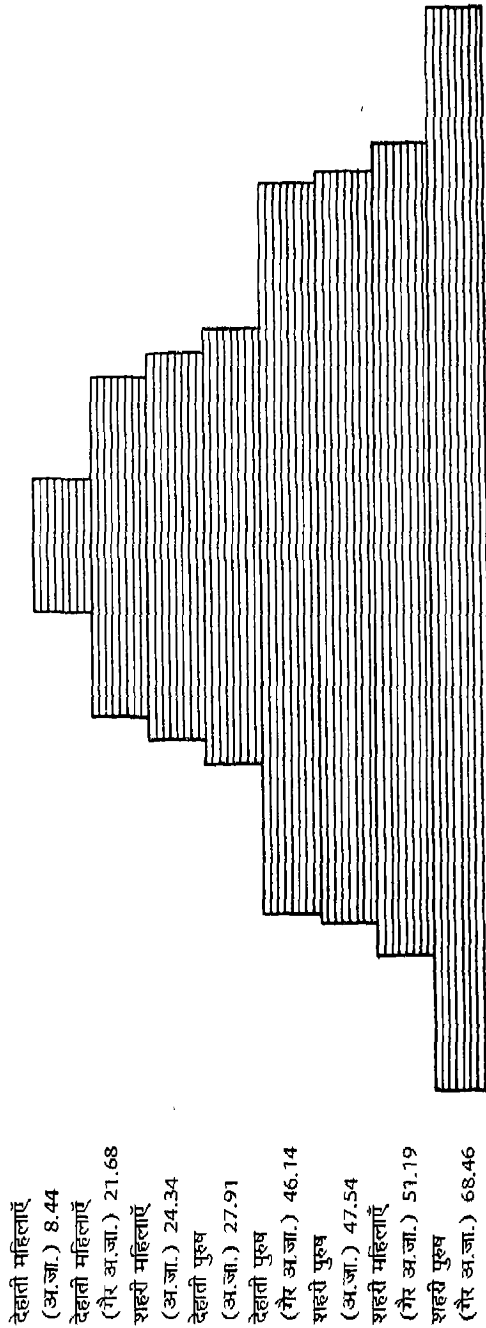
1981 के आँकड़ों के आधार पर यह देखा जा सकता है कि केरल के कोट्टयम जिले में गैर अनुसूचित जाति के शहरी पुरुषों की आबादी में साक्षरता की दर 10.33 प्रतिशत है जबकि राजस्थान के जैसलमेर जिले में अनुसूचित जाति की देहाती स्त्रियों की आबादी में साक्षरता की दर बहुत कम होकर 0.23 प्रतिशत है। साक्षरता की विभिन्न दरों में अनुरूप जिलों के संचित आवृत्ति वितरण का ब्यौरा तालिका 3 में दिया गया है और फिर चित्र 2 में दिखाया गया है। यह देखा गया है कि 211 जिलों में देहाती स्त्रियों में साक्षरता की दर 15 प्रतिशत से कम है जबकि किसी जिले मे पुरुषों में साक्षरता की दर 35 प्रतिशत से कम नहीं है। इसलिए, यह स्पष्ट है कि विभिन्न द्विपक्षीय तत्वों के बीच साक्षरता दरों की असमानताओं की पहचान, माप और व्याख्या इन असमानताओं को शून्य पर लाने के लिए नीति-निर्माण और कार्यक्रम बनाने के लिए पहले उपाय के रूप में आवश्यक है।

क्षेत्रीय असमानताएँ और आर्थिक आधार की विशेषताएँ

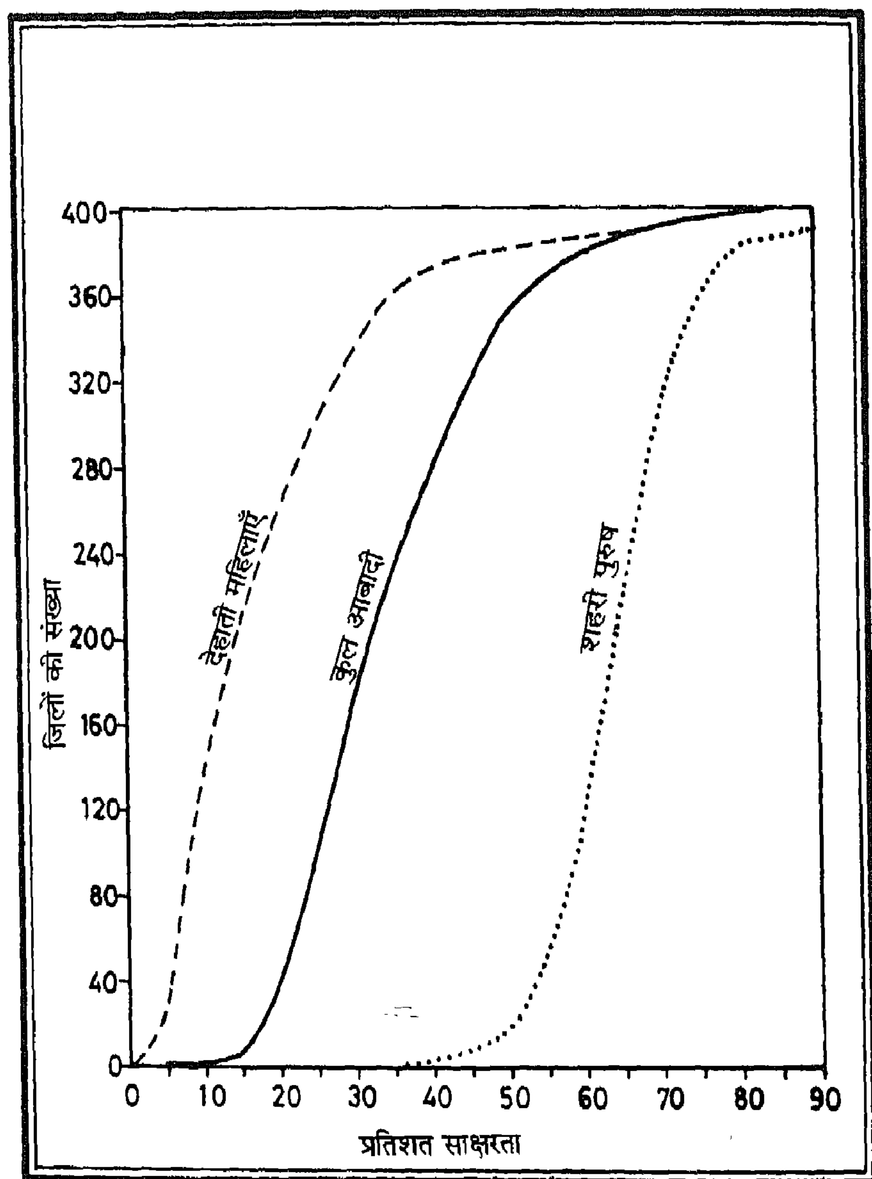
स्वतंत्र भारत में योजना का उद्देश्य यह रहा है कि विरासत में प्राप्त सामाजिक-आर्थिक संरचना को बदलने के लिए अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर सार्वजनिक धन का निवेश किया जाये। फिर भी, सुनियोजित विकास के 30 वर्षों के बाद भी अल्प विकसित अर्थ व्यवस्था के कई लक्षण आग्रहपूर्वक बने रहना चाहते हैं। इन संबंधों का सुव्यवस्थित अध्ययन न केवल शिक्षा के क्षेत्र में, क्षेत्रीय योजनाकारों के लिए बल्कि समग्र आर्थिक विकास के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह खासतौर से और भी आवश्यक है, जब हम यह मान लें कि शिक्षा विकास की प्रक्रिया से दो दिशाओं से जुड़ी हुई है। हम इस मामले में इन संबंधों के स्वरूप के बारे में कुछ प्रारंभिक खोज करेंगे। साक्षरता के स्तरों के साथ असमानता सूचकांकों और आर्थिक आधार के संकेतकों के संबंध को कुछ गहराई से विचार किया जायेगा। इनके पारस्परिक संबंधों के उद्‌गम के अध्ययन द्वारा इनके स्वरूप की प्रारंभिक खोज करने का प्रयास किया गया है जो तालिका 4 में प्रस्तुत है। इस तालिका के अध्ययन से कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त हुए हैं जो इस प्रकार हैं:—

1. यह स्पष्ट है कि साक्षरता का स्तर महत्वपूर्ण रूप से और नकारात्मक रूप से भी छः प्रकार के असमानता सूचकांकों से संबंधित है। नकारात्मक संबंध की दृष्टि से साक्षरता के निम्न स्तर वाले जिलों में असमानता या उसके विलोम के ऊँचे स्तर की प्रवृत्ति पाई जाती है। इन पारस्परिक संबंधों से आगे यह भी मालूम होता है कि भारतीय संदर्भ में शिक्षा का प्रसार असमानताओं मे कमी के अनुसार होता रहा है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि समानता और विकास में कोई विरोधाभास नहीं है। शिक्षा के विकास के मामले में मोटे तौर पर विकास और समानता का साहचर्य रहा है।

2. देश की आबादी में गाँवों की प्रमुखता होने से देहाती साक्षरता समग्र साक्षरता के स्तर पर भारी कुप्रभाव डालने वाले तत्व के रूप में उभरती है। कुल साक्षरता और देहाती साक्षरता का संबंधित गुणांक 0.843 है जबकि शहरी साक्षरता में यह 0.552 है। इसलिए भारतीय संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि देहाती क्षेत्रों में साक्षरता के प्रसार की धीमी रफ्तार के कारण कुल साक्षरता के प्रसार में अनिवार्यतः रुकावट पैदा हुई है।


साक्षरता में असमानताओं का पिरेमिड : भारत (1981)
देहाती महिलाएँ (अ.जा.) 8.44
देहाती महिलाएँ (गैर अ.जा.) 21.68
शहरी महिलाएँ (अ.जा.) 24.34
देहाती पुरुष (अ.जा.) 27.91
देहाती पुरुष (गैर अ.जा.) 46.14
शहरी पुरुष (अ.जा.) 47.54
शहरी महिलाएँ (गैर अ.जा.) 51.19
शहरी पुरुष (गैर अ.जा.) 68.46
अ.जा. : अनुसूचित जाति आबादी
गैर अ.जा. : गैर अनुसूचित जाति आबादी
NIEPA/PN Tyagi/05384

चित्र 1



चित्र 2

साक्षरता के स्तर : 1981
जिलों का संचयी वारम्वारता वितरण

तालिका 4
अन्तर सह सम्बन्ध तालिका

	X_1	X_2	X_3	X_4	X_5	X_6	X_7	X_8	X_9	X_{10}	X_{11}	X_{12}	X_{13}
X_1	1.000												
X_2	-.805	1 000											
X_3	-.744	.911	1.000										
X_4	-.622	.757	728	1.000									
X_5	-0.695	.519	.612	.498	1.000								
X_6	-667	.420	.400	.457	.957	1.000							
X_7	-718	.686	.816	.606	.934	856	1.000						
X_8	-.040	-003	-062	165	.008	-.0.37	-.0.52	1.000					
X_9	-.605	.526	.439	275	361	.324	389	-484	1.000				
X_{10}	.713	-.605	- 468	-.461	.422	- 399	-.0416	-.251	- 707	1 000			
X_{11}	.843	-.674	-.668	- 540	-.664	-635	-.697	.063	-.393	.398	1.000		
X_{12}	.552	-.455	-.392	-.236	.044	.034	-064	.002	- 290	316	.440	1.000	
X_{13}	.523	-449	-262	-215	240	-244	-200	-115	-622	771	0.96	.204	1.000

X_1 = कुल साक्षरता का प्रतिशत
X_2 = पुरुष महिला साक्षरता मे असमानता का सूचकांक
X_3 = देहाती (पुरुष महिला) साक्षरता मे असमानता का सूचकांक
X_4 = शहरी (पुरुष महिला) साक्षरता में असमानता का सूचकांक
X_5 = शहरी देहाती साक्षरता में असमानता का सूचकांक
X_6 = पुरुष (देहाती शहरी) साक्षरता में असमानता का सूचकांक
X_7 = महिला (देहाती शहरी) साक्षरता में असमानता का सूचकांक
X_8 = खेतिहर मज़दूरों का प्रतिशत
X_9 = खेतिहरों का प्रतिशत
X_{10} = अन्य मजदूरों का प्रतिशत
X_{11} = देहाती साक्षरता का प्रतिशत
X_{12} = शहरी साक्षरता का प्रतिशत
X_{13} = शहरी आबादी का प्रतिशत

3. किसी जिले के साक्षरता सूचकांक और उसके आर्थिक आधार के बीच भी निकट साहचर्य देखा गया है। तालिका 4 की जांच करने से यह मालूम होता है कि साक्षरता की दर और किसानों के अनुपात के बीच संबंधित गुणांक नकारात्मक और स्पष्टतया अधिक (-0.605) है। इस प्रकार जो जिले मुख्य रूप से खेती पर निर्भर हैं उनमें साक्षरता का स्तर नीचे है। इस

साक्ष्य से साफ दिखाई देता है कि कृषि क्षेत्र के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया और देहाती अर्थव्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए देहाती जनता में साक्षरता का महत्व अत्यधिक है।

4. प्राथमिक कामों और घरेलू उद्योगों के परम्परागत सम्मिश्रण से इतर नियोजित मजदूरों के अनुपात के बीच संबंधित गुणांक स्पष्ट और सकारात्मक रूप से एक ओर साक्षरता के स्तरों से और दूसरी ओर असमानता के विभिन्न तरीकों से नकारात्मक रूप से संबंधित है। निम्न तकनीकी उत्पादन प्रक्रिया का विरासत में प्राप्त आर्थिक आधार या तो सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न करने या समर्थ बनाने अथवा साक्षरता में वृद्धि करने या उसमें व्याप्त असमानताओं को कम करने में अक्षम है।

5. शहरीकरण का संबंध साक्षरता की दरों में वृद्धि और उसमें निहित असमानताओं में कमी करने से है। इसका श्रेय इस तथ्य को दिया जा सकता है कि साक्षर लोगों में देहातों से आकर शहरों में बसने और औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा के लिए सुविधाओं की व्यवस्था के प्रति बेहतर रुझान है। इन संबंधों की विशालता के सही स्वरूप के बारे में अधिक ब्यौरेवार जाँच की आवश्यकता है।

6. असमानताओं के विभिन्न सूचकांकों और देहाती साक्षरता के बीच संबंधित गुणांक का मूल्य शहरी साक्षरता के तदनुरूपी मूल्यों से अधिक है। इस विशेषता का कारण यह है कि सामाजिक असमानता खास तौर से जाति-पांति के भेद की तीव्रता और पुरुषों का प्रभुत्व शहरों की अपेक्षा ग्रामीण परम्परा में बहुत गहराई में संस्थापित है। उपर्युक्त से यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी जिले की साक्षरता के संकेतकों, असमानताओं और आर्थिक आधार की विशेषताओं में दृढ़ संबंध है और वे तात्विक रूप में परस्पर गुंथे हुए हैं। इन निष्कर्षों के आधार पर यह विचार किया गया कि अधिक गहराई में जांच करना वांछनीय है और सामान्य रेखीय प्रतिगामी विश्लेषण की सहायता से क्षेत्रीय असमानताओं और आर्थिक आधार के संकेतकों के बीच कारण संबंधों की जाँच की जाये। असमानता के सूचकांक और साक्षरता की दरे आश्रित समझी गयी हैं और आर्थिक आधार के संकेतक स्वतंत्र पाये गये हैं। इसी प्रकार साक्षरता दरों को स्वतंत्र और असमानता सूचकों को आश्रित परिवर्तन मानकर उनके कारण संबंधों की जांच की गयी है। इस विश्लेषण के मुख्य निष्कर्ष नीचे दिये जा रहे है —

साक्षरता, असमानताएं और आर्थिक आधारगत विशेषताएं

घरेलू उद्योग और खासतौर से आधुनिक उत्पादन के साथ साथ प्राथमिक उत्पादन के परम्परागत क्षेत्रों के अन्य कामों में लगे हुए मज़दूरों का प्रतिशत हिस्सा आर्थिक आधार संकेतक बनता है जो स्पष्ट रूप से सम्पूर्ण साक्षरता में परिवर्तन की व्याख्या करता है। यह आर्थिक गतिविधियों के गैर-प्राथमिक क्षेत्र की शक्ति है जो साक्षरता दर का मुख्य रूप से निर्धारण करती है। इसका अनुमानित प्रतिगामी समीकरण इस प्रकार है:

$$X_1 = 19.23 + 0.544\ X_{10} \quad R_2 = 0.509$$

ऊपर बताए गए समीकरण की कुल व्याख्यात्मक शक्ति लगभग 51 प्रतिशत है और प्रतिगामी गुणांक के घनात्मक संकेत से यह मालूम होता है कि साक्षरता के स्तर और अर्थ व्यवस्था के गैर प्राथमिक क्षेत्र में मज़दूरों का अनुपात एक ही दिशा में साथ-साथ होने पर भी अलग-अलग होता है। फिर भी यह उल्लेखनीय है कि साक्षरता और आर्थिक आधार का संबंध बहुत ही पेचीदा है। आखिरकार केवल साक्षरता ही अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में अपेक्षित सभी तकनीकी कौशल के लिए महत्वपूर्ण उपाय नहीं हो सकती। फिर भी, प्रतिगामी परिणामों से स्पष्ट

दिखाई देता है कि आधुनिक संगठित उत्पादन की प्रक्रिया और साक्षरता के स्तर के बीच आदान प्रदान का अंश काफी ऊँचा है। अतः जिला असमानताओं और जिले में साक्षरता के तदनुरूपी स्तरों की व्यापकता से संबंधित परिवर्तनों के बीच संबंधों के बारे मे इस विभाग मे जांच की गई है। वर्तमान विश्लेषण के प्रायोजन के लिए साक्षरता को स्वतंत्र और असमानता सूचकांकों को आश्रित परिवर्ती माना गया है। इस विश्लेषण के फलस्वरूप दो महत्वपूर्ण प्रतिगामी समीकरण प्राप्त हुए जिनसे सम्पूर्ण साक्षरता के स्तर के साथ पुरुष स्त्री और देहाती-शहरी असमानताओं के संबंधों का पता लगता है। अनुमानित प्रतिगामी समीकरण इस प्रकार हैः

$X_2 = 0.74997 - 0.010\ X_1\ R^2 = 0.648$

$X_3 = 0.64229 - 0.009\ X_1\ R^2 = 0.484$

यह उल्लेखनीय है कि इन समीकरणों में प्रतिगामी गुणांक नकारात्मक है। यह इंगित करता है कि पुरुष, स्त्री और देहाती शहरी दोनों ही असमानताओं का स्वरूप अनिवार्यतः एक ही तरह का है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि साक्षरता दरें और असमानता के सूचकांक हमेशा सकारात्मक मूल्यों को ग्रहण करते हैं इसलिए, साक्षरता के ऊँचे स्तर वाले जिले में असमानता की दर निम्न होती जाती है। दूसरे शब्दों में इसे यों कहा जा सकता है कि नया लाभ मुख्य रूप से समाज के निम्न स्तर वाले व्यक्तियों को मिलेगा क्योंकि अन्य लोगों ने साक्षरता की ऊँची दरें पहले के चरणों में ही प्राप्त कर ली थीं।

दोनों समीकरणों में प्रतिगामी गुणांकों के नकारात्मक मूल्यों को देखते हुए समग्र साक्षरता का विवेचनात्मक मूल्य निकालना संभव हो सका है जबकि पुरुष स्त्री एवं देहाती-शहरी साक्षरता दरों की रुझान शून्य की ओर अभिमुख हैं। यह निम्न प्रतिगामी समीकरण से स्पष्ट है जिससे मालूम होता है कि देहाती और साक्षरता में वृद्धि के साथ पुरूष स्त्री असमानता में महत्वपूर्ण गिरावट आई है।

$X_2 = 0.65293 - 0.009\ X_{11}\ R^2 = 0.454$

$X_2 = 0.70538 - 0.006\ X_{12}\ R^2 = 0.207$

यह जानकारी रोचक लगती है कि जब देहाती साक्षरता 72.5 प्रतिशत तक पहुँचती है तो पुरुष और स्त्री असमानता कम होकर शून्य पर पहुँच जाती है लेकिन शहरी साक्षरता 100 प्रतिशत पर पहुँच जाने पर भी असमानता का हठ अपनी पकड़ नहीं छोड़ता इससे स्पष्ट इंगित होता है कि पुरुषों और स्त्रियों की अन्तः क्षेत्रीय असमानताओं को घटाकर शून्य स्तर तक लाने में देहाती साक्षरता का महत्व सापेक्ष है। इन परिणामों का विश्लेषण करते समय एक महत्वपूर्ण तथ्य यह निकलता है कि ये परिणाम किसी क्षेत्र के आर पार के आँकड़ों से प्राप्त होते हैं लेकिन परियोजना के प्रयोजनों के लिए इनका उपयोग सीमित होता है। इन सीमाओं के बावजूद इन समीकरणों से साक्षरता के रुझान की पकड़ हो जाती है।

पूर्ववर्ती परिणामों से स्पष्ट मालूम हो जाता है कि असमानताओं के व्यापक अस्तित्व के कारण देश के विभिन्न जिलों के ओर छोर में साक्षरता के प्रसार में रुकावटें आती रही हैं। इसी संदर्भ में विकासशील अर्थ व्यवस्था में विकास की व्यूह रचना करने में समानता के साथ-साथ प्रसार की अवधारणा को अपेक्षाकृत अधिक महत्व प्राप्त हो गया है। भारतीय संदर्भ मे समानता के साथ विकास के उद्देश्यों का अनिवार्य अर्थ यह होगा कि स्त्रियों और वह भी खास तौर से देहाती इलाकों में तथा समाज के उपेक्षित वर्गों की शिक्षा के लिए कारगर योजनाएँ बनाई जायें।

अल्पविकास का दुश्चक्र

असमानताओं और आर्थिक आधार सूचकों तथा साथ ही साक्षरता और आर्थिक आधार के सूचकों के बीच तथा उनके परस्पर अन्तरसंबंधों के स्वरूप का अध्ययन करने की दृष्टि से जिलेवार आंकड़ों के विश्लेषण के लिए सामान्यीकृत प्रतिगामी विश्लेषण पद्धति का उपयोग किया गया है। इस विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि किसी क्षेत्र का आर्थिक आधार वहां के साक्षरता के स्तरों से प्रमुख रूप से संबंधित है जो स्वयं अपने क्रम से साक्षरता की दरों में असमानताओं के विभिन्न खंडों से जुड़ा हुआ है। उनमें से कुछ महत्वपूर्ण परिणाम इस प्रकार हैं:—

$X_1 = 15.35 + 0.572\ X_{10} + 0.145\ X_8$ $\quad R^2 = 0.53$

$X_2 = 0.48973 - 0.004\ X_{13}$ $\quad R^2 = 0.20$

$X_2 = 0\ 61788 - 0.006\ X_{10}$ $\quad R^2 = 0.37$

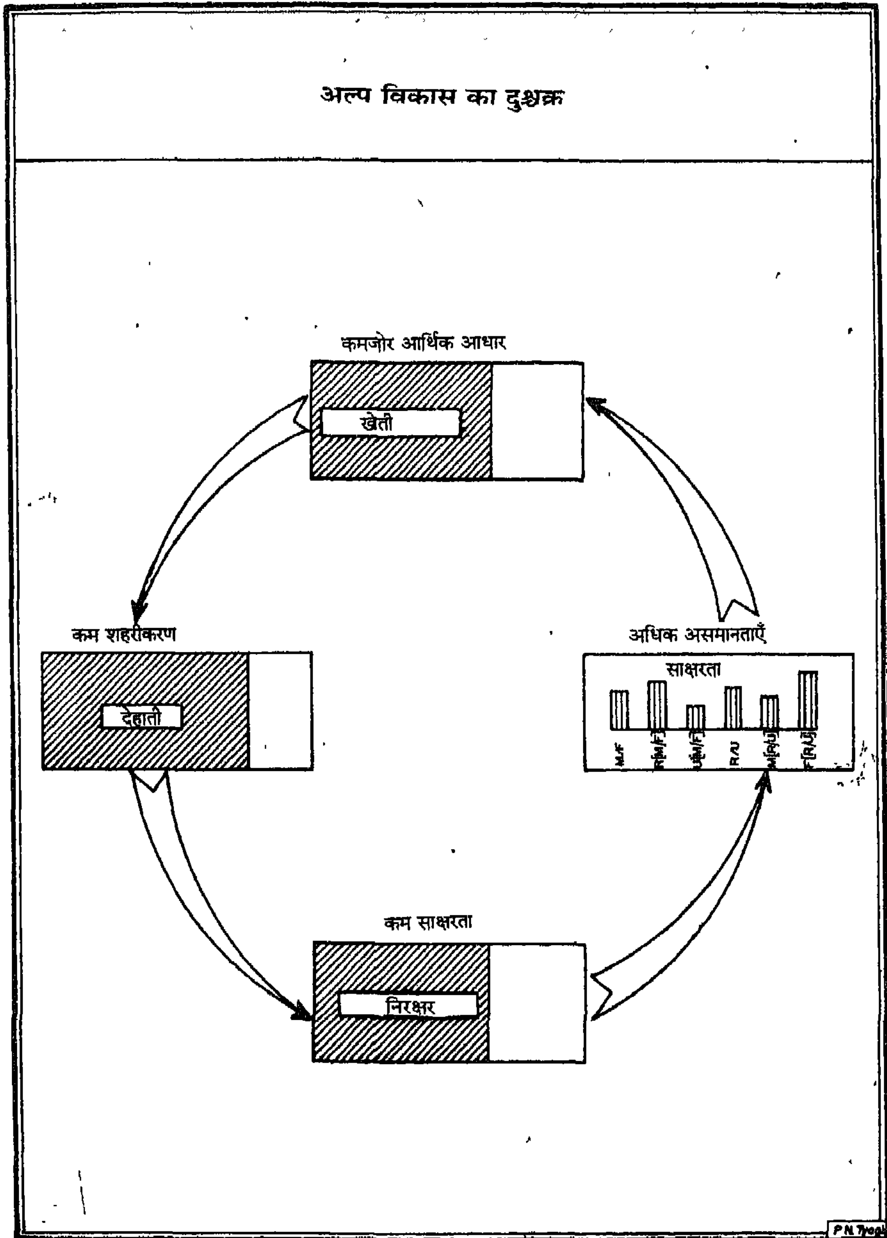
$X_{13} = 49\ 39 - 0.460\ X_8 - 0.542\ X_9 + 0.212\ X_{10}$ $\quad R^2 = 0.61$

ऊपर प्रस्तुत प्रतिगामी परिणामों से इस सिद्धांत की पुष्टि के लिए पर्याप्त प्रमाण मिल जाते हैं कि सामाजिक आधुनिकीकरण और अर्थव्यवस्था में परिवर्तन (गैर प्राथमिक गतिविधियों) के साथ साक्षरता की दरों में वृद्धि होती है जिसके फलस्वरूप बहुमंजिले शैक्षिक पिरामिड के आधार स्तर पर असमानताएँ कम होने लगती हैं।

प्रतिगामी परिणामों से यह भी मालूम होता है कि शहरीकरण जिले के आर्थिक आधार की विशेषताओं का मिला-जुला परिणाम होता है। इस मामले मे R^2 का मूल्य .61 है। प्रतिगामी समीकरण की परीक्षा से मालूम होता है कि शहरीकरण प्रक्रिया के साथ-साथ अर्थव्यवस्था में भी आधुनिकीकरण और औद्योगीकरण चलता रहता है। यहाँ इस बात का उल्लेख भी किया जा सकता है कि किसी जिले के आर्थिक आधार से संबंधित तीन परिवर्तनकारी तत्व (अर्थात् X_8, X_9, X_{10}) कुल मजदूरों की संख्या नहीं दे सकते। हमने घेरलू नौकरों को इस क्षेत्र के पृथक घटक के रूप में विचार नहीं किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अन्तर क्षेत्रीय असमानताओं का दुराग्रह और सामाजिक आर्थिक संरचना का विभाजन दोनों ही परस्पर तात्विक रूप से गुँथे हुए है। उपर्युक्त प्रतिगामी परिणामों से आगे यह भी मालूम होता है कि कुछ सीमा तक इससे पुरुष-महिला असमानताएँ कम करने मे भी सहायता मिलती है।

असमानताओं और साक्षरता दरों के माध्यम से प्राप्त आर्थिक आधार की विशेषताओं और शैक्षिक विकास के सूचकांकों के बीच अंतर्संबंधों से उभरने वाले स्थूल ढाँचे को देखने के बाद अब हम अपने विश्लेषण में एक कदम और आगे बढ़ते हैं और अल्प विकास के कुचक्र के नमूने का प्रस्ताव करते हैं जिसमें भारतीय अर्थव्यवस्था की क्षेत्रीय संरचना के आधारभूत तत्वों और उनकी विशेषताओं को शामिल करते हैं जो विकास प्रक्रिया में तीस वर्षों के सुनियोजित विकास के बाद भी बाधा डालती हैं। अल्पविकास का यह दुश्चक्र चित्र सं० 3 में प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रस्तावित नमूनें की ठोस परीक्षा से मालूम होता है कि भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रमुख रूप से कृषि पर आधारित होने की दृष्टि से आबादी का बहुत बड़ा भाग देहाती क्षेत्रों में रहता है जिसका निर्माण बस्तियों की प्रणाली में श्रेणीबद्ध रूप में होता है। देहाती शहरी मिली-जुली पृष्ठभूमि में वह विरासत में मिली बस्तियों की कुछ विकृतियों का आभास देते हैं जो बाद में अपने क्रम में


अल्प विकास का दुश्चक्र
कमजोर आर्थिक आधार
खेती
कम शहरीकरण
देहाती
अधिक असमानताएँ
साक्षरता
M/F
R[M/F]
U[M/F]
R/U
M[R/U]
F[R/U]
कम साक्षरता
निरक्षर

चित्र 3

देहाती और शहरी क्षेत्रों की असमानताओं से संबंधित है। यह सब अल्प विकास के स्थानिक संगठन की अस्थिरता के माध्यम से होता है। आर्थिक आयाम एक अत्यंत अलग क्षेत्र में रूपान्तरित हो जाता है जिसके फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों और साथ ही विभिन्न समुदायों में असंतुलन और असमानताएँ उभर आती हैं। यह कार्य प्रणाली विकासशील अर्थव्यवस्था मे खासतौर से बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि भारी असमानताओं और क्षेत्रीय असंतुलन के कारण अवरोध पैदा हो जाता है और वह स्वयं निम्न औद्योगीकरण और निम्न शहरीकरण से अवरुद्ध हो जाती है जिससे पहले तो एक निर्बल अपर्याप्त और विकृत गैर-प्राथमिक क्षेत्र बन जाता है और दूसरे एक प्राथमिक क्षेत्र बनता है जिसकी विशेषता है कम उत्पादन और आम जनता की घोर दरिद्रता। अतएव, भारत में शिक्षा में पिछड़ेपन का कारण अनिवार्य रूप से इसके आर्थिक आधार की अपर्याप्तता और अस्थिरता में बद्धमूल है जो अपने क्रम से औपनिवेशिक काल की व्यवस्था में व्याप्त विकृतियों की हठवादिता और वर्तमान विकास योजनाओं की सीमाओं के कारण पिछड़ेपन की स्थिति में है।

साक्षरता के प्रसार की प्रक्रिया में उलझनों को सुलझाने की दृष्टि से पूर्ववर्ती विश्लेषण साक्षरता के प्रादेशिक वितरण में उसके एकीकरण माप और असमानताओं की व्याख्या से अनिवार्य रूप से संबंधित था। यह विश्लेषण 1981 वर्ष के लिए साक्षरता के जिलेवार आँकड़ों पर आधारित था और इसके लिए साक्षरता दरों और आर्थिक आधार की असमानताओं से उसके संबंधों के विश्लेषण का प्रयास किया गया। पूर्ववर्ती-विचार विमर्श से हम निर्मलिखित निष्कर्ष निकाल सकते है :—

साक्षरता का निम्न स्तर बने रहने, खासकर देहाती क्षेत्रों में, और असमानताओं के ऊँचे स्तर के कारण सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा का लक्ष्य प्राप्त करने में आंशिक असफलता दिखाई देती है और वर्तमान व्यवस्था के बजाय मौलिक रूप से बिल्कुल अलग ढंग से संसाधनों के वितरण की आवश्यकता का तकाजा करती है।

जिन क्षेत्रों में उनकी साक्षरता के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए विशेष उपचारात्मक कार्रवाई की जानी है, उनका पता लगाने की दृष्टि से इस अध्ययन से उन जिलों का पता लगाया गया है जिनमे साक्षरता के स्तर क़ी मात्रा अलग-अलग है। इस विश्लेषण से यह मालूम हुआ है कि भारत के आधे से अधिक जिलों में साक्षरता का निम्न स्तर बना हुआ है।

आकस्मिक संबंधों की इस जाँच से इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है कि किसी क्षेत्र के आर्थिक आधार का साक्षरता के प्रसार पर सुदृढ़ प्रभाव पड़ता है और शहरीकरण तथा औद्योगीकरण की प्रक्रिया से साक्षरता के स्तर और साक्षरों के वितरण में असमानताओं पर बहुत प्रभाव पड़ता है। अल्प विकास के दुश्चक्र में ये विशेषतायें विद्यमान हैं।

वर्तमान अध्ययन के निष्कर्षों से शिक्षा नीति पर गम्भीर फलितार्थ निकलते हैं और शिक्षा के विकास के लिए अलग नीति की आवश्यकता की ओर स्पष्ट संकेत देते हैं। विश्लेषण से इस तथ्य पर ज़ोर दिया गया है कि प्रोत्साहनों की किसी भारतीय नीति से वांछित फल नहीं मिलेंगे क्योंकि असमानताओं की समस्यायें परस्पर निर्भरता की क्षेत्रीय उपप्रणालियों में बद्धमूल हैं, इसलिए केवल क्षेत्रीय ढाँचे में ही उनका सही विश्लेषण किया जा सकता है और उन्हें कम से कम करने का उपचारात्मक उपाय भी क्षेत्रीय आधार पर कारगर ढंग से किया जा सकता है। यह उल्लेख करते हुए हैरत होती है कि पिछले तीन दशकों में शिक्षा के विकास के लिए अपनाये गये सुनियोजित उपाय समग्र विश्लेषण के परिणामों पर आधारित थे और ऐसी नीति या कार्रवाई के लिए गम्भीर प्रयास नहीं किया गया जो किसी विशेष क्षेत्र के लिए उपयुक्त होता और जो किसी

औपचारिक या अनौपचारिक शिक्षा की योजना के लिए अलग-अलग उपायों का आश्रय लेता और विविध संचार माध्यमों का उचित प्रयोग करके प्राथमिक शिक्षा को सर्वसुलभ करने का लक्ष्य प्राप्त करता। इसी प्रकार उदाहरण के लिए यदि किसी जिले में अनुसूचित जाति या देहाती जनता की आबादी घनी है और दूसरी ओर किसी जिले में गैर अनुसूचित जाति या शहरी आबादी का जमावड़ा है तो दोनों के लिए अलग-अलग प्रोत्साहन नीति, स्कूली मैप, तकनीक, अध्यापकों की नियुक्ति और छात्रावासों की व्यवस्था की दरकार दूसरी तरह की होगी। शिक्षा की केवल ऐसी प्रणाली ही जो उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप और उनके पर्यावरण में समन्वित हो, उनके शैक्षिक विकास में व्याप्त असमानताओं की समस्या संतोषप्रद ढंग से हल कर सकती है।

विनायक गोपाल कुलकर्णी

शैक्षिक अवसरों की समानता



विनायक गोपाल कुलकर्णी

विनायक गोपाल कुलकर्णी *(जन्म 1932)* *ने नाभिकीय भौतिकी और सॉलिड स्टेट भौतिकी मे शोध कार्य किया है। बंबई, पूना और मदुरै विश्वविद्यालयों की अनेक समितियों के सदस्य; महाराष्ट्र विज्ञान अकादमी के संस्थापक फेलो; पुणे के भारतीय शिक्षा संस्थान के अवैतनिक प्रोफ़ेसर; मराठी विज्ञान परिषद् के उपाध्यक्ष आदि के रूप में देश की अनेक शैक्षिक संस्थाओं से ये जुड़े रहे हैं। महाराष्ट्र के पाठ्य पुस्तक उत्पादन ब्यूरो; अहमदाबाद के स्पेस एप्लीकेशंस सेटर जैसे अन्य संगठनों से भी ये संबद्ध रहे हैं। बंबई के टाटा इंस्टीच्यूट ऑफ़ फंडामेंटल रिसर्च के होमी भाभा सेंटर फॉर साइंस एजुकेशन के ये निदेशक हैं। सामाजिक-आर्थिक रूप से वंचित छात्रों के शैक्षिक निष्पादन को सुधारने, शिक्षा का सार्वजनीकरण करने, शिक्षा में आधुनिक माध्यमों एवं कम्प्यूटरों का प्रयोग करने में इनकी गहरी रुचि है। वैज्ञानिक पत्र-पत्रिकाओं में सॉलिड स्टेट भौतिकी और नाभिकीय भौतिकी से संबंधित इनके लिखे लगभग पचास शोध पत्र छप चुके हैं। 1985 में जी.डी. पारेख मेमोरियल अवार्ड भी इन्हें मिला है।*

शैक्षिक अवसरों की समानता

सामाजिक-सांस्कृतिक गतिशीलता के प्रमुख संचालक के रूप में शिक्षा की भूमिका उस समय बहुत स्पष्ट होती है जब समाज औद्योगीकरण के मार्ग पर अग्रसर होता है। स्वतंत्रता के तुरन्त बाद ही भारत ने अपने को आधुनिक औद्योगिक राष्ट्र बनाने का निर्णय लिया और समाज के सभी वर्गों को शिक्षित करने की आवश्यकता का अनुभव किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विज्ञान और प्रौद्योगिकी के सबल घटक के साथ शिक्षा का रूप-निर्माण करना होता है अर्थात् जनसंख्या को मानव-शक्ति के रूप मे बदलना होता है। यह कार्य आसान नहीं था, क्योंकि भारत ने निर्णय करने का सहभागी तरीका अर्थात् संसदीय जनतंत्र अपनाया और अवसरों की समानता तथा धर्म निरपेक्षता में अपना विश्वास घोषित किया।

पहला कार्य ऐसी अशिक्षित जनसंख्या के विशाल बहुमत के लिए शिक्षा को सुलभ बनाना था, जिसे अभी तक औपचारिक शिक्षा के लिए कभी अवसर नहीं मिला था। शिक्षा के सार्वजनीकरण के लिए एक वृहत् आधारिक संरचना के निर्माण की आवश्यकता थी ताकि बच्चे आसानी से स्कूल जा सकें। भारत के लोगों को इस बात का श्रेय मिलना चाहिए कि आधारिक संरचना का कार्य बहुत कुछ पूरा कर लिया गया है।[1] संख्या की दृष्टि से यह सचमुच एक उपलब्धि थी। पर शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है, यह टीका (वैक्सीनेशन) लगाने के समान नहीं है। इसके लिए केवल भौतिक सुविधा जुटाना ही पर्याप्त नहीं है। उन परिवारो से, जो शिक्षा की औपचारिक धारा से परंपरागत रूप से अलग रख दिए गए हैं, यह आशा नहीं की जा सकती कि उनके स्थानीय क्षेत्र में स्कूल का भवन बन जाने मात्र से शिक्षा का लाभ वे उठाने लगेंगे। शिक्षा की संपूर्ण प्रक्रिया को इस दृष्टि से महसूस करना चाहिए कि वह किसी को आगे बढ़ाने व पैसा दिलाने में कितनी उपयोगी है और उसकी सामाजिक-आर्थिक भूमिका क्या है? दूसरे शब्दों मे शैक्षिक अवसरो की समानता का अभिप्राय केवल स्कूल का प्रवेश द्वार खोल देने से ही सिद्ध नहीं होता। समानता तभी सिद्ध होगी जब प्रत्येक प्रवेशार्थी विद्यालय की गतिविधियों से लाभ उठाने के लिए साधन संपन्न हो, केवल विषय-ज्ञान की दृष्टि से ही नहीं, वरन् उसमें अपनी पूर्ण संभाव्य क्षमता को विकसित करने की जागरूकता भी हो। इन तत्वों तथा घोर निर्धनता के कारण ही शिक्षा की विशाल आधारिक संरचना के बावजूद शिक्षा के सार्वजनीकरण का लक्ष्य पूरा नहीं हो सका। वस्तुतः उन सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा-वैज्ञानिक और भाषिक तत्वों की पहिचान के लिए गंभीर शोध और विकास की आवश्यकता है, जिनके कारण पहली पीढ़ी के शिक्षार्थी विद्यालयी शिक्षा नहीं ग्रहण कर पाते। उन कारणों के निराकरण के लिए हमे उपचारी तरीके सोचने चाहिए।

---

[1] *फोर्थ आल इंडिया सर्वे, एन. सी. ई. आर. टी., चैलेंज ऑफ एजुकेशन—ए पॉलिसी पर्सपेक्टिव, शिक्षा मंत्रालय, नई दिल्ली।*

सार्वजनीकरण में बाधाएँ

प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण की समस्या सचमुच बड़ी कठिन है। प्राइमरी शिक्षा को निःशुल्क बनाना, शिक्षा के अन्य व्यय कम करना, यथासंभव सभी प्रोत्साहन प्रदान करना आदि तरीकों का विद्यालय के प्रथम दो वर्षों मे शिक्षा से विरत हो जाने वाले छात्रों की विशाल संख्या पर नगण्य सा प्रभाव पड़ता है। विद्यालय खोलने के सर्वोत्तम प्रयास किए गए हैं, फिर भी बच्चे इसे क्यों छोड़ देते हैं?

बड़े पैमाने पर शिक्षा प्रसार के फलस्वरूप समाज के सभी वर्गों से विद्यार्थी विद्यालय में प्रवेश चाहते हैं। अतः इन विद्यार्थियों में बड़ी भिन्नता पाई जाती है, जैसे— घर मे मिली पूर्व विद्यालयी शिक्षा, भाषिक विकास और विद्यालय से अपेक्षित ज्ञान की जानकारी। अधिकांश, माता-पिता को इस बात की बड़ी धुंधली सी धारणा होती है कि विद्यालयी गतिविधि से उनके बच्चे किस प्रकार अधिक संपन्न जीवन के लिए तैयार किए जाते हैं। शिक्षक इस बदलती हुई स्थिति के प्रति अभी संवेदनशील नहीं हैं और अपनी युगों पुरानी शैली से ही निर्धारित पाठ्यपुस्तकें पढ़ाने की कोशिश वे करते हैं और ऐसी परीक्षा लेते है जिसे वे अच्छा समझते है। परिणाम सरल और पूर्वानुमेय है। बाहृय स्वरूप में अनेक परिवर्तनों के बावजूद इस प्रणाली से निकला हुआ व्यक्ति अपनी मुखाकृति खो चुका होता है।

क्या शिक्षक को छात्रों की बदलती हुई आवश्यकताओं के प्रति अभिज्ञ बनाना संभव है, और क्या इस प्रयास से सामान्य कक्षा-शिक्षण के वातावरण में विशेष परिवर्तन लाया जा सकता है? इस समस्या के अध्ययन का अवसर *साने गुरुजी विद्या प्रबोधिनी, खिरोद* के सहयोग से एच.बी.सी.एस.ई. द्वारा जलगांव जिले में खिरोद के आस-पास एक दर्जन गाँवों मे ली गई *पाठ्यक्रम विकास परियोजना* के अंतर्गत प्राप्त हुआ था।[2] शिक्षक की योग्यताएं, विद्यालयों की निर्धनता, पाठ्यपुस्तकों की प्रकृति, परीक्षा प्रणाली आदि पैरामीटरों को निष्क्रिय पैरामीटर मान लिया गया था, और कोशिश की गई थी कि शिक्षक पहली पीढ़ी के शिक्षार्थियों की समस्याओं से अभिज्ञ हों और उन्हें इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए उपचारी तरीके बताए जाएँ। उदाहरण के लिए शिक्षकों को निर्देश दिया गया कि वे छात्रों को पूरे वाक्य में बोलने की शिक्षा देने का स्वैच्छिक प्रयास करें और फिर छात्रों द्वारा दो वस्तुओं अथवा दो घटनाओं अथवा दो प्रक्रियाओं की तुलना कराने के लिए प्रत्येक अवसर का उपयोग करे ताकि वे दो संयोजकों जैसे— यदि, तब, तथापि, यद्यपि, क्योंकि आदि का भली-भांति प्रयोग करने लगें। विज्ञान-शिक्षण में शिक्षकों को पाठ्यपुस्तकों के आधार पर परिचर्चा करने और उन्हें ग्रामीण बच्चों के दैनिक जीवन से संबद्ध करने के लिए प्रशिक्षित किया गया।

इस परियोजना का एक दूसरा पक्ष भी था, जिसे हम आँखों से ओझल नहीं कर सकते थे। परंपरागत शिक्षार्थी को एक *अपेक्षित* उत्तर का कुछ बोध होता है और उसमें सुष्ठु पुस्तकीय भाषा में अपना उत्तर व्यक्त करने की योग्यता होती है। अन्य शिक्षार्थियों द्वारा सही तथा सम्यक् उत्तर देने पर भी वे स्वीकार्य नहीं होते। इन छात्रों को बौद्धिक संतुष्टि से वंचित करने के अतिरिक्त *पिछड़े* की संज्ञा प्रदान की जाती है, जब कि परंपरागत शिक्षार्थी के तोता रटंत किताबी जवाब के बावजूद उसे 'मेधावी' (गलत रूप से) की संज्ञा दी जाती है। शिक्षकों को इस स्थिति से संवेदनशील और आगाह कर दिया गया था और उनसे पहली पीढ़ी के शिक्षार्थियों पर कुछ भिन्न

[2] वी.जी. कुलकर्णी *प्रॉब्लम्स ऑफ फर्स्ट जेनेरेशन लर्नर्स*, प्रोसीडिंग्स ऑफ दि खिरोद कांफ्रेंस, एच.बी.सी.एस.ई. *(1979)*।

प्रकार से ध्यान देने के लिए अनुरोध किया गया था।

शिक्षकों को अभिज्ञ बनाना

पूरी कहानी कहना यहाँ अप्रासंगिक होगा। तथापि मैं यह उल्लेख करना चाहूँगा कि इन प्रेक्षणों को परिमाणबद्ध करने का प्रयास किया गया (विशेष उपकरण विकसित किए गए और उनका क्षेत्र-परीक्षण किया गया) और परियोजना का सुव्यवस्थित तथा परिमाणात्मक मूल्यांकन भी किया गया। [3,4,5] नीचे दिए गए ग्राफ से पता चलता है कि प्रयोक्ता समूह ने उसी क्षेत्र में समान नियंत्रण समूह की तुलना में कहाँ तक प्रगति की है? प्रयोग से स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि शिक्षकों को पहली पीढ़ी के शिक्षार्थियों की समस्या के प्रति अभिज्ञ और संवेदनशील बनाना अत्यंत महत्वपूर्ण है और समुचित प्रयत्नों द्वारा शिक्षण-अधिगम प्रणाली में प्रभावपूर्ण परिवर्तन लाना संभव है।

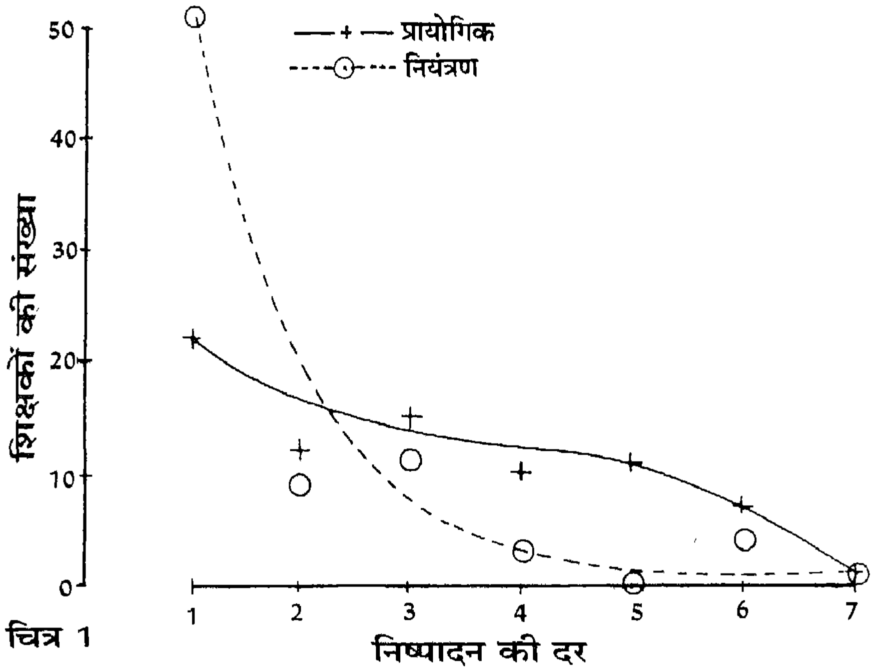
भाषा-व्यवधान

खिरोद परियोजना में संप्रेषण-कौशल के रूप में भाषा-विकास का महत्व स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया गया। आगे इस पक्ष पर पुनः विचार किया जाएगा। तथापि इस पक्ष का महत्व तथा भाषा-व्यवधान के प्रति संभ्रांत लोगों में संवेदना का पूर्ण अभाव एच. बी. सी. एस. ई. द्वारा आयोजित दूसरी परियोजना में निदर्शित हुआ है।[6] प्रारंभिक अध्ययन से पता चलता है कि उस मराठी भाषा का स्तर, जिसमें कक्षा 5,6,7 की सामान्य विज्ञान की पाठ्यपुस्तकें लिखी गई थीं, इन कक्षाओं के लिए निर्धारित भाषा की पाठ्यपुस्तकों के स्तर से ऊँचा था। यह भी देखा गया कि अनावश्यक जटिल भाषा के कारण संप्रत्यय-निर्माण में काफी बाधा पड़ती थी। महाराष्ट्र के चार जिलों में आयोजित एक प्रमुख परियोजना से भी पता चला कि अभिव्यक्ति की भाषा के सरलीकरण से अधिकांश बच्चों के प्राप्तांकों में सुधार हुआ। (देखिए रेखाचित्र 6)

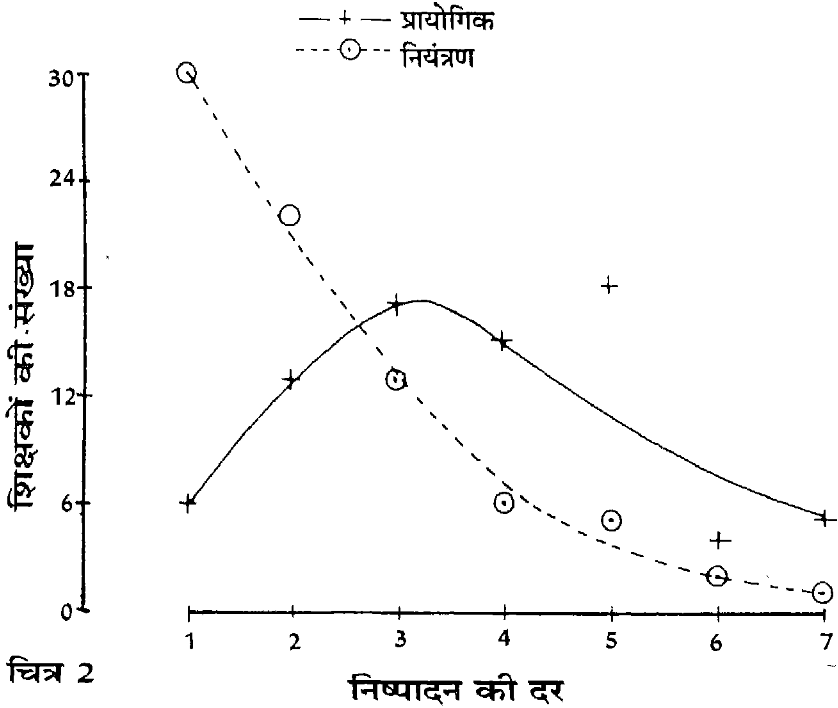
ग्रेटर बंबई के म्यूनिसिपल कारपोरेशन तथा महाराष्ट्र सरकार के ब्यूरो ऑफ टेक्स्टबुक प्रोडक्शन के सहयोग से एक वृहत् परियोजना शुरू की गई। सामान्य विज्ञान की पाठ्यपुस्तकें पुनः सरल भाषा में लिखी गईं। यह उल्लेखनीय है कि पारिभाषिक शब्दों को जो निश्चय ही संस्कृत मूल के हैं, नहीं बदला गया। चित्र, दृष्टांत तथा विषय-सामग्री प्रत्येक पृष्ठ पर यथावत् रखे गए। केवल अभिव्यक्ति की भाषा बदली गई। अंग्रेजी का एक दृष्टांत लें *दि इंपॉर्टेंस ऑफ दि फैक्टर कैन नॉट बी ओवर एस्टिमेटेड* को बदलकर लिखा गया— *दिस फैक्टर इज़ इंपॅार्टेण्ट*। सभी अनावश्यक दोहरे निषेधात्मक वाक्यों, कर्म वाक्यों, अस्पष्ट संरचनाओं, लंबे वाक्यों आदि को पुनः अधिक सरल रूप में लिखा गया।

इस प्रयोग में बिना किसी अन्य निविष्टि के पाठ्यपुस्तक की सरलीकृत भाषा के प्रभाव का अध्ययन किया गया। भाषा की दृष्टि से सरलीकृत पुस्तकों को बम्बई म्यूनिसिपल कारपोरेशन के 29 मिडिल स्कूलों में निर्धारित किया गया, जबकि अन्य 30 मिडिल स्कूल उसी स्थान पर

3. वी. जी. कुलकर्णी एवं जे. रामदास, *न्यू टूल्स फॉर दि एवैलुएशन ऑफ साइंस एजुकेशन,* प्रोग्राम्स एंड एवैलुएशन ऑफ दि खिरोद प्रोजेक्ट—प्रोसीडिंग्स ऑफ दि खिरोद कांफ्रेंस, एच. बी. सी. एस. ई
4. वी. जी. कुलकर्णी, *साइंस एजुकेशन फॉर ह्यूमन रिसोर्सेज डेवेलपमेंट,* कॉमर्स एनुअल नंबर (1978)।
5. जे. रामदास तथा वी. जी. कुलकर्णी, *प्यूपिल पार्टीसिपेशन एंड करीक्यूलम रेलिवैंस,* जर्नल ऑफ रिसर्च इन साइंस टीचिंग (1982)।
6. वी. जी. कुलकर्णी एवं बी. जी. गंभीर, *दि इफेक्ट ऑफ लैंगुएज बैरियर ऑन दि यूनिवर्सलाइज़ेशन ऑफ एजुकेशन,* इंडियन एजुकेशनल रिव्यू, (जनवरी 1981)।

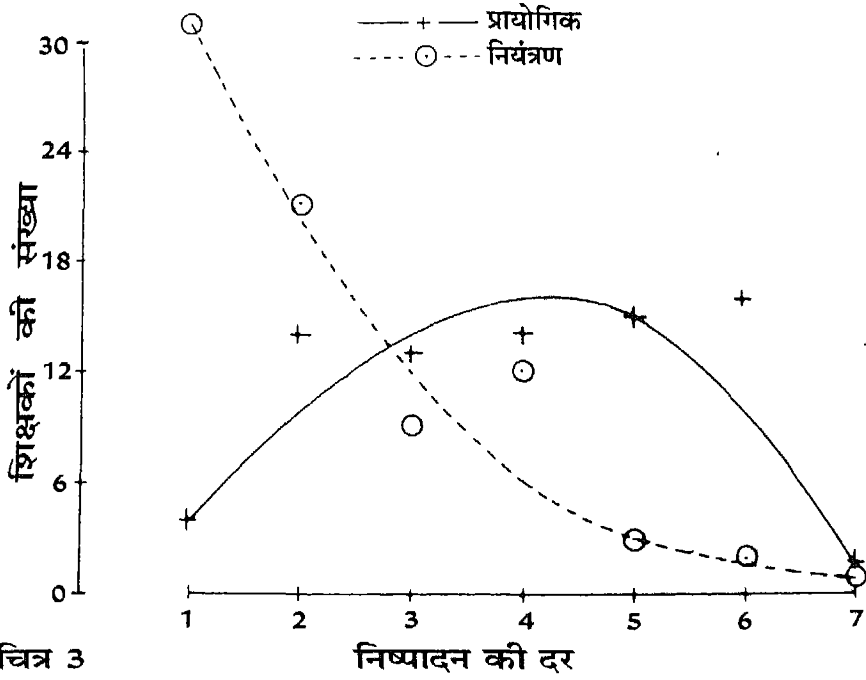

छात्रों के भाषा विकास की चिन्ता
प्रायोगिक
नियंत्रण
शिक्षकों की संख्या
50
40
30
20
10
0
1
2
3
4
5
6
7
निष्पादन की दर

चित्र 1


छात्रों की प्रतिक्रिया का निरूपण
प्रायोगिक
नियंत्रण
शिक्षकों की संख्या
30
24
18
12
6
0
1
2
3
4
5
6
7
निष्पादन की दर

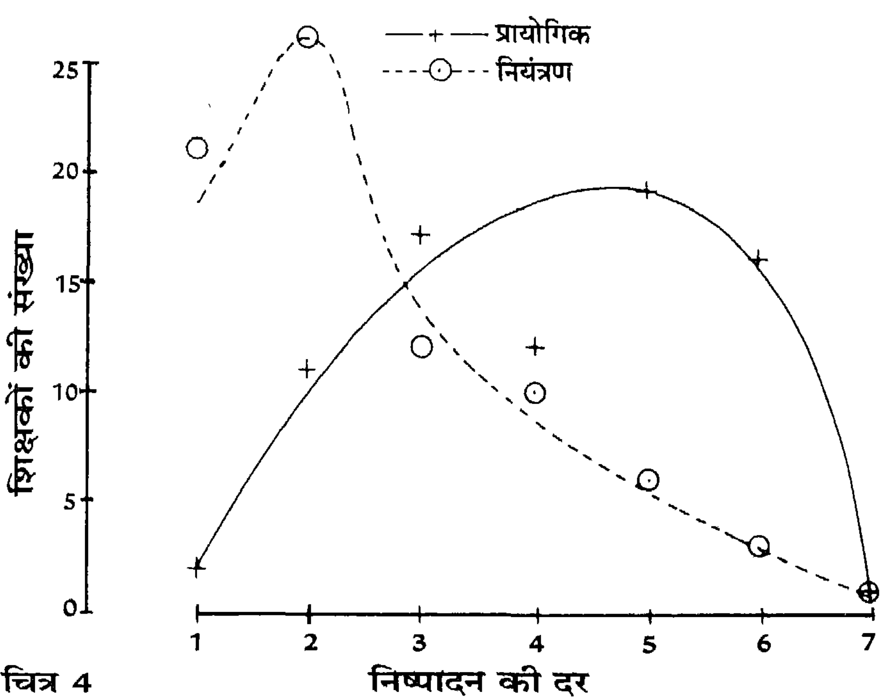
चित्र 2

प्रश्न प्रणाली



चित्र 3

छात्र प्रतिभागिता के अवसर



चित्र 4

नियंत्रण स्कूल के रूप में कार्य करते रहे। कोई शिक्षक प्रशिक्षण नहीं किया गया। यह देखा गया कि कारपोरेशन द्वारा ली गई सभी परीक्षाओं में प्रयोक्ता समूह के विद्यार्थियों का निष्पादन नियंत्रण समूह की अपेक्षा उच्च कोटि का था। संप्रत्यय निर्माण संबंधी विशेष परीक्षणों में यह अंतर और भी अधिक पाया गया। इससे भी अधिक महत्व की बात यह थी कि भाषा की दृष्टि से सरल पाठ्यपुस्तकों का प्रयोग करने वाले शिक्षक कक्षा में अधिक सरल भाषा का प्रयोग करते थे और वे शिक्षक-शिक्षार्थी अंतःक्रिया कहीं अधिक उद्भावित करते थे।

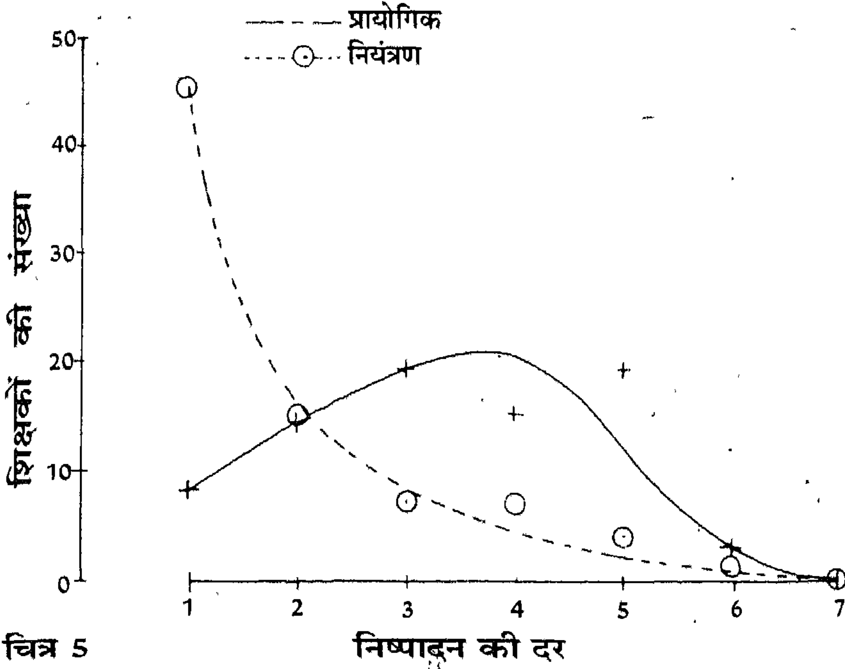
इस संबंध में एक दूसरी उपलब्धि विशेष उल्लेखनीय है। यह विदित है कि छात्रों के निष्पादन को प्रभावित करने वाले सभी तत्वों में घर की पृष्ठभूमि सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। अतः यह परिणाम आश्चर्यजनक नहीं है कि निम्न मध्यम श्रेणी के विद्यार्थियों का निष्पादन औद्योगिक गंदी बस्तियों से आने वाले विद्यार्थियों के निष्पादन की अपेक्षा अधिक अच्छा था (सभी विद्यार्थी कारपोरेशन स्कूलों के थे)। भाषिक दृष्टि से सरल रूप वाली पुस्तकें विद्यार्थियों के लिए भिन्न प्रकार से लाभदायक होती हैं और घर की पृष्ठभूमि के अंतराल की क्षति पूरी करती हैं (देखिए रेखाचित्र 7)। अनावश्यक, असंगत और जटिल संरचनाओं को हटाकर विषय-प्रतिपादन की भाषा का सरलीकरण एक सहज उपचारी उपाय है जिसमें कोई खर्च नहीं आता और जो प्रभावपूर्ण भी है। इसमें शिक्षक-प्रशिक्षण की भी जरूरत नहीं। आशा है शिक्षा-प्रणाली में ऐसे नवप्रवर्तनों के प्रति उदासीनता नहीं बरती जाएगी।[7,8]

अनुसूचित जातियों के लिए उपचारी उपाय

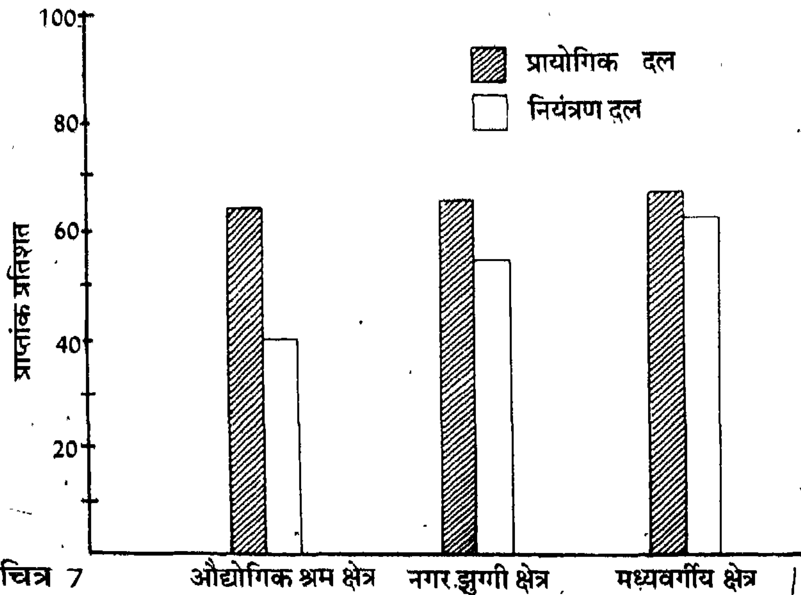
अनुसूचित जातियों की दुर्दशा सामाजिक वंचना के सबसे गर्हित रूप का उदाहरण है। यद्यपि कानून द्वारा अस्पृश्यता का निवारण किया जा चुका है किन्तु समानता अभी स्वप्न की बात है। शैक्षिक अवसरों की समानता प्रदान करने की दिशा में अनेक कदम, जैसे उच्च शैक्षिक संस्थाओं और व्यावसायिक पाठ्यक्रमों (इंजीनियरिंग और आयुर्विज्ञान) में स्थानों का आरक्षण आदि उठाए गए हैं। यह विदित है कि इन पाठ्यक्रमों में प्रविष्ट अनुसूचित जाति के अधिकतर विद्यार्थी इन्हें पूरा करने में असमर्थ सिद्ध होते हैं, और जो किसी प्रकार पूरा कर भी लेते हैं वे बहुत अधिक समय लगाते हैं। आई. आई. टी. जैसी संस्थाओं में प्रवेश के समय अनुसूचित जाति के विद्यार्थियों के लिए उपचारी शिक्षण की व्यवस्था की जाती है ताकि उनकी वास्तविक योग्यता और इस पाठ्यक्रम के लिए अपेक्षित योग्यता का अंतराल पूरा किया जा सके। इस स्थिति का यह संक्षिप्त विवरण अत्युक्ति नहीं है कि इन सभी उपायों से समस्याएँ सुलझने की अपेक्षा और भी अधिक बढ़ी हैं और अनुसूचित जाति के विद्यार्थियों तथा सवर्ण विद्यार्थियों (जो अनुभव करते हैं कि योग्यता के आधार पर वे अपने अधिकार से वंचित किए गए हैं।) दोनों में ही सामान्य असंतोष बढ़ता जा रहा है। परंपरागत सर्वेक्षणों तथा परीक्षणों से संभवतः पता चलेगा कि वंचित वर्ग के छात्रों की उपलब्धि अन्य छात्रों की तुलना में निम्न स्तर की होती है। प्रश्न यह है कि इस सामाजिक वंचन की क्षतिपूर्ति के लिए क्या प्रभावपूर्ण उपचारी तरीके अपनाए जा सकते हैं?

एच. बी. सी. एस. ई. विगत पाँच वर्षों से इस क्षेत्र में प्रयोग कर रहा है।[9,10] कक्षा 8 से

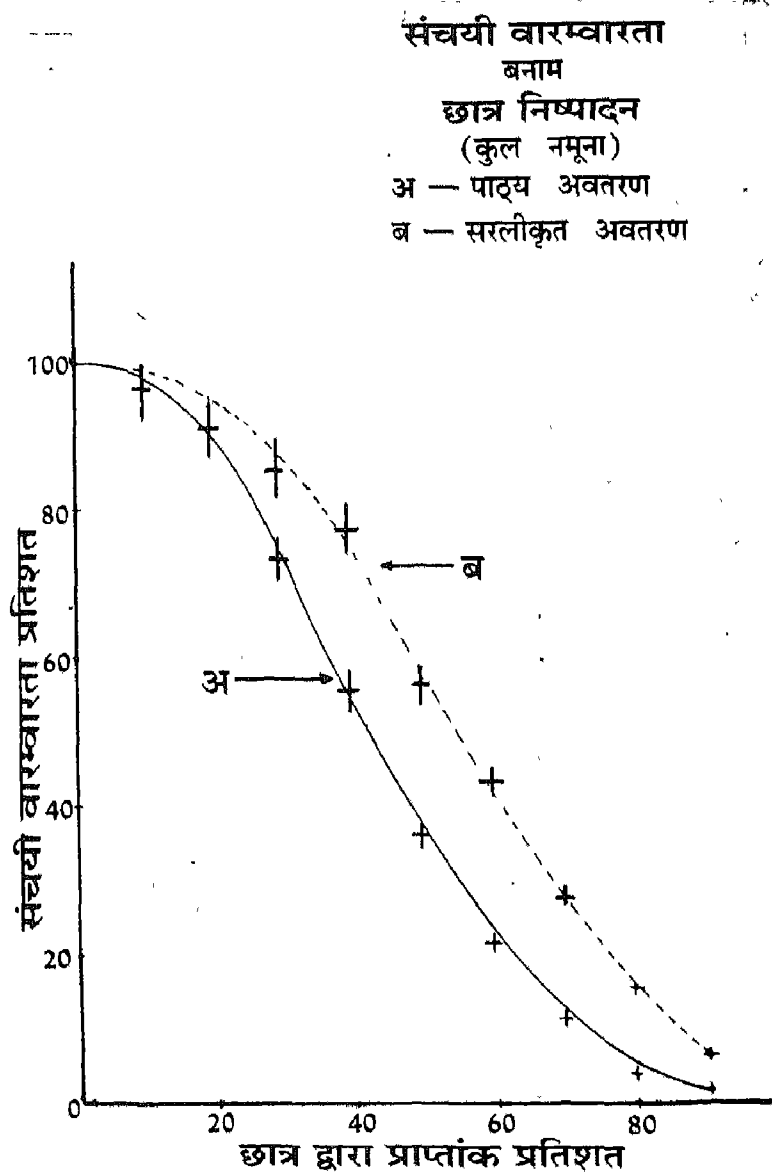
7. बी.जी गंभीर, *दि इफेक्ट आफ लैंगुएज बैरियर ऑन साइंस एजुकेशन*, टेक्नीकल रिपोर्ट 5, एच.बी.सी.एस.ई., (*1984*)।
8. वी.जी. कुलकर्णी, *आल्टरनेटिव्ज़ इन एजुकेशन*, मैन एंड डेवेलपमैंट, मार्च 1985।
9. वी.जी. कुलकर्णी एव एस.सी. अगरकार, *टैलेंट सर्च एंड नर्चर एमंग दि अंडरप्रिविलेज्ड*, एच.बी.सी.एस.ई., (अक्तूबर 1985)।
10. वी जी. कुलकर्णी, *हू सेज साइंस इज़ डिफिकल्ट*, साइंस एज (अक्तूबर-नवम्बर 1983)।


पाठ के प्रति छात्र का योगदान
प्रायोगिक
नियंत्रण
50
40
30
20
10
0
शिक्षकों की संख्या
1
2
3
4
5
6
7
निष्पादन की दर

चित्र 5


छात्र निष्पादन में अंतर : माध्य प्राप्तांक
100
80
60
40
20
प्राप्तांक प्रतिशत
प्रायोगिक दल
नियंत्रण दल
औद्योगिक श्रम क्षेत्र
नगर झुग्गी क्षेत्र
मध्यवर्गीय क्षेत्र

चित्र 7


संचयी वारम्वारता
बनाम
छात्र निष्पादन
(कुल नमूना)
अ — पाठ्य अवतरण
ब — सरलीकृत अवतरण
संचयी वारम्वारता प्रतिशत
100
80
60
40
20
0
20
40
60
80
ब
अ
छात्र द्वारा प्राप्तांक प्रतिशत

चित्र 6

आगे माध्यमिक विद्यालयी स्तर पर प्रयोग करने का निश्चय किया गया था। 1980 में अनुसूचित जाति के 40 विद्यार्थियों का दल चुना गया। ये विद्यार्थी बंबई म्यूनिसिपल कारपोरेशन के माध्यमिक स्कूलों में कक्षा 8 में पढ़ रहे थे। इनका चयन विशेष प्रकार से निर्मित शैक्षिक अभिरुचि परीक्षण में उनकी उपलब्धि के आधार पर किया गया था। तदुपरांत अगले वर्षों में और दल भी शामिल किए गए। दूसरे वर्ष से अनुसूचित जाति के 40 छात्रों का समान नियंत्रण-समूह भी तुलना के लिए चुना गया। ये चुने गए विद्यार्थी शनिवार का अपराह्न एच. बी. सी. एस. ई. प्रयोगशाला में बिताते थे। यह प्रयोगशाला नाना चौक म्यूनिसिपल माध्यमिक विद्यालय, ग्रांट रोड पर स्थित है। यहाँ उन छात्रों को उपचारी शिक्षण प्रदान किया जाता था। यह मानते हुए कि एक शैक्षिक वर्ष में 30 सप्ताह मिलते हैं, इन परियोजना छात्रों को पढ़ाने के लिए प्रतिवर्ष केवल 100 घंटे ही एच. बी. सी. एस. ई. के वैज्ञानिकों को मिलता था। इस अवधि में विद्यार्थियों को भौतिक विज्ञान, रसायन, जीवविज्ञान, बीजगणित, रेखागणित और अंग्रेजी के लिए औपचारिक शिक्षण प्रदान किया जाता था, अर्थात प्रति विषय केवल 16 घंटे मिलते थे। इस अल्प अवधि में निश्चित ही कुछ अधिक नहीं पढ़ाया जा सकता था।

अतः एक दूसरा नमूना आजमाया गया। यह मान लिया गया कि ये विद्यार्थी अन्य विद्यार्थियों के समान स्तर के हैं और विद्यालय में सफलता प्राप्त करने की क्षमता उनमें है। प्रयोग पर आधारित यह तथ्य कि वे सफल नहीं हो रहे हैं, इसका कारण संप्रत्यय निर्माण में कोई कृत्रिम व्यवधान माना गया। इन व्यवधानों को जानने का प्रयास किया गया ताकि उन्हें दूर करने के लिए विशेष उपचारी उपायों का निरूपण किया जा सके। यह भी माना गया कि यदि एक बार ये व्यवधान हटा दिए जाते हैं तो विद्यार्थियों की नैसर्गिक क्षमता के अनुरूप सामान्य प्रगति अपने आप होने लगेगी।

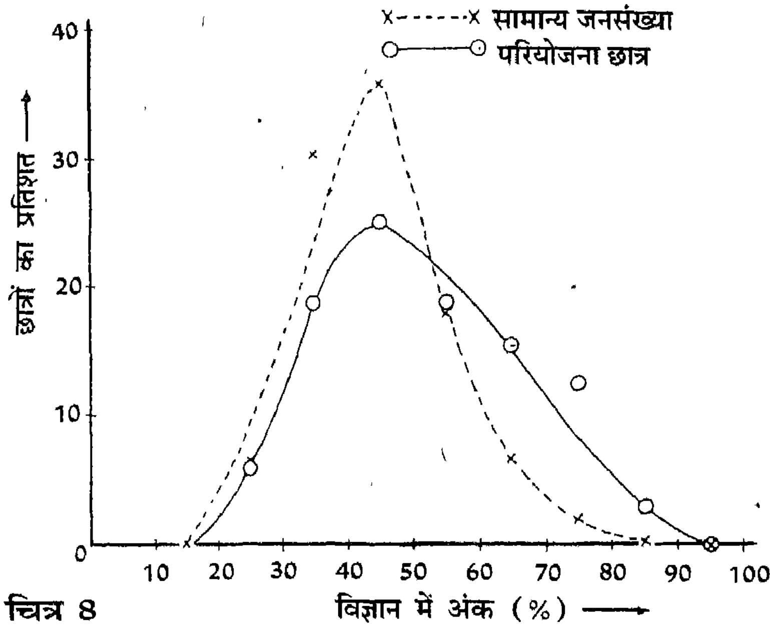
> यह नमूना सफल रहा। आगे के ग्राफों से यह कहानी स्पष्ट हो जाती है। चयन के समय चुने गए अनुसूचित जाति के विद्यार्थियों की कारपोरेशन के माध्यमिक विद्यालयों में पढ़ने वाले सामान्य विद्यार्थी समुदाय से कोई पृथक पहिचान नहीं थी। तीन वर्ष बाद परियोजना छात्रों का निष्पादन सामान्य छात्र समुदाय की तुलना में स्पष्टतः श्रेष्ठ था। दूसरे दल के लिए भी यही कहानी दुहराई गई। चयन के समय नियंत्रण-संमूह प्रायोगिक समूह के समान था। ग्राफ से यह देखा जा सकता है कि जब प्रायोगिक समूह की सतत और सुसंगत प्रगति होती रही तो नियंत्रण समूह की प्रगति धीमी होती गई। अब यह स्पष्ट है कि उपचारी तरीके सफल हुए।

संक्षिप्त रिपोर्ट में इन उपचारी तरीकों का विस्तृत सूक्ष्म वर्णन संभव नहीं है। इसका वर्णन काफी विस्तार के साथ एच. बी. सी. एस. ई. द्वारा प्रकाशित पुस्तक *टैलेंट सर्च एण्ड नर्चर एमंग दि अंडरप्रिविलेज्ड* में किया गया है।[11] तथापि इन उपचारी तरीकों की प्रकृति को निदर्शित करने वाली कुछ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है।

1. *शब्दावली:* अनेक सर्वेक्षणों से पता चलता है कि निर्धन पृष्ठभूमि से आने वाले छात्रों की शब्द-संपदा बहुत कम होती है। भारत में अधिकांश छात्रों को द्वितीय भाषा के रूप में अंग्रेजी पढ़ाई जाती है, पर वह घर पर शायद ही कभी बोली जाती है। तब कुछ छात्रों की सक्रिय शब्दावली क्यों कम होनी चाहिए जबकि विद्यालय में कक्षा के सभी छात्रों

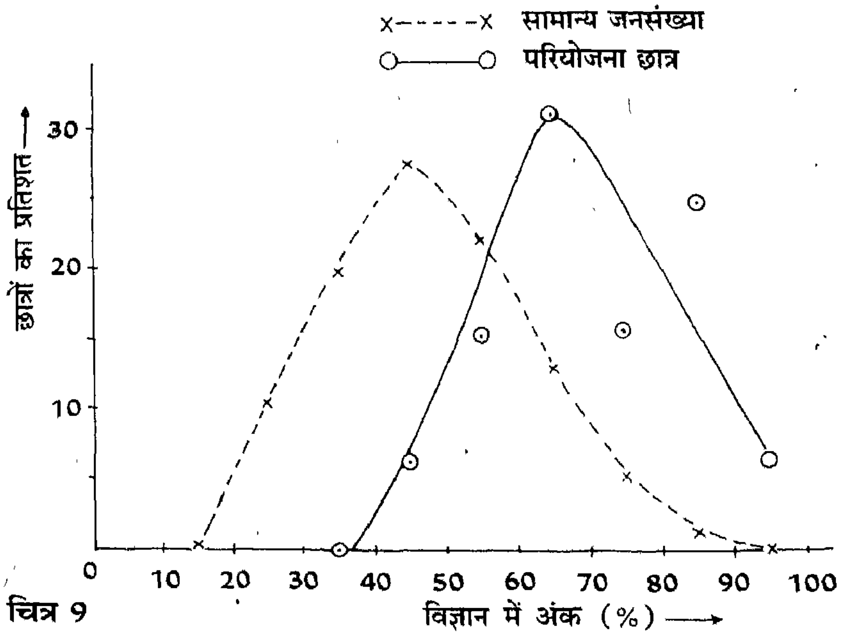
11. वी. जी. कुलकर्णी तथा एस. सी. अगरकार, *टैलैंट सर्च एंड नर्चर एमंग दि अंडरप्रिविलेज्ड*, एच. बी. सी. एस. ई., (अक्तूबर, 1985)।

निष्पादन का पार्श्व चित्र (कक्षा VII)
विज्ञान

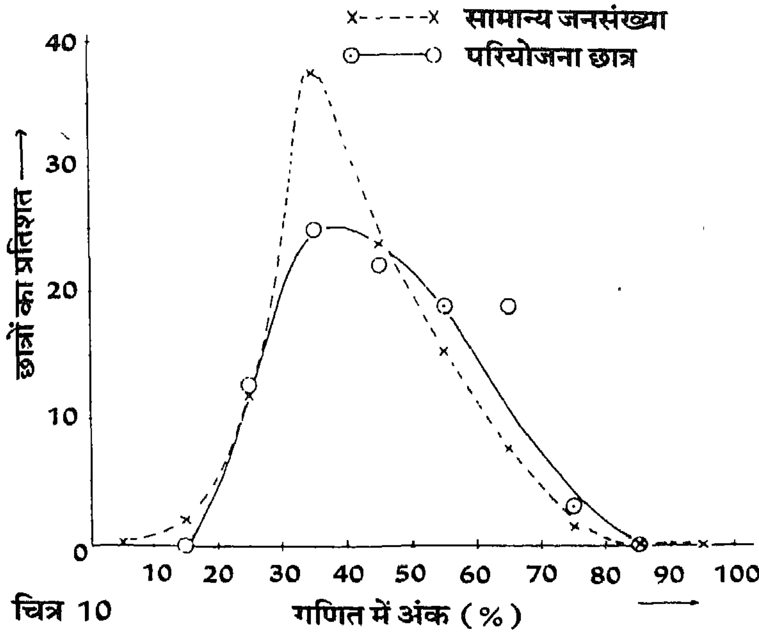


चित्र 8

निष्पादन का पार्श्वचित्र (एस. एस. सी.)
विज्ञान

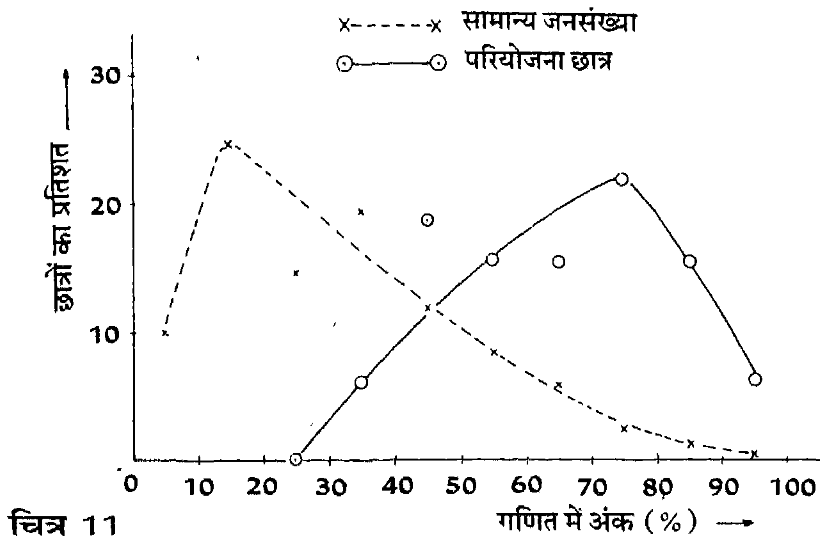


चित्र 9



निष्पादन का पार्श्वचित्र (कक्षा VII)
गणित
X-----X सामान्य जनसंख्या
⊙——⊙ परियोजना छात्र
छात्रों का प्रतिशत
0
10
20
30
40
10 20 30 40 50 60 70 80 90 100
गणित में अंक (%)

चित्र 10



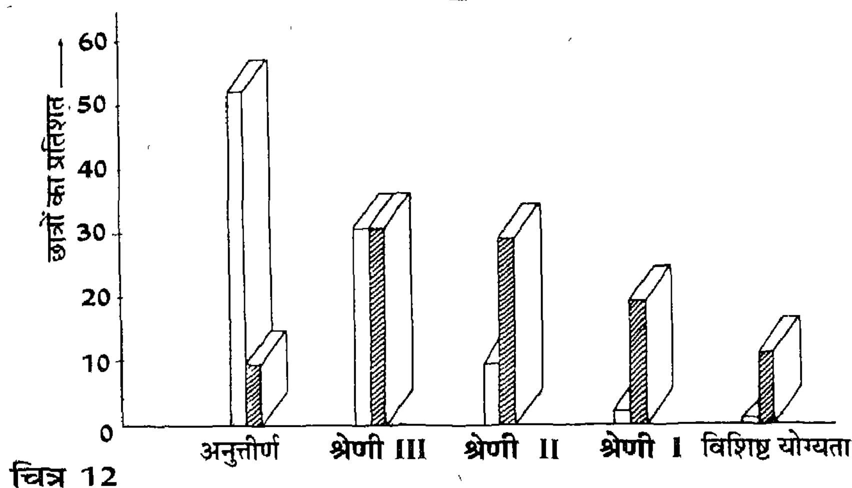
निष्पादन का पार्श्व चित्र (एस.एस.सी.)
गणित
X-----X सामान्य जनसंख्या
⊙——⊙ परियोजना छात्र
छात्रों का प्रतिशत
10
20
30
0 10 20 30 40 50 60 70 80 90 100
गणित में अंक (%)

चित्र 11

निष्पादन का पार्श्वचित्र (एस.एस.सी.)
अंग्रेजी

 सामान्य जनसंख्या

 परियोजना छात्र

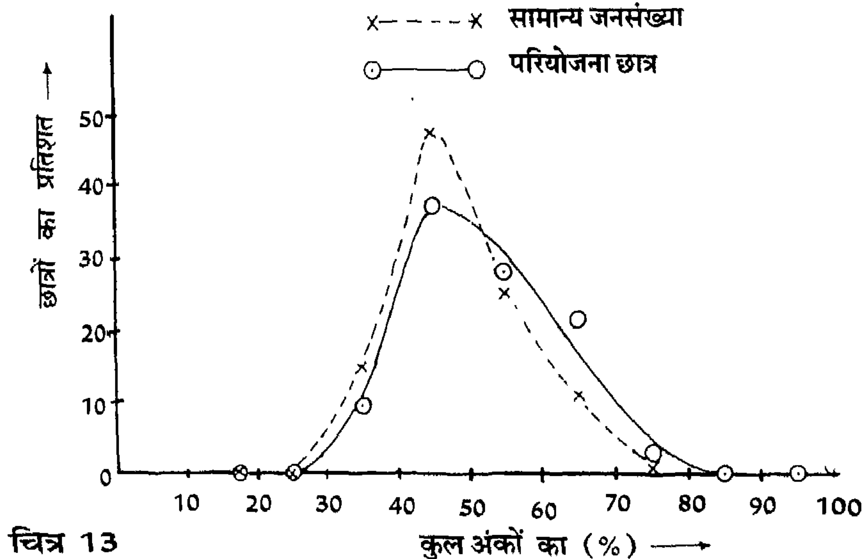


चित्र 12

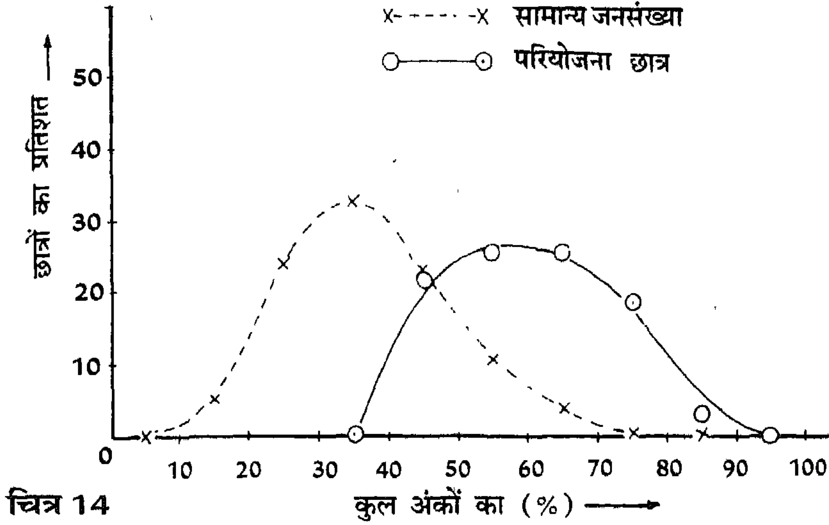
निष्पादन का पार्श्व चित्र (कक्षा VII)
कुल अंक

 सामान्य जनसंख्या

 परियोजना छात्र

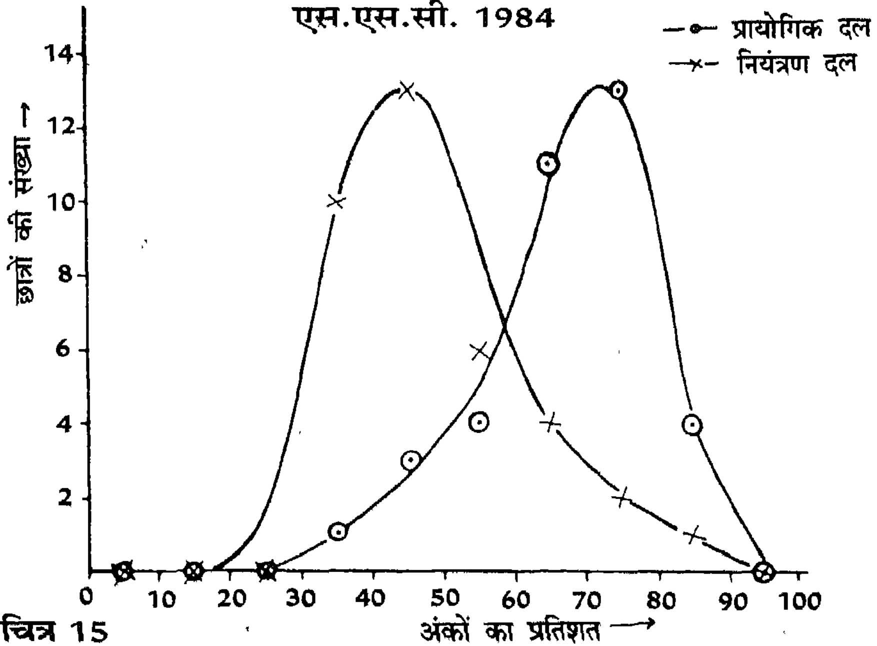


चित्र 13



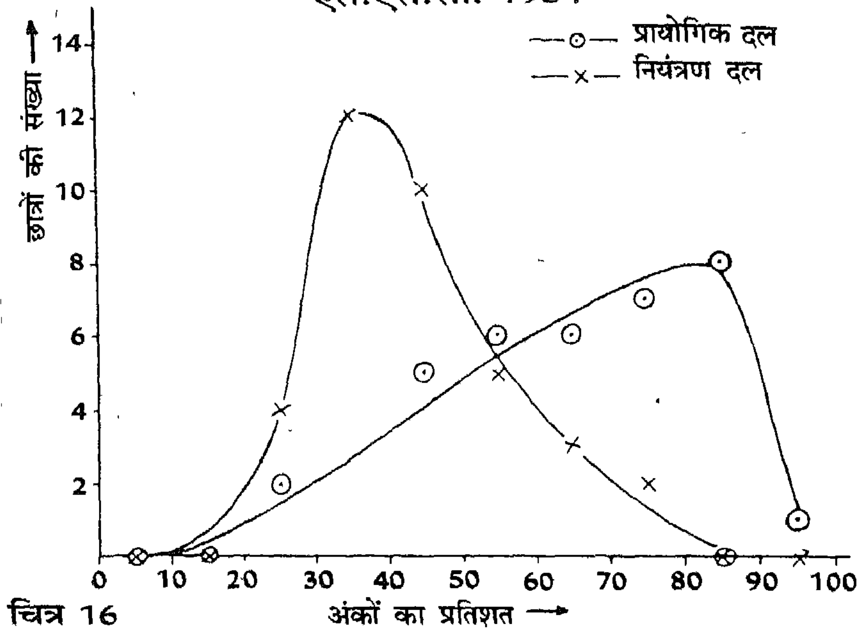
निष्पादन का पार्श्वचित्र (एस.एस.सी.)
कुल अंक
x- - - - -x सामान्य जनसंख्या
o——o परियोजना छात्र
छात्रों का प्रतिशत →
50
40
30
20
10
0
10 20 30 40 50 60 70 80 90 100
कुल अंकों का (%) →

चित्र 14

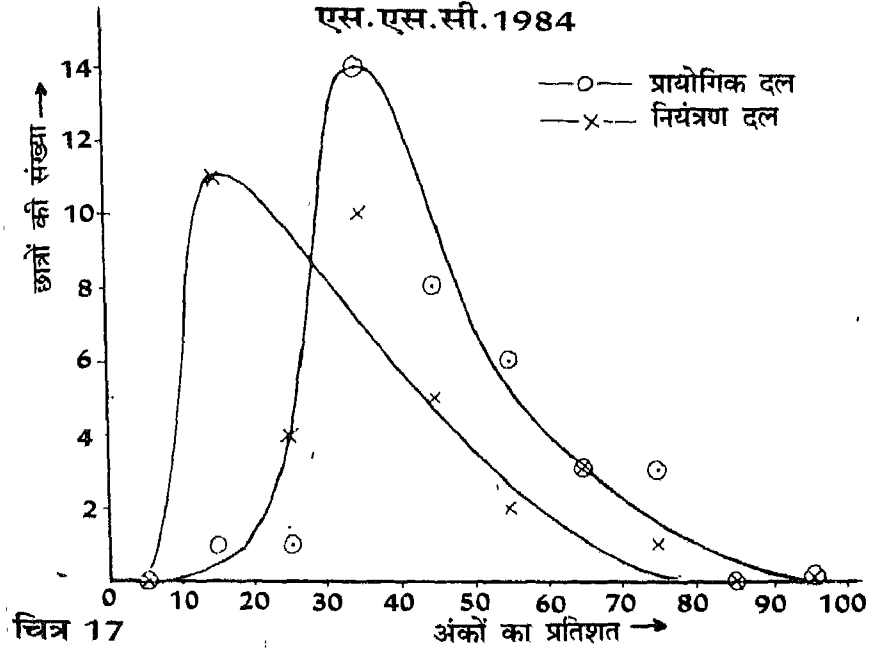


विज्ञान के लिए निष्पादन का पार्श्वचित्र
एस.एस.सी. 1984
—o— प्रायोगिक दल
—x— नियंत्रण दल
छात्रों की संख्या →
14
12
10
8
6
4
2
0 10 20 30 40 50 60 70 80 90 100
अंकों का प्रतिशत →

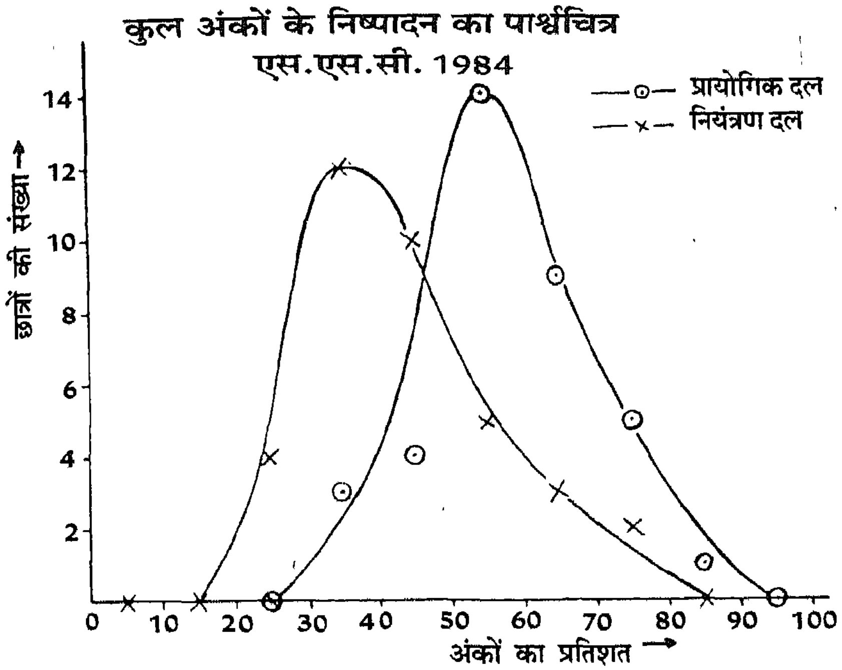
चित्र 15


गणित के लिए निष्पादन का पार्श्वचित्र
एस.एस.सी. 1984
प्रायोगिक दल
नियंत्रण दल
छात्रों की संख्या
0 10 20 30 40 50 60 70 80 90 100
2 4 6 8 10 12 14
अंकों का प्रतिशत

चित्र 16


अंग्रेजी के लिए निष्पादन का पार्श्वचित्र
एस.एस.सी. 1984
प्रायोगिक दल
नियंत्रण दल
छात्रों की संख्या
0 10 20 30 40 50 60 70 80 90 100
2 4 6 8 10 12 14
अंकों का प्रतिशत

चित्र 17



चित्र 18

बी.एम.सी. से दल I और II के छात्रों के निष्पादन की तुलना

विषय	दल	छात्रों का प्राप्त प्रतिशत			अनुत्तीर्ण
		प्रथम श्रेणी	द्वितीय श्रेणी	तृतीय श्रेणी	
विज्ञान	बी.एम.सी.	19	36	24	21
	दल I	81	19	0	0
	दल II	83	14	3	0
गणित	बी.एम.सी.	10	14	16	59
	दल I	59	22	16	3
	दल II	67	19	8	6
अंग्रेजी	बी.एम.सी.	6	10	31	54
	दल I	31	28	31	9
	दल II	19	25	50	6

चित्र 19

को उसी क्रम में वही शब्दावली सिखाई जाती है? उपचारी शिक्षा में वर्णो के प्रयोग द्वारा दिए हुए शब्दों जैसे *कमल, कलम* आदि के अनुसार शब्द-निर्माण के खेल कराए जाते हैं। जल्दी ही अनेक शब्द जिन्हें छात्र कभी सीख चुके होते हैं किन्तु वे उनकी निष्क्रिय शब्दावली में संग्रहीत रहते है, अब पुनः सक्रिय हो जाते हैं। छात्रों की प्रगति इतनी शीघ्र होती है कि 6 महीने में वे वर्ण-पात्र से उपयुक्त वर्ण निकालकर 55 विभिन्न शब्द बना लेते हैं। छात्रों द्वारा अंग्रेजी में प्राप्त अंकों से पता चलता है कि यह उपचारी शिक्षा कितनी प्रभावी थी। यह भी उल्लेखनीय है कि शब्द सिखाने का प्रत्यक्ष उपचारी तरीका भी आजमाया गया। छात्र ऊब गए। उसी पाठ की आवृत्ति करना उपचारी तरीका नहीं है।

*2. खेल का नियम जानना:*यह विदित है कि रेखागणित के कुछ प्रकरण जैसे त्रिभुजों की सर्वसमता समझना छात्रों के लिए कठिन होता है। यह अनुभव किया गया कि ऐसे अभ्यासों को समझने के लिए बुनियादी उद्देश्य छात्रों को स्पष्ट नहीं किए गए थे। अतः बच्चों के साथ उन स्थितियों पर चर्चा करने में एक घंटा लगाया गया जिन स्थितियों में ज्योमेट्रिकल आकृतियाँ एक समान लगती हैं। छात्रों ने शीघ्र ही समझ लिया कि दो वृत्त बिल्कुल समान होंगे यदि उनके अर्द्धव्यास बराबर हैं। फिर यह परिचर्चा वर्ग, आयत, समचतुर्भुज, समानांतर चतुभुर्ज आदि के संबंध में की गई। एक बार विचार ग्रहण कर लेने पर छात्रों को अपने सामान्य अध्ययन मे इन प्रकरणों को समझने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

इसी प्रकार की कठिनाई का सामना अन्य विषय-क्षेत्रों जैसे रसायनिक समीकरण का संतुलन अथवा जटिल बीजगणितीय समीकरण का सरलीकरण आदि में भी करना पड़ा। छात्र प्रायः निश्चित रूप से नहीं जानते कि उनसे क्या अपेक्षा की जाती है। एक बार यह बात स्पष्ट रूप से समझ लेने पर विषय सीखने की कुंजी उनके हाथ लग जाती है और उसका ज्ञान प्राप्त करना सरल हो जाता है। हमने अनेक उदाहरण देखे हैं कि यदि अभ्यासों का उद्देश्य भली-भाँति स्पष्ट नहीं है तो बार-बार विषय-बोध का तरीका दुहराने पर भी वांछित परिणाम नहीं प्राप्त होता।

*3. प्रत्यक्षीकरण:*सभी लोग गणित को कठिन विषय मानते हैं। परीक्षा फलों से भी यही सिद्ध होता है। बंबई म्यूनिसिपल कारपोरेशन के लगभग 50 प्रतिशत छात्र एस. एस. सी. परीक्षा में अनुत्तीर्ण रह जाते हैं। गणित में मुख्य कठिनाई *प्रत्यक्षीकरण* की है। यहाँ प्रत्यक्षीकरण का अर्थ है—किसी एक नियम या प्रतिरूप को कुछ रूपांतरण होने के बाद देख पाने की योग्यता। उदाहरण के लिए त्रिभुज, वृत्त या वर्ग जैसी ज्योमेट्रिकल आकृतियों के अपने प्रतिरूप और गुण हैं जिन्हें आसानी से पहिचाना जा सकता हैं। कठिनाई यह होती है कि छात्र किसी दी गई आकृति में प्रच्छन्न प्रतिरूप को स्पष्ट रूप से नहीं देख पाते। यदि आकृति की उपयुक्त रचना का बोध उन्हें हो जाए तो रेखागणित की समस्या प्रायः तुच्छ सी प्रतीत होगी। तब छात्र पूछता है यह बहुत अच्छा है, किन्तु आपने इसे कैसे जान लिया। वस्तुतः यही प्रत्यक्षीकरण की समस्या है। यही समस्या बीजगणित में उठती है, जहाँ छात्रों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे यह देख सकें कि कोई समीकरण कुछ सरल रूपांतरों के बाद किस रूप में दीख पड़ेगा।

प्रत्यक्षीकरण का बोध कराने के लिए कोई संक्षिप्त तरीका नहीं है। अतः यह निश्चय किया गया कि छात्रों को श्यामपट्ट पर कुछ सरल प्रयोग दिए जाएँ। यह देखा गया कि श्यामपट्ट पर एक कोने में मूल आकृति अथवा समस्या के समीकरण का बना रहना बहुत

उपयोगी होता है। इससे छात्र की दृष्टि से उसके ओझल होने का भय नहीं रहेगा। आकृति अथवा समीकरण के अध्ययन के लिए पर्याप्त समय दिया गया। छात्रों को अगले सोपान की विधि पर चर्चा करने के लिए प्रोत्साहित किया गया और उनमें से किसी एक छात्र द्वारा श्यामपट्ट पर इसे क्रियान्वित कराया गया। कोई त्रुटि होने पर वे श्यामपट्ट पर कोने में संचित डायग्राम या समीकरण की सहायता से फिर से सारी क्रियाविधि शुरू कर देते थे। इस विधि से प्रतिरूप के प्रत्यक्षीकरण की उनकी योग्यता में यथेष्ट वृद्धि हुई। तथापि यह उल्लेखनीय है कि यह प्रक्रिया बहुत मंद गति की है। इस पद्धति द्वारा कोई एक या दो से अधिक समस्या (सामान्यतः केवल एक) का समाधान एक घंटे में नहीं कर सकता। लेकिन अधिक समस्याओं के समाधान की भी जरूरत नहीं है। एक बार पद्धति को भली-भाँति समझ लेने पर छात्र उसे आगे जारी रखने में योग्य हो जाते हैं।

4. *परीक्षा की प्रकृति:* छात्र नहीं जानते कि उनकी उत्तर पुस्तकें किस प्रकार मूल्यांकित होती हैं। उन्हें आश्चर्य होता है कि क्यों कुछ भाग्यशाली छात्र हमेशा ही अच्छे अंक प्राप्त करते हैं और उनके समान कुछ दूसरे छात्र अच्छे अंक नहीं प्राप्त करते, चाहे वे कितना ही कठिन परिश्रम क्यों न करें। इस संबंध में उपचारी तरीका यह अपनाया गया कि उपयुक्त प्रश्न-पत्रों द्वारा पूरी तरह उनकी परीक्षा ली गई और उनकी उत्तर-पुस्तकें उनकी उपस्थिति मे ही जाँची गईं। छात्रों को दिखाया गया कि वे कितने अधिक अंक प्राप्त कर सकते थे (अपने ज्ञान के आधार पर) और कितने अंक उन्होंने घसीट लिखने अथवा कुछ नियम पालन न करने के कारण खो दिए। इस प्रकार कोई भी छात्र देख सकता था कि उसने 75 अंक के प्रश्न-पत्र में 62-19 = 43 अंक प्राप्त किए। फालतू में ही 10 अंक कम हो जाने पर उनके लिए आगे किसी अभिप्रेरणा की जरूरत नहीं पड़ी। इसके अतिरिक्त अब छात्र परीक्षा में कौन सी श्रेणी प्राप्त करेंगे, इसका बहुत कुछ सही अनुमान करने में भी सक्षम हो गए। परंपरागत शिक्षार्थियों के परिवार में यह दीक्षा और प्रशिक्षण होता है। वंचित छात्रों के लिए उपचारी तरीके विद्यालयी अनुभवों की पुनरावृत्ति नहीं हैं, परंपरागत शिक्षार्थियों के परिवार के घरेलू वातावरण की पुनर्रचना कहीं अधिक उपयोगी सिद्ध होती है।

कुछ सोदाहरण उपचारी तरीकों को गिनाने का प्रयास यहाँ किया गया है। इन सभी स्थितियों में व्यवधानों की पहिचान कर उनके निराकरण के लिए निर्मित उपचारी तरीकों पर बल रहा है। इस प्रकार के निरूपित उपचारी तरीकों की सफलता परियोजना—छात्रों द्वारा एस. एस. सी. परीक्षा में प्राप्त परीक्षा-फलों से पूरी तरह प्रकट हो जाती है। वित्तीय दृष्टि से इस प्रयोग में कोई खर्च नहीं था। सिद्धांततः इस प्रयोग का बड़े पैमाने पर विस्तार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए, क्योंकि उपचारी विधि एक बार व्यवहृत होने पर सामान्य विद्यालयी शिक्षक के शैक्षिक व्यवहार के लिए उपलब्ध होनी चाहिए। समय तथा अतिरिक्त शिक्षण की आवश्यकता की दृष्टि से भी इस विधि में कोई खर्च नहीं है। वास्तविक कठिनाई अधिगम के सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपादानों में से एक उपादान पठन-बोध के प्रति विश्वास का अभाव है।

भाषा-विकास

सामाजिक वंचन से भाषा-विकास पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है और भाषा-विकास के अभाव में अन्य अनेक दुष्परिणाम होते हैं, जिनसे सामाजिक गतिशून्यता स्थायी बनती है।[12] यह देखने के लिए किसी अध्ययन की आवश्यकता नहीं है कि निर्बल वर्गों से आने वाले छात्रों का

भाषा-विकास बहुत ही पिछड़ा होता है। यह भी दुर्भाग्यपूर्ण है कि *भाषा-कौशल* शब्द का अर्थ केवल शब्दावली और व्याकरण तक सीमित माना जाता है और उपचारी शिक्षण कार्यक्रम केवल शब्दावली और व्याकरण-नियमों की जानकारी बढ़ाने के लिए ही अपनाया जाता है। गुणात्मक दृष्टि से वास्तविक समस्या भिन्न और अधिक गहरी है। भाषा की कोई भी पाठ्यपुस्तक अथवा भाषा-विज्ञान मनुष्य द्वारा भाषा सीखने की विधि के विशेष रूप का संकेत देते हैं। हम कुछ शब्द और व्याकरण के प्रारंभिक नियम सीखते है पर वास्तविक जीवन में लगभग हम सभी लोग वाक्य बोलते-सुनते, पढ़ते और समझते हैं, जिन्हें पहले कभी न तो बोला था और न सुना था। इन 'नए' वाक्यों को समझने में हमें कोई कठिनाई नहीं होती। फिर ऐसा क्यों होता है कि पहली पीढ़ी के शिक्षार्थियों को कुछ वाक्य-समूहों को कंठस्थ करने के लिए बाध्य किया जाता है, केवल इस भय के कारण कि वे वह विषय-सामग्री अपनी भाषा में व्यक्त नहीं कर सकेंगे।

कुछ सीमा तक यह त्रासदी इस अविवेकपूर्ण माँग के कारण है कि छात्रों के उत्तर मानक रूप में शब्दबद्ध होने चाहिए। पर यह ज्यादती हटा भी दी जाए तो यह तथ्य तो बना ही रहता है कि व्यक्ति की अभिव्यक्ति-शक्ति (भाषा) उसके सामाजिक वर्ग का द्योतक है। विद्यालय में भी छात्रों के सम्मुख समाज द्वारा मान्य अच्छे साहित्य के नमूने प्रस्तुत किए जाते हैं। इस सूची में प्रत्येक के लिए प्राप्त संपूर्ण निविष्टियों का सारांश निहित होता है। परंपरागत शिक्षार्थी और पहली पीढ़ी के शिक्षार्थी दोनों को इन्हें पाने का अधिकार है। किंतु परंपरागत शिक्षार्थी इनके अतिरिक्त और भी अधिक जीवंत महत्वपूर्ण निविष्टियाँ अन्य स्थानों से पा लेता है। शिक्षित वयस्कों के साथ सतत और प्रचुर संपर्क, पढ़ने के लिए पर्याप्त अवसर तथा और भी महत्वपूर्ण तर्क रचना तथा अपने समवर्ती साथियों और बड़ों के साथ उनके आदान-प्रदान का अवसर उसे मिलता रहता है। इन कारणों से वह भाषा-व्यवहार की मौखिक स्थिति (निरक्षरता से भ्रम न करें) से ऊपर भाषा व्यवहार की साक्षर स्थिति पर पहुँच जाता है।[13] लिखने का अवसर (वस्तुतः आवश्यकता) उसकी क्षमता को और आगे बढ़ा देता है। शीघ्र ही परंपरागत शिक्षार्थी लोगों के साथ विचारों के आदान-प्रदान और अंतःक्रिया में समर्थ हो जाता है और सूचना तथा ज्ञान अर्जित करने के लिए उत्कंठित हो उठता है। अभ्यास के द्वारा उसके साधन (भाषा) अधिक तीक्ष्ण होते जाते हैं और अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करने की उसकी योग्यता संवर्द्धित होती जाती है।

दूसरी ओर पहली पीढ़ी का शिक्षार्थी स्कूल की कुछ पाठ्यपुस्तकों और विद्यालय द्वारा उपलब्ध सीमित वयस्कों के साथ अंतःक्रिया पर ही पूर्णतः निर्भर होता है। क्योंकि उसके घर पर बौद्धिक स्तर के वयस्कों के साथ अंतःक्रिया का अवसर नहीं के बराबर है। इन छात्रों को विविध पठन सामग्री (जरूरी नहीं कि गंभीर विचार सामग्री ही हो) प्रदान करने के लिए प्रयास किया गया। उनके लिए खुली आलमारी का पुस्तकालय स्थापित किया गया और उन्हें अपनी रुचि के अनुसार पुस्तकें लेने तथा पढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया गया। दूसरे चरण में उन्हें पुस्तक की विषय-सामग्री पर एच. बी. सी. एस. ई. के एक वैज्ञानिक के साथ चर्चा करने के लिए प्रेरित किया गया। यह पता लगाने का प्रयास किया गया कि उन्हें क्या पसंद है और वे क्या नहीं समझ पाते हैं अथवा छोड़ देते हैं। बाद में छात्रों को अपनी पढ़ी हुई पुस्तक का सारांश लिखने के

12. जॉन डाउनिंग तथा आर वैल्टिन (संपा.), *लैंगुएज अवेयरनेस एंड लर्निंग टू रीड,* स्प्रिंगर-वेर्लाग, 1984। नॉर्बर्ट डिटमर, *सोशियोलिंग्युइस्टिक्स,* एडवर्ड आर्नोल्ड, *(1976)।*

13. एस. स्क्रिबनर तथा एम. कोल, *कॉग्निटिव कांसेक्वेंस ऑफ फॉर्मल एंड इनफॉर्मल एजुकेशन,* साइंस (1973)।
एम. कोल तथा एस. स्क्रिबनर, कल्चर एंड थॉट, जॉन विले एंड संस (1974)।

लिए प्रोत्साहित किया गया। शुरू में अधिकतर छात्र सारांश लिखने में झिझकते थे। तथापि कुछ छात्रों ने प्रयास किया और एच. बी. सी. एस. ई. के वैज्ञानिकों द्वारा प्रोत्साहन पाकर अन्य छात्रों ने भी लिखने की आदत विकसित की।

प्रभावपूर्ण पठन में सबसे महत्वपूर्ण रुकावट पुस्तक में प्रस्तुत संपूर्ण सूचना के सबसे महत्वपूर्ण अंशों का सार बता सकने में असमर्थता थी। उदाहरणतः छात्र *भाँगड़ा नृत्य* पर एक पृष्ठ की मुद्रित सामग्री पढ़ने के बाद यह निश्चय नहीं कर सके कि महत्वपूर्ण बात यह है कि *भांगड़ा पंजाब का लोक नृत्य है,* न कि यह कैसा होता है और इसके साथ संगीत चलता रहता है। जिन पाठकों ने इस तथ्य की सभी बातों को याद करने की आवश्यकता का अनुभव किया, वे स्वभावतः बोझिल हो उठे। अर्जित ज्ञान बिना बोझिल किए प्रबुद्धता और सरसता प्रदान करता है, यह एक नया अनुभव है, जो अपने-आप नहीं आता। इसे सप्रयास प्रदान करना पड़ता है। किसी सुव्यवस्थित रीति से यह अनुभव कराने का कोई प्रयास नहीं किया गया। साहित्य से अनेक अवतरण चुने गए और छात्रों को वे अवतरण पढ़ने के लिए दिए गए। यह उनके पठन-बोध को विकसित करने का एक प्रयास था।

पठन-बोध के अनेक पक्ष स्वतः मान लिए जाते हैं। उदाहरण के लिए हम वयस्क जीवन में विज्ञापन, समाचार पत्र तथा अन्य साधनों द्वारा बहुत बड़ी संख्या में लिखित संदेश पढ़ते हैं। ये साधन सामान्य भाषा के अतिरिक्त कुछ प्रतीक, प्रतीक विधान, ग्राफ्स चार्ट्स आदि का प्रयोग करते हैं। मैं यहां वैज्ञानिक या प्राविधिक साहित्य की बात नहीं कर रहा हूँ। एक व्यावसायिक घराना यह प्रचारित करने के लिए चार्ट्स का प्रयोग करता है कि वे हमारे लिए अपार धन का द्वार खोल सकते हैं। इसी प्रकार शिक्षण-मैनुअल तीर, वृत्त तथा अन्य प्रतीकात्मक चिह्नों का प्रयोग करते हैं। यह स्वतः मान लिया जाता है कि इन प्रतीकों को अथवा चित्रात्मक भाषा को स्पष्ट रूप से समझ लिया जाता है। वस्तुतः यह माना जाता है कि इन चित्रों के प्रयोग से संदेश सरल हो जाता है और उसके बोध में सहायता मिलती है।[14] इस परियोजना तथा साथ ही अनौपचारिक विज्ञान-आधारित शिक्षा-परियोजना दोनों में ही यह पाया गया कि चित्रात्मक साक्षरता स्वतः नहीं मान लेनी चाहिए और इसे भी उसी गंभीरता और व्यवस्थित रूप से प्रस्तावित करना चाहिए जिस प्रकार सामान्य साक्षरता में हम उनका प्रयोग करते हैं।

पठन-बोध को विकसित करने का प्रयास बहुत ही फलदायक रहा। छात्र अधिक पढ़ने लगे और अधिक समझने लगे। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह था कि वे दूसरों के साथ मिलकर पुस्तकें पढ़ने, और शायद अपने परिवार के अन्य सदस्यों के साथ नए अर्जित कौशल का लाभ उठाने लगे। इस प्रकार की अंतःक्रिया से समुदाय में कितनी प्रबुद्धता बढ़ती है, यह भी अध्ययन का एक नया आयाम है। यह कार्य भी प्रगति पर है।

अधिगम के अन्य साधन

कक्षा में शिक्षक की बातें सुनना, पुस्तकें पढ़ना, गणित की पाठ्य-पुस्तक से सवाल हल करना आदि औपचारिक विद्यालयों में अधिगम की मानक विधियाँ या साधन हैं। उनके अतिरिक्त और भी अनेक विधियाँ हैं जिनसे हम सीखते हैं। यह सचमुच दयनीय स्थिति है कि छात्रों को अधिगम की इन विधियों से परिचित नहीं कराया जाता। उदाहरणतः नमूनों को एकत्र करना, उन्हें वर्गीकृत करना, सर्वेक्षण करना, लोगों से साक्षात्कार करना आदि कुछ ऐसे तरीके हैं जिनका

14. माइकेल एल. गीस, *दि लैंगुएज ऑफ टेलिविज़न एडवर्टाइजिंग,* एकेडेमिक प्रेस (1982)

प्रयोग छात्रों द्वारा कराया जा सकता है।[15] इस परियोजना मे अनुसूचित जाति के छात्रों को छुट्टियों मे ऐसी कुछ क्रियाओं के प्रयोग के लिए प्रोत्साहित किया गया। छात्रों से क्रिया की योजना बनाने, उन्हें क्रियान्वित करने और उन पर संक्षिप्त रिपोर्ट तैयार करने की अपेक्षा की गई थी। सर्वेक्षण के लिए प्रकरण एच. बी. सी. एस. ई. के वैज्ञानिकों द्वारा नहीं दिए गए। छात्रों से स्वयं अपना प्रकरण चुनने की अपेक्षा की गई। अनेक सर्वेक्षण, जैसे दिवाली पर्व पर वस्तुओं के मूल्यों में विभिन्नता, अपने-अपने स्थानों में सार्वजनिक सुविधाओं की सुलभता, गंदी बस्तियों मे विभिन्न प्रकार के समाचार-पत्रों का वितरण आदि हाथ में लिए गए। अनेक छात्रों ने नमूने एकत्र किए। कुछ ने साक्षात्कार लिए। कुछ छात्रों ने झलकियाँ, निबंध, कविताएँ लिखीं। ये क्रियाएँ स्वैच्छिक रूप से आयोजित की गईं। प्रथम यह आशा की गई कि इन क्रियाओं के फलस्वरूप समुदाय के साथ उनकी अंतःक्रिया बढ़ेगी। द्वितीय यह कि योजना बनाने, उन्हे क्रियान्वित करने, उन पर रिपोर्ट लिखने आदि से सीखने के बुनियादी साधनों में तीक्ष्णता आएगी और इससे उनका आत्मविश्वास बढ़ेगा। फिर अंत में हमारा उद्देश्य उनके सामने यह प्रदर्शित करना था कि ये क्रियाएँ केवल संभ्रांत वर्ग का ही विशेषाधिकार नहीं है, और वे भी इन क्रियाओं का प्रयोग कर सकते हैं, और इस प्रक्रिया द्वारा सीख सकते हैं।

समग्र रूप से इन उपचारी विधियों का उत्साहवर्द्धक परिणाम मिला। शैक्षिक परिणामों के अतिरिक्त घरों में मुलाकात से यह संकेत मिला कि माता-पिता में अभिज्ञता बढ़ी है। कुछ उदाहरण तो ऐसे हैं कि माता-पिता ने अपने बच्चों की शिक्षा एस. एस. सी. परीक्षा के बाद समाप्त कर देने का अपना निर्णय बदल दिया और उन्हें उच्च शिक्षा के लिए प्रोत्साहित किया।

इस प्रयोग से सचमुच क्या सिद्ध होता है? मैं सोचता हूँ कि इससे यह पता चलता है कि मूलतः हमारे सभी लोग शिक्षणीय हैं। यदि कुछ समुदाय सामाजिक-सांस्कृतिक पिछड़ेपन के कारण प्रगति करने में असमर्थ हैं, तो हमें आवश्यक अनुसंधान विकास के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए और अपनी उपचारी विधियों की अभिकल्पना करनी चाहिए। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह सिद्ध होता है कि स्थिति-सर्वेक्षणों द्वारा बहुत बड़े अंतर को असीम अथवा अनिवारणीय नहीं समझना चाहिए। इस अंतर को (कम से कम कुछ मामलों के तो निश्चित ही) सापेक्षिक रूप से सरल और व्यय रहित उपचारी विधियों द्वारा मिटा सकना संभव है।

---

[15] यही अनुभव डा अनिल सदगोपाल ने भी व्यक्त किया है। अनिल सदगोपाल, *बिटवीन क्वेश्चन एड क्लैरिटी*, साइंस टुडे (अक्तूबर 1981)।

शिवकुमार मित्र

शिक्षा में गुणता और विषयवस्तु



शिव कुमार मित्र

शिव कुमार मित्र (जन्म 1921) ने शिकागो विश्वविद्यालय से मनोविज्ञान में डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। कलकत्ता के भारतीय सांख्यिकीय संस्थान; अहमदाबाद के बी.एम. इंस्टीच्यूट; और कलकत्ता विश्वविद्यालय जैसे अनेक शैक्षिक संस्थानों में इन्होंने काम किया, फिर राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के मनोविज्ञान आधार विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। इसी परिषद् के संयुक्त निदेशक और निदेशक के पदों पर भी इन्होंने काम किया। इन्होंने अनेक व्यावसायिक संगठनों की अध्यक्षता की जिनमें प्रमुख हैं: भारतीय सामाजिक विज्ञान अकादमी; दि इंडियन एकेडेमी ऑफ अप्लाइड साइकोलॉजी; और दि इंडियन एसोसिएशन ऑफ प्रोग्राम्ड लर्निंग एंड एजुकेशनल इन्नोवेशंस। भारतीय समाज विज्ञान अनुसंधान परिषद् की जे.पी. नाइक राष्ट्रीय फेलोशिप सबसे पहले इन्हें ही मिली। आजकल ये नई दिल्ली के राष्ट्रीय जन सहयोग और शिशु विकास संस्थान की शैक्षणिक समिति के अध्यक्ष हैं।

शिक्षा में गुणता और विषयवस्तु

शिक्षा में गुणता का प्रश्न समय-समय पर शिक्षाविदों, योजनाकारों, प्रशासकों, नियोक्ताओं एवं माता-पिता द्वारा उठाया जाता रहा है। बहुधा उन्होंने यह चिंता व्यक्त की है कि शिक्षा में जैसी गुणता होनी चाहिए, वैसी नहीं है। किन्तु गुणता संबंधी परिचर्चा से इस बात पर प्रकाश नहीं पड़ा है कि शिक्षा के क्षेत्र में गुणता क्या है?

गुणता, स्तर और दक्षता

गुणता शब्द का शब्दकोशीय अर्थ है—*श्रेष्ठता की मात्रा*। अमूर्त अथवा भावात्मक होते हुए भी यह अर्थ अच्छा हो सकता है किन्तु जब हम शिक्षा मे गुणता पर विचार करते हैं तो यह अर्थ अस्पष्ट सा लगता है। शिक्षा में श्रेष्ठता क्या है, इस पर सार्वभौम रूप से स्वीकृत मत नहीं है और न तो श्रेष्ठता की मात्रा पर ही सहमति है। उत्तम जीवन के समान, इस बात पर सहमति नहीं है कि उत्तम शिक्षा क्या है? चूंकि शिक्षा मे गुणता को परिभाषित करना बहुत कठिन है, इस कारण इसका विश्वसनीय और वैध मापन भी नहीं हो सका है।

बहुधा *गुणता, स्तर* और *दक्षता* शब्दों का प्रयोग मनमाने रूप से किया जाता है, शायद यह समझकर कि उनका एक ही अर्थ है। प्रायः गुणता पर परिचर्चा में शिक्षा के गिरते हुए स्तर पर चिंता व्यक्त की जाती है। किन्तु छात्रों की उपलब्धि का स्तर गुणता का केवल एक पक्ष है, यद्यपि इस पक्ष का सीधा प्रभाव उन पर पड़ता है, जो शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों के प्रयोग से संबंधित है।

किसी भी समय उपलब्धि का स्तर एक राज्य से दूसरे राज्य में भिन्न पाया जाता है, एक राज्य में भी एक जिले से दूसरे जिले में यह भिन्नता पाई जाती है, और इसके भी आगे हम इसी प्रकार देखते चलें तो यह भिन्नता विद्यालयों के बीच भी पाई जाती है, यह भिन्नता स्वाभाविक है, क्योंकि उपलब्धि का स्तर अनेक उपादानों पर निर्भर है, जो देशभर में एक समान नहीं है और न प्रत्येक उपादान एक स्थान से दूसरे स्थान के बच्चों की उपलब्धि में समान मात्रा में योगदान करते हैं। यदि विद्यार्थी काल में एक बिन्दु पर छात्रों की उपलब्धि का यह चित्र है, तो एक समयावधि में स्तर की भिन्नता निश्चित रूप से होगी ही। इस प्रकार उपलब्धि का स्तर उस शैक्षिक अवस्था के पूर्व या उसी अवधि में व्याप्त दशा से संबंधित है, जिसके अंत में स्तर का निर्धारण किया जाता है। इसके साथ यदि यह तथ्य भी ध्यान में रखें कि छात्रों की उपलब्धि के समस्त मापन संदेहास्पद हैं और उपलब्धि मापन की कोई पूर्ण निरपेक्ष विधि नहीं है, तो किसी भी समयावधि पर स्तरों की तुलना मे निहित कठिनाई को समझा जा सकता है। अतः जब हम कहते हैं कि

स्तर गिर रहा है, तो उसका अर्थ वर्तमान शिक्षा प्रणाली से उत्पन्न व्यक्तियों के प्रति असंतोष व्यक्त करना है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह चिंता शिक्षा प्रणाली के आगत-निर्गत संबंध को लेकर है, जो दक्षता का विषय है। सार्वजनिक परीक्षाओं में अनुत्तीर्ण छात्रों की बहुत बड़ी संख्या तथा प्राथमिक और मिडिल विद्यालयों में अपव्यय तथा गतिरोध आदि के कारण शिक्षा प्रणाली की दक्षता न्यून समझी जाती है। किन्तु शिक्षा प्रणाली के परिणामों के प्रति अपना असन्तोष प्रकट करने में हम सामान्यतः स्तर और दक्षता को एक मे मिला देते हैं। परीक्षा में निष्पादन से यह झलकता है कि बालक ने क्या सीखा है, कितना सीखा है और कितनी अच्छी तरह सीखा है। अनुत्तीर्णता की दर से यह पता चलता है कि इन बातों मे कितनी कमी या अपूर्णता रही है, जबकि उपलब्धि का स्तर अधिगम के सकारात्मक पक्षों को प्रकट करता है। चूँकि स्तर और दक्षता बहुत कुछ निवेशों तथा प्रणाली के अंतर्निवेशों पर निर्भर है, अतः हमारे मस्तिष्क मे वे प्रायः शिक्षा की गुणता के संप्रत्यय के साथ मिल जाते हैं।

गुणता और शिक्षा के लक्ष्य

उत्तम जीवन के संप्रत्यय के समान शिक्षा की गुणता का संप्रत्यय भी सापेक्षिक है। जैसे पूर्व स्वतंत्रताकाल में जो उत्तम शिक्षा मानी जाती थी, वह स्वातंत्र्योत्तर काल में उत्तम नहीं मानी गई। यह इस कारण है कि शिक्षा के लक्ष्य और गुणता में परस्पर संबंध है। स्वतंत्रता के पहले शिक्षा का लक्ष्य अपेक्षाकृत कम संख्या मे ऐसे नागरिकों को पैदा करना था जिन्हे पाश्चात्य उदारतावादी मूल्यों, अभिवृत्तियों और ज्ञान का सुदृढ़ आधार प्राप्त हो और वे साम्राज्य के सेवक-कर्मचारी बन सकें।

वह शिक्षा जो इस प्रकार का ज्ञान, अभिवृत्ति और मूल्य विकसित कर सके, उत्तम शिक्षा मानी जाती थी। किन्तु स्वतंत्रता मिलने पर शिक्षा के लक्ष्य देश के सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक लक्ष्यों के अनुरूप परिवर्तित हो गए। वही शिक्षा जो पहले उत्तम मानी जाती थी, अब उत्तम नहीं रह गई।

देश को अब तीव्र गति से लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद की दिशा में प्रगति करना था। उसे बहुत बड़ी संख्या में उच्च प्रशिक्षित वैज्ञानिकों, प्रौद्योगविदों, डाक्टरों, शिक्षकों, प्रबंधकों तथा ऐसे लोगों की आवश्यकता पड़ी जो एक विकासशील देश का प्रशासन चला सकें। अब यथापूर्व स्थिति की जगह परिवर्तन ही नियम बन गया। संविधान के निर्देशानुसार राज्यों द्वारा 14 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों को शिक्षा प्रदान करना था। अतः उत्तम शिक्षा वह है जो इस प्रकार की शिक्षा प्रणाली का प्रावधान कर सके। फलतः सभी स्तरों पर शैक्षिक अवसरों में तीव्र गति से प्रसार ही नहीं हुआ, अपितु विभिन्न स्तरों पर अनेक प्रकार के पाठ्यक्रमों वाली विभिन्न प्रकार की शैक्षिक संस्थाओं का प्रादुर्भाव हुआ। पूर्व स्वतंत्रताकालीन शिक्षा के संप्रत्यय के विरुद्ध महात्मा गांधी की बुनियादी शिक्षा के दर्शन से प्रेरित होकर शैक्षिक आंदोलन हुए। बुनियादी शिक्षा में शारीरिक श्रम, उत्पादक कार्य, सरलता और सादगी के जीवन मूल्य पर बल दिया गया था। यह आंदोलन संभ्रांत वर्गों से जन शिक्षा की ओर, अंग्रेजी साहित्य, दर्शन और इतिहास से भारतीय साहित्य, दर्शन और इतिहास की ओर, उदार कला-शिक्षा से विज्ञान और प्रौद्योगिकी की ओर तथा इसी प्रकार के अन्य परिवर्तनों की ओर था।

शिक्षा आयोग (1964-66) ने शिक्षा के लक्ष्यों पर विचार किया और सामाजिक परिवर्तन के लिए शिक्षा को साधन मानने पर बल दिया और साथ ही शिक्षा को उत्पादकता के द्वारा राष्ट्रीय विकास के साथ जोड़ा।[1] अपनी रिपोर्ट मे आयोग ने शैक्षिक रूपांतरण की योजना बनाई ताकि

देश के सामाजिक-आर्थिक विकास के व्यापक उद्देश्यों पर आधारित शैक्षिक लक्ष्यों की दिशा में शिक्षा-प्रणाली को रूपांतरित किया जा सके।

अन्यत्र अनेक शिक्षा विचारकों ने भी शिक्षा की गुणता के दो अन्य पक्षों की ओर इंगित किया है—इसकी विशिष्टता और प्रासंगिकता। इस तरह पॉल फ्रेरे ने शिक्षा की वर्तमान प्रणाली की आलोचना इस आधार पर की है कि यह शिक्षा के बैंकिंग संप्रत्यय पर आधारित है, जिसमें ज्ञान विभिन्न छोटे-बड़े संदूकों में विभक्त है और सूचनाएं बैंक में जमा की हुई राशि की भांति व्यक्ति के स्मृतिकोष में संचित हैं, जिन्हें परीक्षाओं के समय निकाला जा सके।[2] उसने शिक्षा की गुणता की आलोचना इस आधार पर की है कि इसका लक्ष्य पीड़क और पीड़ित के बीच के संबंध को बनाए रखना है, जिसका उदाहरण अध्ययन-अध्यापन की स्थिति मे शिक्षक-शिक्षार्थी के पारंपरिक संबंधों में मिलता है। इवान इलिच[3] ने विद्यालय रहित समाज के पक्ष में तर्क दिया है कि सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से विद्यालय निष्क्रिय और प्रभावहीन हो गए है। दूसरे शब्दों में वही गुणता पूर्ण शिक्षा उत्तम है जो वांछित सामाजिक लक्ष्यों की ओर ले जाए।

हमारे देश मे संविधान द्वारा लक्ष्य निर्धारित हुए हैं। शिक्षा आयोग (1964-1966) द्वारा देश की वर्तमान और भावी आवश्यकताओं को देखते हुए उन लक्ष्यों को शिक्षा के लक्ष्य और उद्देश्य के रूप में मान लिया गया। हमारी शिक्षा की गुणता में इन लक्ष्यों और उद्देश्यों की झलक मिलनी चाहिए। जिस सीमा तक हमारी शिक्षा प्रणाली इन लक्ष्यों के प्रतिरूप है, उस सीमा तक शिक्षा की विशिष्टता और प्रासंगिकता बनी हुई है, और इसलिए उस सीमा तक गुणता भी बनी रहेगी।

भारत सरकार द्वारा नीति निर्धारण (1968)

भारत सरकार ने शिक्षा आयोग की प्रमुख संस्तुतियों को स्वीकार कर लिया और 1968 में प्रस्ताव पारित किया कि भारत सरकार शिक्षा आयोग द्वारा अनुशासित आधारों पर शिक्षा के आमूल पुनर्गठन के लिए सहमत है। प्रस्ताव मे कहा गया है कि अन्य बातों के साथ-साथ *सभी स्तरों पर शिक्षा की गुणता को ऊँचा उठाने के लिए सतत और गहन प्रयास* किए जाएंगे। आगे, प्रस्ताव में कहा गया है कि *उन सभी उपादानों में, जो शिक्षा की गुणता को प्रभावित करते हैं शिक्षक निस्संदेह ही सबसे महत्वपूर्ण हैं, और फिर अध्यापक-शिक्षा विशेषतः सेवाकालीन प्रशिक्षण पर अपेक्षित बल देना होगा।* इस प्रकार शिक्षा आयोग की संस्तुतियों के आधार पर शिक्षक और अध्यापक-शिक्षा को अधिक महत्वपूर्ण माना गया। पर यह दयनीय स्थिति है कि इस पर उतना ध्यान नहीं दिया गया जितना पाठ्यवस्तु पर।

पाठ्यवस्तु के संबंध मे प्रस्ताव में कहा गया कि *विद्यालयी स्तर के अंत तक विज्ञान और गणित सामान्य शिक्षा के अभिन्न अंग होंगे।*

गुणता और पाठ्यवस्तु पर शिक्षा आयोग (1964-66)

शिक्षा आयोग की रिपोर्ट मे स्वयं शिक्षा की गुणता के प्रश्न पर विस्तृत चर्चा नहीं है किन्तु उन विभिन्न उपादानों पर विस्तार से विचार किया गया है जो गुणता को प्रभावित करते हैं और उसे ऊँचा उठाने में जिनका योगदान है। ये उपादान है—पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तकें, मूल्यांकन,

---

[1] एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा प्रकाशित शिक्षा आयोग (1964-66) की रिपोर्ट, *शिक्षा और राष्ट्रीय विकास,* 1971

[2] पॉल फ्रेरे कृत *पेडागॉजी ऑफ दि ऑप्रेस्ड,* पेंग्विन बुक्स द्वारा प्रकाशित, 1972

[3] इवान इलिच कृत *डीस्कूलिंग सोसाइटी,* पेग्विन बुक्स द्वारा प्रकाशित, 1973

शिक्षक और उनका प्रशिक्षण, शैक्षिक प्रशासन और वित्त व्यवस्था। उन्होंने शैक्षिक स्तर पर अवश्य विचार किया है, और विद्यालयी शिक्षा की प्रथम अवस्था के अंत—कक्षा 10 का अंत होने पर स्तर पर विचार करते हुए उन्होंने कहा है कि विद्यालय *10 वर्ष की अवधि में उतना उपलब्ध कर लेंगे जितना अभी 11 वर्ष में होता है।* वे इस तथ्य पर बल देते हैं कि हमारा शैक्षिक स्तर उत्तरोत्तर ऊँचा उठना चाहिए जिससे अंतर्राष्ट्रीय स्तर से हम अच्छी तरह तुलना कर सकें। आयोग द्वारा संस्तुत संरचनात्मक परिवर्तन इसी दृष्टिकोण के अनुसार है कि स्तर को ऊँचा उठाना है, ताकि 20वीं सदी के अंत की चुनौतियों का और अपने आर्थिक विकासों की मांगों का सामना किया जा सके। अतः कम समय मे अधिक से अधिक सीखना है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के तीव्र विकास तथा उद्योग, कृषि, स्वास्थ्य, संचार, परिवहन और दैनंदिन जीवन में उनके अनुपालन के कारण शिक्षा व्यवस्था के लिए यह अनिवार्य हो गया है कि वह अपने किशोर बालक-बालिकाओं को ज्ञान अर्जित करने का यथेष्ट अवसर प्रदान करे। जे.पी. नाइक[4] का कथन है कि *विगत पांच दशकों में गुणता को सुधारने के लिए सभी स्तरों पर और सभी विषयों में पाठ्यचर्या की सूचनात्मक पाठ्यवस्तु को उन्नत करना ही हमारे प्रयासों का मुख्य बल रहा है (पृ.52)।* वे वर्तमान प्रणाली की इस आलोचना से परिचित हैं कि *यह प्रणाली शिंक्षा के बैंकिंग संप्रत्यय से प्रभावित है, जिसमें सूचना संग्रह करने, कंठस्थ करने और सार्वजनिक परीक्षा मे उसे प्रकट कर देने पर बल रहता है।* अतः उनका तर्क है कि विद्यालयों में ज्ञान के अतिरिक्त कौशलों के विकास और जीवन-मूल्यों के पालन को अधिक प्रमुखता देनी चाहिए। लेकिन, *इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हम अपनी शिक्षा-प्रणाली की सूचनात्मक पाठ्यवस्तु को घटा दें। इसके विपरीत, हम तो सूचनात्मक विषयवस्तु में संवृद्धि की भी आशा करते हैं, क्योंकि ज्ञान प्रति दस वर्ष में दुगना हो रहा है और इस अत्यधिक प्रतियोगी आधुनिक विश्व में प्रत्येक राष्ट्र के लिए ज्ञान का गहरा संस्कार 'नितांत आवश्यक' हो गया है। अतः देश के सभी लोगों के लिए अधिकाधिक सीखना और आगे के वर्षों में उपलब्धि के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए शैक्षिक स्तर तक पहुँचना अपरिहार्य सा हो गया है, (पृ.63)।* वस्तुतः वे इस बात से अभिज्ञ हैं कि यह लक्ष्य केवल विद्यालयों द्वारा नहीं प्राप्त हो सकता, अतः वे अनौपचारिक शिक्षा की अनुशंसा करते हैं। वे यह भी जानते हैं कि इस प्रकार की ज्ञान प्राप्ति को संभव बनाने के लिए अध्ययन-अध्यापन की पद्धति में भी यथेष्ट परिवर्तन करना होगा। इसके लिए अच्छी पाठ्यपुस्तकों, शिक्षण सामग्री, तथा शिक्षण साधनों की आवश्यकता होगी। इसके लिए परीक्षा की वर्तमान प्रणाली में, जिसमे केवल कंठाग्र करने पर बल रहता है, परिवर्तन करना होगा। किन्तु यह बिन्दु अपनी जगह बना हुआ है कि पाठ्यवस्तु और शैक्षिक स्तर में गहरा संबंध है। अतः शिक्षा आयोग ने अपनी रिपोर्ट में इस बात पर बल देते हुए कि पहले जो 11 वर्ष में होता था, वह अब 10 वर्ष में पूरा करना है, पाठ्यक्रम की विषय वस्तु की रूपरेखा दी है (रिपोर्ट का 8.18 अंश)।

आयोग ने सिफारिश की है कि विज्ञान पर्यावरण अध्ययन के रूप में कक्षा 1 से पढ़ाया जाए। किन्तु कक्षा 5 से 8 में छात्र भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान और खगोल विज्ञान पढ़े। उन्होंने विषयगत उपागम की अनुशंसा की (8.54), कक्षा 9-10 मे उन्होंने भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान तथा भू-विज्ञान और अनिवार्य विषयों की अनुशंसा की।

आयोग ने कक्षा 5-7 मे दो भाषाओं को शामिल करके 9 विषयों की शिक्षा की अनुशंसा की। कक्षा 8-10 में उन्होंने 3 भाषाएं, गणित, इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र तथा उपर्युक्त

---

[4] जे.पी. नाइक कृत *समानता, गुणता और मात्रा,* एलाइड पब्लिशर्स द्वारा प्रकाशित, 1975

4 वैज्ञानिक विषयों की अनुशंसा की।

कला, कार्यानुभव, शारीरिक और नैतिक शिक्षा भी कक्षा 5-7 से अनिवार्य रूप से पढ़ाने की अनुशंसा की गई।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् का 10-वर्षीय विद्यालयी पाठ्यक्रम (1975)

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् ने भारत सरकार के द्वारा 1968 में अनुशंसित विद्यालयी शिक्षा के क्रियान्वयन का कार्य शुरू किया और शिक्षा आयोग के विचारों के अनुसार पाठ्यक्रम का सूक्ष्म ब्यौरा तैयार करने के लिए 1972 से विशेषज्ञों की समितियां नियुक्त की गईं। राष्ट्रीय तथा राज्य स्तर पर विशेषज्ञों, शिक्षकों, प्रशासकों तथा अन्य शिक्षाविदों के विभिन्न दलों द्वारा प्रस्तुत परिचर्चाओं, विचार-विमर्शों के आधार पर परिषद् ने 10-वर्षीय विद्यालयी पाठ्यक्रम तैयार किया और राज्यों द्वारा उसे अपनाने के लिए अनुशंसा की।[5] शिक्षा के लक्ष्यों से प्रारंभ कर परिषद् ने प्राथमिक, मिडिल, माध्यमिक और उच्चतर माध्यमिक स्तरों की शिक्षा के विशिष्ट उद्देश्यों का निर्धारण किया। इन उद्देश्यों की संप्राप्ति के लिए विभिन्न स्तरों के पाठ्यविषयों, मूल्यांकन की विधियों और पर्यवेक्षण आदि का विशेष रूप से उल्लेख किया गया। इस तरह परिषद् द्वारा तैयार प्रलेख मे भी गुणतावृद्धि के लिए आवश्यक उपादानों में से पाठ्यवस्तु केवल एक उपादान के रूप मे है। विद्यालय में पढ़े जाने वाले विषय बहुत कुछ शिक्षा आयोग द्वारा अनुशंसित प्रारूप के अनुसार ही हैं।

गुणता और शैक्षिक पाठ्यविषयों का संबंध विषयसामग्री और पाठ्यचर्या में ही निहित नहीं है, अपितु इस बात मे भी निहित है कि पाठ्यपुस्तकों में क्या है? शिक्षक उसे कैसे पढ़ाते हैं तथा बच्चे उसे कैसे सीखते है? परिषद् ने ऐसी पाठ्यपुस्तकों के निर्माण का कार्य प्रारंभ किया जिनसे स्तर उँचा उठ सके और साथ ही पाठ्यक्रम प्रलेख में निर्दिष्ट उद्देश्यों की भी पूर्ति हो सके। प्रकाशन का एक त्रिवर्षीय चक्र अपनाया गया ताकि क्रम से सभी कक्षाओं—एक से लेकर बारह तक—के लिए तीन भाषाओं—अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू में नई पाठ्यपुस्तके 1977 से 1979 तक प्रकाशित हो जाएँ। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् ने शुरू में जो पाठ्यक्रम तैयार किया उसे केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड ने यथावश्यक संशोधन के साथ अपना लिया। इस प्रकार नई पाठ्यपुस्तकों मे अधिक यथार्थ और सुनिर्दिष्ट रूप में पाठ्य सामग्री का समावेश किया गया।

1978 में पटेल कमेटी की रिपोर्ट[6] के अनुसार अनेक विषयों मे पाठ्यसामग्री घटा दी गई तथा समाजोपयोगी उत्पादक कार्य पर बल दिया गया। फिर भी पाठ्यक्रम में बोझ को लेकर चिंता अब भी व्यक्त की जाती है।

जैसा कि पहले उल्लेख हो चुका है कि शैक्षिक स्तर ऊँचा उठाना है, अतः कम समय में अधिक ज्ञानार्जन अपरिहार्य है। किन्तु इसका अर्थ सूचनाएँ ढूँढना नहीं है, यद्यपि कुछ मात्रा में सूचना तथा उसका स्मृतिसंचय भी आवश्यक है। शिक्षण और अधिगम प्रक्रिया मे आवश्यक परिवर्तन अभी नहीं हुआ है। 'नेशनल कौंसिल ऑफ टीचर एजुकेशन' के माध्यम से राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के प्रयास का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है, क्योंकि

---

[5] *दस वर्षीय विद्यालयी पाठ्यक्रम*, रा शै अ और प्र प, 1975

[6] *दस वर्षीय विद्यालयी पाठ्यक्रम पर पुनरीक्षण समिति की रिपोर्ट*, शिक्षा और समाज कल्याण मंत्रालय, नई दिल्ली, 1977

एक तो शिक्षकों की संख्या बहुत अधिक है और दूसरे यह कि प्राथमिक स्तर पर शिक्षक-प्रशिक्षण व्यवस्था राज्यों के नियंत्रण मे है। इसके अलावा नेशनल कौंसिल ऑफ टीचर एजुकेशन कोई ऐसी वैधानिक संस्था नहीं है जो शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं पर नियंत्रण रख सके। पारंपरिक शिक्षण-विधियों का प्रयोग चलते रहने के कारण ज्ञान की अधिकांश मात्रा सीखने का बोझ विद्यार्थियों तथा उनके माता-पिता पर पड़ता है।

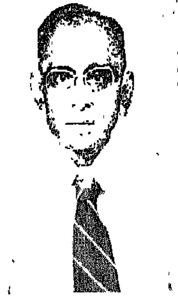
निष्कर्ष

आज जो बच्चे कक्षा 1-2 में हैं, वे 21 वीं सदी के प्रारंभ मे 20-21 वर्ष के युवक होंगे। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास की दिशा से यह प्रतीत होता है कि उद्योग, परिवहन, संचार, जनसंपर्क, स्वास्थ्य, कृषि तथा अन्य क्षेत्रों की कार्यप्रणाली और स्थिति में दूरगामी परिवर्तन होंगे।

विशेषीकरण की संयोजन-प्रणाली की जगह, जिसमें कार्यकर्ता को केवल नट घुमाने वाला एक दक्ष व्यक्ति होना ही पर्याप्त है, अब हम उस दिशा की ओर अग्रसर हो रहे है, जहां एक विशेष कौशल सीखने की जगह सिद्धांतों की समझ के आधार पर कार्य-संपादन की आवश्यकता पड़ेगी। यदि हम केवल दो क्षेत्रों का उल्लेख करें, तो इलेक्ट्रॉनिक और अंतरिक्ष-प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में बड़ी तीव्र गति से परिवर्तन हो रहा है। अतः अब वह समय आ गया है, जब हम महत्व, विशिष्टता, प्रासंगिकता, क्षमता, स्तर और दक्षता के परिप्रेक्ष्य में गुणता पर नए सिरे से विचार करे। आज के अत्यंत सुकुमार बच्चों को 21वीं सदी के लिए तैयार करने की दृष्टि से शिक्षा की पाठ्यवस्तु, उसके शिक्षण और अधिगम की प्रक्रिया, मूल्यांकन तथा विद्यालय प्रबंध मे आमूल परिवर्तन करने होंगे।

सं. वि. चंद्रशेखर अय्या

विद्यालयी विज्ञान-पाठ्यक्रम की गतिपरकता



सं.वि. चंद्रशेखर अय्या

सं.वि. चंद्रशेखर अय्या *(जन्म 1911) बंबई और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों के विशिष्ट स्नातक रहे हैं। बंबई शिक्षा सेवा मे रहकर इन्होंने इंजीनियरिंग महाविद्यालय में प्रोफ़ेसर और प्रिंसिपल का पद संभाला और बाद में ये बंगलूर के भारतीय विज्ञान संस्थान के इलेक्ट्रिकल कम्यूनिकेशन इंजीनियरिंग विभाग के अध्यक्ष हो गए। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के ये प्रथम पूर्णकालिक निदेशक बने। बंबई और अहमदाबाद के विश्वविद्यालयों और बंगलूर के भारतीय विज्ञान संस्थान में रहकर इन्होंने वरिष्ठ पदों पर काम किया। भारत सरकार, तत्कालीन बंबई सरकार और पूना विश्वविद्यालय मे इन्होंने अनेक समितियों का कार्यभार संभाला। 'लाइटनिंग' और 'रेडियो नॉयज़' पर अपने शोध के लिए इन्हें अंतर्राष्ट्रीय ख्याति मिली है। विविध स्तरों की शैक्षिक समस्याओं पर इन्होंने प्रभूत मात्रा में लिखा है।*

विद्यालयी विज्ञान-पाठ्यक्रम की गतिपरकता

इस सदी मे *शिक्षा शिक्षा के लिए, शिक्षा उन लोगों के लिए जो उसका खर्च उठा सकते हैं, विश्वविद्यालय केवल प्रतियोगियों का स्थान है, छात्रों के मानसिक गठन और चरित्र-निर्माण का दायित्व शिक्षक पर है,* आदि पुराने विचार तेजी से समाप्त हो रहे हैं, और अब *सोद्देश्य शिक्षा, शिक्षा में प्रासंगिकता, कल की चुनौती का सामना करने के लिए शिक्षा* आदि नए विचार उनका स्थान ले रहे हैं। अनुभव पर आधारित ये परवर्ती विचार संभवतः अधिक सुयोजित हैं और यह अपेक्षा की जाती है कि 2000 ई. के बाद इन्हीं की प्रधानता रहेगी। पुरानी प्रणालियों में प्रशिक्षित व्यक्तियों से उस परिवर्तन की अपेक्षा की जा रही है जिसके संबंध में कोई स्पष्ट चित्र नहीं बन पाया है। फलतः शिक्षकों, शिक्षार्थियों, अभिभावकों और सरकार चलाने वालों मे गहरा असंतोष और बेचैनी है। इस स्थिति के कारण अब स्पष्ट है। राष्ट्रीय सरकारें तीव्र सामाजिक-आर्थिक प्रगति के लिए प्रतिबद्ध हैं। इसके लिए अन्य साधनों के साथ-साथ प्रशिक्षित जनशक्ति अथवा मानव संसाधन आवश्यक हैं। इस बुनियादी आवश्यकता की पूर्ति के लिए शिक्षा को निरूपित करना है। इसी कारण सरकारों के द्वारा शिक्षा-नीति निर्धारित की जाती है और उसे क्रियान्वित किया जाता है। सरकारें शिक्षा का सौ फीसदी खर्च तक उठाने को तैयार रहती है। नीति-निर्धारण प्रायः वर्तमान आवश्यकताओं के आधार पर होता है किन्तु आज की शिक्षा आने वाले कल की सामाजिक-आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होती है। अब इसका चित्र विकासोन्मुख सामाजिक-आर्थिक और प्रौद्योगिक पूर्वानुमान के आधार पर संभव हो गया है। यद्यपि यह पूर्वानुमान कभी भी पूर्ण नहीं हो सकता और देश-देश में भिन्नता भी रहेगी, फिर भी सामान्य रूप से ऐसा पूर्वानुमान लगातार बदलते हुए सामाजिक आर्थिक और प्रौद्योगिक परिदृश्यों को कुछ विकल्पों के साथ व्यंजित कर देता है। इससे यह सुझाव मिलता है कि पूर्व प्रणाली की जगह नई प्रणाली और किसी सीमा तक *शैक्षिक गतिहीनता* की जगह *शैक्षिक गतिपरकता* को लाना आवश्यक है। इस समस्या का एक अंश ही इस लेख का प्रतिपाद्य विषय है।

शिक्षा

वर्तमान विचार सन 2000 ई. के बाद तक चलते रहेंगे । इन विचारों के अनुसार शिक्षा जीवनपर्यंत चलने वाली वृत्ति होती है, वह चाहे पूर्णकालिक हो अथवा अंशकालिक। इसका उद्देश्य होता है—बुद्धि और शरीर का विकास करना, मस्तिष्क के प्रयोग के लिए अपेक्षित विशेष कौशलों को अर्जित करना, समुचित जीवन-मूल्यों और अभिवृत्तियों को विकसित करना, अनुशासन तथा कर्तव्यपरायणता पर बल देते हुए चरित्र और व्यवहार का निरूपण करना, तथा ज्ञान प्राप्त कर उसकी प्रयोग-विधि सीखना आदि। बाल्यावस्था से किशोरावस्था तक की शिक्षा

विद्यालयी शिक्षा कहलाती है। इसके बाद की शिक्षा को उच्च शिक्षा, विश्वविद्यालयी शिक्षा आदि कहते हैं।

पाँच वर्ष की आयु पार करने के बाद पढ़ने-लिखने में बच्चों की आँखों पर बहुत कम भार पड़ता है। उष्ण प्रदेशों में किशोरावस्था 12 वर्ष के आसपास शुरू हो कर 17 वर्ष तक समाप्त हो जाती है। अतः विद्यालयी शिक्षा का विस्तार 5+ से 17+ तक की बारह वर्षों की अवधि के लिए होता है। समशीतोष्ण प्रदेशों मे किशोरावस्था की शुरुआत 14 वर्ष के आसपास मानी जाती है। पर वर्तमान मत है कि इन प्रदेशों में भी किशोरावस्था 14 वर्ष से पहले शुरू हो जाती है। वैज्ञानिक दृष्टि से विद्यालयी शिक्षा के ये बारह वर्ष दो भागों में बांटे जा सकते हैं— (1) किशोरावस्था शुरू होने के पहले के 7 वर्ष की अवधि को प्राथमिक या प्रारंभिक शिक्षा स्तर और (2) किशोरावस्था के 5 वर्ष की अवधि को माध्यमिक शिक्षा-स्तर कह सकते हैं। प्रशासनिक शब्दावली जैसे प्राथमिक, उच्च प्राथमिक, मिडिल, माध्यमिक, उच्चतर माध्यमिक आदि का इस लेख में प्रयोग नहीं किया गया है। प्राथमिक स्तर पर तथ्य ज्ञान और उसके प्रयोग की अपेक्षा बुद्धि और शरीर के विकास, प्रेक्षण और अनुभव द्वारा सीखने तथा सामान्यतः *अन्वेषणात्मक दृष्टिकोण* की प्रमुखता होगी किन्तु माध्यमिक स्तर पर इसके विपरीत स्थिति होगी।

मानसिक विकास की दृष्टि से, जो हमारा प्रतिपाद्य विषय है, विद्यालयी शिक्षा के स्पष्ट, सुनिश्चित उद्देश्य हैं। उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए पाठ्यविषय, शिक्षण विधियाँ, शिक्षण साधन और मूल्यांकन पद्धति जिससे मालूम हो सके कि उद्देश्यों की पूर्ति हुई है या नहीं आदि का गठन होता है। ये सभी पाठ्यक्रम के अंतर्गत शामिल हैं।

मानसिक विकास के लिए ज्ञान के तीन समान महत्वपूर्ण विषयों का उपयोग किया जाता है, जिनके नाम हैं— मानविकी, सामाजिक विज्ञान और प्राकृतिक विज्ञान, जिन्हे संक्षेप में केवल *विज्ञान* कहते हैं। विज्ञान के अंतर्गत उसका व्यवहार शामिल है, अर्थात प्रौद्योगिकी और इंजीनियरिंग। मनुष्य का वैज्ञानिक ज्ञान कितना सीमित है, इसके निदर्शन के लिए अनुभव के फलस्वरूप इंजीनियरिंग मे अंगुष्ठ-नियम भी शामिल है। *विज्ञान* के लिए मानविकी तथा सामाजिक विज्ञान बहुत आवश्यक हैं तथा विज्ञान के वृहत् ज्ञान और व्यवहार के लिए इन्हें छोड़ा नहीं जा सकता। अतः विद्यालयी समय का केवल एक तिहाई भाग ही विज्ञान और उसके व्यवहार के लिए मिल पाता है।

संक्षिप्त इतिहास

1917 की क्रांति के पश्चात् एक संपन्न सोवियत रूस के निर्माणार्थ वहाँ सोद्देश्य शिक्षा के लिए शिक्षा-व्यवस्था का पुनर्गठन किया गया। इसके लिए अनेक नवप्रवर्तन किए गए। आज रूस की उपलब्धियां उसकी सफलता की प्रमाण है। 1957 में उसने विश्व का प्रथम अंतरिक्ष यान–स्पुतनिक छोड़ा। उसके तत्काल बाद ही संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति आइज़न हॉवर ने विज्ञान-प्रतिभा-प्रोत्साहन तथा विज्ञान-शिक्षा के अधिकाधिक संवर्द्धन के कार्यक्रम पर बल दिया। अन्य देशों ने भी इसी प्रकार प्रयास किए। भारत भी पीछे नहीं रहा। 1947 से ही जवाहरलाल नेहरू ने गरीबी और अभाव दूर करने के लिए विज्ञान के प्रयोग पर भारतीय वैज्ञानिकों को प्रोत्साहित किया। स्पुतनिक तथा अमेरिका में विशेष विज्ञान अभियान के बाद यहां शिक्षा मंत्रालय ने विद्यालयी शिक्षा में भी अपना प्रयास दुगुना कर दिया। 1961 में मंत्रालय ने राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् (एन. सी. ई. आर. टी.) की स्थापना की। यद्यपि परिषद् में केवल हिंदी और अंग्रेजी मे सारे कार्य होते हैं, जबकि शिक्षा राज्यों का विषय है और

वहां प्रायः क्षेत्रीय भाषा का प्रयोग होता है, फिर भी इसने राज्यों की विद्यालयी व्यवस्था को, विशेषतः विज्ञान की शिक्षा की दृष्टि से, बहुत प्रभावित किया है। इसने संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत रूस, इंग्लैंड, जर्मनी, यूनेस्को, यूनिसेफ, यू. एन. डी. पी. आदि की सहायता और परामर्श का लाभ उठाया और पाठ्यपुस्तक निर्माण, साइंस किट तैयार करना, शिक्षकों का प्रशिक्षण तथा पुनः प्रशिक्षण, विद्यालयी विज्ञान-प्रदर्शनी, विज्ञान के प्रतिभाशाली छात्रों और शिक्षकों को उजागर करना, विद्यालयी शिक्षा में कंप्यूटर का समावेश, परीक्षा के लिए मूल्यांकन और मापन की नवीन विधियों का प्रयोग, चुने हुए स्कूलों में विस्तार सेवा-कार्यक्रम, शिक्षक-प्रशिक्षण में प्रौद्योगिकी का समावेश आदि के रूप में अपने विज्ञान-कार्यक्रम का गठन किया। इस व्यापक और मूल्यवान अनुभव से परिषद् शिक्षा के क्षेत्र में नई चुनौतियों का सामना करने में समर्थ सिद्ध हुई है।

विगत तीन दशकों से अनेक देशों में किए गए ऐसे प्रयासों के बावजूद इस पर नए सिरे से विचार करने का तीव्र अनुभव किया गया है। वैज्ञानिक संघों की अंतर्राष्ट्रीय परिषद् (इंटरनेशनल कौंसिल ऑफ साइंटिफिक यूनियन्स) ने *विज्ञान और प्रौद्योगिकी शिक्षा तथा भावी मानव-आवश्यकताओं* पर शीघ्र ही 1985 में एक सम्मेलन बुलाने का विचार किया है। यद्यपि विद्यालयी विज्ञान इस सम्मेलन का एक अंशमात्र है, पर उसके विचारों के परिणामों पर आँखें लगी हुई हैं।* उसके बाद जो कुछ होगा, यह जरूरी नहीं कि वह उपर्युक्त परिणामों का पूर्वाभास हो, बल्कि वह एक सर्वथा स्वतंत्र उपागम होगा।

पूर्वानुमान

1985 में विद्यालयों में प्रवेश लेने वाले बच्चों से 2000 ई. के बाद ही समाजोपयोगी सदस्य के रूप में कार्य करने की अपेक्षा की जाती है। अतः 2000 ई. के बाद ही जो समाज अस्तित्व में आएगा, उसी के सामाजिक संदर्भ में विचार करना चाहिए। इसके लिए प्रौद्योगिक तथा सामाजिक-आर्थिक पूर्वानुमान की आवश्यकता है। यह उल्लेख किया जा चुका है कि यह पूर्वानुमान विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न होगा। अतः अधिकतर देशों के लिए 2000 ई. का यथोचित वैध सामान्यीकृत चित्र परिचर्चा और विवेचना के उद्देश्य से यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

जनसंख्या के अपर्याप्त नियंत्रण से खाद्य और स्वास्थ्य के क्षेत्र में गहरी समस्याएँ उत्पन्न होंगी। अतः विद्यालयी विज्ञान में कृषि तथा निवारक औषधि के विषय में विशेष नव-प्रवर्तन की आवश्यकता है। किसी देश की संपूर्ण जनसंख्या को, जो आदिवासी, सवर्ण, भाषा या धर्म के आधार पर बँटी हुई है, राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा में एक साथ लाना है। इनमें बहुत बड़ी संख्या निरक्षर है, उनके लिए उनकी क्षेत्रीय भाषा या बोली में अच्छे प्रसारण की आवश्यकता है तथा सभी के लिए टेलिफोन की सुविधा भी होनी चाहिए। कंप्यूटरों के परिणामस्वरूप नई विचार-पद्धति का सर्वत्र प्रसार होगा। यंत्रोत्पादित वस्तुओं में छूट की सीमा आज की अपेक्षा बहुत कम होगी। नई सामग्री बढ़ेगी। सामग्रियों के प्रयोग में मितव्ययिता, शक्ति का उपभोग, पेय-जल का प्रयोग आदि का महत्व बढ़ेगा। साज-सामान का शीघ्र संस्थापन और उनका परीक्षण, अवशिष्ट पदार्थों का उपयोग, विशेष प्रकार के प्रदूषण, परिस्थितीय संतुलन में गड़बड़ी आदि विशेष रूप धारण करेंगे। निम्न स्तर पर रोजगार के कारण पहल करने अथवा निर्णय लेने के कम अवसर मिलेंगे, और वे उत्तरोत्तर बोझिल होते जाएँगे।

प्रौद्योगिकी में चार प्रकार के कार्यकर्ता होते हैं, अकुशल कार्यकर्ता, कुशल कार्यकर्ता, तकनीशियन और प्रौद्योगविद्। विद्यालयी विज्ञान की भूमिका में इन वर्गों की सापेक्षिक माँग

* यह लेख 1984 में लिखा गया था।

घटेगी। कुशल कार्यकर्ताओं को भी स्वयं नए कार्य सीखने तथा उन्हें करने के लिए मानसिक रूप से तैयार रहना होगा। इन गुणों के अतिरिक्त तकनीशियनों में अंग्रेजी जैसी अंतर्राष्ट्रीय भाषा की प्रदक्षता होनी चाहिए और पुरानी तथा नई तकनीकों का अंतर भर सकने के लिए नवीनीकरण की क्षमता आदि भी होनी चाहिए। प्रौद्योगविदों तथा प्रबंधकों को कंप्यूटर तथा सांख्यिकी पद्धतियों आदि के प्रयोग से भली-भाँति परिचित होना चाहिए। प्रदूषण दूर करने, परिस्थितीय संतुलन बनाए रखने तथा समाज को क्षति पहुँचाने वाले अन्य सामान्य कारणों का निवारण उनका उत्तरदायित्व है। उन्हें कर्तव्य भावना तथा समाजहित की भावना जगानी है। नई प्रौद्योगिकी की ओर उन्मुख लोगों को अनुप्राणित करना है और अप्रचलित तत्वों के विरुद्ध सजग भी रहना है।

तर्कसंगत, सुसंबद्ध और शुद्ध अभिव्यक्ति, मातृभाषा के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में भी तकनीकी साहित्य के सम्यक् बोध की योग्यता, सामाजिक उत्तरदायित्वों की अनुभूति की क्षमता आदि ऐसे गुण हैं जिनकी कुशल कार्यकर्ताओं तथा किसी सीमा तक तकनीशियनों तथा प्रौद्योगविदों से भी अपेक्षा की जाती है। इन गुणों का विकास विद्यालयी स्तर की शिक्षा द्वारा होना चाहिए। अतः आवश्यक विज्ञान को अधिक बढ़ावा देने के लिए मानविकी तथा सामाजिक विज्ञान की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

जहाँ तक विज्ञान का संबंध है, पूर्वानुमानों से यही संकेत मिलता है कि वैज्ञानिक अनुप्रयोगों पर और अधिक ध्यान देना चाहिए। इसके अतिरिक्त छात्रों को सीधे प्रौद्योगिकी की ओर प्रवृत्त करने की आवश्यकता है। *वर्तमान विज्ञान* के बोध के अतिरिक्त बच्चों को *स्वयं भावी विज्ञान* को समझने के लिए प्रशिक्षित करना चाहिए और उनके अनुप्रयोग के लिए क्षमता विकसित करनी चाहिए।

विद्यालय में विज्ञान

विद्यालयी विज्ञान द्वारा ऐसे मस्तिष्क का विकास करना है जो आज से कम से कम दो दशकों के बाद की समस्याओं को समझ सके। उसका विषय-ज्ञान इतना पर्याप्त हो कि व्यक्ति उस समय की प्रचलित वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक तथा सामाजिक-आर्थिक स्थितियों से अपने को सुपरिचित अनुभव करे। इसके लिए वर्तमान ढाँचे की काट-छाँट आवश्यक है ताकि आवृत्तियों को हटाया जा सके और उस सामग्री का समावेश किया जा सके जो भविष्य के लिए नितांत आवश्यक सिद्ध हो।

इस आधार पर विद्यालयी विज्ञान में वह वस्तुविज्ञान रखा जाए जिसमें भौतिकी और रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, इलेक्ट्रॉनिक्स और गणित का समावेश हो। गणित का प्रक्षेपण सांख्यिकी, संख्यात्मक कार्यों, ग्राफ्स और ड्राइंग की ओर हो। इलेक्ट्रॉनिक्स में कंप्यूटर्स और संचार तथा जीव विज्ञान में पोषण, प्रदूषण, जननिक आदि विषय अवश्य रहें। वस्तु विज्ञान का प्रक्षेपण भौतिकी और रसायन विज्ञान के मूलभूत तत्वों की अवहेलना न करते हुए नई और उपयोगी वस्तुओं की ओर हो। सभी स्थितियों में प्रयोगात्मक कार्यों तथा परिशुद्धता पर बल रहना चाहिए। *अन्वेषणात्मक* उपागम अपनाने से प्रेक्षण शक्ति तथा आधार सामग्री के सामान्यीकरण की क्षमता तीव्र होती है। विद्यालय में विज्ञान के लिए निर्धारित समय के तिहाई अंश के उपयोग से यह सब कुछ किया जा सकता है। किन्तु विज्ञान की शिक्षा उसे अलग-अलग खानों में न बाँटकर एक इकाई के रूप में होनी चाहिए। प्राथमिक और माध्यमिक स्तर पर इसका विभाजन कैसे किया जाए, और क्या प्राथमिक स्तर का विषय वहीं पूरा कर लिया जाए, यह सूक्ष्म ब्यौरे की बात है। फिर भी यह वांछित होगा कि प्रत्येक वर्ष का कार्य सुनिर्दिष्ट उद्देश्यों और तथ्य ज्ञान की दृष्टि से अपने में पूरा हो जाए।

विद्यालय में उपलब्ध समय को देखते हुए प्रौद्योगिकी का प्रत्यक्ष रूप से समावेश संभव नहीं है। फिर भी एक तरीका है—प्रति सप्ताह विद्यालयी घंटों की संख्या तथा वर्ष मे कार्य-दिवस की संख्या में थोड़ी वृद्धि कर देने से लगभग 10 प्रतिशत अतिरिक्त समय मिल जाना संभव है। इस समय का उपयोग प्रौद्योगिकी के लिए किया जा सकेगा। इसके लिए एक नए विषय *दैनिक विज्ञान* का समावेश करना आदर्श स्थिति होगी। इसके अंतर्गत इंजीनियरिंग और प्रौद्योगिकी के वैज्ञानिक सिद्धांत और अनुप्रयोग दोनों की शिक्षा होगी। इस प्रकार विद्युत चुंबकीय के फैराडेज़ नियम बच्चों को बताए जाएँ और उनका प्रयोग मोटर, जैनरेटर, ट्रांस्फॉर्मर आदि बनाने की क्रिया मे सिखाया जाए। रुचि अनुसार कार्यशालाएं, कारखानों तथा संग्रहालयों का प्रेक्षण आदि भी आवश्यक है। इस विषय में सामान्यतः *मनुष्य की आवश्यकताओं और उत्तरदायित्वों* का उल्लेख होना चाहिए।

विज्ञान तथा दैनिक विज्ञान दोनों में विद्युतगति से प्रगति हो रही है। यद्यपि कुछ चमत्कारिक अन्वेषणों के बारे में अनुमान लगाना संभव नहीं है, पर सामान्य अन्वेषणों के बारे में सोचा जा सकता है। उदाहरण के तौर पर अगले तीस वर्षों में ऐसे पदार्थों का बनाना संभव हो सकेगा जिनके भौतिक गुण अपनी इच्छानुसार निर्धारित किए गए हों। इलेक्ट्रॉनिक्स के विकास के फलस्वरूप अगली पीढ़ी में एक घन इंच के संगणक (कंप्यूटर) का निर्माण संभव हो जाएगा। एक माचिस की डिब्बी से भी छोटे ट्रांसीवर्स यंत्र द्वारा दस किलोमीटर की दूरी तक संदेश आदान-प्रदान करना संभव होगा। आनुवंशिकी में भी प्रगति की नई दिशा संभव होगी। पारमाणविक संधि पर आधारित ऊर्जा का उपयोग संभव हो सकेगा। सभी जगह उच्च कोटि की शुद्ध वस्तुओं का बनाना और उनकी शुद्धता का परीक्षण संभव हो सकेगा। परीक्षण की ऐसी विधियों का विकास होगा जिससे परीक्षित वस्तुओं का नाश न हो। इन अन्वेषणों से अमूल्य अनुप्रयोगों के साथ-साथ विज्ञान की प्रगति होगी। वर्तमान विकास की तीव्र गति को देखते हुए विद्यालयी पाठ्यक्रमों का सावधिक पुनरीक्षण और परिशोधन संभव नहीं प्रतीत होता। वार्षिक पुनरीक्षण और जहां आवश्यक हो वहां पाठ्यविषय में परिशोधन ही सामान्य प्रक्रिया होगी। यह आवश्यकता ही *पाठ्यक्रम गतिपरकता* की जननी है। पाठ्यक्रम में नए विषयों के समावेश के कारण निश्चित ही पुराने विषयों में से कुछ को हटाना पड़ेगा अथवा कुछ पर बल कम करना पड़ेगा ताकि पाठ्यक्रम में संतुलन बना रहे और बोझ भी न बढ़े।

यह विचार गलत है कि विद्यालयी विज्ञान में अद्यतन विकास को शामिल करने की जरूरत नहीं है। विद्यालयी विज्ञान अपने में एक संश्लिष्ट इकाई है जिसमें सरल ढंग से अद्यतन विकासों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है। पर हाँ, इसके प्रस्तुतीकरण में अंतर होता है अर्थात् विद्यालयी स्तर पर सूक्ष्म ब्यौरों तथा विश्लेषणात्मक व्युत्पत्तियों को छोड़ दिया जाता है।

पाठ्यक्रम गतिपरकता

आज भी विद्यालयी विज्ञान के हर पहलू का सतत पुनरीक्षण और परिशोधन हो रहा है, किन्तु वह एक निश्चित समयानुक्रम से नहीं होता और यदा-कदा होता रहता है। इससे परिवर्तन अत्यधिक अनमनीय हो जाता है और विशेष जोर तथा तनाव का कारण बन जाता है। फिर यह परिवर्तन आगामी दो दशकों जैसे भविष्य में होने वाले सामाजिक, आर्थिक और प्रौद्योगिक पूर्वानुमानों पर आधारित नहीं होता। इस कारण इनसे सोद्देश्य शिक्षा की आवश्यकताएँ पूरी नहीं होतीं।

पाठ्यक्रम गतिपरकता से व्यवस्था और विधि का संचार होता है और उसमें सुसम्बद्ध कार्य

की अपेक्षा रहती है। वार्षिक परिवर्तन बहुत ही साधारण होते हैं किन्तु वर्षों की जाँच के बाद वे बहुत महत्वपूर्ण हो सकते हैं। इसमें एक औसत विद्यार्थी पर एक सामान्य बोझ का ध्यान रखा जाता है जिसका निर्वाह एक औसत अध्यापक विद्यालय में अपनी औसत सुविधाओं से ही कर सकता है। चूँकि वार्षिक परिवर्तन मामूली से होते हैं, अतः पुनःपरीक्षा देने वाले छात्रों के लिए पृथक प्रावधान की आवश्यकता नहीं होती है। पाठ्यक्रम गतिपरकता के लिए वार्षिक पुनरीक्षण एवं परिणामस्वरूप निम्नांकित दृष्टियों से यथावश्यक परिवर्तनों की अपेक्षा की जाती है—

(क) सामाजिक-आर्थिक और प्रौद्योगिक पूर्वानुमान

(ख) उद्देश्य

(ग) पाठ्य विषय

(घ) शिक्षण विधि

(ङ) पाठ्यपुस्तकें तथा पूरक साहित्य

(च) शिक्षण साधन, जिनमें श्रव्य व दृश्य प्रसारण भी शामिल हैं

(छ) मूल्यांकन विधि।

पाठ्यक्रम गतिपरकता में विद्यालयी विज्ञान की दृष्टि के लिए एक अनुबंधित उपागम का प्रावधान होता है, और सूची प्रकरणों में से एक प्रकरण पर दूसरे की अपेक्षा विशेष बल दिया जाता है। आगे पाठ्यक्रम गतिपरकता की कुछ विशेष प्रकार की समस्याओं का तीन शीर्षकों के अन्तर्गत विश्लेषण किया गया है—शैक्षिक पक्ष, प्रशासनिक पक्ष और सूचना प्रसार।

1. शैक्षिक पक्ष— सामाजिक-आर्थिक और प्रौद्योगिक पूर्वानुमान अभी प्रारंभिक स्तर पर हैं। वे वर्ष प्रतिवर्ष होने वाले परिवर्तनों को सूचित नहीं कर सकते, फिर अनेक देशों में आवश्यक आँकड़े भी सुलभ नहीं हैं। पर इस स्थिति में परिवर्तन की अपेक्षा की जाती है। समग्र रूप से कुछ उपयोगी परिवर्तन तो अवश्यंभावी हैं। शैक्षिक शोध संगठनों में भी ऐसी व्यवस्था हो जो ध्यानपूर्वक दूसरे संगठनों (दूसरे देशों के भी) से प्राप्त पूर्वानुमानों से संबंधित संवीक्षा करे, सूचनाओं का संश्लेषण करे और उसके निहितार्थों को जताए। मस्तिष्क का विकास स्वयं में कोई परिवर्तन नहीं लाता किन्तु एक निश्चित दिशा में उसे अभिमुख करने पर परिवर्तन होता है। सूचना-सामग्री तथा उसके अनुप्रयोग भी परिवर्तन लाते हैं। इस सीमा तक उद्देश्य बदल सकते हैं। पाठ्यविषयों में भी घटाने, बढ़ाने या बदलने की दृष्टि से संशोधन हो सकता है। शिक्षण-प्रणाली में भी सामान्यीकृत परिवर्तनों के आधार पर, विशेष रूप से बल देने की दृष्टि से, परिवर्तन करना होगा। शिक्षण विधियाँ स्वतः परिवर्तित हो सकती हैं। लगभग 1920 तक पाठ्यपुस्तकें विशेषज्ञों द्वारा लिखी जाती थीं जो अपनी विशिष्ट शैली में विषय का प्रतिपादन करते थे। आज का उपागम विशेषतः *सोद्देश्य शिक्षा* की दृष्टि से बिल्कुल भिन्न है। पाठ्यपुस्तकें विशेषज्ञों की टीम द्वारा लिखी जाती हैं। अब विषय की सुसम्बद्धता, उनके प्रतिपादन की भाषा, डायग्राम्स, चार्ट्स, टेबुल्स आदि के प्रयोग में सुधार के अवसर हैं। यदि पाठ्यपुस्तकों के प्रतिवर्ष मुद्रण में आर्थिक कठिनाई है तो पूरक-सामग्री प्रकाशित करने का प्रयास होना चाहिए। अतिरिक्त पुस्तिकाओं के रूप में पूरक साहित्य हमेशा ही प्रकाशित किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त शिक्षकों द्वारा प्रयोग के लिए पाठ्य विषयों में सन्निविष्ट नये प्रकरणों पर *शिक्षण इकाइयाँ* प्रतिवर्ष प्रकाशित होनी चाहिए। इस विशिष्ट उद्देश्य से शिक्षण इकाइयाँ कभी भी अप्रासंगिक अथवा पुरानी नहीं पड़ेंगी। शिक्षण साधनों, टेलिविजन पाठों आदि में भी हमेशा सुधार किया जा सकता है। पाठ्यविषयों में सन्निविष्ट नए प्रकरणों के लिए इनका अधिक महत्व है। चूँकि सभी विद्यालय, टी. वी. स्टेशनों के अंतर्गत नहीं आते, अतः वीडियो टेपों का प्रयोग भी वांछित है। शोध से

यह सिद्ध है कि केवल देखने की अपेक्षा देखना और सुनना अधिक प्रभावपूर्ण होता है। फिर केवल सुनने में निदर्शन और डायग्राम का प्रयोग नहीं हो सकता। अतः यह मानना चाहिए कि ध्वनि-प्रसारण का उपयोग सीमित है।

प्रतिदिन निर्मित प्रश्नपत्रों की संख्या, प्रत्येक प्रश्नपत्र के लिए समय निर्धारण, कितने प्रश्न पूछे जाएँ, प्रश्नों में विकल्प, वस्तुपरक, लघुत्तरात्मक, निबंधात्मक आदि प्रश्नों का सापेक्षिक वितरण, प्रत्यक्ष परिकलन, ड्राइंग, रेखांकन आदि की जाँच अभी भी जारी है। नवप्रवर्त्तन तथा सृजनात्मक क्षमताओं का अनुमूल्यन उपलब्धि-परीक्षा की सीमाओं से बाहर नहीं है किन्तु ये अभी भी जटिल प्रश्न बने हुए हैं। अतः परीक्षा-सुधार की गुंजाइश भी सदा बनी हुई है।

2. *प्रशासन*—इस भाग के अंतर्गत परिचर्चा कुछ ऐसी मान्यताओं पर आधारित है, जो वर्तमान परिस्थितियों में वैध है अथवा आसानी से क्रियान्वित हो सकती हैं। विद्यालयी शिक्षा के 7,10 और 12 वर्षों के बाद सार्वजनिक परीक्षाएँ होती हैं। चूँकि ये परीक्षाएँ वास्तविक अधिगम प्रक्रिया के प्रति विद्यार्थियों की रुचि कम करती हैं, अतः श्रेष्ठ उपाय यह है कि विद्यालयी शिक्षा के 12वें वर्ष के अंत में ही एक परीक्षा हो। इसके लिए सरकार द्वारा स्थापित तीन सांविधिक बोर्ड होने चाहिए, यथा— परीक्षा बोर्ड, शोध और प्रशिक्षण बोर्ड, विद्यालयी प्रशासन बोर्ड। एक व्यक्ति को प्रायः एकाधिक बोर्डों का काम करना पड़ता है। यह वांछित नहीं है क्योंकि परिचर्चा और संश्लिष्ट विचार की आवश्यकता पड़ती है। प्रत्येक बोर्ड के लिए एक मुख्य शैक्षिक और अधिशासी अधिकारी का होना अपेक्षित है, जिसे हम यहाँ *निदेशक* कह सकते है।

पाठ्यक्रम गतिपरकता के लिए *शोध और प्रशिक्षण बोर्ड* केन्द्रीय बोर्ड होगा। पाठ्यक्रम गतिपरक कार्य के लिए यह बोर्ड तीनों बोर्डों के भूतपूर्व अंतिम तीन निदेशकों की एक समिति का निर्माण करे। भूतपूर्व निदेशकों का सुझाव इसलिए दिया गया है कि वे इस काम के लिए समय दे सकते हैं। इस समिति की सहायता के लिए एक पृथक संगठन होना चाहिए, जिसका अध्यक्ष कोई मान्य शैक्षिक अधिकारी हो। इस अधिकारी को वास्तविक कार्य संपन्न कराना है—जैसे प्रौद्योगिक तथा सामाजिक-आर्थिक पूर्वानुमानों से संबंधित तथ्य सामग्री एकत्र कराना, उनके परिणाम, यथावश्यक परिशोधन आदि। यह बहुत ही महत्वपूर्ण है कि इस अधिकारी को विश्वविद्यालयी स्तर के प्रोफेसरों से विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के संबंध मे परामर्श का लाभ मिलता रहे। किसी भी संस्तुति को अंतिम रूप देने के पूर्व समिति द्वारा विवादास्पद प्रश्नों पर भली-भाँति विचार-विमर्श होना चाहिए। शोध और प्रशिक्षण बोर्ड के निदेशक द्वारा समिति की रिपोर्ट पढ़ने के बाद उसे सरकार के अनुमोदन के लिए अग्रसारित करना चाहिए। यह समिति पहले पाठ्यक्रम का निर्माण करे जिसे परीक्षा बोर्ड अपनाए। यह पाठ्यक्रम यथासंभव संक्षिप्त रूप में और सरल शब्दावली में तैयार किया जाए। इसके अतिरिक्त, परिवर्तनों की जाँच के बाद ब्यौरेवार पाठ्यविषयों के सारलेख तैयार किए जाएँ जिन्हें शिक्षकों के प्रयोग के लिए सुलभ किया जाए। ऊपर भाग 1 में परिचर्चित अन्य विवरणों का अवलोकन भी समिति द्वारा अवश्य किया जाए। इस प्रकार परीक्षा बोर्ड का काम केवल परीक्षा लेने के प्रशासनिक कार्यों तक ही सीमित होना चाहिए। यहाँ तक कि पाठ्यपुस्तकों को लिखाने का उत्तरदायित्व भी शोध और प्रशिक्षण बोर्ड का है। विद्यालय प्रशासन बोर्ड का काम निरीक्षण, पर्यवेक्षण, नियुक्तियों आदि तक सीमित रहना चाहिए। पाठ्यक्रम समिति को कार्य तथा उसके पालन के लिए उपयुक्त समयानुक्रम निर्धारित करना चाहिए। यद्यपि इसका संबंध विद्यालयी शिक्षा के समस्त 12 वर्षों से है, पर प्राथमिक स्तर या प्रथम सात वर्षों के लिए अपेक्षित परिवर्तन बहुत ही कम हैं क्योंकि इस स्तर पर ज्ञान और प्रयोग की अपेक्षा मस्तिष्क के विकास का अधिक महत्व है। फिर भी प्रारंभिक स्तरों पर दैनिक विज्ञान की ओर

विशेष ध्यान देना चाहिए।

3. सूचना-प्रसार—सूचना-प्रसार के क्षेत्र में अनेक अभावों के कारण प्रायः विद्यालयी स्तर की शिक्षा व्यर्थ हो जाती है। लाल फीताशाही सूचनाओं को भेजने में बहुत देर करती है और इस कारण वह उद्देश्य ही विफल हो जाता है जिसके लिए सूचना भेजी जाती है। प्रायः अनेक अधिकारियों/बोर्डो को सूचना-सामग्री की संवीक्षा करनी पड़ती है, उनमें सुधार करना पड़ता है और तब आगे भेजना पड़ता है। सही तरीका यह होगा कि पाठ्यक्रम गतिपरक समिति तथा सरकार द्वारा अनुमोदित सामग्री सीधे विद्यालय को भेज दी जाए। इसके लिए जहाँ उचित व्यवस्था न हो, यथा संभव मासिक समाचार बुलेटिन उपयुक्त भाषा में प्रकाशित करने की योजना बनानी चाहिए। इस बुलेटिन में परिवर्तनों के विवरण दिए जाएँ। यथासंभव टेलिविजन पाठों का तिथि सहित कार्यक्रम और अन्य सूचनाएँ भी दी जाएँ। इनके अतिरिक्त विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी मे अद्यतन विकासों के संक्षिप्त सार लेख; राष्ट्रीय स्तर पर नई प्रगति, शिक्षण तथा निदर्शन नवीनीकरण आदि के लिए विशेष स्तंभ रखा जाए। ऐसे बुलेटिनों की अनेक प्रतियाँ प्रत्येक विद्यालय को भेजी जाएँ जिन्हे अध्यापक कक्ष के सूचना-पट्ट पर, छात्रों के लिए बने सूचना-पट्ट पर और पुस्तकालय में प्रदर्शित किया जाए। इन बुलेटिनों का समुचित प्रलेखीकरण होना चाहिए और उनकी प्रतियाँ विद्यालय के पुस्तकालय मे संदर्भ के लिए सुरक्षित रखी जाएँ।

अध्यापक-शिक्षा

औरों की भांति ही शिक्षकों को भी प्रशिक्षित और पुनः प्रशिक्षित करना होता है। प्रति वर्ष कम से कम एक सप्ताह का पुनश्चर्या पाठ्यक्रम आयोजित होना चाहिए जिसमें अध्यापकों को श्रेष्ठ एवं सक्रिय वैज्ञानिकों तथा प्रौद्योगविदों द्वारा विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में नवीनतम सूचनाएँ दी जाएँ। ऐसे व्याख्यान विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग मे अथवा विख्यात प्रशिक्षण महाविद्यालयों में बहुत अच्छी तरह आयोजित हो सकते हैं। प्रति पाँच वर्ष पर शिक्षकों को विश्वविद्यालयों अथवा उस स्तर के शिक्षा महाविद्यालयों में ऐसे कोर्स में भाग लेने के लिए विश्राम-अवकाश देना चाहिए।

वस्तुतः शिक्षा के डिग्री कोर्सों मे विषय-शिक्षण, विषय-सामग्री, विज्ञान के प्रयोग, आशु उपकरणों द्वारा प्रयोग की विधियों आदि पर अधिक ध्यान देना चाहिए। वैज्ञानिक शोध संस्थानों, इंजीनियरिंग परि[illegible]ओं, कारखानों, संग्रहालयों आदि के अवलोकन आदि विज्ञान-शिक्षकों के कार्य के आवश्यक अंग है। ऐसे अवलोकनों की रिपोर्ट को अवश्य तैयार करे। प्रसारण-प्राधिकरणों से मिलकर मान्य विशेषज्ञों द्वारा नव-प्रवर्तनों तथा प्रतिभा-प्रदर्शनों पर व्याख्यानों के निश्चित कार्यक्रम आयोजित किए जाएँ। उनमें से कुछ वीडियो टेप द्वारा सुलभ भी कराए जाएँ।

भारतीय दृश्य

भारतीय संघ स्तर पर राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, केन्द्रीय विद्यालय संगठन, केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड जैसी संस्थाएँ एक साथ मिलकर इस लेख में इंगित कार्यों को प्रभावपूर्ण ढंग से संपादित कर सकती हैं। संघ के राज्यों में भी इनके समानांतर संगठन हैं। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् ने इस परिवर्तन की ओर कदम बढ़ाया है और वह यह कार्य हाथ में ले सकती है। अब कुछ ऐसे व्यक्तियों के आगे आने की आवश्यकता है, जो इस कार्य के प्रति प्रतिबद्ध हों और देश को आगे बढ़ाने के लिए नव-प्रवर्तन में सक्षम हों।

निष्कर्ष

यत्र-तत्र परिवर्तन, जो होना चाहिए उसके संबंध में अस्पष्ट वक्तव्य, परिवर्तन के लिए सच्ची अभिलाषा आदि सभी विद्यमान हैं। लेख मे परिचर्चित अनेक मुद्दों पर प्रयोग भी किए गए हैं। किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से *कार्यों* की पहिचान करने, उन्हें विद्यालयी स्तर पर व्यावहारिक रूप देने तथा एक समयानुक्रम का पालन करने से ही व्यवस्था और विधि का प्रादुर्भाव होगा। यही आज की पुकार है और 2000 ई. के पूर्व यही हमारा लक्ष्य भी है।

संदर्भ

1. एस. वी. सी. अयूया, (1971), *ए चिल्ड्रेन साइंस इंजेक्शन प्रोग्राम* यूनेस्को सिलवर जुबली लेक्चर, एन. सी. ई आर टी., नई दिल्ली
2. एस. वी. सी. अयूया (1972), *टेक्नोलॉजी फॉर एजुकेशन, करेंट प्रॉबलम्स इन एजुकेशन (717202)*, एन सी. ई. आर टी., नई दिल्ली
3. एस. वी. सी. अयूया (1972), *ए स्कूल साइंस प्रोजेक्ट ऑफ इंडिया, करेंट प्राब्लम्स इन एजुकेशन (717203)*, एन. सी. ई. आर. टी., नई दिल्ली
4. एस. वी. सी अयूया, (1972), *कम्प्यूटर्स फॉर एजुकेशन इन डेवलपिंग कंट्रीज, की नोट ऐड्रेस,* यूनेस्को राउण्ड टेबुल आन सी. ए. आई., बुखारेस्ट
5. एस वी. सी. अयूया (1983), *मैनुफेक्चर ऑफ नॉलेज, प्रोग्रेस ऑफ लिब, एण्ड इनफार्मेशन साइंस,* 4, 1-12 बी एच. यू., वाराणसी
6. एन. सी. ई. आर. टी. (1980), *ए डिकेड ऑफ नेशनल साइंस एक्ज़िबिशन्स फॉर चिल्ड्रेन,* एन. सी. ई. आर. टी., नई दिल्ली
7. एन. सी. ई. आर टी. (1982), *इंटिग्रेटेड साइंस करिकुलम फॉर मिडिल स्कूल्स,* एन सी. ई आर टी., नई दिल्ली
8. एन सी. ई. आर. टी. (1983), *साइंस एंड मैथमैटिक्स एजुकेशन,* एन. सी. ई. आर. टी., नई दिल्ली
9. एन सी. ई. आर. टी (1983), *स्टडी ऑफ दि पोजिशन ऑफ साइंस एजुकेशन इन इंडिया,* एन. सी. ई. आर टी, नई दिल्ली
10. एन. सी ई आर टी (1984), *कप्यूटर लिटरेसी एण्ड स्टडीज़ इन स्कूल्स,* एन. सी. ई. आर टी., नई दिल्ली
11. एन. सी. ई. आर टी. (1984), *वैटेज गिव्हेन टू डिफरेण्ट एरियाज ऑफ स्कूल करिकुलम,* एन.सी.ई.आर. टी., नई दिल्ली
12. एन सी ई आर. टी. (1984), *करिकुलम लोड ऐट दि स्कूल लेवल इन दि स्टेट्स ऑफ कर्नाटक, उड़ीसा एंड राजस्थान* (तीन वाल्यूम्स मे), एन. सी. ई. आर. टी., नई दिल्ली

एन. वेदमणि मैनुएल

शिक्षा में पर्यावरण-उपागम : औपचारिक और अनौपचारिक शिक्षा में नव जीवन संचार का साधन



एन.वेदमणि मैनुएल

एन. वेदमणि मैनुएल *(जन्म 1923) ने शिक्षा के सांस्कृतिक इतिहास पर डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। ये केरल विश्वविद्यालय में शिक्षा विभाग के प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष; और नाइजीरिया में कदूना के राष्ट्रीय अध्यापक संस्थान के प्रधान तकनीकी सलाहकार (यूनेस्को) रह चुके हैं। इन्होंने श्रीलंका में यूनेस्को की विविध विषयों की टीम के सदस्य के रूप में काम किया है। ये राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् की कार्यकारी समिति एवं कई अन्य निकायों के सदस्य हैं। इन्होंने 1981 में शिक्षा पर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के लिए राष्ट्रीय भाषण दिए थे। आजकल ये लोक कलाओं और सामान्य जनों के कार्य अनुभव पर काम कर रहे हैं। शिक्षा-दर्शन और पाठ्यचर्या जैसे विषय क्षेत्रों में इन्होंने सौ से भी अधिक प्रबंध लिखे हैं।*

शिक्षा में पर्यावरण-उपागम : औपचारिक और अनौपचारिक शिक्षा में नव जीवन संचार का साधन

इस लेख में *पर्यावरण-उपागम* शब्दों का प्रयोग जिस आशय से किया गया है उसमें *पर्यावरण शिक्षा, पर्यावरण अध्ययन, पर्यावरण ज्ञान* आदि जैसी कई सम्बद्ध धारणाओं का परिवार शामिल है। एक अर्थ में सभी प्रकार की शिक्षा में किसी चैतन्य व्यक्ति का उसके *भौतिक, सामाजिक* और *ऐच्छिक वातावरण* के साथ उत्कृष्ट सामंजस्य शामिल है।[10] किन्तु यहां हमें शिक्षा के ऐसे पक्ष पर विचार करना है, जिसमें शिक्षा से संबंधित *पर्यावरण अभिधान* शब्द जुड़ा हुआ है।

पर्यावरण-शिक्षा शब्द ने लगभग 1972 से सारे संसार में लोकप्रियता प्राप्त कर ली है, क्योंकि यह शब्द यूनेस्को तथा संसार की अन्य संस्थाओं द्वारा प्रतिपादित संसार के लोगों पर पड़ने वाले बुरे प्रभाव के संकट से जुड़ा हुआ है। अधिकांश लोगों को शायद यह तथ्य नहीं मालूम है कि हमारी भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी स्वयं पर्यावरणवादी और उच्च कोटि की पर्यावरण-शिक्षाविद् थीं। इस संबंध में उन्होंने स्टॉकहोम सम्मेलन मे पर्यावरण के संबंध में जिस तरह का सारगर्भित भाषण दिया था, उसमें उन्होंने न केवल तीसरी दुनिया के लिए, बल्कि सारे संसार के लिए एक सच्चे भविष्यद्रष्टा की तरह पर्यावरण संबंधी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उन्होंने अपने पिता से अनौपचारिक रूप में अच्छी पर्यावरण शिक्षा प्राप्त की थी जो *पिता के पत्र पुत्री के नाम* से लिखित रूप में देखी जा सकती है। यह उचित था कि उन्हे इस क्षेत्र में उनके अद्वितीय योगदान को मान्यता प्रदान करते हुए 1984 में प्रकृति संरक्षण के अंतर्राष्ट्रीय संघ द्वारा *जॉन सी फिलिप्स स्मारक* अलंकरण द्वारा सम्मानित किया गया था, जिसके प्रशस्तिपत्र में उन्हें इस प्रकार संबोधित किया गया था — *बचपन से ही एक प्रतिभासम्पन्न प्रकृति उपासिका और बाल्यावस्था से ही मनुष्य और प्रकृति के बीच घनिष्ठ संबंध की भावना से प्रेरित।*[40] 1984 में पुरस्कार स्वीकार करते हुए श्रीमती इंदिरा गांधी ने कहा था *श्री फ़िलिप्स* का यह विचार सही था कि प्रकृति प्रेम मानव जाति को एक सूत्र मे उसी तरह साथ रखेगा जिस तरह विज्ञान, कला और साहित्य। *यह सुनिश्चित करना एक बड़ी चुनौती है कि प्रकृति संरक्षण* और विकास मे कोई संघर्ष नहीं है।

श्री राजीव गांधी ने जिन्होंने 17 जून 1985 को अपनी माँ की ओर से पुरस्कार ग्रहण किया था, यह शपथ ली थी कि प्रकृति संरक्षण के क्षेत्र में वे अपनी माँ का काम जारी रखेंगे।[32] इस प्रकार के निबंध में किसी सत्ताधारी व्यक्ति की प्रशंसा शायद उचित न हो, लेकिन एशियायी खेलों के समय दिल्ली को सुंदर बनाने की महान उपलब्धि और नगर के पर्यावरण को सुंदर बनाने के काम तथा दूसरी तरफ देश के पिछड़े हुए आदिम जनसमूहों मे जाकर उनके लोकनृत्यों में भाग लेने के दृश्य से इन्कार करना भी उचित न होगा जो कि पर्यावरण संबंधी उनकी अनौपचारिक

शिक्षा का अनोखा आदर्श है।

संरक्षण और उससे संबद्ध मामलों के संदर्भ में अभिज्ञता, इच्छा और कार्य की दृष्टि से पर्यावरण शिक्षा को समाचार-पत्रों और संचार के अन्य साधनों द्वारा प्रमुख रूप से प्रकाशित किया जाता है, क्योंकि यह राष्ट्र तथा विश्व की उत्तरजीविता के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। इस कार्य में शिक्षा विभाग तथा अत्यंत सक्षम और प्रयोक्ता वैज्ञानिक जुट गए हैं। विश्व संस्थाओं द्वारा शुरू किए गए कार्यक्रमों की प्रतिध्वनि राष्ट्रीय और राज्यस्तरों तक गूँज रही है और प्रभावी आंतरिक संचार प्रणाली द्वारा किसी न किसी रूप में स्कूल या स्कूल के बाहर शिक्षा-प्रक्रिया में शामिल हो रही है।

ऐसी प्रणालियों में जहाँ शिक्षा का नवीकरण ऊपर से आरोपित होने की प्रवृत्ति है, वहाँ इस प्रकार के प्रतिष्ठित पर्यावरण-शिक्षा के कार्यक्रमों पर लोगों का ध्यान आकृष्ट होता है, किन्तु इसके अलावा और भी पर्यावरण उपागम हैं, जो संकटग्रस्त पर्यावरण शिक्षा की समस्याओं के बिना भी बहुत कुछ प्रासंगिक हो सकते हैं। पर्यावरण-अध्ययन एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ प्राथमिक कक्षाओं का अध्यापक नव प्रवर्तक और विकास कर्ता हो सकता है और धरती से जुड़ी स्वाभाविक प्रणाली में पर्यावरण की शैक्षिक क्षमताओं से नई और व्यावहारिक पद्धतियों का विकास किया जा सकता है। अध्यापक बुनियादी संसाधन के रूप में पर्यावरण का उपयोग प्रकाश में ला सकता है और उसे इस नवीकरण का श्रेय दिया जाएगा। यदि पर्यावरण ज्ञान तथा अधिगम की पेचीदगियों से अभिज्ञ विशेषज्ञ विद्यमान हैं, तो वे उन प्राथमिक स्तर के अध्यापकों के लिए उत्प्रेरक तथा द्वंद्वात्मक सहभागी होंगे और इस तरह शिक्षा का ऐसा वट वृक्ष बढ़ेगा जिसकी अनेक जड़ें और अनेक शाखाएँ होंगी और वह पर्याप्त फलदार होगा। जहाँ नवीकरण विसरण की प्रक्रिया निम्नगामी होगी, पर्यावरण-अध्ययन का पौधा या कलम ऊपर से लगेगी तब पर्यावरण ज्ञान के व्यावहारिक सिद्धांत की उपेक्षा की संभावना बनी रहेगी। यह एक ऐसी स्थिति है जिसकी आशंका किसी भी विकासशील प्रणाली में, जहाँ प्रशासन में अफसरशाही शैली लोगों की आदत बन गई है, सदा बनी रहेगी। यदि इस स्थिति के साथ बहुभाषी और बहुसंस्कृति की समस्याएँ जुड़ जाती हैं तब तो एकरूपता बनाम अनेकता में एकता संबंधी वाद-विवाद भी उठ खड़ा होता है और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से द्वंद्वात्मक टकराव और संकल्पों की संभावना भी उपस्थित हो जाती है। ऐसी स्थिति में विरोध या वैकल्पिक अस्थिरता परक आदेशों से समस्याओं को समझने और हल करने की सांवादिक स्थिति का मार्ग मिल सकता है। ऐसे विश्व-परिप्रेक्ष्य से हमें सफलता या विफलता का मूल्यांकन करने में सहायता मिलेगी और भविष्य की ओर सफलतापूर्वक बढ़ने के लिए रास्ता मिलेगा।

इस निबंध में ऊपर बताए गए तीनों पर्यावरण उपागमों पर विचार करने का प्रयास किया गया है। किन्तु यह मान लिया गया है कि पर्यावरण संबंधी अध्ययन और पर्यावरण का ज्ञान विशिष्ट प्रकार से मूलतः शिक्षा-विज्ञान से संबंधित है, जिसमें अध्यापकों और शिक्षा-वैज्ञानिकों को पहले से विद्यमान बुनियादी ज्ञान और कौशल से परिचित होना होगा तथा नए ज्ञान और कौशल का सृजन करना होगा। ऐसा होने पर सर्वोत्तम अर्थ में पर्यावरण शिक्षा का — जिसमें किसी न किसी रूप में सभी नागरिक शामिल हैं और उत्कृष्ट पेशेवर वैज्ञानिक अपने-अपने क्षेत्रों में काम करते रहेंगे — स्वाभाविक रूप से शिक्षा-जगत में समावेश होगा और उसका पर्यावरण-अध्ययन तथा पर्यावरण ज्ञान के वाद्यवृंद में सही तालमेल बैठ सकेगा।

वर्तमान स्थिति

पर्यावरण-अध्ययन

भारतीय शिक्षा आयोग के प्रतिवेदन (1964-66) के अनुसार राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् ने 10-वर्षीय विद्यालयी शिक्षा के पाठ्यक्रम की रूपरेखा तैयार की। इस रूपरेखा में कहा गया है कि —

> प्राथमिक कक्षाओं में विज्ञान की शिक्षा पर्यावरण-अध्ययन के रूप में होगी, कक्षा 1,2 में प्राकृतिक और सामाजिक पर्यावरण दोनों का संयुक्त पाठ्यक्रम होगा और उसके बाद ये दो विषय के रूप में होंगे—पर्यावरण अध्ययन-1 (प्राकृतिक विज्ञान) और पर्यावरण अध्ययन-2 (सामाजिक विज्ञान)। एक विषय में कितनी पाठ्यसामग्री रखी जाए, इसे निर्धारित करने की आवश्यकता नहीं। उद्देश्य यह होना चाहिए कि बालकों के मस्तिष्क में तथ्यों और सूचनाओं को ठूँसा न जाए अपितु उनकी ज्ञानेन्द्रियों को तीक्ष्ण जिज्ञासु बनाया जाए, जिससे वे अपने पर्यावरण के प्रेक्षण में समर्थ हो सकें और अपना अनुभव समृद्ध कर सकें।
>
> इस रूपरेखा में इस तथ्य को मान्यता दी गई है कि विद्यालय के बाहर बच्चों का पर्यावरण और उनके अनुभव अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग होते हैं। इसलिए विद्यालयों में उनकी गतिविधियों की व्यवस्था भी भिन्न-भिन्न होनी चाहिए ताकि उनके ज्ञान का प्रासाद अमूर्त भावों पर नहीं बल्कि अनुभवों के ठोस आधार पर, जो बालक के पर्यावरण से प्राप्त हो, बनाया जाना चाहिए। ऐसे कार्यक्रम में स्कूलों के लिए कोई कठोर पाठ्यक्रम नहीं बनाया जा सकता।[26]

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् द्वारा प्राथमिक स्कूलों के लिए पर्यावरण के संबंध में पाठ्यपुस्तकें और शिक्षक संदर्शिकाएँ (1979) तैयार की गईं। उसके भूतपूर्व निदेशक डा. शिव कुमार मित्र ने उसकी भूमिका में पर्यावरण उपागम का दर्शन इस प्रकार स्पष्ट किया है:

> इस स्तर पर विज्ञान की शिक्षा विज्ञान के सिद्धांतों को केन्द्रबिन्दु मानकर आधारित न होगी, बल्कि पर्यावरण के बोध और उसकी समस्याओं तथा वैज्ञानिक प्रणाली पर आधारित होगी—स्वयं पर्यावरण ही सीखने का साधन होगा। इन गतिविधियों के माध्यम से प्रेक्षण, मापन, वर्गीकरण और संप्रेषण की वैज्ञानिक प्रक्रियाओं का विकास किया जा सकता है। इस प्रकार विज्ञान का उत्पाद और उसकी प्रक्रिया दोनों का ज्ञान उपलब्ध हो सकेगा।[24]

पर्यावरण का साधारण स्पर्श करने के बावजूद यह आयोजन मूल रूप से प्राकरणिक है और कक्षा 5 में यह अधिक स्पष्ट है, जहाँ *वायु और जल* और *आयतन, भार और घनत्व* स्वयमेव आ जाते हैं। विषय का विवेचन यह सुनिश्चित करने के लिए है कि विषय-सामग्री शामिल कर ली जाए पर जहाँ कहीं संभव हो, पर्यावरण संवेदनाओं से उसे सम्बन्धित करने के लिए कुछ तरीके भी बताए गए हैं। विषय वस्तु की दृष्टि से कोई ऐसा परिचय या क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं लाया जा सका है जो पहले विज्ञान की पढ़ाई में नहीं होता था जैसे 'आओ विज्ञान सीखें' इसके

अलावा कुछ जानदार वस्तुओं का उल्लेख आवश्यक विषय वस्तु तक सीमित रह गया है, कुछ अन्य विषय जैसे हमारा शरीर और भोजन अत्यधिक विषय वस्तु से भर दिए गए हैं। विषय वस्तु की सीमाओं का सावधानी से विभिन्न प्रकरणों — अन्य विषयों से तथा पर्यावरण अध्ययन-1 और पर्यावरण अध्ययन-2 में ध्यान रखा गया है। विभिन्न विषयों में संयुक्त रूप से मुक्त अन्वेषी उपागम का खतरा नहीं लिया गया है।

फिर भी इन सभी बाह्य रूप से स्वीकृत विवशताओं के भीतर सारे देश की शिक्षा-प्रणालियों मे व्याप्त जड़ता को ध्यान में रखते हुए भी अपने इर्द-गिर्द की वस्तुओं (पौधे, जानवर, मिट्टी, चट्टानें, तालाब, आकाश, आदि) का निरीक्षण करने, देखने, पता लगाने, बहस करने, इकट्ठा करने, वर्गीकरण करने, अभिलेख बनाने, सूची बनाने, निष्कर्ष निकालने, आश्चर्य करने, और प्रयास करने के लिए यथेष्ट आकर्षण है। बहुत से मामलों में खोज सम्बन्धी प्रश्न करने और क्षेत्र को खुला छोड़ देने की नीयत साफ जाहिर होती है। लेकिन अंततः अध्यापक मान्य प्रक्रिया कारगर होती है।' प्रश्नों का उत्तर प्रायः संकेतात्मक प्रश्नों के द्वारा दिया जाता है जैसे क्या तुम बुलबुले उठते हुए देख रहे हो? बहुत से ऐसे मामले हैं जिनमें सूचना सामान्य रूप से दे दी जाती है। प्रश्नोत्तर रूप में दी जाने वाली शिक्षा भी कहीं-कहीं पाई जाती है। आकर्षक चित्रों की सहायता से विषय सामग्री में निकटस्थ और दूरस्थ पर्यावरण भी शामिल कर लिया जाता है। संप्रत्ययों के विकास मे किसी उपमा का सहारा लेना अच्छा तरीका समझा जाता है। लेकिन ऐसे भी मामले हैं जिनमें उपमा संलक्षण वास्तविक पर्यावरण से अधिक महत्वपूर्ण बन जाता है (जैसे मिट्टी के क्षरण की उपमा और सूरज की रोशनी में भाप बनना), कुछ उपमाओं मे कई तरह से सुधार किया जा सकता है। श्री पियाजे का सिद्धांत लागू करके और बाद में पर्यावरण के ज्ञान की व्याख्या के द्वारा बालक के परिप्रेक्ष्य, पृथ्वी के परिप्रेक्ष्य और बाहृय अंतरिक्ष के परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट रूप से समझने में (खास तौर से पृथ्वी और आकाश) सहायता मिल सकती है।

भौतिक विज्ञान संबंधी संप्रत्ययों के विकास के उद्देश्य से कथा का सहारा लेना रोचक है लेकिन उनमें अनेक प्रकार से सुधार किए जा सकते हैं। किसी तालाब में प्रदूषण का चित्रात्मक प्रस्तुतीकरण करने से शायद गरीब आदमी द्वारा अनावश्यक प्रदूषण फैलाने पर ध्यान अधिक केन्द्रित हो जाएगा। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् की पाठ्यपुस्तकों मे भारी भरकम शब्दों के प्रयोग से बचने की चेष्टा की गई है, जिनसे विद्यार्थियों का ध्यान शब्दों में ही न उलझ जाए और खोज में रुकावट पैदा हो जाए। इस प्रकार द्रव पदार्थों के लिए *पानी की तरह* और अनुवर्तन के लिए *की तरफ झुकते हुए* जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है।[24]

पर्यावरण अध्ययन-1 पाठ्यपुस्तक मे यह प्रयास किया गया है कि विद्यार्थियों को उनके भौगोलिक पर्यावरण तथा सांस्कृतिक विरासत से परिचित कराया जाए, ताकि विद्यार्थियों को यह समझने में सहायता मिले कि भारत एक देश है और क्षेत्रीय विविधताओं के बावजूद यहाँ के लोग एक हैं। संदर्शिका में स्पष्ट विचार प्रस्तुत किए गए हैं कि किस प्रकार पर्यावरण के प्रयोग द्वारा सामाजिक अध्ययन से संबंधित संप्रत्ययों, कौशलों और अभिवृत्तियों का विकास किया जा सकता है। यद्यपि यह महसूस किया जाता है कि विज्ञान की तरह सामाजिक अध्ययन की शिक्षा भी स्थानीय पर्यावरण से शुरू की जानी चाहिए किन्तु इसके लिए राष्ट्रीय स्तर की पाठ्यपुस्तकों मे स्थानीय प्रसंग पाना कठिन है जैसा कि कक्षा 3 की पाठ्यपुस्तक की भूमिका के निम्नलिखित उद्धरण से देखा जा सकता है:—

चूंकि ये (केन्द्रीय) विद्यालय सारे देश मे फैले हुए है, विद्यार्थियों के अपने राज्यों का अध्ययन

इन विद्यालयों के लिए असंगत प्रतीत होता है इसलिए इस पुस्तक के पहले भाग में हमारे देश के विभिन्न भागों में लोगों के जीवन पर एक विहंगम दृष्टि डालने का प्रयास किया गया है। साथ ही विद्यार्थियों को आदि मानव द्वारा आग जलाने, खेती करने और पहियों के उपयोग के बारे में बताया गया है।[23]

. यद्यपि ऐसी पुस्तकों को विद्यार्थियों के अपने विभिन्न प्रान्तों के उपयुक्त बनाने और ऐसे प्रांतों की अप्रासंगिकता के बीच अन्तर करना कठिन है, फिर भी उल्लेखनीय है कि पर्यावरण के बारे में ऊपर से विचार करने पर (विगोटस्की की स्वर्ग संबंधी धारणा की तरह)[35] इन पुस्तकों ने भूगोल, खनिज सम्पदा, विकास, इतिहास, त्योहार, कला आदि का स्थानापन्न अनुभव (वर्णन और आकर्षण चित्र द्वारा) देश भर के विद्यार्थियों के लिए सुलभ बनाकर अच्छा काम किया है।[23]

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् की ऊँची कक्षाओं की पुस्तकों में भी पर्यावरणपरक सामग्री रहती है। जीवविज्ञान की पाठ्यपुस्तकों में यह विशेष रूप से सत्य है। ऐसा मालूम होता है कि 1973 के आसपास अध्ययन गोष्ठियों में जिन पुस्तकों का विकास हुआ वे दशक के अंत तक तैयार पुस्तकों की अपेक्षा अधिक पर्यावरणपरक हैं। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् की समाज विज्ञान संबंधी पुस्तकों में भी पर्यावरणपरक प्रकरण अच्छी मात्रा में उपलब्ध है।[21]

राज्यों ने अपनी पुस्तकें अलग से भी तैयार की हैं, जो सम्भवतः राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् की सामग्री और कार्यशाला की विशेषज्ञता के आदर्शों पर किया गया है। इन पुस्तकों में रा॰शै॰अ॰ और प्र॰प॰ की पाठ्यपुस्तकों की अपेक्षा विषयवस्तु पर अधिक ध्यान दिया गया है और कुछ पुस्तकें ऐसी भी हैं जिनमें पर्यावरण का महत्व बिल्कुल ओझल कर दिया गया है। ऐसी पुस्तकों में भी, जहाँ राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के पर्यावरण संबंधी अध्ययन के आधार पर विषयवस्तु और विचारधारा की छाप है, पहले जैसे शीर्षकों को तरजीह दी गयी है जैसे—विज्ञान क्या कर रहा है, या साधारण तौर से विज्ञान, इतिहास, भूगोल आदि, लेकिन उनमें किसी दार्शनिक विचारधारा का बेसुरापन नहीं मिलता।

जब राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् पदार्थ की तीन अवस्थाओं का और पिघलने तथा खौलने की धारणा का संकेत करती है, तो राज्य स्तर की पुस्तकों में द्रवण अंक और ज्वलन अंक जैसी गम्भीर धारणा का उल्लेख है और वे बिल्कुल सही सेल्सियस डिग्री की शब्दावली में उपलब्ध हैं। उनमे लैटिन और संस्कृत से लिए गए पारिभाषिक शब्द आदि कक्षा 3 के विद्यार्थियों पर लाद दिए गए हैं। मालूम होता है कि राष्ट्रीय पाठ्यपुस्तकों मे से कुछ सामान्य पुस्तकें राज्य स्तर की पुस्तकों में शामिल हो गयी हैं। साथ ही यह उल्लेखनीय है कि कुछ राज्यों ने भूमि से अपने स्वाभाविक लगाव का लाभ उठाकर कुछ व्यावहारिक, स्थानीय विशिष्ट कथाओं का उपयोग किया है, उदाहरण के लिए तमिलनाडु में अध्यापकों मे स्थानीय सामग्री से बड़े पैमाने पर कुशलता प्राप्त करने का प्रयास किया गया है। भूगोल में उन्होंने तालुका और जिला के आधार पर निचली कक्षा की पुस्तकें तैयार की हैं (गुजरात में भी ऐसा किया गया है लेकिन सभी जिलों का वर्णन एक ही पुस्तक में है।) केरल मे भी ऐसा प्रयास किट वितरण प्रणाली द्वारा किया गया लेकिन पर्यावरणिक अध्ययन भाषा के बीच में आ जाने से वह रुक गया।

पाठ्यपुस्तकों के अलावा अन्य सामग्री

पर्यावरण के बारे में खुली जाँच-पड़ताल के फलितार्थों में से एक यह है कि यद्यपि स्वयं

पाठ्यक्रम में विषय वस्तु कम करके न्यूनतम तक की जा सकती है किन्तु जांच में विद्यार्थी की प्रगति के समकक्ष सहायक साधनों से पर्याप्त सूचना उपलब्ध की जानी चाहिए। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् द्वारा बहुत सी पूरक पाठ्यपुस्तकें तैयारी की गयीं जो अग्रणी वैज्ञानिकों द्वारा लोकप्रिय शैली में लिखी गयी थीं। 1976 में पर्यावरण अध्ययन में इनकी भूमिका में निदेशक रईस अहमद ने लिखा था, *विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में किशोर विद्यार्थियों के लिए अतिरिक्त और व्यापक सूचना सहज रूप से उपलब्ध करने की दिशा में एक प्रयास किया गया है।*[39] विज्ञान में पूरक पाठ्यपुस्तक पिछले दशक में ही इस क्षेत्र में आ चुकी थी। श्री बालकृष्णन नायर द्वारा लिखित *महासागरों की खोज* को अत्यंत आकर्षक बतलाते हुए विज्ञान शिक्षा विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष प्रो० पंत ने उसकी भूमिका में विद्यार्थियों के लिए उस पुस्तक की उपयोगिता पर ध्यान दिलाया है, जो सागरीय पर्यावरण से परिचय के लिए आवश्यक है। यहाँ प्रसंगवश परम्परागत रूप से, महासागरीय विज्ञान के रूप में अब *भीतरी आकाश* के अध्ययन में हाल में जागरूकता आ गयी है, अब यह अध्ययन सारे संसार में किया जा रहा है और अन्तर्राष्ट्रीय हिन्द महासागर अभियान का उल्लेख इसका एक रोचक उदाहरण है।[2] समुद्र तट के रहस्यपूर्ण वातावरण से समुद्र की खोज का आकर्षण और श्री वैंकटेश द्वारा भारतीय वृक्षों का उत्कृष्ट विश्लेषण पर्यावरण संबंधी जांच-पड़ताल में विद्यार्थियों को विज्ञान के क्षेत्र में अधिकाधिक गहराई में जाने में सहायक होगा।[2, 39] इन दो उदाहरणों से मालूम होता है कि किस प्रकार देश के शीर्षस्थ वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत प्रत्यक्ष सामग्री पर्यावरण के अध्ययन में कारगर सहायता कर सकती है।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् द्वारा फिल्में और स्लाइडें तैयार भी की गई हैं और प्रलेखित भी हैं। पर्यावरण अध्ययन की विचारधारा और तकनीक की दृष्टि से इनमे सर्वोत्तम शायद पर्यावरण (रंगीन) के माध्यम से दी जाने वाली शिक्षा है जो शिक्षण-साधन विभाग के प्रो० चौधरी द्वारा तैयार की गई हैं। इनमें उत्कृष्ट निर्देशन और फोटोग्राफी के अलावा फिल्म में दो प्रमुख व्यक्तियों का विशेष उल्लेख बहुत आवश्यक हैः (1) जिस व्यक्ति ने पर्यावरण संबंधी पाठ पढ़ाया था (साथ ही औपचारिक अध्यापक की भूमिका भी) और (2) गांव का लोहार जिसने पर्यावरण भौतिकी का पाठ बच्चों को पढ़ाया था।[21] इन पाठों में कुछ सुधार भी संभव है कि इन दोनों में विकसित प्रजातांत्रिक प्रणालियों की तरह विद्यार्थियों को पर्यावरण के अध्ययन में निकट के प्रमुख स्थानीय व्यक्ति से सहायता लेनी चाहिए न कि पर्यावरण के ज्ञान के लिए राजधानियों में स्थित बड़े नेताओं का मुँह ताकते रहें। इन प्रलेखित फिल्मों के अलावा उन फिल्मों का उल्लेख भी आवश्यक है जो शैक्षिकप्रौद्योगिकी केन्द्र द्वारा बहुत पहले तैयार की गयी थीं, जो अत्यंत सामान्य परिस्थितियों में स्कूलों और उनके आसपास की आधार-सामग्री पर बनी थीं।

मॉड्यूल्स तथा अन्य सम्बन्धित शैक्षणिक सामग्री भी तैयार की गई है, विशेषतः क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालयों द्वारा, जिनमें भोपाल और भुवनेश्वर द्वारा निर्मित सामग्री प्रलेखित की गई हैं।[21] इस विषय में श्री आत्रेय, एस.एन.एल. भार्गव, ए. भट्टाचार्य, एस. दुरैस्वामी, बी. गांगुली, गौरी राणी घोष, जे.एस. गिल, जे.एस. ग्रेवाल, के.बी. गुप्ता, जे.एस. राजपूत, जी. गुरु, एस.सी. जैन, यू.एस.मध्यस्थ, एस.बी. मलिक, एस. मसीह, ए.के. मिश्र, वी.के. रैना, एस. राजपूत, ए.बी. सक्सेना, एच.एल. शर्मा और अन्य व्यक्तियों द्वारा बहुत से निबंध और प्रगति रिपोर्टें प्रस्तुत की गई हैं।[21]

शिक्षा के अनौपचारिक नमूने

सरकारी तौर पर निर्दिष्ट अनौपचारिक शिक्षा पाठ्यक्रम के आयाम में स्वास्थ्य, पर्यावरण अध्ययन, साक्षरता, व्यवसाय, सामाजिक जागृति और गिनती शामिल हैं। प्रो० के.जी. रस्तोगी की अनौपचारिक शिक्षा पर प्रस्तुति और उनके अनुभाग के कुछ उत्पादों में दिखाया गया है कि अनौपचारिक शिक्षा का समाधान पर्यावरण के सर्वोत्तम अर्थ में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। सामग्री के ऐसे रूप भी ज्ञात हैं जो अनौपचारिक शिक्षा के झंडे के नीचे तैयार हुए हैं पर मूल भावना की दृष्टि से औपचारिक हैं।

यूनिसेफ सहायता प्राप्त पाँच कार्यक्रम भी निश्चित ही अनौपचारिक ढंग के हैं।[21] इनमें से प्राथमिक शिक्षा पाठ्यक्रम नवीकरण परियोजना (पी.ई.सी.आर.) में पाठ्यक्रम के विकास का प्रयास किया गया है, जिसकी विशेषता उसका लचीलापन,स्थानीय वातावरण से अनुकूलता और उसकी संभावनाएं आदि हैं। सामुदायिक शिक्षा में विकास संबंधी गतिविधियों और भागीदारी में (डी.ए.सी.ई.पी.) में स्थानीय समुदाय का भाग लेना और विभिन्न विभागों का सहयोग लेना जैसे कृषि, सामुदायिक विकास, उद्योग, स्वास्थ्य, परिवार-कल्याण, तथा स्वैच्छिक संगठनों का सहयोग शामिल है। इस अनुभाग के श्री आर.के. गुप्ता से दिल्ली, तमिलनाडु और केरल के कुछ केन्द्रों के संबंध में बातचीत करने पर ज्ञात हुआ कि शिक्षा के काम के लिए बातचीत के द्वारा उपयोगी जानकारी प्राप्त होने की संभावना है। बालकों के लिए प्रयोगशाला माध्यम (सी.एम.एल.) में प्रेक्षण और प्रो० राजलक्ष्मी मुरलीधरन द्वारा सारे देश से खिलौने के संग्रह से मालूम हुआ कि बालकों के आसन्न देशी पर्यावरण से शिक्षा ग्रहण करने की दूसरी रोचक सम्भावना विद्यमान है। प्राथमिक स्तर पर पोषण, स्वास्थ्य शिक्षा, पर्यावरण और सफाई (एन.एच.ई.ई.एस.) एक दूसरी परियोजना है जहाँ पर्यावरण की प्रासंगिकता स्पष्ट है। शायद जिस परियोजना में अधिकतम मात्रा में सामग्री तैयार की गई है—वह है प्राथमिक शिक्षा में व्यापक उपागम (केप)। समूचे देश भर से बहुत बड़ी संख्या में विशेष शिक्षाप्रद कथाएँ इकट्ठी की गयी हैं और अधिगम योग्यता उपलब्धि की दृष्टि से उनका विश्लेषण किया गया है, फिर उन्हें विधिवत प्रक्रमित और संहिताबद्ध किया गया है ताकि यह संभव हो सके कि विद्यार्थी की शैली और क्रम में उन्हें शिक्षण प्रदान किया जा सके। यहाँ प्रो० पी.एन. दवे की न्यूनतम शिक्षा की लचीली अनौपचारिक अनुसूची के लिए कथाओं का वर्गीकरण और श्री के. रामचन्द्रन द्वारा इन कथाओं को ढूँढने में संवादिक और स्थानीय रूप से उत्प्रेरक कार्य-संपादन का वर्णन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् द्वारा शुरू की गयी शिक्षा की अनौपचारिक विधियों को सारे देश में प्रतिरूपित और विकसित किया गया हैऔर कम से कम दो परियोजनाओं में वस्तुस्थिति से उत्पन्न अंतर्जात शिक्षाविधि के पोषण और प्रक्रमण की संभावनाएँ मौजूद हैं। पर्यावरण की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय एस.सी.ई.आर.टी., भुवनेश्वर के कुछ प्रकाशन हैं, जिनमें पौधों और कला पर प्रकाश डाला गया है। राज्यों के शिक्षा संस्थानों और परिषदों के अतिरिक्त स्वैच्छिक संगठनों ने भी इस दिशा में बहुत अच्छा काम किया है।

अहमदाबाद में विक्रम साराभाई सामुदायिक विज्ञान केन्द्र ने पर्यावरण के उद्देश्य से वैज्ञानिकों की एक बड़ी टोली केन्द्रित कर ली है, जिसमें बहिरंग प्राकृतिक विज्ञान की प्रयोगशाला और अंतरंग पर्यावरण सूचक प्रयोगशाला का विकास किया जा रहा है जो वास्तविक और प्रतीकात्मक ज्ञान के आधार पर पर्यावरण उपागम संबंधी बहुमूल्य प्रकाशन कर रहे हैं। अहमदाबाद का अनुभव इस बात का अच्छा उदाहरण है कि किस प्रकार सामान्य ग्रामीण परिवेश से उच्चस्तर का

वैज्ञानिक ज्ञान सिखाया जा सकता है। शायद जिस संस्था ने वैज्ञानिक दक्षता अधिकतम मात्रा में उपलब्ध कर व्यापक क्षेत्र में फैलायी है, वह है *केरल शास्त्र साहित्य परिषद्*, जो नियमित रूप से पर्यावरण-आनंदोत्सवों का संगठन करता है और जागृति तथा शिक्षा के विभिन्न कार्यक्रमों को चलाता है।[29,30] साइलेंट वैली को बचा लेना, उनकी उपलब्धियों में से एक है, यद्यपि वैज्ञानिकों के एक निकाय ने संरक्षण के बजाय उसके विकास का मामला बना लिया था।[20] केरल अनौपचारिक शिक्षा संघ ने अपने अन्य कामों के अलावा कुछ पुस्तकें तैयार की हैं, जिनमें से *परिसर पाठावली, गिरिजन पाठावली* (विज्ञान और गिरिजन संबंधी रीडरें) का विशेष उल्लेख किया जा सकता है।[4,12]

अनुसंधान

इस विषय के महत्व को देखते हुए इस क्षेत्र मे अनुसंधान की मात्रा बहुत कम है। *एरिक* (ई.आर.आई.सी.) द्वारा सहायता प्राप्त सोलर प्रासंगिक अनुसंधान परियोजनाओं का प्रलेखन किया जा चुका है।[21] इनमें से कुछ विकासोन्मुख प्रकृति की हैं और उनका वही महत्व है जो इस क्षेत्र में सत्यपरक अनुसंधान का है। एक प्रकरण जो खासतौर से रोचक मालूम होता है वह है, *सामुदायिक घुमन्तू जनजाति के लिए आवश्यकता पर आधारित परिस्थितिजन्य और परिवर्तन परक शिक्षा प्रणाली।* इस अनुसंधानकर्ता और उसके साथ काम करने वाले विद्यार्थियों ने पर्यावरण शिक्षा की दृष्टि से कुछ अध्ययन किए तथा उनमें शिक्षा के तत्व पाए। सुमतिकुट्टी अम्मा ने वैज्ञानिक रुचि का, डॉक्टरेट के लिए अध्ययन किया और देखा कि ग्रामीण बच्चों में शहर में रहने वाले बच्चों की अपेक्षा पर्यावरण विज्ञान संबंधी रुचि अधिक होती है। यह *जंगल और पक्षी* तथा *टुन-टुन* दोनों तथ्यों की दृष्टि से सही है। एक्जामल, गंगाधरन पिल्लै, लीलम्मा मैथ्यू, एलिजाबेथ मैथ्यू, मरिअम्मा, पी.ए. सहरबान और सी.के. लिली ने इस क्षेत्र में *मास्टर* की उपाधि के लिए विभिन्न ढंगों से अनुसंधान किया।[17]

संभवतः श्री एक्जामल द्वारा डॉक्टरेट के लिए[6] किया गया अध्ययन अभी तक इस क्षेत्र में सबसे सुव्यवस्थित, रचनात्मक और नियंत्रित अध्ययन है। उन्होंने स्कूलों में वनस्पति शास्त्र पढ़ाने के लिए पर्यावरण और जातीय संसाधनों से कुछ नमूने तैयार किए और कई आयामों में प्रयोगात्मक और नियंत्रण दलों के प्रयोग से ऐसे नमूनों की प्रभविष्णुता का परीक्षण किया। प्रयोगात्मक दल स्पष्ट रूप से नियंत्रण दल से उपलब्धि और रुचि दोनों दृष्टियों से श्रेष्ठ था। इसका एक रोचक पहलू यह है कि जब परीक्षण से पूर्व और परीक्षण के पश्चात विभिन्न दलों के अंतर की तुलना की गयी तो ग्रामीण तथा निम्न सामाजिक तथा आर्थिक दलों के पक्ष मे महत्वपूर्ण श्रेष्ठता पाई गई है। परीक्षणफल की अपेक्षा अधिक दूरगामी मूल्य का एक्जामल द्वारा निर्मित पाठ मॉडल है जहाँ सीखने के परिणाम की गहरी व्याख्या का उपयोग किया जाता है जिसमें विषय की संरचना जातीय और पर्यावरण संबंधी तथ्यों के साथ बड़े रोचक ढंग से विभक्त कर दी जाती है।

श्री राजपूत आदि ने ग्रामीण क्षेत्रों मे उन स्थानीय संसाधनों की पहचान की है, जिनका तत्काल उपयोग किया जा सकता है। उन्होंने अध्यापकों को उनके स्कूल के आसपास उपलब्ध संसाधनों की पहचान करने में सहायता दी, एक कार्यशाला चलाई, शिक्षा संबंधी सामग्री तैयार की और भोपाल मे कुछ स्कूलों में उनका प्रयोग किया। पर्यावरण संबंधी चेतना के बारे में प्रयोगात्मक दल नियंत्रण दल की अपेक्षा विशेष रूप से श्रेष्ठ था। उपलब्धि की दृष्टि से कोई खास अंतर नही दिखाई पड़ा, लेकिन तब परीक्षण परम्परागत कोटि का था।[23]

फ्रेडरिक हॉपर ने अपने डॉक्टरेट के अध्ययन में वनस्पति शास्त्र के माड्यूल्स तैयार किए और

परम्परागत तरीकों के विरुद्ध और एक-दूसरे के विरुद्ध उनका परीक्षण किया। इस तरह बनाये गए माड्यूल्स और प्राप्त जानकारी बहुत मूल्यवान हैं। हमारे प्रयोजन के लिए सबसे महत्वपूर्ण जानकारी यह है कि जब उन *सेटों* के विभिन्न क्रमों की जांच की गई तो पारिस्थितिकी ⟶ रूप रचना ⟶ शरीर रचना क्रम अन्य दोनों — शरीर रचना ⟶ पारिस्थितिकी ⟶ रूप रचना और रूप रचना ⟶ शरीर रचना ⟶ पारिस्थितिकी क्रमों से अधिक प्रभावपूर्ण पाया गया। इससे यह संकेत मिलता है कि हाई स्कूल स्तर पर भी पर्यावरण उपागम से इन विषयों का अच्छा आधार बन जाता है, जिससे बाद मे अधिक संरचनात्मक उपागम से सीखने में सहायता मिलती है।[9]

देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों के तत्वावधान में आयोजित परियोजनाओं द्वारा अनेक नवीकरणों में पर्यावरण विज्ञान संबंधी व्यावहारिक शैक्षिक अनुसंधान का सुदृढ़ तत्व विद्यमान है। विश्वविद्यालयों के कुछ अध्यापकों ने इस क्षेत्र में विशेष रुचि दिखाई है। यहाँ पर्यावरण विज्ञान में प्रो० एस. कृष्णास्वामी (मदुरै) के योगदान का और डा. शर्मा (राजस्थान) द्वारा उच्च शिक्षा मे प्रयुक्त जातीय वनस्पति शास्त्र में अनुसंधान का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। देश में भारी संख्या में ऐसे स्कूल-अध्यापक मौजूद हैं जो इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण व्यावहारिक अध्ययन संबंधी योगदान करते हैं, लेकिन वे उनके प्रलेखन की व्यवस्था नहीं कर पाते। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् तथा राज्य स्तरों पर आयोजित विज्ञान मेलों और प्रदर्शनियों से इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण परियोजनाएं चलाने के संबंध में विद्यार्थियों को प्रेरणा मिलती है। इस स्तर पर व्यक्तिगत वैज्ञानिकों और एजेंसियों ने औपचारिक और अनौपचारिक रूप से पर्यावरण विज्ञान-अनुसंधान करने में विद्यार्थियों की सहायता की है। इस क्षेत्र मे *केरल शास्त्र साहित्य परिषद्* का योगदान अद्वितीय है। इस संस्था ने सुविधाओं से वंचित क्षेत्रों के विद्यार्थियों को संरक्षण परियोजनाएँ चलाने, पर्यावरण मे गिरावट रोकने, स्थानीय संसाधनों के दोहन, प्रदूषण चेतना जागृत करने, कूड़े-करकट से सम्पदा लेने आदि के बारे मे काम करने और पुरस्कार प्राप्त करने में प्रोत्साहन दिया है।

कार्यानुभव तथा लोककला विधाओं पर प्रच्छन्न पाठ्यक्रम के निष्कास का अध्ययन सुविधा से वंचित समुदायों के पक्ष में लेखक द्वारा उपयोगी हस्तक्षेप का तरीका है जो अध्यापकों और विद्यार्थियों के लिए महत्वपूर्ण है। लेखक द्वारा कुछ परियोजना कार्य के अलावा श्री एन.डी. जोशी द्वारा *जन जातियों* पर प्रस्तुत शोध प्रबंध, श्री वसंत श्रीनिवासन द्वारा *संगीत शिक्षा,* श्री पी.ए. सहरवान द्वारा *मुस्लिम संस्कृति के अवयव* आदि का अनौपचारिक शिक्षा के बहुआयामी नमूनों के लिए एक साधन के रूप में उल्लेख किया जा सकता है।[16, 13, 38, 32]

पर्यावरण अध्ययन के उपागमों की तुलनात्मक समीक्षा की एक झलक प्रासंगिक होगी। बहुत से अमरीकी प्राथमिक स्कूलों की पाठ्यपुस्तकों में संरक्षण और इसी प्रकार की अन्य समस्याओं पर परियोजनापरक कार्यकलापों की व्यवस्था है, जिसके साथ ही खुले प्रयोगशाला उपागम भी सुलभ होते हैं। हाई स्कूल स्तर पर बी.एस.सी.एस. (हरा संस्करण) शुरू होती है जिसमें पर्यावरण प्राणिशास्त्र पर अधिक ध्यान दिया जाता है किन्तु यहाँ भी इस विषय की सुगठित पढ़ाई स्वाभाविक क्रम में होती है। सोवियत संघ के प्राथमिक पाठ्यक्रमों में *प्राइरोडोवेडनी* (प्रकृति अध्ययन) में न केवल अनुसंधान होता है बल्कि समुचित विषय वस्तु भी होती है। इनके अलावा पर्यावरण के संबंध में बच्चों की बहुत सी लोकप्रिय पुस्तकें भी पूरक साहित्य के रूप में उपलब्ध हैं और साथ ही घेरों, स्टेशनों और उच्च प्रासादों में काफी अनुभव प्राप्त होता है। इंग्लैंड में विज्ञान 5/13 सामग्री और अन्य तरीकों से विविधता, सहभागिता, कथोपकथन की विशेषता के साथ प्राथमिक पाठशाला का अध्यापक महत्वपूर्ण कार्य करता है।[27] शायद इससे

भी अधिक रोचक फ्रांस की केन्द्रीकृत प्रणाली का अनुभव है जो हमारी प्रणाली से मिलती-जुलती है, जो विकेन्द्रीकरण और पर्यावरण खोज की ओर अग्रसर होने का प्रयास कर रही है। होस्ट एवं ग्रुप द्वारा मोर्ली-ली-रॉय के अग्रणी स्कूल के सहयोग से विकसित प्राथमिक स्कूल में वैज्ञानिक जागृति की गतिविधियों ने अध्ययन की समृद्ध और विश्लेषण करने वाली अन्तर विषयक *टेक्सोनॉमी* उपलब्ध कर दी है, जहाँ बालक उन्मुक्त वातावरण में पर्यावरण का अनुसंधान कर सकते हैं। *टैक्सोनॉमी* से विद्यार्थियों द्वारा उनकी मुक्त खोज से प्राप्त परिणाम की पहचान करने में अध्यापक को सहायता मिल जाती है। इस *टैक्सोनॉमी* के साथ तैयार व्यक्तिगत कार्डों से बालकों के अलग-अलग काम करने और परिणाम निकालने में सहायता मिलती है और अध्यापक को भी पथ प्रदर्शन में सहायता मिलती है।[11]

पर्यावरण शिक्षा

हम पहले से ही पर्यावरण शिक्षा के क्षेत्र में कुछ भ्रमण कर आए हैं, क्योंकि पर्यावरण अध्ययन और पर्यावरण शिक्षा के बीच कोई स्पष्ट सीमा रेखा नहीं बनाई जा सकती, यद्यपि पर्यावरण शिक्षा स्पष्टतः अधिक व्यापक संप्रत्यय है। सेवलैण्ड द्वारा संपादित *पर्यावरण शिक्षा की पुस्तिका* में पर्यावरण संबंधी परिप्रेक्ष्य, पाठ्यक्रम डिजाइन, पद्धति सामग्री, सुविधाएँ, माध्यम, नवयुवकों का सहयोग सामुदायिक कार्य, मूल्यांकन, अध्यापक की शिक्षा के बारे में काफी विस्तार से समझाया गया है।[31] सेरोवस्की की परिभाषा में इस विश्लेषण का सुगम प्रस्थान बिन्दु इस प्रकार हैः

> पर्यावरण शिक्षा मूल्यों को मान्यता प्रदान करने और धारणाओं को स्पष्ट करने की प्रक्रिया है ताकि उन कुशलताओं और अभिवृत्तियों का विकास किया जा सके, जो मनुष्य, उसकी संस्कृति, उसके स्वाभाविक परिवेश के परस्पर सम्बद्ध होने के बारे में समझने और मूल्यांकन के लिए आवश्यक है। पर्यावरण शिक्षा में निर्णय लेने का अभ्यास और पर्यावरण से संबंधित समस्याओं के बारे में स्वयं निर्मित आचार संहिता का पालन भी शामिल है।[31]

पुस्तिका में पर्यावरण संबंधी बीसों केस-अध्ययन और नमूनों का वर्णन किया गया है। यहाँ हम कुछ बहुत महत्वपूर्ण लक्षणों पर विचार करेंगे।

पाठ्यक्रम पर विचार करते हुए श्री सेवलैण्ड का विश्लेषण यह है कि सीखने वाले का *गृह पर्यावरण* में बद्धमूल होना आवश्यक है जिससे क्षेत्र, समुदाय, मातृभूमि और धरती माता के प्रति बढ़ती हुई चेतना का विकास होगा।[31] हाल में अन्तरिक्ष युद्ध की आशंका से पर्यावरण की समस्या और भी व्यापक क्षेत्र में फैल जाएगी। आज से पचास वर्ष पहले जिन वस्तुओं को हम दूर से देखते थे, अब उनमें प्रतिभागिता और अत्यावश्यकता की भावना से उनका अध्ययन किया जाना चाहिए।

जो लोग प्रक्रिया-उपागम का समर्थन करते हैं वे भी यह स्वीकार करेंगे कि विद्यार्थियों के लिए कुछ सामग्री आवश्यक है, जिसके बारे में वे जानना चाहें। प्राकृतिक और सामाजिक पर्यावरण से तथ्यों को लेकर और बहुत से विषयों से सामग्री लेकर एक व्यापक रूप में उन्हें समन्वित कर दिया जाना चाहिए। लेकिन समन्वय के स्तर के बारे में सावधानी आवश्यक है। प्रथम स्तर पर देखने, पहचान करने और सेटों में वर्गीकरण करना पर्यावरण शिक्षा की प्रमुख समस्या है। मध्य स्तर पर राष्ट्रीय और विश्व स्तर पर संबंधित पर्यावरण के ढाँचों को समझने पर जोर दिया जाना चाहिए। उच्च स्तर पर (आयु 14 से 17) मूल्यों पर ध्यान देते हुए गतिविधियों

और समस्याओं का समझना उपयुक्त समझा जाता है।[31]

गालुशिन और दुरैस्वामी ने पर्यावरण शिक्षा संबंधी एक केस अध्ययन में बताया है कि *व्यवहार में दरअसल ऐसा पाठ्यक्रम शायद ही मिलेगा जिसमें प्राणिशास्त्र, भूगोल और अन्य पाठ्यक्रमों में पर्यावरण के प्रकरण न हों।* एक अर्थ में यह विचार भविष्यवाणी की तरह है क्योंकि जब दिसम्बर, 1981 में यूनेस्को प्रेरित पर्यावरण साहित्य, 1970 के दशक के अंतिमांश में तैयार पाठ्यक्रम में पर्यावरण साहित्य की तुलना में आया तो यह देखना सम्भव था कि प्रचलित पुस्तकों में पर्यावरण संबंधी बहुत से प्रकरण थे, जो बाद के साहित्य के मार्गदर्शन के बिना ही तैयार किए गए थे।[22] लेकिन गालुशिन और दुरैस्वामी पर्यावरण शिक्षा के क्रियान्वयन में तीन स्तरों में स्पष्ट भेद करते हैः *प्रकरण* उपागम, *इकाई* उपागम (अर्थात् प्रकृति संरक्षण सदृश पर्यावरण शिक्षा-इकाइयों का उपयोग) और पूर्ण रूप से *समन्वित* उपागम।[31]

रडल्फ स्कैफर ने एकिस्टिक्स की धारणा पर विचार किया है और इस संदर्भ में उसकी व्याख्या में बताया है कि *ज्ञान का वह क्षेत्र और उन संप्रत्ययों तथा मूल्यों का क्षेत्र जिसके माध्यम से व्यक्ति पर्यावरण से परस्पर निर्भरता को मान्यता देता है और ऐसी संस्कृति के लिए उसका उत्तरदायित्व जिसमें स्वस्थ एवं स्वच्छ पर्यावरण बरकरार* रहे तथा पर्यावरण उपागम के साथ अनुशासन संबंधी अपेक्षाओं के समन्वय का प्रयास करता है। ग्रेड 1 से 6 तक संप्रत्यात्मक ढांचे में तीन संप्रत्यात्मक मार्गो—विज्ञान, समाज विज्ञान और मानविकी को मान्यता दी गई है। परस्पर निर्भरता के संप्रत्यय की खोज इन शब्दों मे की गई हैः— (1) पदार्थ और ऊर्जा का परस्पर परिवर्तन, (2) सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रिया, (3) इन तीनों मार्गों में क्रमशः सांस्कृतिक अवयवों का रूप। उदाहरण के लिए विज्ञान मार्ग की खोज जीवन्त वस्तुओं की सामान्य आवश्यकताओं से क्रमशः छः स्तरों में की गई है यथा जीवन की विशेष परिस्थितियों के साथ पर्यावरण में अन्तर, पदार्थ और ऊर्जा का अंतः परिवर्तन, विशिष्ट जीवन रूपों में परिवर्तन, पर्यावरण में लगातार परिवर्तन, स्वाभाविक पर्यावरण में परिवर्तन के एजेंट के रूप में मनुष्य का अस्तित्व। दूसरे दो मार्गों में भी लगभग संतुलित प्रगति देखी जाती है। मिडिल और हाई स्कूल की स्थितियों में ज्ञानात्मक और भावात्मक ढाँचों का विस्तार भी देखा जा सकता है।[31]

बालजाक के *के-12 स्पेन में पर्यावरण शिक्षा* में अधिक सुगठित पर्यावरण शिक्षा का मॉडल विकसित किया गया है। एक तीन आयामों वाली ग्रिड प्रस्तुत की गई है, जिसमें पर्यावरण शिक्षा में उद्देश्यों के कुछ प्रमुख क्षेत्रों का सुझाव दिया है। इन आयामों में से एक वह भावात्मक उद्देश्य है जो रचनात्मक हल निकालने के लिए इच्छाओं के माध्यम से जिज्ञासा, सूक्ष्मग्राहिता, जानदार वस्तुओं का मूल्यांकन, प्राकृतिक सौन्दर्य की अनुभूति और पर्यावरण से अन्तः प्रतिक्रिया में आनन्द प्राप्त करने की प्रवृत्ति से शुरू होता है। दूसरा आयाम मिट्टी, हवा, पानी, जानदार वस्तुएँ, परिवर्तन के जरिये विभिन्नता, विकास, ऊर्जा, तकनीक, प्रदूषण, ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक पक्ष, संगीत, भाषा और कलापक्ष की खोज करता है। तीसरा आयाम प्रक्रिया-पक्षों का विश्लेषण करता है— ज्ञानेन्द्रियों का कारगर उपयोग, प्रेक्षण, वर्णन, मापन, संचार, निष्कर्ष, भविष्यवाणी, प्रयोग, अंक अभिलेखन, आँकड़ा-विश्लेषण, पर्यावरण योजना, उपयुक्त सामाजिक और सांस्कृतिक कुशलता और भाषा तथा कलात्मक कुशलता।

के-12 स्पेन में दूसरा मॉडल भी प्रस्तुत किया गया है जिसमे शैक्षिक तकनीकों के सम्मुख उद्देश्य (ग्रिड में सूचीबद्ध) निर्धारित किए गए हैं। जिनमें बहुत सी कार्यविधियाँ शामिल हैं जैसे बहिरंग प्रयोगशाला, पर्यावरण शिक्षा केन्द्र, क्षेत्र भ्रमण, संचार और अध्ययन कक्ष। कार्यकलापों के वर्गीकरण में निम्नलिखित शामिल हैं:विशिष्ट प्रकरण-समन्वय, प्रक्रिया परकता,

अभिवृत्यात्मक सौन्दर्य बोध आदि जिससे निर्णय करने तथा अधिक पेचीदी गतिविधियों में सफलता मिल सके।[31]

श्री सेवलैण्ड ने बहुत रोचक और संरचनात्मक केस-अध्ययन में पद्धतियों का विश्लेषण किया है। पर्यावरण शिक्षा के प्रति सहायक उपागम से टेक्सानामिकल और खोज सम्बन्धी खुले उपागम दोनों का लाभ मिलता है। यह पर्यावरण को एक पूर्ण, समन्वित छाते के अंतर्गत लाने में पाँच वृहद विश्वव्यापी संप्रत्ययों का उपयोग करता है। ऐसे पाँच संप्रत्यय या लड़ियां इस प्रकार हैं — विभिन्नता और समानताएँ, प्रतिमान, परस्पर प्रतिक्रिया और स्वतंत्रता,निरन्तरता और परिवर्तन विकास और अनुकूलता। इन पाँचों लड़ियों में से प्रत्येक में पाठों का सुझाव और विद्यार्थियों द्वारा परिचर्चा के लिए प्रश्नों का विकास किया गया है।[31]

श्री सेवलैण्ड द्वारा पर्यावरण शिक्षा के बारे में अनेक विविध पद्धतियों का वर्णन किया गया है, जैसे पर्यटन बहिरंग प्रयोगशालाएँ, उत्सव, प्रदर्शनियों की तालिका, परिचर्चा, अनुसंधानिक प्रश्न, परियोजनाएँ, प्रतियोगिताएँ, थियेटर, सड़कों पर उत्सव और सेमिनार, तथा पर्यावरण शिक्षा के लिए कम्प्यूटर आधारित संसाधन इकाइयाँ आदि। युवा-सम्बद्धता विभिन्न देशों में विभिन्न रूप ग्रहण करती है। रूस और पोलैण्ड जैसे समाजवादी देशों में न केवल संरक्षण, परियोजना. अभियान, सर्वेक्षण और अन्य संबद्ध कार्यो में युवा शक्ति को बड़े पैमाने पर लगाया जाता है बल्कि उन्हें बहु आयामी जटिल अनुसंधान परियोजनाओं में भी शामिल किया जाता है। केनिया जैसे अफ्रीकी देशों में वन्य प्राणी क्लब बहुत लोकप्रिय हैं।

यद्यपि पर्यावरण शिक्षा के लिए अध्यापक शिक्षा कारगर दिखाई देती है, वहां अंतर्विषयक एवं पाठ्यक्रमेतर घटक हैं, जैसे विभिन्न शिक्षार्थी-केन्द्र ओंटारिओ, सोवियत अध्यापक प्रशिक्षण संस्थान भी हैं जो बाढ़ग्रस्त स्थानों, आरक्षित और अक्षत जंगलों, पर्यावरण और वनस्पति संबंधी अनुसंधान के लिए अभियान आयोजित करते हैं।[31]

यूनेस्को जैसी विश्व व्यापी संस्थाओं द्वारा आयोजित परिसंवाद ने पर्यावरण शिक्षा को एक आंदोलन के रूप में विकसित कर दिया है। जानसन ने उन स्थितियों का उल्लेख किया है जिनसे पर्यावरण-शिक्षा में सहयोग की चेतना का विकास हुआ है। स्टॉकहोम सम्मेलन (1972) में यह विचार किया गया कि शिक्षा में पर्यावरण के संबंध में ऐसा संप्रत्यय विकसित किया जाना चाहिए कि "मनुष्य और पर्यावरण और मनुष्य तथा मनुष्य के बीच व्यवहार का नया प्रतिमान बनाने के लिए मार्गदर्शन की नयी धारणाएँ बनाना जो मनुष्य द्वारा पर्यावरण के उपयोग के लिए तथा उसमें परिवर्तन के लिए क्षमता उत्पन्न कर सके जैसा कि अभी तक इतने बड़े पैमाने पर कभी नहीं हुआ था"। यूनेस्को/यू.एन. ई.पी. द्वारा पर्यावरण शिक्षा संबंधी अन्तर्राष्ट्रीय कार्यक्रम (1975) उन ठोस उपायों में से एक था, जो इस सम्मेलन के बाद अपनाए गए थे। बेलग्रेड अंतर्राष्ट्रीय कार्यशाला (1975) के फलस्वरूप पर्यावरण-शिक्षा के लिए उद्देश्य, लक्ष्य-मार्ग-दर्शन और सभाओं का आयोजन निर्धारित किया गया। बेलग्रेड घोषणापत्र में मानवता और पर्यावरण के बीच संतुलन और सामंजस्य रखने की आवश्यकता को महत्व दिया गया था लेकिन साथ ही उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए समाजों की अन्तर्भूत सहज अनेकता भी आवश्यक है। टिबिलिसी घोषणा (1977) में न केवल प्रकृति में पर्यावरण के संतुलन की आवश्यकता पर जोर दिया गया था बल्कि *एक नयी अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के आधार के रूप में राष्ट्रों के आपसी संबंध में एकता और समता पर भी बल दिया गया। पर्यावरण-शिक्षा के लिए एक पवित्र भावना, व्यापक अन्तर्विषयक आधार, प्राकृतिक और मानव निर्मित पर्यावरण के बीच परस्पर निर्भरता की पृष्ठभूमि तैयार करना, पर्यावरण शिक्षा को समुदाय के सदस्य के रूप में व्यक्तियों की जीवनपर्यन्त*

शिक्षा, समस्या समाधान की प्रक्रिया में सक्रिय भाग, पहल को प्रोत्साहन, एक बेहतर भविष्य के निर्माण के लिए उत्तरदायित्व और समर्पण की भावना आवश्यक है।

जानसन ने अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए औचित्य की व्याख्या करते हुए इस बात पर जोर दिया था कि पर्यावरण शिक्षा के बारे में संसारव्यापी विचार-विमर्श बढ़ाना और बरकरार रखना आवश्यक है जिसमे परिस्थितीय सिद्धांतों पर जोर दिया जाना चाहिए, जो सैद्धांतिक और राजनीतिक सीमाओं के परे हों। उन्होंने पर्यावरण-शिक्षा के लिए तीन आबादियों का लक्ष्य बनाया हैः (क) साधारण जनता (औपचारिक और अनौपचारिक दोनों प्रणालियों में), (ख) विशेष सामाजिक और व्यावसायिक समूह, (ग) प्रविधिज्ञों, वैज्ञानिकों और विशेषज्ञों का वर्ग।[36]

पर्यावरण और विकास अनुसंधान के अंतर्राष्ट्रीय केन्द्र के निदेशक इगनेसी साक्स ने यह ध्यान दिलाया है कि *क्रांतिकारी पारिस्थितीकि आंदोलन स्वयं आरोपित मितव्ययिता का उपदेश देते हैं और उद्योगपति और विकासकर्ता पर्यावरण के बारे में चेतना जाग्रत करने का श्रेय मध्यवर्ग की संवेदनशीलता को देते हैं और इन दोनों के बीच विवाद चल रहा है।* श्री साक्स के अनुसार *संसाधनों की पर्यावरणी उचित व्यवस्था और संसाधनों का पर्यावरण और पर्यावरण विकास के बहुआयामी उपागम के ही अंग है।* यह विकास का अगला आयाम है, न कि उसका प्रतिवाद। यदि क्रांतिकारी पारिस्थितीकि का औचित्य नहीं है तो मितव्ययिता से भागने के लिए और भी कम कारण हैं। आर्थिक विकास पर नियंत्रण रखना आवश्यक है ताकि सीमा से अधिक विनाश और विपरीत जलवायु के परिवर्तन की प्रक्रिया रोकी जा सके, क्योंकि ये मनुष्य के लिए तथा उसकी उत्तर जीविता के लिए आवश्यक साधनों की समाप्ति हेतु घातक है। दो प्रकार की एकताओं के बीच चलने वाले द्वन्द्व की ओर ध्यान दिलाते हुए उसने कहा कि *एक ओर तो हमारी इच्छा है कि आगामी पीढ़ी के साथ एकता रहे और दूसरी ओर समसामयिकता रहित एकता हो।* साक्स कुछ सम्भव समाधानों की खोज करता है, जैसे सभी रूपों मे प्राप्त सौर ऊर्जा की सिफारिश, साधनों का नवीकरण न करके उनका पुनः उपयोग, पर्यावरण में गिरावट रोकने के लिए प्रौद्योगिकी का सामाजिक नियंत्रण आदि। वह एक अर्थशास्त्रीय विकास पद्धति का सुझाव देता है, जो शून्य विकास और तत्काल लाभार्थ प्रकृति के अंधाधुन्ध दोहन के बीच की स्थिति होगी।[36]

विडार्ट ने पर्यावरण शिक्षा का एक ब्योरेवार सिद्धांत विकसित किया है। वह पर्यावरण शिक्षा में व्यापक और संकीर्ण दृष्टि से भेद करता है। व्यापक दृष्टि वास्तव में *सभी दार्शनिक, सामाजिक और शैक्षिक विचारों को मिलाकर नयी शिक्षा के नाम पर शिक्षा का भव्य सिद्धांत* निकालने का बहाना है और संकीर्ण अर्थ में इस शब्द का तात्पर्य है *पर्यावरण को मिटाने के लिए प्रयोजनवादी प्रतिक्रिया। समृद्ध समुदायों में सम्पत्ति से प्रदूषण फैलता है, और तीसरी दुनिया में गरीबी से प्रदूषण फैलता है।*

विडार्ट ने पर्यावरण शिक्षा के इतिहास की खोज सेंट-हिलेयर द्वारा प्रस्तुत *मिल्यू एम्बिएंट* की धारणा के आधार पर की है, और उसके फलस्वरूप पर्यावरण संबंधी संकल्पों पर विचार किया है, जो प्राकृतिक, रासायनिक, प्राणिशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, सांस्कृतिक निरन्तरता विकास क्रम में अंतर्निहित है। एंजेल्स के शब्दों में *मनुष्य प्रकृति का ऐसा अंग है जहाँ प्रकृति अपने स्वरूप के प्रति चैतन्य होती है।* यहाँ चिंतनशील आचरण के महत्व को मान्यता दी गई है, जहाँ सामाजिक क्रिया मानव समुदायों की स्मृति में परिवर्तित हो जाती है, फिर वास्तुकारों, डाक्टरों, समाजशास्त्रियों, इंजीनियरों, भूगोलवेत्ताओं और नृशास्त्रियों द्वारा पर्यावरण विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है।

विडार्ट *पर्यावरण* शब्द के सैद्धांतिक अर्थ की व्याख्या करते हुए कहता है कि यह विकसित देशों द्वारा उनके ऊपर निर्भर देशों में औद्योगीकरण को हतोत्साहित करने के लिए प्रयुक्त मनोवैज्ञानिक शास्त्र है। 2000 ई० तक प्रलय होने की भविष्यवाणी का साधन है, प्रकृति के प्रति *नया दृष्टिकोण अपनाने का साधन है, कल्पना और भविष्यवाणी के मेल से परियोजनाएँ* चलाने का स्रोत है, जन आंदोलन के लिए सार्वजनिक प्लेटफार्म है, पूंजीवादी लूटपाट और प्रदूषण के विरुद्ध वामपंथी तर्क है, संस्कृति विरोधी समुदायों के लिए आश्रय है और मिथ्या विज्ञान को लोकप्रिय बनाने वालों के शोषण का विषय है।

विडार्ट ने शिक्षा के व्यापक अर्थ *संस्कृति मूलकता* और संकीर्ण अर्थ *बैंकिंग* के बीच शिक्षा और विद्यालयी करण का अंतर बताया है। पर्यावरण शिक्षा व्यापक, खुली हुई, लोकतांत्रिक और जीवनपर्यंत चलने वाली शिक्षा से जुड़ी होनी चाहिए। ऐसी पर्यावरण शिक्षा उस तड़क-भड़क से भिन्न होनी चाहिए जो समय-समय पर शिक्षा को आक्रांत करती है। यह शिक्षा मे *कोपरनिकन क्रांति* होगी।[36]

पर्यावरण अधिगम के संप्रत्ययात्मक ढांचे की व्याख्या करते हुए गोड्सवार्ड कहते हैं कि अध्यापक *सामान्य पर्यावरण* को बदलकर ऐसा स्वरूप दे सकते हैं—जहाँ सक्रिय शिक्षा, अनुसंधान और अन्वेषण हो सकते हैं। एक बार जब स्वीकार करने और प्रोत्साहित करने की स्थिति में पर्यावरण में ज्ञानात्मक उद्दीपन शामिल कर लिया जाता है तो *अध्यापन के क्षण* उत्पन्न होकर शिक्षा में गति प्रदान करते हैं और अनुभव के बाद अतिरिक्त तथ्यों के तीव्र अधिग्रहण के लिए स्प्रिंग बोर्ड का काम करते हैं। सीखने के वातावरण में शिक्षा को प्रभावी बनाने के अवसर भी होने चाहिए। उन्हें ऐसे खुले ढाँचे की व्यवस्था भी करनी चाहिए जो प्राकृतिक, प्रगतिशील पर्यावरण प्रणाली में अविराम और अकस्मात होने वाली घटनाओं का लाभ उठाते हैं। पर्यावरण के अध्ययन में खुली प्रणाली के उपयोग की कठिनाइयों का भी विश्लेषण किया गया है।[36]

पर्यावरण शिक्षा में अंतर्विषयक परिप्रेक्ष्य के संप्रत्यय का अनेक विद्वानों द्वारा विश्लेषण किया गया है। इस संदर्भ मे मोरोनी ने जन्ताश द्वारा बहुविषयकता से अन्तर्विषयकता के माप के विश्लेषण का सारांश प्रस्तुत किया है जिसमें विषयों के बीच कोई स्पष्ट संभव संबंध न दिखाते हुए भी साथ-साथ विविध विषय प्रदान किए जाते हैं, पृथक-पृथक विषयों से ऊपर उठकर ऐसी शैक्षिक स्थिति का निर्माण हो जाता है जहाँ सभी विषय और अंतर्विषय एक साधारणीकृत स्वतःसिद्धि के आधार पर समायोजित किए जाते हैं और जिससे *स्पिस्टेमोलोजिकल पैटर्न* का आविर्भाव होता है। इससे शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर अनुकूल और प्रासंगिक अंतर्विषयक कार्य के प्रकार का भी पता चल जाता है।[36]

स्टैप ने पर्यावरण शिक्षा के लिए एक शैक्षणिक नमूना तैयार किया है जिसमें *पर्यावरण से जूझने* के मूल संप्रत्यय का समावेश है—यह एक विशिष्ट शैक्षणिक प्रविधि है, जिसमें समस्या या प्रश्न की परिभाषा, अनौपचारिक होना, वैकल्पिक समाधानों की पहिचान और मूल्यांकन, कार्य-योजना को विकसित करना, कार्यान्वित करना और मूल्यांकन करना शामिल है। एक सोपानीकृत नमूना भी प्रस्तुत किया गया है, जिसमें पर्यावरणीय संवेदनशीलता को नीचे के शैक्षिक स्तरों पर प्रधानता दी गई है और ज्यों-ज्यों कक्षा-स्तर ऊँचे होते जाएँगे, त्यों-त्यों तथ्यात्मक ज्ञान, समस्या-समाधान के कौशल और दर्शन की गहराई बढ़ती जाएगी।[36]

एक ग्रीक वास्तुकार हेलेन फेसास-इमानोइल ने शैक्षिक और सामुदायिक सुविधाओं को समन्वित करने की स्थिति का पता लगाया है। इस समन्वय के दोहरे कार्य हैः (1) शिक्षा को सामुदायिक जीवन के संदर्भ मे सार्थक और प्रासंगिक बनाना, (2) विद्यालय को सामाजिक

और सांस्कृतिक सेवा-संस्थाओं का अभिन्न अंग बनाना। किन्तु सामाजिक-राजनैतिक पक्ष में अनेक शैक्षिक नीतियों का लक्ष्य 'छात्रों पर बाह्य प्रभावों को रोकना'रहता है, और इस कारण 'विद्यालय का द्वार बाह्य संसार के लिए खुले रखने' का कार्य कठिन हो जाता है। वास्तुशिल्प और भौतिक योजना की दृष्टि से विद्यालय और सामुदायिक सुविधाओं के समायोजन की स्थिति बनाई जाती है, जिससे मानवीय तथा पदार्थगत दोनों ही संसाधनों का बेहतर उपयोग हो सके।

फेसास-इमानोइल का सुझाव है कि अब दो समानांतर स्कूल हैं: एक ओर परंपरागत शैक्षिक सुविधाएँ और दूसरी ओर सामाजिक-सांस्कृतिक सुविधाएँ तथा जन संचार संबंधी कार्य। उनका सुझाव है कि विद्यालय और सामुदायिक सुविधाओं का समन्वय एक प्रकार का 'तीसरा स्कूल' है जिस पर हमने गंभीरता से विचार नहीं किया है। वास्तुशिल्पगत और नियोजन आशावाद इस पूर्वधारणा पर आधारित है कि समायोजित सामाजिक-सांस्कृतिक और शैक्षिक सुविधाएँ विद्यालय की अपेक्षा सामुदायिक जीवन के पक्ष में अधिक प्रासंगिक होंगी।

इस प्रकार के समन्वित नमूनों की स्थापना इंग्लैड में सामुदायिक महाविद्यालयों और सामुदायिक केन्द्रों के रूप में, एफ. डी. आर. (जर्मनी) मे विविध सामुदायिक सुविधाओं के रूप मे (Gemeinds chaften syentrum etc) और यू. एस. (अमेरिका) मे खुले स्कूलों और सामुदायिक स्कूलों के रूप में हुई है। फ्रांस में समन्वित केन्द्र Vald' Yernes तथा अन्य स्थानों पर खुले हैं।

किन्तु बिना चहारदिवारी के स्कूलों के कारण ही 'स्कूलरहित' प्रक्रिया का जन्म नहीं हुआ है। एक कारण यह है कि समन्वित शैक्षिक और सामुदायिक सुविधाएँ विभिन्न सामाजिक वर्गो और आयु वर्गो में यथार्थ संबंध संवर्द्धित करने में विफल रही है। लेख के शेष भाग मे इस समस्या के सैद्धांतिक पक्ष की सूक्ष्म चर्चा की गई है।[36]

पर्यावरणीय जानकारी

पर्यावरणीय जानकारी के सिद्धांतों और संप्रत्ययों पर मूर और गॉलेज ने बड़ी सूक्ष्मता से सामग्री, संकलित, संपादित और विश्लेषित की है। ये अध्ययन पर्यावरणीय शिक्षा विज्ञान के लिए शायद उतने ही सार्थक और प्रासंगिक हैं जितने कि आधुनिक गणित और विज्ञान-शिक्षा के संबंध मे पियाजे, ब्रूनर, गाग्ने, तथा अन्य विद्वानों के विश्लेषण हैं। पर्यावरण-ज्ञान की परिभाषा है—" वह जागृति छवि, सूचना, प्रभाव और आस्था जिन्हे व्यक्ति और समुदाय वास्तविक और कल्पित भौतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक पर्यावरणों के तात्विक, संरचनात्मक, व्यावहारिक और प्रतीकात्मक पक्षों के संबंध मे रखता है।" इसमे सूचनाएँ और विश्वास तथा इरादतन भ्रामक सूचनाएँ (जैसा कि प्रचारात्मक) शामिल है। इसमे पर्यावरण के संबंध में स्थानीय बद्ध छवियाँ तथा भाषिक बद्ध'प्रभाव' भी शामिल हैं। किसी नगर में सीमा रेखाएँ प्राकृतिक विभाजन नहीं हैं, जितना कि नगर की दो विभिन्न धारणाओं की विभाजक रेखाएँ है, जैसे 'सुरक्षित' और 'असुरक्षित' क्षेत्रों के बीच 'अच्छे' और बुरे क्षेत्रों के बीच; वस्तुतः मन का नगर उतना ही प्रासंगिक है जितना नगर के बारे मे वस्तुनिष्ठ सांख्यिकी।[19]

मूर और गॉलेज ने आगे और भी पर्यावरण-अध्ययन में उपयोगी प्रत्यक्ष ज्ञान और बोध की प्रकृति का तथा प्रतिनिधित्व अथवा परिकल्पित निर्माण के रूप मे बोधात्मक मानचित्र के संप्रत्यय का, और पूर्वानुमान तथा पद्धति संबंधी प्रश्नों और पर्यावरण-बोध के ज्ञान मीमांसक आधारों का विश्लेषण किया है। पर्यावरण बोध के सिद्धांत और शोध के इतिहास, उद्भव, विकास और भविष्य का भी अन्तर्विषयक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण किया गया है। डाउनस् और

स्टी ने *बोधात्मक मानचित्रण* शब्द को इस प्रकार परिभाषित किया है—"वह प्रक्रिया जिससे लोग दैनंदिन स्थानिक पर्यावरण में सापेक्षिक स्थान निर्धारण, और घटनाओं की विशेषताओं के बारे मे सूचनाएँ अर्जित करते हैं, कूटबद्ध करते हैं, संग्रह करते हैं, पुनःस्मरण करते हैं और कूट खोलते हैं।"[19]

स्टीपेन काप्लान ने *अनुकूलता, संरचना और ज्ञान* पर अपने श्रेष्ठ विश्लेषण में यह निष्कर्ष निकाला है कि *बोधात्मक मानचित्र, विश्वास और पूर्वग्रह भी बोधात्मक सामग्री के स्पष्टतः पृथक भाग नहीं हैं, बल्कि वे सभी ऐसी स्थितियां हैं जिनमे व्यक्ति अपने पर्यावरण के किसी भाग का आंतरिक नमूना प्राप्त करता है।* उनका विश्लेषण इस पूर्वानुमान पर आधारित है कि सतत विकासमान पर्यावरण अनिश्चित और खतरनाक है। ऐसे पर्यावरण में उत्तर-जीविता के लिए वस्तु-पहिचान, भावी घटनाओं का पूर्वानुमान अमूर्तीकरण, साधारणीकरण तथा उत्तरदायी नवीनीकरण की आवश्यकता पड़ती है। इस आधार पर वह अनिश्चितता की व्यवस्था, सूचना-संग्रह की क्षमताएँ और यांत्रिकताएँ, स्थान का महत्व, पूर्वानुमान और क्रमों की कूटबद्धता आदि की चर्चा करता है। तरीका निकालने का उसका विश्लेषण पर्यावरण-शिक्षा के लिए सीमाओं और क्षेत्रों मे दृश्यभिन्नता, निष्कर्षित भिन्नता और व्यावहारिक भिन्नता के संप्रत्ययों के साथ विशेष रूप से प्रासंगिक है।[19]

रेशेल काप्लान ने *प्राकृतिक पर्यावरण में साधन-प्राप्ति* पर केस अध्ययन के साथ उपर्युक्त अध्ययन का अनुसरण किया है। आदर्श है—*भावी* पर्यावरण को इस प्रकार प्रस्तुत करना कि उसका दृश्यांकन सुगम हो जाए।[19]

काप्लान के इस मत की सराहना करते हुए कि "पर्यावरण केवल सुविस्तृत अज्ञात मात्र नहीं है जिसे प्रयोगशाला की खिड़की की सीमाओं से ही देखा जा सकता है और काप्लान द्वारा भाँति-भाँति के उपकरणों (मानचित्रों, खेल, क्षेत्र-भ्रमण) के प्रयोग से पर्यावरणीय समस्याओं और संप्रत्ययों तथा मनोवैज्ञानिक पद्धतियों मे सही संबंध प्रभावित किया जा सकता है, डाउन्स काप्लान से अपना मतभेद इस प्रश्न पर प्रकट करता है कि पर्यावरण किस प्रकार बुद्धिगत होता है वह उत्पाद (मानचित्र) और प्रक्रिया (मान चित्रण) में एक तनाव देखता है। वह इस विश्वास में खोने की लालसा के विरुद्ध चेतावनी देता है कि एक मानचित्र ऐसी चीज है जिसे लोगों ने अपने मस्तिष्क मे कहीं संग्रहीत कर रखा है। हम स्थानीय ज्ञान को विशाल लेकिन रहस्यपूर्ण बोधात्मक एटलस के रूप में समझने का खतरा उठाते हैं।" डाउन्स यह भी दिखाता है कि केली का व्यक्ति निर्माण सिद्धांत (परसन कंस्ट्रक्ट थियरी) पर्यावरण-बोध की प्रक्रिया में सहायक हो सकता है। वह कहता है कि "पर्यावरण कोई दूसरा परिवर्तनीय विकल्प नहीं, जिसे बहुल प्रतिगामी नमूने में फेंक दिया जाए। यह व्यवहार के समस्त स्वरूप का उद्देश्य है जो स्थानिक समस्याओं के समाधान में लगा रहता है।" पर्यावरण बोध एक रचनात्मक प्रक्रिया है जो विकल्पों को अनुप्राणित करती है।[19]

हानिकमैन व्यक्ति निर्माण सिद्धांत (परसन कंस्ट्रक्ट थियरी) तथा पर्यावरण अर्थ की नगरीय अभिकल्पना के अनुप्रयोग की संभावना ढूँढ़ता है। विश्लेषण में प्रयुक्त कुछ प्रमुख संप्रत्ययों में शामिल हैं—सोपानीकरण (उच्चस्थ अथवा अधीनस्थ को प्रकाश मे लाना) संग्रह की जाली या झँझरी परिवर्तन का प्रतिरोध और निहितार्थ झँझरी, संबंधसूत्र।[19]

बच्चे किस प्रकार पर्यावरण से बोधात्मक मानचित्र अर्जित करते हैं, इसे समझने के लिए

फिशबेन एक विकासवादी तथा परिवर्द्धनशील उपागम प्रस्तुत करता है। वह वाडिंगटन, लारैन्ज़ और पियाजे के कार्यों के सूक्ष्म विश्लेषण से निष्कर्ष निकालता है कि ज्ञानार्जन का प्राथमिक सीमित कार्य, चाहे वह वंशप्रसूपी जीनोटाइप में अथवा लक्षणप्रसूपी फेनो टाइपिक अर्जन के द्वारा हो, जीव को पर्यावरण में प्रभावपूर्ण कार्य के लिए समर्थ और योग्य बनाना है। वर्तमान अनुजातीय उपागम में *अधिगम को व्यवहार समूह अथवा प्रक्रियाओं के रूप में परिभाषित किया जाता है जो उत्तरोत्तर व्यक्ति के भावी संवेदनात्मक अनुभवों अथवा प्रेरक कार्यों अथवा दोनों को संगठित करता है।*[19]

मूर ने पियाजे, बर्नर, काप्लान तथा दूसरों के व्यापक अध्ययन पर आधारित पर्यावरणीय जानकारी के विकास पर सिद्धांत और शोध प्रस्तुत किया है। उसके लेख के प्रमुख घटक हैं— जीव समूह की अंतःक्रिया, संस्कृति और पर्यावरणीय अनुभव, कार्य तथा कार्यसंपादन, मध्यस्थता, संरचना, सार्वभौम, सरल, मूर्त्त, अभिन्न, आत्मकेन्द्रित अवस्था से सूक्ष्म, जटिल, समायोजित तथा श्रेणीबद्ध समन्वित अवस्था में रूपांतरण की प्रक्रिया। आदर्श गांव से और बच्चे के विद्यालय-आँगन की बालूदानी और नगरोपांत से जैसा कि पियाजे का अध्ययन है चित्र और दृष्टांत दिए गए हैं। साथ ही अन्य अन्वेषकों द्वारा प्रयुक्त अधिक जटिल मानचित्र और आदर्श भू-दृश्य भी दिए गए हैं।[19]

संदर्भ

1 बी.डी आत्रेय, ए. के. मिश्र और जी. गुरु, *ए स्टडी इन दि एरिया ऑफ एडाप्टिंग साइंस एण्ड टेक्नालॉजी एजुकेशन टू चेजिंग सोसाइटी एण्ड टु दि डाइवर्सिटी ऑफ नीड्स* (यूनेस्को प्रवर्तित) नई दिल्ली, एन सी ई. आर. टी., 1980

2 एन बालकृष्णन नायर, *दि डिस्कवरी ऑफ दि ओसंस,* नई दिल्ली, एन. सी ई. आर. टी , 1969

3 ई., बालारमन, *साइलेट वैलीः इकोलॉजिकल एण्ड इनवायरनमेटल प्राब्लेम्स,* त्रिवेन्द्रम, परिसर असूथन समरक्षक समिति, 1980

4 पी. टी. भास्कर पनिक्कर; *परिसर पाठावली,* त्रिवेन्द्रम, कॉन्फेड, 1979

5 टी वी.दशिकाचारी, *मेरीन प्लांट्स,* नई दिल्ली, एन सी. ई. आर टी , 1975

6 जे. इक्ज़ेमल, *कंस्ट्रक्शन ऑफ सर्टेन मॉडेल्स फॉर टीचिंग स्कूल बॉटनी यूजिंग इनवायरनमेण्टल एण्ड एथनिक रिसोर्सेज एण्ड टेस्टिंग एफिशिएन्सी ऑफ सच मॉडेल्स,* (अप्रकाशित पीएच डी. शोध ग्रथ) केरल विश्वविद्यालय, 1980

7 ग्लेडिस एण्ड्रयूज फ्लेमिंग- *क्रीएटिव्ह रिदेमिक मूवमेण्ट्स, एंजिल वुड क्लिफ्स,* एन. जे प्रेटिस हॉल, 1976

8 पॉलो फ्रेरे, *पेडागॉजी ऑफ दि आप्रेस्ड, पेंग्विन,* 1972

9 फ्रेडरिक हॉपर, *ऐन एक्सपेरिमेटल स्टडी इन दि यूज़ आफ मॉड्यूलर एप्रोच फॉर टीचिंग बायोलॉजी इन क्लास* XI (पीएच. डी एब्सट्रेक्ट), *इंडियन एजुकेशनल रिव्यू,* 1984

10 एच एच. हार्नी, *फिलॉसफी ऑफ एजुकेशन,* 1937

11 होस्ट, *एक्टिविट्स डि एविलिस डॉन्स लेस्कोल्स प्राइमेरुस,* पेरिस, आई. एन. आर डी पी ,1974

12 एन डी जोशी, *गिरिजन पाठावली,* त्रिवेन्द्रम, कान्फेड, 1979

13 एन. डी. जोशी, *एजुकेशन ऑफ ट्राइब्स इन केरल,* अप्रकाशित शोधग्रथ, केरल विश्वविद्यालय, 1984

14 डी. काबलेव्स्की, *म्यूजिक एजुकेशन इन दि मॉडर्न वर्ल्ड,* मास्को, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1974

15 एन एन.मजुमदार, *बर्ड माइग्रेशन,* नई दिल्ली, एन. सी. ई. आर टी., 1977

16 एन वेदमणि मैनुएल, *एजुकेशन इन दि इंटरडिसिप्लिनरी कंटेक्सट,* त्रिवेन्द्रम, यूनिवर्सिटी डिपार्टमेट आफ एजुकेशन, फेयरवेल कमेटी, 1983

[17] एल. वेदमणि मैनुएल एण्ड पुष्पिता जॉन, *स्टडीज इन एजुकेशन पब्लिकेशन न० 12,* मार्च 1978 त्रिवेन्द्रम,यूनिवर्सिटी डिपार्टमेण्ट आफ एजुकेशन

[18] विष्णु मित्रा, *रॉक्स अनफोल्ड दि पास्ट,* नई दिल्ली, एन. सी. ई आर. टी., 1973

[19] गैरी टी. मूर एण्ड रेजिनाल्ड जी. गोलेज (सम्पा.) *इनवायरनमेंटल नोइंग,* स्ट्राउड्स वर्ग, पेन्सीलवनिया, डाउडन, हचिन्सन एण्ड रास इंक, 1976

[20] बी. के. नायर, (सम्पा.) *फ्लोरा एण्ड फौना ऑफ साइलेंट वैली अट्टापड़ी, एण्ड सबरिगिरि फारेस्ट्स,* त्रिवेन्द्रम, पब्लिक रिलेशंस आफिस, गव आफ. केरल, 1981

[21] एन. सी ई. आर. टी., *इनवायरनमेण्टल एजुकेशन एण्ड एन. सी. ई. आर. टी.,*1981

[22] एन सी. ई. आर. टी. *इनवायरनमेण्टल एजुकेशन ऐट दि स्कूल लेवल, ए लीड पेपर,* 1981

[23] एन सी. ई. आर. टी *इनवायरनमेण्टल स्टडीज I*

[24] एन. सी. ई. आर. टी. *इनवायरनमेण्टल स्टडीज II, (लर्निंग साइंस थ्रू दि इनवायरनमेण्ट) टेक्स्टबुक्स फॉर क्लासेस 3-5,* 1979

[25] एन सी. ई. आर. टी., *मिनिमम लर्निंग कंटिनअम,* 1979

[26] एन. सी. ई. आर. टी , *दि करिकुलम फॉर दि टेन ईयर स्कूल, ए फ्रेमवर्क,* 1975

[27] नफील्ड फाउण्डेशन एण्ड स्कूल साइंस कौंसिल, *साइंस 5/13 सिरीज*

[28] जे. एस. राजपूत, आदि, *दि रिपोर्ट ऑफ प्रोजेक्ट इनवायरनमेण्ट* (ऐन एरिक प्रोजेक्ट), भोपाल, रीजनल कॉलेज ऑफ एजुकेशन, 1980

[29] सी जी. संत कुमार, *न्हनुम वीडम चट्टप्पदम,* क्विलोन, केरल शास्त्र साहित्य परिषद्, 1981

[30] सी जी संतकुमार *शास्त्रनवीशनवम प्रोजेक्टकलम,* त्रिवेन्द्रम, केरल शास्त्र साहित्य परिषद् 1981

[31] राबर्ट, एन सेवलैण्ड, *हैण्डबुक ऑफ इनवायरनमेण्टल स्टडीज,* लंदन, जॉन वाइले एण्ड संस,, 1976

[32] पी. ए शहरबान, *दि पोटेंशिएलिटी ऑफ सर्टेन एलिमेंट्स ऑफ ट्रेडीशनल कल्चर एमंग मुस्लिम्स इन केरल फॉर मल्टि डाइमेन्शनल मॉडेल्स ऑफ नानफार्मल एजुकेशन,*पी-एच डी थीसिस, केरल यूनिवर्सिटी, 1984

[33] स्ट्रेबो, *जियोग्रेफी,* बुक 7

[34] आर. एन. स्वामी, *बायोलॉजिकल क्लाक्स,* नई दिल्ली, एन सी. ई. आर. टी ,1976

[35] नीना टैलिजीना, *दि साइकोलोजी ऑफ लर्निंग,* मास्को, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, 1981

[36] यूनेस्को, *प्रोस्पेक्ट्स (क्वार्टर्ली रिव्यू ऑफ एजुकेशन) - एजुकेटिंग फॉर ए बेटर इनवायरनमेण्ट,* वाल्यूम 8 न. 4, 1978

[37] यूनेस्को-*ट्रेंड्स इन इनवायरनमेण्टल एजुकेशन,* पेरिस,1977

[38] एल बसता, *ए कंपेरेटिव्ह अनेलिसिस ऑफ म्यूजिक एजुकेशन एण्ड इंप्लिकेशन फॉर इंप्रूव्हड म्यूजिक एजुकेशन इन इंडिया* अप्रकाशित पी-एच डी. थीसिस, यूनिवर्सिटी आफ केरल, 1984

[39] एस. वैंकटेश चक्रवर्ती, *अवर ट्री नेबर्स,* नई दिल्ली, एन. सी. ई. आर. टी.,1976

[40] *इंडियन एक्सप्रेस,* 18 जुलाई 85

भालचंद्र सदाशिव पारख

प्रारंभिक विद्यालय पाठ्यक्रम के क्षेत्र में अपेक्षित अनुसंधान



भालचंद्र सदाशिव पारख

भालचंद्र सदाशिव पारख *(जन्म 1925) की शिक्षा बंबई, पूना, वाराणसी, कोलंबिया और न्यूयॉर्क के विश्वविद्यालयों में हुई। इन्होंने पाठ्यचर्या-निर्माण के क्षेत्र मे विशेषज्ञता अर्जित की है। ये राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् में डीन (शैक्षणिक) तथा सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग के अध्यक्ष थे। 1985 में अवकाश ग्रहण करने के बाद ये परिषद् में पाठ्यक्रम विकास के परामर्शदाता हो गए हैं। इनकी लिखी* भारत का आर्थिक भूगोल *नामक पाठ्य पुस्तक बड़ी लोकप्रिय है और उसका जापानी अनुवाद जापान के विद्यालयों में पढ़ाया जाता है। यूनेस्को के अनेक प्रकाशनों में इन्होंने लिखा है।*

प्रारंभिक विद्यालय पाठ्यक्रम के क्षेत्र में अपेक्षित अनुसंधान

प्रारंभिक शिक्षा में शिक्षा की प्रवृत्तियों, शिक्षा के विकास तथा मुद्दों को लेकर समग्र अध्ययन किया गया है। इस समग्र अध्ययन से और आगे अनुसंधान करने के लिए कुछ विषय, कुछ विशिष्ट क्षेत्र और कुछ मुद्दे सामने आये हैं। इनका महत्व इस बात से जाहिर होता है कि इन विषयों का, विशेष रूप से एकदम आधारिक अध्ययन के दौरान पता लगाया गया है तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उनकी सार्थकता और उपयोगिता पर विचार-विमर्श के बाद उनका चुनाव किया गया है। विषय के अनुसार अनुसंधान का स्वरूप बदल जाता है। कुछ विषयों का स्वरूप दार्शनिक होता है तो कुछ का शिक्षाशास्त्रीय। कुछ तत्काल सर्वेक्षण से संबद्ध होते हैं तथा गहराई से उनका अध्ययन करने की आवश्यकता होती है जब कि कुछ अन्य का स्वरूप क्रियात्मक, विकासात्मक या कार्यान्वियन मूलक होता है। कुछ विषयों की ऐसी आदर्श स्थिति है कि उनको एक केस (स्वतंत्र मामला) के रूप में लेकर अध्ययन किया जा सकता है जबकि कुछ विषय ऐसे भी हैं जिनके बारे में ठोस प्रमाण एकत्र करने के बाद उनका अध्ययन किया जाना चाहिए। कहना न होगा कि स्थानीय (जैसे विद्यालय या अध्यापक), राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय आदि विभिन्न स्तरों पर इन अध्ययनों के लिए प्रयास करना उपयुक्त होगा।

अनुसंधान के जिन विषयों का स्वरूप प्रमुख रूप से दार्शनिक हो सकता है, उनके उदाहरण के रूप में हम कुछ विषय ले सकते है जैसे समन्वय का स्वरूप, प्रक्रिया तथा परिणाम। आरंभिक शिक्षा-शास्त्रीय अनुसंधान का एक उदाहरण इस प्रकार के मुद्दों को बनाया जा सकता है जैसे किस समय, कितनी संख्या मे और कितने समय तक, बड़ी संख्या में बहुभाषी भाषा शिक्षण को प्रारंभिक विद्यालय स्तर पर चालू किया जा सकता है और इसका क्या असर होगा। इस क्षेत्र के विभिन्न देशों में बचपन के शुरुआती दौर के लिए तथा प्रारंभिक विद्यालयों के लिए किस प्रकार पाठ्यक्रम बनाए जाते है, यह भी तत्काल सर्वेक्षण के विषय का एक उदाहरण हो सकता है। सामाजिक विज्ञान/सामाजिक विषय के अध्ययन में परंपरागत तरीका बनाम समग्र तरीका को भी गहन अध्ययन के लिए इसके विभिन्न आयामों के साथ लिया जा सकता है।

छात्रों के लिए वर्गीकृत पाठ्य और शिक्षण सामग्री की तैयारी तथा उसका परीक्षण, क्रियात्मक, विकासात्मक और कार्यान्वियनमूलक अध्ययन का सटीक उदाहरण हो सकता है।

कक्षा शिक्षण मे प्रच्छन्न पाठ्यक्रम की अवधारणा बहुत मुश्किल होती है। इस तथ्य के प्रति जागरूक रह कर अध्यापकों को लेकर इस बात का अध्ययन करना काफी सार्थक होगा कि अनजाने में ही वे किस प्रकार तरह-तरह के निजी मूल्यों को छात्रों को पढ़ाते हैं और उन मल्यों का छात्रों पर क्या असर होता है।

इसको मानते हुए कि इस क्षेत्र के बहुत से देश किसी न किसी रूप में समग्र पाठ्यक्रम/पाठ्यसामग्री शिक्षण आदि की वकालत करते चले आ रहे हैं, क्या हमारे पास अनुसंधान से प्राप्त इस प्रकार के ठोस तथ्य मौजूद हैं कि सचमुच समग्र दृष्टिकोण बच्चे के अध्ययन मे सहायक होता है? आनुभविक अध्ययन के लिए यह अत्यंत रोचक विषय बन सकता है और इससे हमारे शिक्षकों को अपने समय की आधारभूत शिक्षाशास्त्रीय स्थापनाओं में एक मान्यता के स्पष्टीकरण में मदद मिल सकती है। कार्यानुसंधान को बढ़ावा देने के लिए, अध्यापकों को एक अमूर्त विषय, जैसे प्रजातंत्र या सरकार चुनने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है। फिर इनको छोटी-छोटी शृंखलाबद्ध सरल अवधारणाओं में विभक्त किया जा सकता है जिससे क्रमबद्ध तरीके से श्रेणी बनाकर उनका स्थान, क्रम निर्धारित किया जा सके। प्रारंभिक स्कूल स्तर पर उपर्युक्त कार्यानुसंधान के उदाहरण के रूप मे इसको प्रस्तुत किया जा सकता है।

यदि कार्यानुसंधान के विषयों और मामला विशेष के अध्ययनों (केस स्टडी) को स्कूल के स्तर या स्थानीय स्तर पर हाथ मे लिया जाता है तो निम्नांकित विषयों के अभिज्ञान से संबंधित अनुसंधान को क्षेत्रीय या राष्ट्रीय स्तर पर काम के लिए लिया जा सकता है, जैसे स्थानीय कच्चे माल तथा संसाधन, कुछ विशेष प्रकार की नौकरियों या व्यवसायों के लिए संभावना, सामग्री का विकास तथा कार्याभिमुखी पाठ्यक्रम। कुछ चुने हुए अनुभवाश्रित अनुसंधान कार्यों को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हाथ मे लिया जा सकता है, खास तौर पर उन विषयों को, जिनका मिश्र सांस्कृतिक स्वरूप हो। इन अनुसंधानों को किसी अन्य संस्था के साथ मिलकर संयुक्त परियोजना के रूप में चलाया जा सकता है। इस विशेष कोटि की सुविधानुसार आनुभविक/शिक्षाशास्त्रीय अनुसंधान की मदद ली जा सकती है। उदाहरण के लिए इस प्रकार के अनुसंधान निम्नांकित क्षेत्रों में चलाये जा सकते हैं, (1) अपनी सारी खूबियों और खामियों के साथ बच्चे के व्यक्तित्व के विकास पर बहुभाषिकता का प्रभाव, (2) बच्चा, उसकी सीखने की योग्यता तथा उसकी सीखने की गति के प्रति समग्र दृष्टि, (3) मूल्यों से किस प्रकार बच्चे का परिचय कराया जाता है, उनका स्पष्टीकरण और विकास कैसे किया जाता है तथा बच्चे के वास्तविक व्यवहार के संदर्भ में उनको कितने प्रभावी तथा वस्तुपरक तरीके से आँका जाता है, (4) कार्यशिक्षा के क्षेत्र में बच्चे की ज्ञानेतर उपलब्धियों का आकलन किस प्रकार किया जाए, (5) क्या समग्र पाठ्यक्रम बच्चे और अध्यापक के ऊपर पड़ने वाले दबाव को निश्चित रूप से हल्का करता है; यदि हाँ, तो वह इसे किस सीमा तक हल्का करता है, (6) रचनात्मक अवस्था में बच्चे की मूल्य व्यवस्था को बनाने तथा उसको मोड़ने वाले तत्व है : (क) घर और परिवार, (ख) अध्यापक तथा विद्यालय, (ग) समुदाय और समाज, (घ) एक बच्चे के समकक्ष अन्य बच्चों का दल, (ङ) समाज तथा सर्वग्रासी संचार माध्यम जिससे बच्चे का अधिकाधिक साक्षात्कार होता जा रहा है। क्या समाज की विभिन्न विकास अवस्थाओं मे इन संस्थाओं मे से प्रत्येक के योगदान को पहचाना और मापा जा सकता है?

अध्ययन के प्रत्येक प्रमुख क्षेत्र में सुझाए गए अनुसंधानों की संक्षिप्त रूपरेखा नीचे दी गई है, उदाहरणार्थ — (1) समग्र पाठ्यक्रम, (2) नैतिक/धार्मिक मूल्यों वाली शिक्षा, (3) कार्याभिमुखी शिक्षा, (4) पाठ्यक्रम का दबाव, (5) सामान्य समस्याएँ या सामान्य सरोकार। ये अनुसंधान के लिए विस्तृत रूपरेखाएँ नहीं है और न ही इनका स्वरूप विस्तृत और निर्देशात्मक है, कहना चाहिए कि अधिक से अधिक इनका स्वरूप सुझावात्मक, एक सीमा तक कार्य करने के लिए उत्प्रेरित करने वाला है।

पाठ्यक्रम के प्रति समग्र दृष्टि

1. प्रारंभिक स्तर पर पाठ्यक्रम निर्माण तथा उसके मूल्यांकन के लिए समग्र दृष्टिकोण मे अपनाई गई तकनीकों तथा प्रक्रियाओं का क्षेत्रपारीय अध्ययन

इस अध्ययन मे निम्नांकित बातों के ऊपर विचार किया जाना चाहिए :

(i) केन्द्रीकृत बनाम विकेन्द्रीकृत पाठ्यक्रम की रचना।
(ii) समग्र पाठ्यक्रम निर्माण तथा उसी के साथ सहसंबंधित या समग्र शिक्षण।
(iii) समग्र शिक्षण और समग्र अधिगम को आमने-सामने रखना।
(iv) समग्रीकरण : प्रक्रिया बनाम परिणाम।
(v) समग्रीकरण : अध्यापक और छात्र।
(vi) पद्धति बनाम सामग्री।
(vii) निम्नांकित के अंतिम परिणाम का तुलनात्मक अध्ययन:
(क) समग्र पाठ्यक्रम, सामग्री तथा पद्धति, और
(ख) समग्रात्मक या सह संबंधात्मक अध्यापन।

जिन कतिपय पूर्वानुमानों की परीक्षा होनी चाहिए उनको नीचे दिया गया है .

(i) प्रारंभिक विद्यालयी अवस्था में स्थानीय, विशिष्ट पर्यावरणाभिमुखी तथा अपेक्षाकृत पाठ्यसामग्री से मुक्त पाठ्यक्रम, विश्व-स्तरीय, अतिकेन्द्रीकृत तथा पाठाधारित पाठ्यक्रम की तुलना में अधिक जीवंत और प्रभावशाली होगा।
(ii) पाठ्यक्रम के प्रति समग्र दृष्टि तभी संभव है जब समग्र पाठ्यक्रम तथा सामग्री, विशेष रूप से पाठ्य पुस्तकें पहले से उपलब्ध हों।
(iii) समग्र पाठ्यक्रम का केन्द्रीय महत्व इस बात में निहित है कि वह बच्चे के जीवनानुभवों के विश्लेषण और संश्लेषण में उसकी सहायता करें।
(iv) छात्र को पाठ्यक्रम देते समय सूचना रूपी दवा की पुड़िया या बूटी देने के बजाए जरूरत इस बात की है कि उसके समग्र मानसिक विकास पर ध्यान दिया जाए।
(v) सिर्फ कक्षा में पढ़ाने से बच्चे का समग्र मानसिक विकास नहीं हो सकता बल्कि यह विकास धीरे-धीरे सीखने में उसकी मदद करने से होता है।

2. प्रारंभिक स्तर पर समाजविज्ञान/सामाजिक अध्ययन के शिक्षण में परंपरागत बनाम समग्र दृष्टिकोण

कई अन्य बातों के साथ इस अध्ययन क्षेत्र में नीचे दी गई कुछ बातों को शामिल किया जा सकता है :

(i) तथ्यों का भारीभरकम बोझ बनाम जीवन के प्रासंगिक सामान्यीकरण।
(ii) तथ्यों के ऊपर अधिकार तथा नागरिकता के विकास की तुलनीयता।
(iii) जानने की एक पद्धति के रूप में विषय की संरचना तथा उसका सार और इसकी तुलना में तथ्यों, आँकड़ों,नामों और तिथियों आदि के महासागर में गोता लगाने की

स्थिति (यानी तथ्यात्मक बनाम अवधारणात्मक पक्ष)।

(iv) विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण का विवेकसंगत मिश्रण।

(v) समग्र दृष्टिकोण तथा परंपरागत दृष्टिकोण की शक्ति तथा सीमाएँ।

अन्य बातों के साथ नीचे दी गई कुछ स्थापनाओं का परीक्षण किया जाना चाहिए :

(i) बच्चे को पता होना चाहिए कि समन्वय कैसे किया जाता है, इतना ही नहीं, उसे यह भी पता होना चाहिए कि किस चीज का, किस जगह से समन्वय (समग्ररूप) किया जाना चाहिए।

(ii) विषय तो सिर्फ बेतुके तथा अनुपयोगी, पुराने पड़ गए तथ्यों का नाम है जो दैनिक जीवन के लिए अप्रासंगिक होते है।

(iii) पाठ्य विषय मानव की ज्ञान निधि का प्रतिनिधित्व करते है, और इसको अगली पीढ़ी को सौंपना मात्र पर्याप्त नहीं है, बल्कि ऐसा करने से पहले इसको और संपन्न और सरल बनाना होता है।

(iv) विषय बनाम समग्र दृष्टिकोण एकदम एक-दूसरे की विपरीत मान्यताएँ हैं अतः इनमें से एक को ही अपनाया जा सकता है।

(v) विषय केन्द्रित दृष्टिकोण से शिक्षण अधिगम निर्जीव तथा एकरस हो जाता है।

(vi) समग्र दृष्टिकोण आवश्यक तथा अनवरत रूप से समस्या समाधान मूलक दृष्टिकोण अपनाने में मदद करता है।

(vii) समग्र दृष्टिकोण छात्रों को व्यक्तिगत तौर पर और सामूहिक रूप से भी सीखने में सहायता करता है।

3. प्रारंभिक स्तर पर सरल और आवश्यक रफ़्तार से क्या समग्र दृष्टिकोण बच्चे को सीखने में सचमुच मदद करता है?

अनुसंधान अध्ययन में निम्नांकित मुद्दों पर विशेष ध्यान देने की जरूरत हो सकती है :

(i) समग्र दृष्टिकोण तथा अधिगम का स्वरूप।

(ii) समग्र दृष्टिकोण और अधिगम की मात्रा।

(iii) समग्र दृष्टिकोण बनाम अधिगम दक्षता।

(iv) समग्र दृष्टिकोण तथा ज्ञान के संश्लेषण की तुलनीयता।

(v) समग्र दृष्टिकोण तथा मूल्य का स्पष्टीकरण।

(vi) दोनों दृष्टियो के अंतर्गत् एक प्रयोगात्मक तथा नियंत्रित दल का तुलनात्मक अध्ययन।

अन्य बातों के साथ निम्नलिखित मान्यताओं को परखा जाना चाहिए :

(i) समग्र दृष्टिकोण सीखने वाले के लिए स्वतः ही अधिगम को अधिक रोचक, आकर्षक और सजीव बनाता है;

(ii) समग्र दृष्टिकोण काफी सीमा तक अधिगम के दबाव को हल्का बना देता है;

(iii) समग्र दृष्टिकोण अधिगम दक्षता के व्यवस्थित विकास का पर्याय है;

(iv) समग्र दृष्टिकोण मे सिर्फ ज्ञान की समग्रता का ही ख्याल नहीं रखा जाता बल्कि

इसमें उसके स्रोत तथा उस पर पूर्ण अधिकार का भी ध्यान रखा जाता है;

(v) समग्र दृष्टिकोण को संपूर्ण प्रारंभिक शिक्षा पर लागू किया जा सकता है और इसका उसे फायदा भी मिलेगा।

(vi) समग्र दृष्टिकोण बच्चे को अधिक विश्लेषण क्षमता प्रदान करता है और साथ ही ज्ञान की एकदम विपरीत शाखाओं की संश्लिष्ट करने की क्षमता भी उसमें उत्पन्न करता है;

(vii) समग्र दृष्टिकोण इस अर्थ में काफी उपयोगी होता है कि इससे मूल्य का स्पष्टीकरण होता है तथा क्रमशः बच्चे के व्यवहार में बदलाव आता है।

(viii) समग्र दृष्टि के कारण बच्चा बेहतर तरीके से और तेजी से सीखता है।

4. प्रारंभिक विद्यालय स्तर पर पाठ्यक्रम तथा पाठ्यसामग्री का विकास तथा परीक्षण

इस अध्ययन को केन्द्रीकृत रूप में या दोनों ही स्तरों पर साथ-साथ अध्ययन के लिए हाथ में लिया जा सकता है। अन्य बातों के साथ इसे नीचे लिखी बातों का ध्यान रखना चाहिए:

(i) इस कार्य को पूरा करने के लिए विभिन्न क्षेत्रों में दक्षता प्राप्त लोगों को मिला कर दल या समूह का गठन किया जाना चाहिए;

(ii) पाठ्यक्रम के दस्तावेज तैयार करते समय क्या प्रक्रियाएं अपनाई जाएं तथा किस प्रकार के कदम उठाए जाएं;

(iii) अध्यापकों तथा विशेषज्ञों के एक दल द्वारा उपयुक्त शिक्षण सामग्री का विकास;

(iv) इस प्रकार तैयार की गई सामग्री की सामूहिक समीक्षा तथा उसका संपादन;

(v) स्वैच्छिक आधार पर नमूने के रूप में चुने गए स्कूलों में इस सामग्री का परीक्षण;

(vi) इन परीक्षणों से प्राप्त छात्रों एवं अध्यापकों की प्रतिक्रियाओं के आधार पर सामग्री का मूल्यांकन;

(vii) केंद्रीकृत तथा विकेंद्रीकृत पद्धतियों के अंतर्गत तैयार की गई सामग्रियों का तुलनात्मक मूल्यांकन;

(viii) उचित संपादन के बाद सामग्री को अंतिम रूप देना जिसमें चित्र तथा अभ्यास के लिए प्रश्न भी शामिल हैं।

5. यह पता लगाने के लिए कि दीर्घावधि में एक विषयी दृष्टिकोण या समग्र दृष्टिकोण अधिक लाभदायक साबित होगा, देशांतरीय अध्ययन हाथ में लेना

पाठ्यक्रम बनाते समय समग्र दृष्टिकोण में विभिन्न स्रोतों से मिलने वाली विभिन्न प्रकार की सूचनाओं पर तथा जिन समस्याओं का हम वर्तमान समय मे सामना कर रहे है उनको इनसे जोड़ कर देखने पर जोर दिया जाता है। इससे अध्ययन अधिक क्रियात्मक,रोचक और सार्थक बनता है। इससे ठीक उल्टा विविध विषयों अथवा आधारभूत बातों में कठिन प्रशिक्षण दिया जाता है। यह व्यवस्थित ज्ञान की शाखाएं भर नहीं हैं। ये जानने, तर्क करने और निष्कर्ष निकालने की पद्धति का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। विषयों का आशय यह कतई नहीं है कि सूचना को एक जगह एक कर दिया गया है। अथवा एक स्थान पर उसे उपलब्ध कराया गया है बल्कि

इनका एक लाभकारी पक्ष यह है कि इनसे दिमाग को अनुशासित करने में सहायता मिलती है।

इसलिए जिन स्थापनाओं का परीक्षण किया जाना है, वे निम्नांकित हो सकती हैं :

(i) तथ्यों के एक सेट का ज्ञान प्रदान करने के साथ-साथ क्या विषय शिक्षण से तर्कशक्ति तथा विचार प्रक्रिया के विकास में कोई मदद मिलती है?

(ii) जब सीखने वाला धीरे-धीरे बड़ा होता है तो क्या वह अपने पर्याप्त विषय ज्ञान को सूचनाओं के साथ अधिक प्रभावशाली और सहज रूप में एकीकृत कर सकता है?

इन मान्यताओं अथवा प्रश्नों के परीक्षण के लिए हमें निम्नांकित बाते करनी होंगी; बच्चों के दो दलों को लेकर प्रारंभिक शिक्षा में दो भिन्न तरीकों से सात-आठ साल तक पढ़ाना होगा तब इस बात का परीक्षण करना होगा कि वे किस सीमा तक सूचनाओं को सहसंबंधित अथवा समन्वित कर पाते हैं, उनकी तर्क शक्ति का विकास कैसा हुआ है, समस्याओं को हल करने मे वे कितने सक्षम बन सके हैं। इन सबका परीक्षण दो ही स्थितियों में संभव होगा : जब वे प्रारंभिक कक्षा पास कर अगली कक्षा में चले गए हों या विद्यालय छोड़कर कहीं काम करने लगे हों।

नैतिक, धार्मिक तथा मूल्य शिक्षा

1. प्रच्छन्न पाठ्यक्रम की पहचान : केस अध्ययन

इस काम के लिए स्वैच्छिक निर्देश के आधार पर कुछ अध्यापकों को चुना जा सकता है। चुनते समय निम्नांकित बातों को ध्यान मे रखना चाहिए · (अ) उनका लिंग, (ब) उनकी आयु, (स) नगरी/ग्रामीण स्थान, (द) आय वर्ग, (प) सामाजिक या शैक्षिक हैसियत, (फ) धार्मिक। सांप्रदायिक पृष्ठभूमि, आदि।

एक निश्चित समय तक नियमित अंतराल से कक्षा शिक्षण की उनकी संपूर्ण कार्यवाही टेप की जानी चाहिए। इसमे खेल के घण्टे तथा पाठ्यक्रम के साथ की गतिविधियों को भी शामिल किया जाना चाहिए। इसके अलावा खाली समय में बच्चों के साथ जो उनकी बातचीत है, उसे भी इसमे सम्मिलित किया जाना चाहिए।

इसके बाद इनको सुना जाना चाहिए और निम्नलिखित बातों को मद्देनजर रखते हुए इनका विश्लेषण किया जाना चाहिए:

(i) विपरीत लिंग के प्रति रुख क्या है?

(ii) बच्चों के साथ बर्ताव के दौरान व्यवहार के लोकतांत्रिक या अन्य मानदंड।

(iii) संभावित पक्षपात के अवसर या मामले अथवा किसी निश्चित आधार पर भेदभाव बरतने की कार्यवाही।

(iv) अपने ही धर्म समूह के प्रति झुकाव (यदि कोई हो तो) या शिक्षण में उसका प्रवेश।

(v) राजनीतिक अथवा विचारधारात्मक झुकाव, यदि कोई हो तो।

(vi) निष्पक्ष खेल तथा सामाजिक न्याय के लिए चिंता या लापरवाही।

(vii) धीमी गति से सीखने वाले, सामाजिक रूप से पिछड़े हुए तथा सांस्कृतिक दृष्टि से वंचित बच्चों के प्रति रुख।

(viii) अपने सहकर्मियों के प्रति उनका दृष्टिकोण तथा उनका रुख तथा प्रबंधकों और पूरे समुदाय के प्रति उनका रुख।

(ix) अपनी निजी रुचियों या अरुचियों, दृष्टि, अभिमत को बिना भेदभाव के सभी बच्चों पर थोपने की दुर्बलता।

(x) गैर ईमानदारी, दायित्व से भागना तथा स्वार्थभावना का प्रदर्शन या ठीक इन सब के विपरीत आचरण करना।

2. ज्ञानेतर क्षेत्रों में, छात्र की उपलब्धि का मूल्यांकन, खासतौर पर मूल्य तथा अभिवृत्ति जैसे प्रभावित होने वाले क्षेत्रों में

इस कार्य को अभिवृत्ति मापक पैमाने (जिसमे चार या पॉच बिंदु हों) की सहायता से पूरा किया जा सकता है। अथवा यदि वैकल्पिक तरीका अपनाना चाहें तो यही काम कक्षा के भीतर और बाहर, खेल के मैदान में तथा विभिन्न पाठ्यक्रमीय और पाठ्यक्रम सहभागी गतिविधियों के दौरान बच्चे का सतर्क निरीक्षण करके भी किया जा सकता है।

अत्यंत कल्पनाशील तरीके से नियोजित परिस्थितियों मे भी बच्चे को अपना व्यक्तित्व प्रदर्शन का अवसर दिया जा सकता है।

नकल करना या स्वांग करना भी एक ऐसी चीज है जिसका उपयोग अत्यंत लाभदायक तरीके से किया जा सकता है।

3. बच्चे की मूल्य व्यवस्था और व्यवहार को मोड़ने में घर, स्कूल, समुदाय तथा जनसंचार माध्यमों की सापेक्षिक भूमिका

कौन से अभिकरण बच्चों के व्यवहार को मोड़ने में किस सीमा तक कार्य करते है, इस बात को सुनिश्चित करने के लिए नीचे लिखी बातों को ध्यान में रखा जा सकता है ·

(i) अभिभावकों/परिवार और बच्चों की मूल्य व्यवस्था तथा व्यवहार का तरीका।
(ii) समवयस्क समूह तथा बच्चों की मूल्य व्यवस्था तथा व्यवहार का तरीका।
(iii) विद्यालय और बच्चों की मूल्य व्यवस्था तथा व्यवहार का तरीका।
(iv) समुदाय और बच्चों की मूल्य व्यवस्था तथा व्यवहार का तरीका।
(v) जनसंचार माध्यम यानी फिल्म, टेलिविजन, रेडियो, प्रेस, सामुदायिक मनोरंजन, विज्ञापन और बच्चों की मूल्य व्यवस्था तथा व्यवहार का तरीका।

निम्नांकित मान्यताओं के परीक्षण की आवश्यकता है :

(i) बच्चे की मूल्य व्यवस्था तथा व्यवहार को मोड़ने में घर की सबसे प्रभावशाली भूमिका होती है।
(ii) विद्यालय मे प्रवेश करने से पहले ही बच्चा उन मूल्यों में से अधिकांश को अपनाकर स्वीकार चुका होता है जो उसके अभिभावक, भाई-बहन तथा परिवार के अन्य सदस्य अपने जीवन व्यवहार में चलाते आ रहे होते हैं।
(iii) बच्चा अपने समवयस्क वर्ग को अपनी मूल्य व्यवस्था तथा व्यवहार निश्चित करने के लिए संदर्भ के रूप में इस्तेमाल करता है।
(iv) बच्चे की मूल्य व्यवस्था, उसका व्यवहार और उसके व्यक्तित्व के लक्षण अपने समवयस्कों (लड़के/लड़कियां), परिवार तथा विद्यालय से अपने कार्यों तथा

उपलब्धियों के लिए प्राप्त प्रतिक्रिया से प्रभावित और निर्धारित होते है।

(v) बच्चे का व्यवहार और उसकी मूल्य व्यवस्था एकांत रूप से अध्यापक, विद्यालय तथा पाठ्यपुस्तकों के जरिए विकसित तथा निर्मित होती है।

(vi) बच्चे की मूल्य व्यवस्था तथा व्यवहार के विकास तथा निर्माण में घर तथा विद्यालय की भूमिका कुछ नहीं होती बल्कि उसके विकास मे समुदाय और समाज की सबसे बड़ी भूमिका होती है।

(vii) बच्चे की मूल्य व्यवस्था तथा उसके व्यवहार को विकसित और रूपायित करने वाली वस्तु होती है सर्वशक्तिमान सर्वव्यापी संचार माध्यम, जैसे फिल्म, टेलिविजन, रेडियो, छापाखाना, मंच, कामिक्स पुस्तकें, तथा अन्य प्रकार की पुस्तके आदि।

4. बच्चों की रचनात्मकता तथा विचार प्रक्रिया पर प्रारंभिक शिक्षा का असर

अनुवर्ती क्रिया के रूप में अंतर सांस्कृतिक अध्ययनों मे जिस एक अध्ययन को संयुक्त रूप से हाथ मे लिया जा सकता है वह है अलग ढंग से सोचना, मिडिल या अपर प्राइमरी स्तर पर छात्रों के बीच इसको प्रोत्साहित किया जा सकता है।

वर्तमान अध्ययन मे इस बात को दर्शाया गया है कि यह लगभग विश्व स्तर की चिंता है कि विश्वास और सामाजिक आर्थिक व्यवस्था के भिन्न होने के बावजूद प्रत्येक समाज का नैतिक ताना बाना सुदृढ़ रखा जाए। इसलिए अलग-अलग देश तकरीबन लगातार धार्मिक, नैतिक या मूल्य शिक्षा पर बल देते चले आ रहे है। जहां तक इसके हर भावी नागरिक को अधिक मानवीय, अधिक सामाजिक और नियमों का पालन करने वाला बनने मे सहायक होने का सवाल है, इस पर किसी प्रकार का विवाद नहीं हो सकता। लेकिन बच्चा अपने व्यक्तित्व का संपूर्ण विकास कर सके, यह देखना शिक्षा का दूसरा महत्वपूर्ण लक्ष्य या उद्देश्य है। लड़का अथवा लड़की रचनात्मक और मौलिक सोच वाला/वाली बन सके और उसमें अपने को अभिव्यक्ति करने की क्षमता पैदा हो। इसलिए इस बात को लेकर सजग प्रयास की आवश्यकता है कि प्रारंभिक शिक्षा, और वह भी अपनी परवर्ती अवस्था में, मौलिक, रचनात्मक तथा बहुरंगी सोच को बढ़ावा दे और बच्चे मे ऐसा साहस पैदा करे कि वह अपने मत तथा विश्वास पर अडिग रह सके।

कार्याभिमुख शिक्षा

1. शिक्षा के प्रभावशाली माध्यम के रूप में कार्य की संभावना की तलाश तथा काम की दुनिया तथा जीवन के लिए तैयारी से इसका रिश्ता

यह दार्शनिक तथा शिक्षाशास्त्रीय विषय बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। यह बात न केवल बच्चे के लिए सच है बल्कि यह पूरे समाज को तीव्रगति से आगे ले जाने के संदर्भ में भी सही है।

कुछ एशियाई देशों में ऐतिहासिक रूप में शिक्षा मुट्ठी भर लोगों का विशेषाधिकार बनी रही है, खास तौर से उस सामाजिक वर्ग के लिए जिन्होंने इस पर अपना एकाधिकार बनाए रखा था। इन लोगों ने एक ऐसी ही मूल्यव्यवस्था को भी सुदृढ़ किया जिसमें बौद्धिक कर्म को ही गौरवपूर्ण पद प्राप्त था तथा हाथ के काम को हेय दृष्टि से देखा जाता था और इसको अशिक्षित के लिए सुरक्षित माना गया था। शताब्दियों के दौरान पृथ्वी पर दो तरह की दुनिया अस्तित्व में आ चुकी है, एक दुनिया वह है जिसका साहित्य, संस्कृति, परंपरा तथा सारी सुविधाओं पर अधिकार है। यह

सुविधाजीवी वर्ग दोनों के बीच के इस अंतर को यदि बढ़ाना नहीं तो जारी अवश्य रखना चाहता है।

इस सामाजिक आर्थिक परिप्रेक्ष्य में यह अत्यंत आवश्यक हो गया है कि शिक्षा और अभिव्यक्ति के प्रभावशाली माध्यम के रूप मे काम की क्षमता का पूरी तरह तथा व्यवस्थित तरीके से पता लगाया जाए। हाथ के श्रम का गौरव तथा इसकी शैक्षिक क्षमता और मूल्य का महत्व निश्चित हो चुका है, न सिर्फ आम जनता के लिए बल्कि समाज के सफेद पोश तबके के लिए भी। एक नई कार्य नैतिकता के लिए पहल की जा चुकी है और इसको संरक्षण भी दिया जा चुका है।

इसलिए इस अध्ययन को समस्या के निम्नलिखित पहलुओं से निपटना चाहिए:

(i)आत्माभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में काम;
(ii)खोज करने के लिए, समझने के लिए तथा अवधारणाओ को व्यक्त करने के लिए, विचारों तथा सिद्धांतों की अभिव्यक्ति के लिए हाथ से काम करना;
(iii)हाथ तथा बुद्धि के बीच समन्वय स्थापित करना;
(iv)काम तथा शिक्षा के बीच का पार्थक्य
(v)काम की दुनिया मे प्रवेश द्वार के रूप में काम
(vi)काम तथा काम की आचार संहिता
(vii)काम तथा उत्पादकता
(viii)काम तथा काम के लिए हुनर

जिन स्थापनाओं का परीक्षण किया जाना चाहिए, वे नीचे दी गई हैं:

(i)काम अभिव्यक्ति तथा संप्रेषण का उतना ही महत्वपूर्ण (यदि बेहतर नहीं तो) माध्यम है जितना बोला या लिखा जाने वाला शब्द।

(ii)खोज की भावना के विकास के लिए तथा सिद्धांतों और अवधारणाओं को समझने के लिए हाथ से काम करना एक माध्यम हो सकता है, इस प्रकार इसके जरिए मानसिक विकास होता है जो जरूरी नहीं है कि साहित्यिक दक्षता और योग्यताओं तक तथा इससे जुड़ी हुई मूल्य व्यवस्था तथा जीवन पद्धति तक सीमित रहे।

(iii)काम के लिए पहल करके काम की दक्षता का विकास कर, काम की आचार संहिता को अपना कर तथा रचनात्मकता की चेतना का निर्माण कर काम की दुनिया मे कदम रखने के लिए शिक्षा सबसे अच्छे तरीके से किसी को तैयार कर सकती है।

(iv)यहां तक कि जो सफेदपोश संस्कृति में विश्वास करते हैं, वे भी काम मे दक्षता हासिल कर, कार्य की आचार संहिता को अपना कर और हाथ से काम करने के प्रति गौरव भावना को स्वीकार कर, बौद्धिक रूप से और अन्यथा भी लाभान्वित हो सकते हैं।

(v)संतुलित तथा व्यक्तित्व के समग्र विकास के लिए कार्य की शिक्षा काफी दूर तक सहायक हो सकती है। इससे बच्चा न सिर्फ व्यक्तिगत रूप से बेहतर कार्यकर्त्ता बनता है बल्कि सामाजिक रूप से वह एक अच्छा काम करने वाला व्यक्ति बनता है।

2. मानव शक्ति की बढ़ती हुई जरूरतों के साथ नई सामग्री,स्थानीय संसाधनों तथा रोजगार संभावनाओं के आकलन के लिए सर्वेक्षण का संचालन

चूंकि बच्चों को शिक्षा देने के अनेक उद्देश्यों में से एक उद्देश्य यह भी है कि उन्हें काम की दुनिया में कदम रखने के लायक बनाया जाए, खास तौर से उन बच्चों को जो ग्रामांचलों मे रहते हैं अथवा नगरों में गंदी बस्तियों में रहते हैं, क्योंकि ऐसा हो सकता है कि प्रारंभिक शिक्षा

के बाद वे अपनी औपचारिक शिक्षा को आगे जारी न रख सकें, इसलिए जिला स्तर पर इस प्रकार का सर्वेक्षण तथा गहन अध्ययन कार्य वांछनीय होगा।

अन्य बातों के साथ इस अध्ययन में निम्नांकित पहलुओं पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए:

(i) प्राकृतिक संसाधनों की एक सूची बनाई जानी चाहिए जिसमे कच्चे माल को भी शामिल किया गया है।

(ii) स्थानीय संस्थाओं और अभिकरणों की एक सूची जिनके पास तकनीकी जानकारी के साथ संसाधन व्यक्ति भी हों।

(iii) मानव शक्ति संबंधी जरूरतों का सर्वेक्षण (क) दक्षताहीन, (ख) अल्प दक्षता वाले, (ग) तकनीकी तथा मध्यवर्ती या उपयुक्त प्रौद्योगिकीय स्तर।

(iv) सामान्य कार्य के लिए एक दक्षता की सूची बनाना जिसकी व्यापक स्तर पर विभिन्न प्रकार के कार्यों में आवश्यकता होगी।

(v) अत्यधिक नौकरियों की संभावना वाले लोकप्रिय कार्यो के लिए पाठ्यक्रम का विकास।

(vi) आवश्यक मानव शक्ति को प्रशिक्षित करने के लिए टूल किट अथवा कर्मशालाओं आदि का निर्माण।

(vii) काम की उन सभी जगहों की सूची तैयार करना जहां कार्य स्थल पर प्रशिक्षण दिया जा सके।

(viii) नमूने के तौर पर एक कानून बनाना जिसमे निजी तथा सार्वजनिक संस्थानों को प्रशिक्षार्थियों तथा प्रत्याशियों को प्रशिक्षण देने के लिए बाध्य किया जा सके।

(ix) ऊपर दिए गए सभी विभागों में काम की अनवरत समीक्षा के लिए जिससे उनमें संशोधन, सुधार और परिष्कार हो सके एक आंतरिक मूल्यांकन पद्धति का विकास।

पाठ्यक्रम का दबाव

1. इस बात का आकलन करने के लिए कि क्या पाठ्यक्रम के प्रति समग्र दृष्टिकोण पाठ्यक्रम के दबाव को कम करने मे मददगार साबित हुआ है, यदि हां, तो किस सीमा तक:

इस अध्ययन में निम्नांकित बातों पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए:

(i) पाठ्यक्रम विकास के स्तर पर समग्र दृष्टि अपनाना:

(ii) पाठ्य सामग्री बनाने के समय समग्र दृष्टि अपनाना:

(iii) अध्यापन स्तर पर समग्र दृष्टिकोण।

इन तीनों संभावनाओं में से किस में निम्नांकित पर से दबाव कम करने की क्षमता है:

(अ) सिर्फ अध्यापक पर से

(ब) सिर्फ छात्र पर से

(स) दोनों पर से

यदि हाँ, तो किस सीमा तक दबाव कम हो सकता है?

(iv) सभी स्तरों पर काम करना क्या आवश्यक तथा लाभकारी होगा? या सिर्फ दो या एक स्तर अथवा किसी भी स्तर पर नहीं।

2. बहुभाषी परिघटना तथा इसके प्रभाव की जानकारी के लिए किया जाने वाला अध्ययनः

विकसित तथा विकासशील दोनो तरह के कुछ एकभाषी तथा कुछ बहुभाषी देशों मे एक से अधिक भाषाओं के अध्ययन को प्रोत्साहन देने की प्रवृत्ति बढ़ रही है, कभी कभी तीन भाषाओं तक। ये भाषाएं बच्चे की मातृभाषा या स्थानीय भाषा, कहीं की क्षेत्रीय या राज्य भाषा अथवा संघ की भाषा हो सकती है और एक विदेशी अथवा अंतर्राष्ट्रीय भाषा। इसमें उस वर्ग समूह की प्राचीन या धार्मिक भाषा को भी शामिल किया गया है जिस समूह का वह बच्चा है।

भाषाओ के अध्ययन का अधिकतम दबाव, वह भी अनिवार्य रूप से, या तो मिडिल कक्षाओं के स्तर पर है या ऊपर प्राइमरी स्तर पर। यह बोझ थोड़ा बहुत माध्यमिक/उच्च माध्यमिक स्तर पर कम हो जाता है, जहां बच्चे से सिर्फ दो भाषाएं पढ़ने कीअपेक्षा की जाती है।

इस अध्ययन में निम्नलिखित प्रश्नों का वैज्ञानिक उत्तर खोजा जाना चाहिए:

(i) बच्चे को लिखना-पढ़ना सिखाने का शारीरिक और मानसिक रूप से कौन सा आदर्श समय होता है (क्या शुरू में ही बच्चे को लिखना-पढ़ना सिखाना आरंभ करने का असर उसकी आंखों तथा शारीरिक विकास पर पड़ता है?)

(ii) बच्चे की जिंदगी मे मातृ भाषा के अलावा किसी अन्य भाषा को सिखाने के लिए आदर्श समय कौन सा होता है?

(iii) कोई बच्चा एक साथ कितनी भाषाएं सीख सकता है और किस आयु में पहुंच कर?

(iv क्या दो नई भाषाओं के अध्ययन की शुरुआत एक साथ करना वांछनीय है?

(v) एक बच्चे के जीवन मे निम्नांकित बातों का अध्ययन आरंभ करने की वांछनीय अवस्था क्या है. (क) दूसरी भाषा, (ख) तीसरी भाषा, तथा (ग) चौथी भाषा?

(vi) एक बच्चे की भाषा सीखने की न्यूनतम अवधि (स्कूल में पढ़ने वाले वर्षों की संख्या) क्या होनी चाहिए ताकि वह इस भाषा का उपयोग निम्नांकित कार्यों के लिए कर सके:

(अ) पुस्तकालय की भाषा के रूप में

(ब) अपने को अभिव्यक्त करने की भाषा के रूप में

(स) शिक्षण माध्यम के रूप में इस्तेमाल करने के लिए (भाषा के अतिरिक्त)।

(vii) कोई जब एक से अधिक भाषा सीखना आरंभ करता है तो क्या प्रशिक्षण का हस्तातरण होने लगता है?

(viii) क्या कई भाषाओं के अध्ययन से बौद्धिक विकास मे मदद मिलती है / बाधा पहुंचती है ? क्या इससे उसकी विचार शक्ति और विश्लेषण क्षमता बढ़ती/घटती है?

(ix) क्या एक से अधिक भाषा के साक्षात्कार से बच्चे की दृष्टि उदार और सोच सहनशील बनती है? क्या इसके प्रभाव को प्रमाणित करने वाला कोई ठोस प्रमाण है?

(x) क्या शिक्षण माध्यम के रूप मे विदेशी भाषा के इस्तेमाल से मौलिक अथवा रचनात्मक चिंतन कुंद हो जाता है? अथवा इसके विपरीत होता है?

(xi) क्या अधिक प्रभावशाली तरीके तथा द्रुत गति से विदेशी भाषा सीखने तथा सिखाने की आजमाई गई तकनीकें और पद्धतियां विद्यमान हैं? वे क्या है?

(xii) विदेशी भाषा के अध्ययन में आडियो टेप तथा भाषा प्रयोग शालाओं का इस्तेमाल कितना तथा किस रूप में प्रभावशाली हो सकता है? यदि हां, तो इनको कम लागत पर किस तरह प्राप्त किया जा सकता है ताकि उन तक अधिकाधिक लोगों की पहुंच हो सके ?

सबकी रुचि के सामान्य विषय

अनुसंधान के इन विषयों का स्वरूप मूलतः विकासात्मक है या क्रियात्मक है:

1. सेवा कालीन अध्यापक प्रशिक्षण कार्यक्रम निम्नांकित संदर्भों मे कितना प्रभावशाली है: (क) अध्यापक को प्रेरित करने में, (ख) दक्षता प्रदान करने में, (ग) उनके ज्ञान को अद्यतन बनाने मे, (घ) उनके व्यावसायक व्यवहार में बदलाव लाने में।

प्रश्न अत्यधिक सार्वभौमिक महत्व का है क्योंकि यह राजनीतिक, सामाजिक,आर्थिक तथा समाज के विकसित तथा विकासशील खाचों में विभाजित करने की सीमा रेखा को काटता है। जिन पहलुओं की खोज की जानी है, वे इस प्रकार हैं:

(i) क्या कुछ सूचकों को व्यावसायिक स्तर पर पहचाना जा सकता है और इनकी सूची भी तैयार की जा सकती है?

(ii) प्रेरणा, क्षमता, ज्ञान, परिप्रेक्ष्य तथा व्यावसायिक विकास में संभावित उपलब्धिओं के आकलन के लिए आवश्यक उपकरणों तथा मापने के पैमानों का कैसे विकास किया जा सकता है?

(iii) सामान्यतया इस उद्देश्य को ध्यान मे रख कर किए गए पहले तथा बाद के परीक्षण कितने प्रभावी तथा विश्वसनीय हो सकते है?

(iv) उनमे जो दिलचस्पी पैदा की गई है, वह बरकरार रहे, इसे सुनिश्चित करने के लिए किस प्रकार का और किस तरह से अनुवर्ती कार्य किया जा सकता है?

(v) क्या पत्राचार तथा संपर्क पाठ्यचर्या को नियमित रूप से, अकादमिक तथा अन्य प्रकार के पुरस्कारों की व्यवस्था करके चलाया जा सकता है, यदि कोई पुरस्कार संभव हो तब।

(vi) व्यावसायिकता के लक्षण क्या है और क्या इनको मन में बैठाया जा सकता है और क्या इसका मूल्यांकन करना भी संभव है?

(vii) एक अध्यापक के व्यावसायिक व्यवहार मे हुए परिवर्तन को पहचानने तथा उसका आकलन करने के लिए हमे किस तरह के प्रमाण की तलाश करनी चाहिए?

(viii) क्या अध्यापक के सेवाकालीन प्रशिक्षण की प्रभाविता को छात्र को अंतिम उपलब्धि स्तर में हुए विकास से संबद्ध करके देखा जा सकता है, ऐसा उपलब्धि स्तर जिसका श्रेय सेवाकालीन प्रशिक्षण को दिया जा सके? यदि हाँ, तो यह किस प्रकार किया जा सकता है?

2. अध्यापकों के सेवाकालीन प्रशिक्षण में जनसंचार माध्यम का उपयोग तथा उसका मूल्यांकन

जिन अध्यापकों को सेवाकालीन प्रशिक्षण एक विशेष अंतराल से प्रदान किया जाना है, उनकी संख्या चूंकि प्रायः गणनातीत बन जाती है इसलिए इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए जनसंचार माध्यमों पर अधिक विश्वास किया जाना है। इस कार्य में जितना धन व्यय होगा, केवल उसी की गणना में उलझने से हमे कोई अन्य विकल्प नजर नहीं आता है।

इस प्रसंग में जिन प्रश्नों पर विचार किया जाना है, उन्हें हम नीचे दे रहे हैं:

(i) अध्यापकों के सेवाकालीन प्रशिक्षण को प्रभावी बनाने में टेलिविजन, रेडियो, शैक्षिक फिल्म पट्टियां, टेपवाली टिप्पणियों सहित स्लाइडें, समाचार पत्र के स्तंभ तथा उनके परिशिष्ट जिनको अध्यापकों के लिए खास तौर पर तैयार किया गया है, कहां तक प्रभावी और कल्पनाशील तरीके से इस्तेमाल किए जा सकते हैं?

(ii) इनमें से प्रत्येक को किस प्रकार तथा कितनी वैकल्पिक आवृति तथा कार्यक्रमों की वास्तविक अवधि के दौरान इस्तेमाल किया जा सकता है?

(iii) क्या इन सबसे ऐसे सामाजिक वातावरण के निर्माण में मदद मिल सकती है जो अभिभावकों तथा समाज को यह सुनिश्चित करने के लिए उत्प्रेरित करे कि हर स्थिति में विद्यालय इन सुविधाओं का प्रभावी उपयोग करें और यहां तक कि बच्चे भी अपने अध्यापकों से आग्रह करें कि वे शंकाओं के स्पष्टीकरण के लिए इन कार्यक्रमों को लेकर बच्चों से विचार विमर्श करे, यदि सचमुच किसी तरह की शंका हो तब?

(iv) किस प्रकार से अध्यापकों को इन कार्यक्रमों के बारे में प्रेरित कर के जागरूक बनाया जा सकता है ताकि वे सम्पर्क रुचि लेकर उनका अनुसरण करें?

(v) इनसे मिलने वाले अध्यापकों के फायदों का आकलन कैसे किया जाए और इसके बदले कैसे उनको उचित मान्यता प्रदान की जाए?

(vi) क्या बड़े पैमाने पर अध्यापकों को इस तरह के कार्यक्रमों की योजना, विकास और मूल्यांकन में भागीदारी के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है?

3. एक अध्यापक वाले विद्यालयों की समस्याएं– श्रेणीहीन कक्षाए तथा बहु कक्षा शिक्षण

कई विकासशील देशों में और विशेष रूप से दक्षिण एशिया में, यह एक महत्वपूर्ण समस्या है। एक ही अध्यापक को न सिर्फ एक साथ काफी बड़ी संख्या मे छात्रों की देखभाल तथा व्यवस्था करनी होती है बल्कि छात्रों का यह वर्ग कई प्रकार का होता है जिसमें कई कक्षाओं के विद्यार्थी एक साथ कक्षा में विद्यमान रहते हैं।

इस प्रसंग मे जिन प्रश्नों के उत्तर तलाशने है, वे प्रश्न नीचे दिए गए हैं:

(i) बिना श्रेणी की कक्षाएं रखने का, वह भी लोअर प्राइमरी स्तर पर विशेष रूप से पहली तथा दूसरी कक्षा को एक जगह रखने का तर्क तथा औचित्य क्या है?

(ii) बहुकथा व्यवस्था से निपटने के लिए अध्यापक किस पद्धति, तकनीक या प्रक्रिया का अनुसरण करते हैं, विशेष रूप से कक्षा एक और दो से?

(iii) विभिन्न कक्षा के बच्चों को अध्यापक कितनी प्रभाविता और सार्थक तरीके से व्यस्त रख सकता है और अपनी देख या निर्देशन में सीखने में उनको मदद कर सकता है?

(iv) किस तरीके से और किस सीमा तक अध्यापक बड़ी कक्षा के छात्रों का उपयोग छोटी कक्षा के छात्रों को पढ़ाने के लिए कर सकता है?

(v) क्या वरिष्ठ कक्षा के छात्रों को, छोटी कक्षा के छात्रों को पढ़ाने के लिए कहने वाले अवसर का उपयोग उनको स्व-शिक्षण के लिए उत्प्रेरित करने के उद्देश्य से किया जा सकता है?

(vi) क्या अध्यापक/अध्यापिका को अपना काम करने के लिए कोई सहायक दिया जा सकता है? इसमें किस सीमा तक समुदाय को शामिल किया जा सकता है? और किस सीमा तक समुदाय के संसाधनों का अधिकतम उपयोग हो सकता है?

4. प्रारंभिक स्तर पर धीरे सीखने वाले, विकलांग तथा प्रतिभाशाली बच्चों की देखभाल

शिक्षा का यह एक महत्वपूर्ण पक्ष है तथा इसके सामाजिक तथा शिक्षाशास्त्रीय निहितार्थ भी है। विशेष रूप से एक छोटे से मामूली एक-अध्यापक-वाले विद्यालय में अध्यापक पर बहुत दबाव होता है तथा उसकी स्थिति काफी दयनीय होती है। इस कार्य को प्रभावी तरीके से पूरा करने में इसीलिए वह असमर्थ होता है।

व्यावहारिक दृष्टि से निम्नांकित समस्याएं विचारणीय हैं:

(i) एक प्रतिभाशाली और मंदगति से सीखने वाले की तत्काल पहचान करने में अध्यापक की किस तरह मदद की जा सकती है?

(ii) दोनों तरह के बच्चों की सहायता के लिए किस प्रकार की प्रक्रियाएं, पद्धतियां, तथा तकनीकें अपनाई जानी चाहिए?

(iii) इस विशेष दायित्व के निर्वाह के लिए समुदाय से किस प्रकार की मदद की उम्मीद की जा सकती है?

(iv) तीव्र तथा मंदगति से सीखने वाले छात्रों के लिए अध्यापक को किस प्रकार की स्वाध्याय सामग्री उपलब्ध कराई जानी चाहिए?

(v) इस काम में जनसंचार माध्यम—टेलिविजन तथा रेडियो, अध्यापक की किस हद तक सहायता कर सकते हैं? इस उद्देश्य के लिए किस प्रकार की प्रक्रिया विकसित की जानी चाहिए?

आर० एन० मेहरोत्रा

शिक्षा का माध्यम-
आधुनिक भारतीय भाषाओं का पक्ष



आर.एन. मेहरोत्रा

आर.एन. मेहरोत्रा (जन्म 1924) ने इलाहाबाद और दिल्ली विश्वविद्यालयों मे अध्ययन करने के बाद लंदन विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। राजपुर के राजकुमार महाविद्यालय में सात वर्षों तक अध्यापन करने के बाद ये दिल्ली विश्वविद्यालय में आ गए जहां केन्द्रीय शिक्षा संस्थान में, पिछले तीस वर्षों से पढ़ा रहे हैं। आजकल इसी संस्थान में प्रोफ़ेसर हैं।

शिक्षा का माध्यम —
आधुनिक भारतीय भाषाओं का पक्ष

एक प्रमुख भारतीय शिक्षाविद् ने, जिनका मैं उनकी ईमानदारी, निष्ठा, शैक्षिक समस्याओं की सूक्ष्म ग्राह्यता और अपने देश तथा देशवासियों के लिए हित चिंता के कारण विशेष सम्मान करता हूँ, कुछ समय पहले मुझसे कहा कि हम समय से बीस वर्ष पीछे हैं, यदि हम अपने सभी विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में सभी छात्रों के लिए शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनी भाषाओं की बात करते है अथवा भारतीयों में परस्पर संप्रेषण के लिए ऊँचे स्तर पर शिल्प, उद्योग, प्रशासन, शिक्षा आदि के लिए अंग्रेजी के स्थान पर संपर्क भाषा के रूप मे भारतीय भाषाओं की बात करते हैं, तो यह निकट भविष्य में ही नहीं बल्कि कभी भी संभव नहीं है। मुझसे कहा गया कि आज इन सभी प्रयोजनों के लिए पूरा देश अंग्रेजी चाहता है। यह माँग गरीब ग्रामीणो, झुग्गी-झोंपड़ी मे रहने वालों, मजदूरों तथा अपने देश की अभावग्रस्त जनता के सभी वर्गों की है, जो सुविधा सम्पन्न बच्चों की तरह ही अपने बच्चो की शिक्षा भी चाहते है।

विश्वविद्यालय मे मेरे एक युवक सहयोगी ने सलाह माँगी कि वे अपने तीन वर्ष के बच्चे को किस स्कूल में भेजें। मै उन्हे क्या सलाह दूँ? शैक्षिक दृष्टि से बच्चे को हिन्दी माध्यम स्कूल में भेजना समीचीन होगा, क्योंकि बच्चे का सर्वोत्तम विकास स्वभावतः उसकी मातृभाषा द्वारा ही होगा, एक सामान्य विद्यालय में समाज के विभिन्न वर्गों के बच्चों के साथ उसका समाजीकरण होगा, पड़ोस के विद्यालय में जाना ठीक होगा जिससे वह *अच्छे, अंग्रेजी माध्यम* व *ऊँचे-शुल्क* वाले विद्यालय जाने की लंबी दूरी की बस यात्रा की थकान से बच सकेगा। ऐसे स्कूल सामान्यतः म्यूनिसिपल स्कूल अथवा राजकीय विद्यालय होते हैं, जबकि अन्य *पब्लिक स्कूल* या *पब्लिक स्कूल के सदृश* चलने वाले स्कूल हैं, अथवा वे जो अपने को *प्रगतिशील* (प्रोग्रेसिव्ह) की'श्रेणी में जताते है। जो भी शैक्षिक अथवा शिक्षा-वैज्ञानिक सिद्धांत मैं जानता हूँ, वह सब अनाप-शनाप जो अपने विद्यार्थियों अथवा अन्य लोगों से शिक्षा, अच्छी शिक्षा, शिक्षा के अर्थ और लक्ष्य, मनुष्य के व्यक्तित्व विकास आदि-आदि के संबंध में बोलता रहता हूँ, वे सभी बातें यही सलाह देने के लिए प्रेरित करती हैं कि बच्चे को पहले वर्ग के अर्थात् हिन्दी माध्यम वाले विद्यालय में भेजा जाए (यद्यपि मैं जानता हूँ कि यह सलाह मंजूर नहीं की जाएगी)। किन्तु यह सलाह देने मे भी मुझे हिचक होती है। क्या बच्चे के लिए, उसके कैरियर, उसके उत्तम जीवन की संभावनाओं की दृष्टि से यह हितकर होगा कि वह इस प्रकार के विद्यालय से शिक्षा प्रारंभ करे जिसे *हीन* समझा जाता है? क्या वह उन बच्चों से प्रतियोगिता कर सकेगा जो दूसरे वर्ग के विद्यालयों में जाते है, विशेषतः क्या वह *असमर्थता* का शिकार नहीं होगा, यदि वह उस विद्यालय में पढ़ता है जहॉ माध्यम उसकी मातृभाषा है, न कि अंग्रेजी? क्या मै माता-पिता को यह खतरा उठाने के लिए विश्वास के साथ सलाह दे सकता हूँ?

क्या यह सब इस कारण है कि आज सभी अच्छे विद्यालयों मे अंग्रेजी माध्यम है? हम लोगों में से कुछ कहेंगे — *मैं चाहता हूँ कि मेरा बच्चा अच्छे विद्यालय में जाए। यदि मुझे उन दो समान रूप से अच्छे विद्यालयों में से चुनाव करना पड़े, जिनमे से एक में मातृभाषा माध्यम हो और दूसरे में अंग्रेजी माध्यम हो, तो मैं निश्चित ही मातृभाषा माध्यम वाले विद्यालय को पसंद करूंगा।*

यह सत्य है कि पूरे देश में नगरों में, छोटे-बड़े कस्बों में, अंग्रेजी माध्यम वाले विद्यालयों के लिए जबर्दस्त दीवानगी है। शिक्षाशास्त्री कहेंगे कि लालची व चालाक लोग सुन्दर-सुन्दर नाम वाले विद्यालय गली-कूचों में, रिहायशी मकानों में, अपने घर के बरामदों में खोल कर अभिभावकों का शोषण कर रहे हैं— लेकिन संभवतः अभिभावक और अच्छी तरह से जानते है। बड़े-छोटे औद्योगिक घराने, धार्मिक ट्रस्ट, धर्मार्थ संगठन दिनों-दिन नए अंग्रेजी माध्यम वाले विद्यालय खोलते जा रहे है। यहाँ तक कि ऐसे निजी शैक्षिक ट्रस्ट भी, जो स्वाधीनता आंदोलन के जमाने में भारतीय संस्कृति के प्रसार के लिए एवं भारतीय भाषा के माध्यम से 'भारतीय' शिक्षा देने के लिए शुरू किए गए थे, आज इस बात में गर्व का अनुभव करते हैं कि वे भी अब अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाते हैं और मातृभाषा के शिक्षक की तुलना में अंग्रेजी पढ़ाने वाले शिक्षक को ज्यादा पगार देते हैं। हर कारखाने या उद्योग वाले अपने कर्मचारियों के लिए विद्यालय खोलते हैं— अफ़सरों के लिए अंग्रेजी माध्यम वाला व श्रमिकों के लिए हिन्दी अथवा क्षेत्रीय भाषा वाला। ऐसी स्थिति में श्रमिक भी अपने विद्यालय पर दबाव डालते हैं कि हमारे बच्चों को भी अंग्रेजी में ही पढ़ाओ-लिखाओ।

यह सत्य है कि *अंग्रेजी जानना* तथा *शिक्षित होना* अथवा *आधुनिक होना* समानार्थी हो गए हैं। जितनी अच्छी अंग्रेजी कोई बोलता है, वह उतना ही अधिक शिक्षित या आधुनिक माना जाता है। विश्वविद्यालयों में शिक्षक मातृभाषा माध्यम वाले वर्गों में पढ़ाना नहीं चाहते क्योंकि अंग्रेजी मे न पढ़ाने के कारण कहीं वे विद्वता मे हीन न समझ लिए जाएँ। यहाँ तक कि प्राचीन तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के प्रोफेसर यह अवसर ढूँढा करते है जब वे अपने अंग्रेजी के ज्ञान का प्रदर्शन कर सकें। हमारे तरुण छात्र उन शिक्षकों की हँसी उड़ाते हैं, जो अंग्रेजी शब्दों का सही उच्चारण नहीं करते। ज्ञान, चिंतन, विचार, बोध, व्यवहार, विवेचन, विश्लेषण, तर्क संगत प्रस्तुतीकरण — ये सभी गौण हो जाते हैं और अंग्रेजी पर अधिकार मात्र से शिक्षक की छवि बन जाती है। बच्चे को अंग्रेजी माध्यम के विद्यालय मे भेजना उच्च वर्ग (उच्च वर्ग में शामिल होने के इच्छुक भी) की मर्यादा का प्रतीक बन गया है, ठीक उसी प्रकार जैसे रंगीन टी. वी. या वी. सी. आर. रखना। इस कारण वे उस मर्यादा को प्राप्त करने के प्रयास मे लगे रहते हैं, चाहे इसके लिए उन्हें बड़ी धनराशि का दान (रिश्वत भी), चापलूसी, मानहानि, संस्तुति और सिफारिशों का सहारा क्यों न लेना पड़े। (कोई भी पूछ सकता है कि ऐसे विद्यालय बच्चों में किस चरित्र का निर्माण करेगे?) प्रोफेसर ए. आर. कामत ने इस स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है:

> इस प्रकार की शिक्षा की माँग इतनी प्रबल है कि इन विद्यालयों में अपना स्थान सुरक्षित करने के लिए बच्चे (अथवा उनकी माताएँ) कतार में उस समय से ही लग जाते हैं जब वे गर्भ में रहते हैं। इस कथित पब्लिक स्कूल का करिश्मा अब शहरी नहीं रह गया है, बल्कि ग्रामीण क्षेत्रों में भी फैल गया है। उदाहरणतः महाराष्ट्र में सहकारी चीनी मिलों के तत्वावधान में अथवा राज्य सरकार के ही अधीन, जहाँ ग्रामीण धनिकों का नेतृत्व सत्ता में है, नवोदित ग्रामीण नेतृत्व अंग्रेजी माध्यम की शिक्षा के मूल्य के प्रति पूर्णतः जागरूक है

और इसलिए वे इस एकमात्र मार्ग को अपनाना चाहते हैं ताकि इस पीढ़ी में नहीं तो अगली पीढ़ी में अवश्य ही वे संभ्रांत वर्ग की स्थिति को प्राप्त कर सकें।[1]

क्या हम *वर्ग शिक्षा* और *जनशिक्षा* के इस विभाजन के लिए अंग्रेजों को दोषी ठहराएँ? वे विद्यालय थोड़े से लोगों को अंग्रेजी माध्यम से तैयार करेंगे और वे शिक्षित लोग अर्जित यूरोपियन ज्ञान दूसरे विद्यालयों में सामान्य जन को उनकी *बोलियों* के माध्यम से प्रदान करेंगे। *नीचे की ओर बहाव* के इस सिद्धांत के समर्थक भी विस्मित होंगे, यदि उन्हें यह बताया जाए कि इस बहाव से भी जनता अंग्रेजी माध्यम वाली शिक्षा की माँग कर रही है। यहाँ तक कि बहुत बदनाम मैकाले भी यही अपेक्षा करता था कि यह जनवर्ग जो रक्त और रंग में भारतीय है, वह देशी भाषाओं के उत्थान के लिए ही काम करेगा।[2]

भारतीय भाषाओं को शिक्षा के माध्यम के लिए स्पष्टतः अस्वीकार करते हुए उसने कहा था:–

"सभी दल इस बात पर सहमत हैं कि भारतीयों द्वारा सामान्य रूप से बोली जाने वाली भाषाओं मे न तो साहित्यिक ज्ञान है और न वैज्ञानिक, तथा वे इतनी पिछड़ी हुई तथा भद्दी हैं कि जब तक किसी और प्रकार से उन्हें समृद्ध नहीं बनाया जाता तब तक उनमे मूल्यवान कृतियों का अनुवाद कठिन होगा। "

उसने इन देशी भाषाओं को समृद्ध करने का दायित्व अंग्रेजी माध्यम से शिक्षित भारतीयों पर सौंपा।

"---------------------- हमारे लिए अपने सीमित साधनों से विशाल जन समूह को शिक्षित करने का प्रयास असंभव है। हमें इस समय यथाशक्ति एक ऐसे वर्ग को तैयार करना है जो हमारे और हमारे द्वारा शासित करोड़ों जन के बीच दुभाषिए का काम कर सके — ऐसे लोगों का वर्ग, जो रक्त और रंग में भारतीय है, पर रुचि, विचार, बुद्धि और नैतिकता में अंग्रेज हों। देशी भाषाओं को संवारने, पाश्चात्य ज्ञान से प्राप्त वैज्ञानिक शब्दावली द्वारा उन्हें समृद्ध करने तथा विपुल जन समुदाय को ज्ञान प्रदान करने और उन्हे उत्तरोत्तर समर्थ बनाने का दायित्व इस वर्ग पर हम छोड़ सकते हैं। "

परवर्ती ब्रिटिश शासकों ने सदाशयतापूर्वक ऐसे दिन की आशा की थी, जब इस देश में सर्वोच्च ज्ञान (वस्तुतः पाश्चात्य ज्ञान) भारतीय भाषाओं के माध्यम से प्रदान किया जाएगा। उन्होंने स्वप्न में भी यह नहीं सोचा था कि अंग्रेजी इस देश की सारी जनता की भाषा होगी।

क्या मै इस स्थिति को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कह रहा हूँ? क्या अपनी भाषाओं की उन्नति के लिए हमने बहुत-कुछ नहीं किया है? क्या वे हमारे महाविद्यालियों और विश्वविद्यालयों में माध्यम नहीं हैं?

हाँ वे हैं! हाँ, हमने विगत 40 वर्षो में अपनी भाषाओं की उन्नति के लिए बहुत कुछ किया है, पर वह पर्याप्त नहीं है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह कार्य अपनी सीमा पर पहुँच गया है। निहित स्वार्थ अब इसे और आगे नहीं बढ़ने देगा। जैसा कि प्रोफ़ेसर कामत ने इंगित किया है, स्थिति में सुधार नहीं लाया जा सकता। केवल इसका अंत किया जा सकता है।[3]

"स्वतंत्रता के विगत तीन दशकों में देश के सभी विशिष्ट स्थानों और अधिकांश भौतिक (तथा सांस्कृतिक) हितों पर अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी शिक्षितों ने लगातार अपना आधिपत्य बनाए रखा है। भारतीय भाषाओं के पक्ष मे परिवर्तन, जो राजनैतिक लोकतंत्रीकरण के कारण हुआ था, अब अपनी सीमा पर पहुँच गया है। आगे संक्रमण, जो और आगे लोकतंत्रीकरण तथा दमितों और दलितों के पक्ष में सामाजिक परिवर्तन के लिए आवश्यक और अनिवार्य है, कठिन होगा क्योंकि अंग्रेजी तथा अंग्रेजी शिक्षितों द्वारा इसमें बाधा डाली जा रही है। ऐसी स्थिति में भारतीय भाषाएं अपना स्थान उस सीमा तक तभी ग्रहण कर सकेंगी जिस सीमा तक अंग्रेजी को उसके वर्तमान विशिष्ट स्थान से हटाया जाएगा। और यह अंग्रेजी शिक्षितों के हित में नहीं है क्योंकि इस परिवर्तन से उन्हे क्या लाभ मिलेगा? दूसरी ओर उनकी क्षति इतनी अधिक है कि वह संक्रमण सामाजिक, आर्थिक सोपान में केवल निम्न श्रेणी के लोगों के लिए लाभदायक होगा और इससे वर्तमान सत्तात्मक संरचना के लिए एक चुनौती बन जाएगी।

तब फिर भावी परिप्रेक्ष्य क्या है? इस स्थिति में सुधार नहीं हो सकता, इसका अंत ही करना होगा। वर्तमान संरचना में कोई तोड़ संभव नहीं, पूर्ण ध्वंस करना ही अपेक्षित है।

रोजगार-बाजार, उच्च शिक्षा और शोध की लब्ध प्रतिष्ठित संस्थाएँ, उच्च सम्मानपूर्ण प्रशासनिक सेवाएँ, विधि तथा चिकित्सा के लाभकारी व्यवसाय, सार्वजनिक और निजी उपक्रम, औद्योगिक तथा व्यापारिक प्रशासन, प्रबंध, वैज्ञानिक और औद्योगिक शोध, बैंकों की बड़ी-बड़ी नौकरियाँ आदि सभी अंग्रेजी के ज्ञान को महत्व प्रदान करते हैं। *अंग्रेजी का मतलब धन है,* लॉर्ड एलेनबरो ने आज से सौ साल पहले कहा था। अतः हरेक को अंग्रेजी जाननी चाहिए और अच्छी अंग्रेजी जानने के लिए उसी में शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। तर्क यह है कि अंग्रेजी माध्यम से उच्चतम शिक्षा अधिक प्रभावपूर्ण होगी, यदि विद्यार्थी ने उच्चतर माध्यमिक शिक्षा अंग्रेजी माध्यम से प्राप्त की है। अंग्रेजी माध्यम से माध्यमिक शिक्षा सरल होगी यदि उसने प्राथमिक शिक्षा अंग्रेजी माध्यम से ग्रहण की है, प्राथमिक शिक्षा सुगम होगी यदि शिशु-शिक्षा अंग्रेजी माध्यम से होगी। (गोया कि नर्सरी स्कूल मे भी माध्यम भाषा होनी चाहिए) और बच्चे को स्कूल जाने के पहले अंग्रेजी सीखने में परिवार से सहायता मिलनी चाहिए । अतः उसे अंग्रेजी वर्णमाला और अंग्रेजी शब्द पैदा होते ही सिखाइए। यह देखते हुए तरस आता है कि माता-पिता (कभी-कभी अर्द्धशिक्षित या अर्द्धसाक्षर भी) शिशु को नाक, कान, दूध, पंखों आदि के लिए *नोज़, ईयर, मिल्क, फैन* आदि शब्द उसी समय सिखाने लगते हैं जब वह बोलना शुरू करता है। अधिकाधिक मध्यवर्गीय भारतीय परिवार अंग्रेजी मातृभाषी होने के प्रयास में है। अंग्रेजी में अपशब्दों को हँसकर टाल दिया जाता है, जबकि वही अपशब्द भारतीय भाषा में कहने पर गाली के रूप में अश्लील समझा जाता है।

विक्रेता, चपरासी, टिकट बाबू, बस-कंडक्टर आदि के कामों के लिए भी नियोक्ता उन व्यक्तियों को पसंद करते है जो अंग्रेजी (टूटी-फूटी ही सही) जानते हों। बेहतर स्थिति के ग्रामीण अब अंग्रेजी पोशाक पहनने लगे हैं। गाँव का दूल्हा जाड़े में गर्म ऊनी सूट पहनकर, टाई लगाकर और गर्मी में टेरिकॉट सफारी सूट पहनकर शादी में जाता है और अपनी बातचीत को कुछ अंग्रेजी शब्दों के द्वारा रोबीला बनाता है।

यह कहा गया है कि अंग्रेजी ने भारत का एक राष्ट्र के रूप मे निर्माण किया है। राष्ट्रवाद की भावना का उदय इस कारण हुआ कि देश के विभिन्न भागों के लोग अंग्रेजी मे परस्पर विचार-विनिमय करते हैं। पर थोड़ी गहराई से विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाएगा कि यह बहुत

सतही निष्कर्ष है, क्योंकि यह आसानी से देखा जा सकता है कि अंग्रेजी ने लोगों को दो स्पष्ट वर्गों में बाँट रखा है— अंग्रेजी जानने वाला वर्ग और मातृभाषी जन-समुदाय। गृहस्वामी जब चाहते हैं कि उनकी बात घर के नौकर न समझें तो वे अंग्रेजी में बातें करते हैं। (यद्यपि यह पता लगाना बड़ा ही आँख खोलने वाला है कि अंग्रेजी न जानने वाले नौकर कितना समझ पाए हैं।)

विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948-49) ने कहा था —[4]

> "यह सत्य है कि देश की एकता के विकास में अंग्रेजी भाषा भी एक सशक्त साधन रही है ------------- अनेक लोग एकता को बनाए रखने तथा उसे सुदृढ़ करने के लिए अंग्रेजी के प्रचलन का प्रतिपादन करते हैं। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी ने आधुनिक विज्ञान, दर्शन और सभ्यता के आधारभूत विचारों की कुंजी प्रदान की है। सभी व्यावहारिक प्रयोजनों की दृष्टि से यह और भी महत्वपूर्ण बात है कि अंग्रेजी बाहरी दुनिया से संपर्क बनाए रखने के लिए एक प्रमुख साधन बनी रहेगी ---------------- पर एक सर्वथा भिन्न प्रणाली में गोता लगाना एक असाधारण खतरा मालूम होता है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यह डुबकी अनिवार्य है। पर पहले की भाँति अंग्रेजी किसी राजभाषा का स्थान नहीं लिए रह सकती। *इस रूप में अंग्रेजी का प्रयोग लोगों को दो राष्ट्रों में विभाजित कर देता है,* एक वे थोड़े से जो शासक हैं और दूसरे वे बहुत से जो शासित हैं और शासक की भाषा बोलने और समझने में असमर्थ हैं। यह लोकतंत्र को नकारना है।"

अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग अपने ही देश में विदेशी है। उन्होंने अपनी भाषाओं के अध्ययन की चिंता नहीं की क्योंकि वे इन भाषाओं को हीन समझते हैं, वे अपनी मातृभाषा के साहित्यकारों की कृतियाँ— कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि नहीं पढ़ते हैं। इस प्रकार वे उस समाज को नहीं समझते जिसमें वे रहते हैं। वे अपने लोगों की आशा-आकांक्षा, हर्ष-विषाद, दुख-पीड़ा को नहीं समझते। वे अंग्रेजी उपन्यासों को पढ़ते हैं जिनसे उन्हें ब्रिटिश या अमेरिकी जीवन का ज्ञान होता है, पर यह ज्ञान अपने राष्ट्रीय साहित्य की कीमत पर ही हासिल होता है।

वे सुख-सुविधाएँ जिन्हें उच्चवर्ग और उच्च मध्यम वर्ग भोगता है, उन्हें परोपजीवी बना देती हैं। *औद्योगिक जीवन मूल्यों और औद्योगिक सामाजिक जीवन शैली अपनाने की दौड़ में वे अपनी संस्कृति के लिए पराए हो जाते हैं।*[5]

भारतीय सचमुच ही अंग्रेजी अच्छी तरह सीख सकते हैं— यह प्रमाणपत्र मैकाले ने भी दिया था, जो हमें गद्गद् कर देता है।[6]

> *वस्तुतः महाद्वीप (यूरोप) के साहित्यिक समाजों में भी सामान्यतः कोई ऐसा विदेशी पाना कठिन है, जो इतनी शुद्ध, सहजता और प्रवाह से अंग्रेजी में अपना विचार प्रकट कर सके जैसा हम अनेक हिन्दुओं में पाते हैं।*[7]

हिन्दू कॉलेज की स्थापना के बाद 24 नवंबर 1839 को लिखे गए काल्विन के नोट में भी कहा गया है कि—

> फल आशा से बढ़कर है। अंग्रेजी भाषा पर अधिकार, उसके साहित्य और विज्ञान का परिचय इस सीमा तक अर्जित हुआ है जिसकी समानता शायद ही यूरोप के किसी स्कूल में मिले। दूसरी पीढ़ी को, संभवतः कलकत्ता के हिन्दू समुदाय के शिक्षित वर्ग की भावनाओं और धारणाओं में एक बड़ा भौतिक परिवर्तन दीख पड़ेगा।

इंडियन एयरलाइंस की व्योमबालाएँ अंग्रेजी में जिस प्रवाह के साथ घोषणाएँ करती है, उनकी तुलना हम हिन्दी मे की गई घोषणाओं से करे, जिन्हे वे *श्रमसाध्य* कृत्रिम उच्चारण और अनुमान के साथ करती है। ऐसा लगता है कि अंग्रेजी उनकी मातृभाषा है।

सामान्य जन और शिक्षित वर्ग का यह अंतर और भी बढ़ता जाएगा जब तक कुछ गिने-चुने लोगों की भाषा अंग्रेजी रहेगी और शेष सभी लोगों के लिए भारतीय भाषा रहेगी, अर्थात् जब तक देश के विभिन्न भागों के लोग सभी कामों के लिए अपनी प्रादेशिक भाषा का प्रयोग नहीं करेगे।

अपनी भाषा के संबंध मे हम आज जिस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति मे हैं, वह क्यों और कैसे है? एक दुर्भाग्य तो यह है कि हमने अपनी भाषाओं में से किसी एक को अखिल भारतीय प्रयोजन के लिए राष्ट्रभाषा के रूप मे विकसित नहीं किया। कारण मुख्यतः राजनैतिक और अदूरदर्शी, मिथ्याशौर्यपूर्ण प्रादेशिक अहंकार भी। राष्ट्रभाषा ही किसी राष्ट्र को राष्ट्र होने की गरिमा प्रदान करती है। विदेशी भाषा वह अमूल्य राष्ट्रीय गरिमा नही दे सकती। राष्ट्रीय मानसिकता एक हीनता की भावना से ग्रसित बनी रहेगी। विश्व इतिहास मे जब राष्ट्र-राज्यों का विकास हुआ तब प्रत्येक राष्ट्र ने अपनी ही भाषा को राष्ट्रभाषा की मान्यता दी। 14वीं शताब्दी में ब्रिटेन मे विद्वानों के पढ़ने, लिखने और बातचीत करने की भाषा लैटिन थी, सभ्य संभ्रांत जन फ्रेंच भाषा का प्रयोग करते थे, अंग्रेजी निम्नवर्ग की ग्रामीण भाषा मानी जाती थी। 100 वर्ष बाद अंग्रेजी ने राष्ट्रभाषा का स्थान ग्रहण कर लिया। फ्रेंच, जो 'फ्रेच कुत्तों' की भाषा थी, छोड़ दी गई। क्या अब हम उसी सामाजिक परिवर्तन की स्थिति में हैं, जो इन देशों में उस समय थी? तो क्या यह औपनिवेशिक चरण बीतने की स्थिति है?

तब ऐसा क्यों है कि शिक्षित भारतीयों ने स्वतंत्रता के बाद अपने पुराने शासकों की भाषा को नहीं छोड़ा? इसके कारण संभवतः ये हैं—

(1) जिस ढंग से सत्ता का हस्तांतरण हुआ। (2) गांधीजी का प्रवचन कि *पाप से घृणा करो, पापी से नहीं।* (3) अंग्रेजी बनाए रखने में शिक्षित वर्ग का निहित स्वार्थ। (4) एक राष्ट्र भाषा (हिंदी) को स्वीकार करने और विकसित करने में कठिनाई तथा असमर्थता। (5) भाषायी अल्पमत समुदाय के लिए चिंता (हमारे संविधान की विलक्षण विशेषता)। (6) अपनी भाषाओं के प्रति हीन भावना और क्षुद्रमत। (7) संकीर्ण भाषायी निष्ठा जो अविश्वास में प्रतिफलित हुई, उदाहरणतः चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने पहले विश्वविद्यालयों मे शिक्षा के माध्यम अंग्रेजी को यथाशीघ्र बदलने पर जोर डाला पर 1959 मे उसे बदलने के लिए तर्क देने लगे।

सन् 1911 मे गोखले ने कहा था कि इस देश के शिक्षित लोगों की उस समय परीक्षा होगी जब स्वतंत्रता मिल जाएगी। शिक्षित वर्ग मे यह कमी पाई गई कि आज़ाद होने के बाद उन्होंने न तो आधुनिक भारतीय भाषाओं के उत्थान के लिए और न अंग्रेजी हटाने के लिए वांछित प्रयास किया। 'नीचे की ओर प्रवाह' का सिद्धांत असफल रहा और अब जनता अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा की माँग करती है। भारतीय भाषा समस्या के अपने अध्ययन में आर.के.यादव कहते हैं —

> "शिक्षा का माध्यम कोई अतिरिक्त यांत्रिक पुर्जा नहीं है, जिसे उठाकर पुराने पुर्जे की जगह लगा दें। सुस्थापित भाषा समयानुक्रम में देश की संपूर्ण शैक्षिक संरचना से इतने अभिन्न रूप से जुड़ जाती है कि विश्वविद्यालयी शिक्षा के माध्यम में परिवर्तन का प्रभाव स्कूल के पाठ्यक्रम, प्रशासन तंत्र और राष्ट्रीय जीवन के उन पक्षों पर भी पड़ता है जो प्रत्यक्षतः संबद्ध नहीं हैं।"[8]

शिक्षा का माध्यम ऐसा होना चाहिए जिससे छात्र आसानी से ज्ञान अर्जित कर सके, स्पष्ट रूप से भाव अभिव्यक्त कर सकें, और ओजस्विता के साथ सही ढंग से सोच सके। इस दृष्टि से मातृभाषा का स्थान निर्विवाद हैं।

स्वतंत्रता के पूर्व और पश्चात् अनेक समितियों, आयोगों, शिक्षानीतियों और राजनैतिक दलों की नीतियों ने विभिन्न स्तरों पर शिक्षा के माध्यम के संबंध में संस्तुतियाँ प्रस्तुत की हैं।[9]

मातृभाषा के संबंध में सभी एकमत हैं कि प्राथमिक कक्षाओं के स्तर पर प्रदेश के सभी बच्चों के लिए क्षेत्रीय भाषा माध्यम होगी। पूरे ब्रिटिश शासन काल मे यही विचार रहा है। पूर्व माध्यमिक तथा माध्यमिक स्तर पर भी क्षेत्रीय भाषा ही माध्यम होनी चाहिए। ब्रिटिश शासन काल में अंग्रेजी की शिक्षा एक विषय के रूप मे उच्च प्राथमिक अथवा माध्यमिक कक्षाओं से प्रारंभ होती थी किन्तु उन दिनों भी शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी की संस्तुति कभी नहीं की गई।

माध्यमिक तथा उच्च माध्यमिक कक्षाओं में विज्ञान सदृश कुछ विषयों को छोड़कर शिक्षा के माध्यम के लिए क्षेत्रीय भाषाओं की ही संस्तुति की गई। 1921 तक माध्यमिक कक्षाओं के माध्यम के लिए अंग्रेजी का प्रयोग किया जाता था किन्तु 1921 से 1937 के द्वैध शासन की अवधि में इसमें परिवर्तन हुआ और लगभग सभी स्कूलों में 1937 तक भारतीय भाषाएँ ही शिक्षा का माध्यम हो गईं थीं। इस प्रकार 1947 मे स्वाधीन भारत में क्षेत्रीय भाषाएँ ही माध्यमिक विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम थीं।[10]

उच्च शिक्षा के माध्यम का प्रश्न बहुत ही विवादग्रस्त रहा है। प्रश्न ये थे कि (1) क्या अंग्रेजी की जगह हिंदी होनी चाहिए? (2) क्या क्षेत्रीय भाषाओं को माध्यम होना चाहिए? (3) क्या अंग्रेजी ही बनी रहनी चाहिए? आशा यह की जाती थी कि अंततः हिन्दी ही किसी दिन पूरे देश में उच्च शिक्षा की भाषा बन जाएगी, किन्तु तत्काल ऐसा करना उचित नहीं लगा। अंग्रेजी को बहुत दिनों तक माध्यम नहीं रहना चाहिए और यह उसी समय तक माध्यम रहे जब तक हम अपनी भाषा में पाठ्यपुस्तकें और साहित्य तैयार न कर लें। फिलहाल अंग्रेजी हम बनाए रखें, किन्तु उत्तरोत्तर इसका स्थान क्षेत्रीय भाषाएं लेती चलें। देश के अधिकतर विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों मे स्नातक स्तर तक की उच्च शिक्षा के लिए क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग होता है। कुछ संस्थाओं में स्नातकोत्तर स्तर और शोध के लिए भी इनका प्रयोग किया जाता है।[11]

विद्वत् समुदाय में यह भावना पाई जाती है कि क्षेत्रीय भाषा द्वारा शिक्षित व्यक्ति अंग्रेजी द्वारा शिक्षित व्यक्तियों की तुलना में हीन होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह धारणा अंग्रेजी के प्रति हमारे पूर्वाग्रह के कारण है। किंतु यह एक तथ्य भी हो सकता है। इसका कारण यह है कि संपन्न वर्ग के बच्चे, जिन्हें अधिक सुविधाएँ प्राप्त है और जिनकी पूर्व पीढ़ियों से ही ये सुविधाएँ चली आ रही हैं, *अच्छे* स्कूलों में पढ़ते है जहाँ अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा प्रदान की जाती है। दूसरी ओर निर्धन परिवारों के बच्चे, जिनकी पहली ही पीढ़ी पैढ़ने आई है, म्यूनिसिपल स्कूलों में *निम्न* शिक्षा प्राप्त करते है, इनके शिक्षक कोई रुचि नहीं लेते, इन बच्चों को कोई अभिप्रेरणा नहीं मिलती। फिर भी यह देखने मे आता है कि इन तथाकथित *हीन* भारतीय भाषाओं मे पढ़े हुए विश्वविद्यालय के छात्रों में अंग्रेजी माध्यम से पढ़े हुए छात्रों की अपेक्षा अधिक गहराई पाई जाती है। उस भाषायी हीनता की भावना, जिससे हम ग्रस्त रहते हैं, की तुलना हम इस वक्तव्य से करें जो तत्कालीन प्रभारी शिक्षा सदस्य सर हरकोर्ट बटलर ने 17 मार्च, 1915 को इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में सेकंडरी स्कूलों में भारतीय भाषाओं को माध्यम बनाने के लिए एस. रेयनिंगर के प्रस्ताव पर दिया था —

> "मै अपने तथा अनेक सुयोग्य शिक्षाविदों, जिनके साथ इस प्रश्न पर मैंने चर्चा की है, के अनुभवों के आधार पर कह सकता हूँ कि भारतीय भाषा के माध्यम से स्कूल की उच्च कक्षाओं तक की शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी में, निश्चित ही अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा प्राप्त विद्यार्थियों की अपेक्षा अधिक प्रतिभा परिलक्षित होती है।"

बंगाल के संबंध मे सन् 1882 के शिक्षा आयोग का भी यही निष्कर्ष था।

इन समस्त सबल संस्तुतियों एवं निर्णयों के बावजूद हम आज ऐसी स्थिति में क्यों पड़े हुए है जहां अंग्रेजी माध्यम हमारी उच्च आकांक्षा बन गया है?

कुछ कारण सुविदित हैं : नौकरियाँ, यह विश्वास कि अंग्रेजी का अर्थ आधुनिकीकरण, उच्च प्रविधि आदि है, यह धारणा कि राष्ट्रों के बीच हमारी प्रतिष्ठा तभी ऊँची रहेगी यदि हमारे प्रतिनिधि अच्छी अंग्रेजी बोलेंगे, अपनी भाषाओं की संपन्नता में आस्था और विश्वास का अभाव तथा राजनैतिक संकल्प की कमी।

1984 में हुए तृतीय विश्व हिंदी सम्मेलन में श्रीमती इंदिरा गांधी ने कहा था कि *हिंदी शब्दावली पर्याप्त समृद्ध नहीं है।* श्रीमती गांधी को चिंता थी कि *अंग्रेजी का स्तर गिर रहा है।*

क्या यह हमारी कोरी भावुकता (देशभक्ति के कारण) है कि हम अंग्रेजी माध्यम के विरुद्ध संकीर्ण भाव रखते है? यह ध्यान रखने की बात है कि अंग्रेजी को देश से बाहर निकालना कोई नहीं चाहता, पर इसे केवल एक विषय के रूप में सीखना चाहिए, इसी रूप में इसका महत्व है। आपत्ति केवल इसके माध्यम होने पर है। 'एजुकेशन ऑफ अवर पीपुल' में लिखा है —

> "मर्यादा और अधिकारों से अंग्रेजी को हटाना होगा और इसे विश्व ज्ञान के एक साधन के रूप में भूमिका निर्वाह का स्थान ग्रहण करना होगा। यह एक सेवा-कार्य है जहाँ इस बात पर बल होगा कि कोई व्यक्ति किसी भी समय अपने जीवन में अपनी आवश्यकतानुसार अंग्रेजी सीख सके। इससे अंग्रेजी जानने या न जानने वालों में कोई भेद-भाव का आधार नहीं रहेगा।"

सबसे नीचे की कक्षा (पूर्व-विद्यालयी शिक्षा) से ही अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाने मे क्या हानि है? हानि यह है कि व्यक्ति और समाज दोनों पर इसका दुष्प्रभाव पड़ता है।

ऐसी भाषा के माध्यम से पढ़ना, जिसे विद्यार्थी अच्छी तरह नहीं जानता, ज्ञान, बोध, चिंतन, विश्लेषण में बाधक होता है और यह उसके निरीक्षण तथा उसे जो कुछ सिखाया जाता है उसके मूल्यांकन में भी अवरोधक है। विद्यार्थी को शिक्षा के माध्यम की भाषा पहले से ही अच्छी तरह से आनी चाहिए। प्राथमिक स्कूल की औपचारिक शिक्षा प्रारंभ करने के 5-6 वर्ष पहले से ही बच्चा अपनी मातृभाषा जानता है। वह वस्तुओं, व्यक्तियों, संबंधियों, विचारों के नाम मातृभाषा मे लेना सीख चुका है। अतः यदि उसे उस भाषा में शिक्षा दी जाए तो उसे अधिगम में सहायता मिलेगी।

दिल्ली से प्रकाशित होने वाले अंग्रेजी दैनिक *हिंदुस्तान टाइम्स* के 11 फरवरी, 1979 के संपादकीय में लिखा है :—

> "सुविधा रहित वे हैं जो सौभाग्यवश सचमुच सुविधा संपन्न हैं क्योंकि उनकी शिक्षा मातृभाषा मे होती है। वे उस ध्वनि संरचना के सुसंगत रूप का, जो उन्हें विरासत में मिली है और

जो उन्हे सीखनी है, लाभ उठाते हैं, जबकि अंग्रेजी शिक्षित शहरी संभ्रांत वर्ग ने अपने को बहला लिया है कि यह सुसंगत रूप महत्वपूर्ण नहीं है।"

यह सर्वमान्य तथ्य है कि विदेशी भाषा उस समय तक सीखी नहीं जा सकती जब तक अपनी मातृभाषा का अच्छा ज्ञान न हो। इस मान्यता के कारण ही ब्रिटिश शासन के समय किसी भी प्रदेश मे एक विषय के रूप में अंग्रेजी की शिक्षा कक्षा 3 से पहले नहीं शुरू होती थी और अधिकांशतः तो इसकी शिक्षा कक्षा 6 से शुरू होती थी। एक विषय के रूप मे अंग्रेजी 3 वर्ष पढ़ाने के बाद (क्रमशः कक्षा 6 अथवा 9 से) ही अंग्रेजी का प्रयोग माध्यम के रूप में होता था। नीचे की प्राथमिक कक्षाओं से माध्यम के रूप मे अंग्रेजी का सुझाव कभी नहीं दिया गया।

भारत में अंग्रेजी का अध्ययन : शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा नियुक्त अध्ययन समिति (1964 ई.) की आख्या —

समिति ने यह विचार भी व्यक्त किया है कि हाल में अनेक राज्यों ने कक्षा 3 से अंग्रेजी पढ़ाने की जो नीति अपनाई है, वह शैक्षिक दृष्टि से अहितकर है, हम इस विचार से सहमत हैं। हमारा विश्वास है कि अंग्रेजी जैसी विदेशी भाषा की शिक्षा शुरू करने के पहले मातृभाषा पर यथेष्ट अधिकार हो जाना चाहिए।

अतः एक विषय के रूप में भी अंग्रेजी की शिक्षा कक्षा 3 के पहले नहीं शुरू होनी चाहिए। माध्यम के रूप में इसके प्रयोग की तो कोई बात ही नहीं। यह बार-बार देखा गया है कि अंग्रेजी पर यथेष्ट अधिकार प्राप्त करना ही विद्यार्थी के दिमाग पर हावी रहता है — वह विषय समझने की ओर कम ध्यान देता है। कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग (1919 ई.) के अनुसार एक भारतीय विद्यार्थी अपना एक-तिहाई समय अंग्रेजी सीखने में लगा देता है। पंजाब विश्वविद्यालय जाँच समिति (1933 ई.) के अनुसार भी विद्यार्थी अपना एक-तिहाई समय अंग्रेजी पर अधिकार प्राप्त करने मे लगा देता है।

भारत में विश्वविद्यालयी शिक्षा की आलोचना करते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था — *किसी रेलवे ट्रेन के प्रकाश का गाँव की जनता के लिए क्या लाभ है, जब वह रात के समय ग्रामीण क्षेत्र से होकर तेजी से गुजर जाती है।*

अपने घर या पड़ोस में दैनिक प्रयोग की भाषा से भिन्न किसी और भाषा के माध्यम से जब हम कुछ सीखते है तो केवल *शब्द* जान पाते हैं, *विचार* नहीं। फलतः शिक्षा केवल रटंत विद्या रह जाती है, मानसिक विकास नहीं होता, छात्र नकलची मात्र होकर रह जाते हैं, आविष्कारक नहीं।

दसियों सालों से यह देखा गया है कि अंग्रेजी माध्यम रहने पर अधिकतर समय, कभी-कभी कुल स्कूली समय का एक-तिहाई भाग अंग्रेजी सीखने में बीत जाता है। अन्य विषय भी मुख्यतः अंग्रेजी सीखने के माध्यम बन जाते हैं और अंग्रेजी सीखना शिक्षा का पर्याय बन जाता है। इससे व्यक्ति अपने लोगों में ही पराया बन जाता है।

इसने अवसरवादिता को प्रोत्साहित किया है, जिससे समुदाय के प्रति निःस्वार्थ सेवा की कोई भावना नहीं रह जाती। इससे विद्यार्थी निरा स्वार्थी बन जाता है। वह अपने अधिकारों और सुविधाओं के लिए तो सचेत रहता है, किन्तु सामाजिक कर्तव्यों के प्रति नहीं। वह अपने देश-हित को अपना हित नहीं समझता। पेशेवर लोग अपने देश की समस्याओं को नहीं समझते। यह एक विडंबना है कि एक डाक्टर किसी छोटे कस्बे मे निम्न मध्यम श्रेणी के परिवारों के बीच अपनी मेडिकल प्रेक्टिस से संपन्न बनता है पर निरक्षर ग्रामीण रोगियों को ऐसी भाषा में इलाज बताता

है जिस भाषा में अधिकतर महत्वपूर्ण शब्द अंग्रेजी के होते हैं। वर्तमान स्थिति के बारे में 'एजुकेशन फॉर अवर पीपुल' के अनुसार —

> ''इस शिक्षा प्रणाली मे निर्धन परिवार के बच्चों के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार होता है, क्योंकि इसकी संपूर्ण रचना ही उच्च तथा मध्यम वर्ग की आशाओं और आकांक्षाओं के प्रति उन्मुख रहती है और वहाँ अब भी उच्च शिक्षा के लिए अंग्रेजी ही माध्यम बनी हुई है और इस कारण विद्यालयी स्तर पर भी अंग्रेजी माध्यम के प्रयोग को प्रोत्साहन मिलता है।''

4 अप्रैल, 1963 को जवाहरलाल नेहरू ने लोकसभा में कहा था —

> ''हम जानते हैं कि स्वतंत्रता के पूर्व इस जातिग्रस्त देश मे सबसे कठोर जाति अंग्रेजी जानने वालों की थी — अंग्रेजी पोशाक, अंग्रेजी प्रेम, चाहे वे शासक हों या अन्य। हम लोगों में से भी अनेक उसी जाति के थे। यह बहुत ही बुरा था क्योंकि इसने भारतीय जनता और हम लोगों के बीच भयंकर दीवाल खड़ी कर दी थी।''

यदि माध्यमिक विद्यालय में शिक्षा का माध्यम प्राथमिक विद्यालय से भिन्न है, तो शिक्षार्थी विषय सीखने की अपेक्षा भाषा सीखने में ही अटक जाता है। यह बात और भी हानिकारक रूप मे घटती है, जब उच्च अध्ययन के लिए माध्यम बदल जाता है। उच्च शिक्षा की जटिलता को समझना और भी जटिल हो जाता है, क्योंकि कक्षा मे प्रयुक्त भाषा संबंधी अयोग्यता को दूर करने के लिए घोर प्रयास करना पड़ता है। यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि किसी भाषा को पुस्तकालयी भाषा के रूप मे प्रयोग करने की सामर्थ्य और उस भाषा के माध्यम से सीखना ये दोनों बातें सर्वथा भिन्न है।

किसी व्यक्ति के सपूर्ण शैक्षिक काल में आद्यंत एक भाषा का माध्यम बहुत ही उपयोगी है। यह भाषा वही हो सकती है, जिसके द्वारा बच्चे ने अपनी शिक्षा प्रारंभ की है, और वह भाषा मातृभाषा ही है। इस प्रकार यह भाषा जिसका प्रयोग बालक घर तथा समाज मे करता है, सभी स्तरों पर उसकी शिक्षा के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

विभिन्न प्रयोजनों के लिए विभिन्न स्तरों पर विभिन्न भाषाओं के प्रयोग का बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम यह होता है कि हमारे विद्यार्थी मातृभाषा अथवा अंग्रेजी किसी में भी सक्षम नहीं हो पाते।

हमारे देश में मातृभाषा और क्षेत्रीय भाषा के संबंध मे एक विशेष प्रश्न उठ सकता है। किसी विशेष राज्य मे (विशेषतः भाषायी आधारों पर राज्यों के गठन के बाद) अधिकतर बच्चों की मातृभाषा क्षेत्रीय भाषा होती है, किंतु सभी राज्यों में अल्पसंख्यकों के भी क्षेत्र विशेष होते हैं। (भाषिक आधार पर अल्पसंख्यकों की मान्यता हमारे संविधान की अनोखी विशेषता है।)

संविधान सभा की बहस में जेड.एच. लारी ने सामान्य शिक्षा को मातृभाषा के माध्यम से दिये जाने को मौलिक अधिकार मानने का तर्क दिया है — *क्या अल्पमत संख्यकों के लिए यह मॉग करना संभव होगा कि राज्य द्वारा स्थापित शिक्षा संस्थाओं में जहॉ अनिवार्य, निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था है, प्राथमिक शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से प्रदान की जाये?*[12] उनके द्वारा सुझाया गया संशोधन इस प्रकार है — *नागरिकों का कोई भी समुदाय जो भारतीय प्रदेश में अथवा उसके किसी भाग मे रहता है और उसकी पृथक भाषा और लिपि है तो यह उसका अधिकार है कि उसके बच्चों की प्राथमिक शिक्षा उनकी भाषा और लिपि के माध्यम से प्रदान की जाए।*

इसे नहीं माना गया, क्योंकि हमारे नेता प्राथमिक शिक्षा को मौलिक अधिकार मानने को तैयार नही थे।

विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948 ई.) ने इस प्रश्न पर (पृ. 323) कहा है —

> *अल्पसंख्यकों के क्षेत्र* —"क्षेत्रीय भाषा उस क्षेत्र मे शिक्षा के सभी स्तरो पर शिक्षा का माध्यम हो, इस नीति की कुछ सीमाएं है। भारत मे अनेक प्रदेश ऐसे है जहाँ प्रदेश की भाषा से भिन्न भाषा बोलने वाले रहते हैं। ऐसे मामलों मे सही नीति यह है कि बुनियादी शिक्षा के लिए उनकी मातृभाषा का प्रयोग बिना हिचक होना चाहिए और यदि माध्यमिक शिक्षा के लिए संख्या पर्याप्त है तो ज्यों-ज्यों बच्चा बड़ा होता जाए त्यो-त्यों क्रमशः ऊँची कक्षाओं में क्षेत्रीय भाषा का समावेश किया जाए और विश्वविद्यालयी स्तर पर उसे शिक्षा का माध्यम बनाया जाए।"

भारतीय शिक्षा आयोग (1966 ई.) का मत था कि प्राथमिक स्तर पर क्षेत्रीय भाषा को शिक्षा का माध्यम होना चाहिए जो अधिकतर बहुसंख्यक बच्चों की मातृभाषा भी होगी। भाषायी अल्पसंख्यकों के लिए उनके इच्छानुसार यह मातृभाषा अथवा क्षेत्रीय भाषा मे से कोई भी हो सकती है।

> राज्य सरकारें अल्प संख्यक बच्चों के लिए यदि वे चाहें तो, उनकी मातृभाषा के माध्यम से प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करे, किंतु शर्त यह है जैसा कि शिक्षा मंत्रियों के सम्मेलन (1949 ई.) द्वारा अनुमोदित है कि ऐसे बच्चों की संख्या कक्षा में 10 अथवा विद्यालय मे 40 होनी चाहिए। पर यह उनके हित में है कि प्राथमिक शिक्षा के बाद वे जितना शीघ्र हो सके, क्षेत्रीय भाषा मे शिक्षा ग्रहण करने लगे। पहले वे उच्च प्राथमिक कक्षाओ मे क्षेत्रीय भाषा एक विषय के रूप मे सीखे।

क्षेत्रीय भाषा ऐसी भाषा है जिसे वे अपने आस-पास, समुदाय में, बाजार में, मनोरंजन स्थलो मे, मित्र मंडली मे और अन्य जगहों पर भी व्यवहार में सुनते है और घर के बाहर वे स्वय भी उसका प्रयोग करते है।

भाषा सीखना हमेशा इस बात पर निर्भर नहीं है कि उसे सीखने के लिए कितना समय या कितने वर्ष दिए गए है। यह बहुत कुछ अभिप्रेरणा पर निर्भर है। युवा व्यक्ति जब विदेशों में काम करने या उच्च अध्ययन या व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिए जाते है तो उस देश की भाषा बड़ी जल्दी सीख लेते है। क्षेत्रीय भाषा सीखने की अभिप्रेरणा भी अधिक होगी यदि उस भाषा का प्रयोग सभी प्रयोजनों — प्रशासन, विधान, व्यापार, वाणिज्य, उद्योग, शिक्षा आदि के लिए होने लगे। जहाँ उस भाषा का मूल्य होगा, उससे भविष्य-निर्माण के मार्ग खुले होंगे, मातृभाषा की प्रदक्षता की सराहना होगी, उसके लिए सम्मान का भाव बढ़ेगा, वहाँ उस भाषा का सीखना और उसके माध्यम से शिक्षा ग्रहण करना फलदायी होगा। इसके द्वारा शिक्षित-अशिक्षित, साक्षर-निरक्षर, सुविधाभोगी और सुविधारहित लोगों के बीच की खाई पटेगी और उनमें परस्पर घनिष्ठता स्थापित होगी। इससे शिक्षित व्यक्तियों का जीवन अधिक प्रासंगिक और सार्थक होगा और उन लोगों की स्थिति में सुधार होगा जो प्राथमिक विद्यालय के आगे पढ़ने मे समर्थ नहीं हो सके थे।

अंत में विश्वास के साथ यह तर्क दिया जा सकता है कि स्कूलों में शिक्षा के माध्यम को

लेकर कोई विवाद नहीं है, क्योकि आँकडे सिद्ध करते है कि बहुत बडी संख्या मे हमारे प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालयों मे भारतीय भाषा ही शिक्षा का माध्यम है। देश भर मे अंग्रेजी माध्यम के पब्लिक स्कूलों की बाढ़ भी इस बात का प्रमाण नही है कि लोग अंग्रेजी माध्यम की माँग कर रहे हैं। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि यह बात सर्वोच्च अथवा परपरागत सभ्रात वर्ग के ठीक नीचे वाले वर्ग मे अंग्रेजी माध्यम की लोकप्रियता को अवश्य जाहिर करती है। यह भी हो सकता है कि क्रमशः और भी नीचे के सामाजिक तबके के लोग भी अंग्रेजी माध्यम के लिए लालायित होने लगें जिससे उनके बच्चों के लिए नौकरियो की आशा पूरी हो सके।

सभ्रांत वर्ग को जानते हुए मेरी भावना यह है कि जब इसका चक्र पूरा होगा और जनता अंग्रेजी माध्यम के लिए लालायित्त होकर उसे पा लेगी, तब हिंदी या मातृभाषा के माध्यम का प्रवेश होगा और वह प्रतिष्ठा का प्रतीक बनेगी, सुविधाभोगियों के लिए हिंदी या मातृभाषा द्वारा संपन्नता का मार्ग खुलेगा और फलतः जनता फिर मुँह के बल गिरेगी और पीछे रह जाएगी। हम यदि सभी के लिए जीवन के मानवीय गुणों से युक्त समतामूलक लोकतांत्रिक समाज का निर्माण करना चाहते है तो शिक्षा के माध्यम को महत्वपूर्ण प्रश्न मानकर हमे उस पर विचार करना चाहिए और उसका एकमात्र समाधान यही होना चाहिए कि जन-भाषा ही वह भाषा है जिसके माध्यम से *सभी* बच्चो को शिक्षा प्रदान की जाये।

प्राथमिक स्तर पर भी अंग्रेजी को एक विषय के रूप मे (माध्यम के रूप में भी) स्वीकार करने के सबंध मे आशंका के और संकेत मिलते है। राज्यों में प्राथमिक शिक्षकों के प्रशिक्षण कार्यक्रम मे दो भाषाएँ शामिल है — (1) अंग्रेजी और (2) क्षेत्रीय भाषा या हिंदी। इस प्रकार प्राथमिक शिक्षक के लिए भी अंग्रेजी को क्षेत्रीय भाषा या हिंदी से अधिक महत्व दिया गया है क्योंकि अंग्रेजी को अनिवार्य रखा गया है। देश मे कहीं भी नए प्राइवेट स्कूल खुलने पर वहाँ अंग्रेजी माध्यम की ही सभावना है। अधिकतर राज्यों मे बोर्ड द्वारा आयोजित कक्षा 10 की (सार्वजनिक) परीक्षा मे विद्यार्थी दो भाषाओं मे परीक्षा देते हैं, जिनमे से अधिकतर एक भाषा अंग्रेजी है। अतः सभी स्तरों पर शिक्षा के माध्यम के प्रश्न की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

मुख्य प्रश्न है — क्या हम अपनी भाषा को सभी स्तरों पर शिक्षा के माध्यम के लिए पर्याप्त रूप से विकसित समझते है? संविधान सभा में विचार-विमर्श के समय प्रो के.टी. शाह ने 7 दिसंबर, 1948 को देश के विभिन्न वर्गों की भाषाओं के बारे मे बोलते हुए कहा था कि —

> हाल के वर्षो में, विशेषत. विगत दो-तीन पीढ़ियों मे इनका विकास और संवर्द्धन यहां तक हुआ है कि मेरे निर्णय मे वे विश्वविद्यालयी स्तर तक हर प्रकार की शिक्षा का माध्यम होने योग्य हो गई हैं।

इस वक्तव्य के 37 वर्ष बाद क्या यही बात हम और अधिक विश्वास के साथ नहीं कह सकते? दूसरा प्रश्न है कि क्या राज्य एक विशेष माध्यम सभी संस्थाओ मे लागू कर सकता है?

उत्तर यह है कि संभवत. कुछ संस्थाएँ अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के बहाने इससे छूट सकती हैं। किंतु ये अल्पसंख्यक संस्थाएँ संदेहास्पद और बदनाम भी हो सकती हैं, यदि उनके द्वारा अपनाए गए माध्यम से व्यक्तिगत हितों की पूर्ति नहीं होगी। दूसरी बात यह कि वे समाज की मुख्यधारा से भी बाहर नहीं होना चाहेगे। इस संबंध में राष्ट्रीय नीति वक्तव्य (1979) बहुत ही स्पष्ट है —

> कुछ विद्यालय, विशेषतः 'पब्लिक स्कूल' सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली के बाहर है। उन्हे उन

नियमों और कानूनों (विशेषतः पाठ्यक्रम और शुल्क संबंधी) के अंतर्गत लाना चाहिए जिनके द्वारा सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली सचालित होती है। उन्हें भी क्षेत्रीय भाषा को शिक्षा का माध्यम रखना चाहिए, प्रवेश के नियमों का पालन करना चाहिए। 'पड़ोस योजना' के अंतर्गत् शिक्षा की सामान्य विद्यालय प्रणाली के साथ इन संस्थाओं को भी मिला देना चाहिए।

जैसा भी हो, इस पर बल देना है कि नीति-वक्तव्य पुनीत भावना के ही रूप मे न बना रहे, अपितु सचमुच कार्यान्वित हो। निश्चित ही अब यह प्रश्न सच्चे राजनैतिक संकल्प और यथार्थ शास्त्रीय प्रतिबद्धता का है।

असली खतरा अंग्रेजी की नौकरी दिलाने वाली बात से नहीं है, बल्कि, इस तथ्य से है कि वे लोग, जिनका शास्त्रीय तथा राजकीय क्षेत्रों मे वर्चस्व है, निष्ठा और ईमानदारी के साथ विश्वास करते है कि उच्च प्रौद्योगिकी सूचनाओं का संप्रेषण तथा कम्प्यूटराइजेशन हमारे जीवन मे केवल अंग्रेजी माध्यम से ही संभव है, जैसा कि डेढ सौ वर्ष पहले राजा राममोहन राय ने किया था। 19वीं सदी के प्रारंभ मे अंग्रेजी प्रेमियों — ब्रिटिश तथा भारतीय दोनो ने उस समय अंग्रेजी माध्यम का पक्ष इस तर्क के आधार पर लिया कि भारतीय भाषाएँ पिछड़ी हुई और गँवारू है, वे यूरोपीय विज्ञान और विचार की अभिव्यक्ति के लिए उपर्युक्त साधन नही है और हम केवल अंग्रेजी के द्वारा ही अंधकार, अंधविश्वास और अनभिज्ञता से मुक्त हो सकते है। जो लोग चाहते है कि भारत कम्प्यूटर युग से वंचित न रहे, वे सचमुच मान सकते है कि कम्प्यूटर युग में प्रवेश करना और भारत को 21वीं सदी में अग्रसर करना केवल अंग्रेजी द्वारा ही संभव है। बुद्धिजीवियों तथा विशाल संख्या में उन लोगों का, जो अपनी भाषा की श्रेष्ठता और उसके समृद्ध साहित्य के नाम पर (अन्य भारतीय भाषाओं पर) अत्यंत भावोत्तेजित हो उठते हैं, कर्त्तव्य है कि स्पष्टतः प्रतिपादित करे कि हमारी भाषाएँ उच्चतम प्रौद्योगिकी विचारों को अभिव्यक्त करने में समर्थ और सक्षम है।

आगे इस बात पर बल देना चाहिए कि हम जब तक उच्च प्रौद्योगिकी आदि को अपनी भाषाओं द्वारा नहीं जान पाते तब तक हम नकलची और अनुगामी ही बने रहेंगे और कभी भी विज्ञान प्रौद्योगिक जगत में अपना स्थान बनाने के लिए शोध तथा नवीनीकरण करने मे समर्थ नहीं हो पाएँगे। जापान का उदाहरण एक निर्देशन है। जापानियों ने लगभग सौ साल पहले आधुनिक (पाश्चात्य) विज्ञान को अपने लोगों मे अपनी भाषा के माध्यम से प्रसारित करने का निश्चय किया। उसका परिणाम आज सारे विश्व के लिए दर्शनीय और स्पृहणीय है।

जो भी हो, यदि हम अपनी भाषाओं को उतना श्रेय नहीं देते हैं, तो हम एक खोए हुए लक्ष्य के लिए लड़ते रहेगे।

इस प्रश्न पर गांधी जी के कथन द्वारा अपनी बात समाप्त कर रहा हूँ —

"समस्त उच्च ज्ञान के क्षेत्रों में अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बना देने से थोड़े से उच्च शिक्षितों और असंख्य अशिक्षितों के बीच एक स्थायी दीवाल खड़ी हो गई है। इसने जनता मे ज्ञान के संचार को रोक दिया है। अंग्रेजी को अत्यधिक महत्व देने से शिक्षित वर्ग एक ऐसे भार से दबा हुआ है कि जीवन के लिए मानसिक दृष्टि से पंगु तथा अपने ही देश में अजनबी बन गया है।"

आगे,

"......लेकिन मैं ऐसा एक भी भारतीय नहीं चाहता, जो अपनी मातृभाषा को भुला दे, उसकी उपेक्षा करे अथवा उसके प्रति लज्जित हो, अथवा यह अनुभव करे कि वह अपनी भाषा में सोच नहीं सकता अथवा सर्वोत्तम विचारों को व्यक्त नहीं कर सकता। "

संदर्भ

[1] ए.आर. कामत, *डामिनेस एड डिपेडेस इन एजुकेशन एंड कल्चर* , मेनस्ट्रीम, एनुअल 1982, पृ॰ 63

[2] एच. शार्प, *सेलेक्शस फ्रॉम एजुकेशनल रेकर्ड्स, वाल्यूम 1*, भारत सरकार, 1913, मैकालेज मिनिट, पृष्ठ 107-117

[3] ए.आर. कामत, *डामिनेस एंड डिपेंडेस इन एजुकेशन एंड कल्चर* मेनस्ट्रीम, एनुअल 1982, पृ॰ 69

[4] *यूनिवर्सिटी एजुकेशन कमीशन की रिपोर्ट, वाल्यूम 1*, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार 1950

[5] जयप्रकाश नारायण द्वारा आमुख, *एजुकेशन फॉर अवर पीपुल* , शिक्षा के विकास (1978-87) के लिए नीति-प्रारूप, सिटिजन्स फॉर डिमोक्रेसी, एलाइड पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1978

[6] एच. शार्प, *सेलेक्शस फ्रॉम एजुकेशनल रेकर्ड्स, वाल्यूम 1*, भारत सरकार, 1913, मैकालेज़ मिनिट, पृष्ठ 115

[7] एच शार्प, *सेलेक्शस फ्रॉम एजुकेशनल* रेकर्ड्स, वाल्यूम 1, भारत सरकार, 1913, मैकालेज़ मिनिट, पृष्ठ 107-117

[8] आर के. यादव, *दि इडियन लैंग्वेज* प्राब्लम, ए कम्पेरेटिव स्टडी, नेशनल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली, 1966

[9] एजुकेशन फॉर अवर पीपुल, पृष्ठ 60

[10] संविधान सभा मे डिबेट, 7-8 दिसबर, 1948

[11] एजुकेशन फ़ॉर अवर पीपुल

[12] संविधान सभा की डिबेट, वाल्यूम IX, 7 दिसबर 1948

मनमोहन चौधरी

शैक्षिक माध्यम तथा प्रौद्योगिकी



मनमोहन चौधरी

मनमोहन चौधरी *(जन्म 1935) ने दिल्ली विश्वविद्यालय से भौतिकी मे डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की, संयुक्त राज्य आणविक ऊर्जा आयोग में पोस्ट डॉक्टोरल असोशिएट के रूप में काम किया, कानपुर के भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान के टेलीविज़न केन्द्र में सहायक प्रोफ़ेसर रहे, फिर राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के शिक्षण साधन विभाग के अध्यक्ष बने। आजकल परिषद् के केन्द्रीय शैक्षिक प्रौद्योगिकी संस्थान के संयुक्त निदेशक है। अपनी ऐटम्स नामक शैक्षिक फिल्म के लिए रजत कमल और रोम के कप से पुरस्कृत हुए। भौतिकी और संचार माध्यमों पर इनके अनेक शोध पत्र प्रकाशित हुए हैं और वैज्ञानिक विषयों पर कई वीडियो फिल्में इन्होंने बनाई हैं। इन्हें चित्रकला का शौक है और इनके चित्रों की भारत और अमरीका में कई प्रदर्शिनियां हो चुकी हैं।*

शैक्षिक माध्यम तथा प्रौद्योगिकी

शैक्षिक प्रौद्योगिकी पर लिखे गए भारत के कुछ[1,2,3] दस्तावेजों में तेजी से उभरते इस नए विषय की परिभाषा तथा क्षेत्रविस्तार का विश्लेषण किया गया है। लेकिन सामान्य रूप से इन दस्तावेजों में दो प्रकार की कमियाँ विद्यमान हैं। शैक्षिक प्रौद्योगिकी का संबंध वे लोग या तो हार्डवेयर, यंत्रों और जनसंचार माध्यमो से जोड़ते है अथवा इस परिभाषा का प्रयोग अलग थलग रूप में, समाज या देश की शैक्षिक समस्याओं से इसे जोडे बिना करते है। फलस्वरूप भारत में शैक्षिक प्रौद्योगिकी की योजना को अत्यंत सीमित दृष्टि से देखा गया है। इस निबंध में, आने वाले दशक के लिए भारतीय संदर्भ में शैक्षिक प्रौद्योगिकी के परिप्रेक्ष्य को प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है।

यह वाक्य प्रायः दुहराया जाता है कि *विज्ञान सार्वभौमिक होता है लेकिन प्रौद्योगिकी सार्वभौमिक नहीं होती।* इसको शैक्षिक प्रौद्योगिकी पर भी लागू किया जा सकता है। संभव है कि कुछ आधारभूत परिभाषाएँ और अवधारणाएँ सार्वभौमिक हों लेकिन शैक्षिक प्रौद्योगिकी की भूमिका को भारतीय संदर्भो की दृष्टि से व्यावहारिक होना होगा। ये संदर्भ हैं · देहाती, शहरी, सांस्कृतिक दृष्टि से संपन्न और नफासत वाले तथा गैर-नफासत वाले। इसलिए इस विषय के विश्लेषण के लिए निम्नांकित बातों की समझ आवश्यक है :

1. शैक्षिक प्रौद्योगिकी की अवधारणा जैसा कि आज उसे समझा जाता है। सांस्कृतिक विविधता तथा भाषायी भिन्नता वाले भारत को शैक्षिक प्रौद्योगिकी की किस अवधारणा की आवश्यकता है।
2. प्रशिक्षण, उत्पादन, प्रसार तथा पहुँच की दृष्टि से भारतीय संदर्भ में शिक्षा के प्रसार माध्यम का विश्लेषण।
3. भविष्य की जरूरतें तथा योजना।

शैक्षिक प्रौद्योगिकी की अवधारणा

हमारे देश में सातवे दशक के दौरान ''शैक्षिक प्रौद्योगिकी'' जैसी पदावली का प्रचलन शुरू हुआ था। अलग-अलग वैचारिक संप्रदायों द्वारा की गईं इसकी व्याख्याएँ और परिभाषाएँ भिन्न-भिन्न थीं। आरंभ में इसका अर्थ (या अनर्थ) किया गया : जटिल मशीने जिनसे बाजार भरा पड़ा था जैसे टेलिविजन, वीडियो तथा आडियो टेप रेकार्डर तथा संगणक। इस कारण लोगों ने यह मान लिया कि शैक्षिक प्रौद्योगिकी वर्तमान दृश्य-श्रव्य उपकरणों के लिए नया नाम गढ़ा

---

1. यू.एन डी पी. प्रोजेक्ट, *डॉक्यूमेंट ऑन सेंटर ऑफ एजुकेशनल टेक्नोलोजी,* भारत, 1973
2. *रिपोर्ट ऑन एजुकेशनल टेक्नोलोजी,* सी ई.टी.वर्कशॉप एट मैसूर, 1976
3. *रिपोर्ट ऑफ दि वर्किंग ग्रुप ऑन एजुकेशनल टेक्नोलोजी,* शिक्षा एवं समाज कल्याण मंत्रालय, 1978

गया है। इसके विपरीत कुछ विशेषज्ञों ने इस प्रसंग में प्रौद्योगिकी तथा प्रबंध क्षेत्र के शब्दों का प्रयोग किया, जैसे पद्धति विश्लेषण, मीडिया टैक्सोनोमी, हार्डवेयर, साफ्टवेयर या इसी प्रकार के दूसरे शब्द।

इस स्थिति में पहुंचकर दो शब्दों पर विचार कर लेना समीचीन होगा . 'शिक्षा' (एजुकेशन) और 'प्रौद्योगिकी' (टेकालोजी)। *आक्सफोर्ड यूनिवर्सल डिक्शनरी* मे *शिक्षा* की व्याख्या इस प्रकार की गई है .

(i) अधिगम प्रक्रिया, समझदार बनने की प्रक्रिया।
(ii) पालने-पोसने अथवा बड़े करने की प्रक्रिया।
(iii) व्यवस्थित शिक्षण।

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि शिक्षा का मुख्य सरोकार व्यक्ति के विकास के लिए शिक्षण, अधिगम तथा व्यवस्थित शिक्षा प्रदान करना है। इसी कोश में *प्रौद्योगिकी* की व्याख्या इस प्रकार की गई है :

(i) व्यवस्थित शोधन,
(ii) व्यावहारिक कलाओं का वैज्ञानिक अध्ययन,तथा
(iii) सामग्रियों को विकसित करने की प्रक्रिया,

इन दोनों मे जो बाते समान हैं, वे हैं *प्रक्रिया* तथा *व्यवस्थित शोधन।* एक बात मे यह शिक्षा पर लागू होती है और दूसरे में सामग्री पर। *व्यवस्था* (सिस्टम) एक ऐसा शब्द है जो आमतौर पर *औषधि विज्ञान* या *प्रौद्योगिकी* मे इस्तेमाल किया जाता है। इसका सामान्य अर्थ है, एक ऐसी जटिल समग्रता जहाँ एक दूसरे से संबद्ध वस्तुओं या उनके अंगों के समूह को इस तरह व्यवस्थित किया जाता है कि वे साथ-साथ काम कर सकें। मानव शरीर एक ऐसी समग्र व्यवस्था है जिसमें कुछ उप व्यवस्थाएँ (श्वास प्रणाली, पाचन प्रणाली, नाड़ी तंत्र तथा रक्त वाहिनियाँ) या उनके अलग-अलग अवयव मिलकर काम करते हैं।

शैक्षिक प्रौद्योगिकी की कुछ परिभाषाओं[4] को आम स्वीकृति मिली है तथा उनको काफी लोग उद्धृत भी करते हैं। यहाँ हम उन पर एक नजर डाल सकते हैं। उदाहरण स्वरूप संयुक्त राज्य अमरीका की राष्ट्रीय शैक्षिक प्रौद्योगिकी परिषद् ने 1971 में इसकी व्याख्या इन शब्दों में की थी : *खास तौर पर अपनी चार विशेषताओं के कारण इसको पहचाना जा सकता है; उन लक्ष्यों की परिभाषा जिन्हे सीखने वाला प्राप्त करना चाहता है; विश्लेषण में सीखने के सिद्धांतों का विनियोग तथा उस विषय वस्तु का खाका बनाना जिसे विद्यार्थी को सिखाना है, इस सामग्री को पेश करने के लिए उपयुक्त माध्यम का चुनाव; पाठ्यक्रम तथा पाठ्यसामग्री के मूल्यांकन के लिए छात्र की उपलब्धि के मूल्यांकन के लिए उपयुक्त पद्धति का इस्तेमाल।* इसमे यह भी कहा गया है कि *शैक्षिक प्रौद्योगिकी अपने विविध अवयवों का कुल योग मात्र नहीं है, यह उससे कुछ अधिक है। अधिगम और शिक्षण की समग्र प्रक्रिया को रूपाकार प्रदान करने, उसको कार्यरूप में परिणत करने और उसके मूल्यांकन का यह प्रणालीबद्ध तरीका है। यह मूल्यांकन मानवीय अधिगम तथा संप्रेषण पर किए गए अनुसंधान को आधार बनाकर निश्चित उद्देश्यों की उपलब्धि*

---

4. जे.डब्ल्यू.आर्म्से एवं नॉर्मन सी.डाल, *एन इनक्वायरी इंटू दि यूजेज़ ऑफ इंस्ट्रक्शनल टेक्नोलोजी,* ए रिपोर्ट, फोर्ड फाउडेशन, 1972

का आकलन करता है। शिक्षण को अधिक प्रभावशाली तरीके से संपन्न करने के लिए मानवीय तथा गैर-मानवीय संसाधनों को एक दूसरे से संबद्ध करता है। इस परिभाषा की व्यापक स्वीकृति तथा इसका व्यवहार भविष्य के लिए है।

यह वक्तव्य कि *'इसकी व्यापक स्वीकृति और इसका व्यवहार भविष्य के लिए है,* अधिक महत्वपूर्ण है।

इन वक्तव्यों के बावजूद शैक्षिक प्रौद्योगिकी के विषय में प्रचलित दृष्टिकोण यही है कि यह हार्डवेयर से संबद्ध है जिसका सर्वाधिक झुकाव संचार माध्यमों की ओर है। यह बात सिर्फ भारत के प्रसंग में ही सच नहीं है बल्कि यह धारणा अन्य कई विकासशील देशों मे भी प्रचलित है। शैक्षिक प्रौद्योगिकी की 'हार्डवेयर' तथा 'संचार माध्यम' वाली अवधारणा (या गलत धारणा) का नतीजा यह हुआ है कि इसके नाम पर ऐसी परियोजनाओं की कल्पना की गई है जिनके लिए अपार धनराशि की जरूरत होगी जिससे एक झटके में काफी जटिल व आधुनिक कलपुर्जे खरीदे या आयातित किए जायेंगे। ऐसा करते समय इसकी अन्य बातों की उपेक्षा की गई है, जैसे अधिगम संसाधनों के अनेक स्रोतों का उपयोग, इसकी प्रक्रिया से जुड़ी संगठन तथा प्रबंध विषयक अनेक बाते। बहुधा प्रौद्योगिकी के शोरगुल के बीच शिक्षा पीछे ही छूट जाती है[5]।

साफ है कि शैक्षिक प्रौद्योगिकी का सार तत्व यंत्र तथा कलपुर्जे नहीं हैं, वह इससे कुछ भिन्न और अधिक है। वस्तुतः कहना चाहिए कि *यह संगठन का एक तरीका है, या कहें कि सोचने का तरीका है — विविध सामग्रियों के विषय में, लोगों के विषय मे, संगठनों, ढाँचों और मनुष्य तथा यंत्र की प्रणालियों के विषय में। कोई समस्या सुलझाई जाए तो उसमें लगने वाला धन संभव है या नहीं, इसके परीक्षण पर भी यह लागू होती है। मूल रूप से इसका सरोकार विज्ञान, कला और मानव मूल्यों के बीच क्रिया प्रतिक्रिया से है[6]।*

एक अर्थ मे शैक्षिक प्रौद्योगिकी सदियों से अस्तित्व मे रही है यद्यपि उसके लिए इस पदावली का प्रयोग पहले नहीं होता था। इसका जन्म उस समय हुआ जब कहीं किसी समय किसी व्यक्ति ने अधिगम और शिक्षण के उद्देश्य का प्रश्न उठाया, साथ ही यह भी प्रश्न उठाया कि इसके उद्देश्य को किन साधनों और तरीकों से पाया जा सकता है। संभव है कि ये तरीके एकदम मौखिक रहे हों या पुस्तक और श्यामपट्ट तक सीमित रहे हों। चाहे जो भी हो, इनके बहाने वे अनजाने मे ही शैक्षिक प्रौद्योगिकी के विषय में बातें करते रहे हैं।

आज बो एरिक्सन[6] द्वारा दिया गया शैक्षिक प्रौद्योगिकी का वर्णन शैक्षिक प्रौद्योगिकी के विषय में अत्यंत व्यापक दृष्टि प्रस्तुत करता है :

> "अनुप्रयुक्त शिक्षा के दो महत्वपूर्ण क्षेत्र है......इन क्षेत्रों मे से एक क्षेत्र सामाजिक नियोजन का है और इसका सरोकार किसी समुदाय की समग्र शिक्षा व्यवस्था को गुणात्मक तथा संख्यात्मक दृष्टि से रूपाकार प्रदान करने से होता है......यानी इसी को हम शैक्षिक योजना का नाम देते हैं। दूसरा है शैक्षणिक प्रौद्योगिकी। इसी संदर्भ में शिक्षण की योजना और अधिगम स्थितियों की व्यवस्था करनी होती है.......शैक्षिक योजनाकारों द्वारा निर्मित सामाजिक उद्देश्यों, सिद्धांतों, आदि को हम सीखने वाले के व्यवहार मे बदलाव लाकर, उसे व्यावहारिक धरातल पर उतारते है। इन दोनों क्षेत्रों के उद्देश्यो तथा कार्यो को एक साथ मिलाने से *शैक्षिक प्रौद्योगिकी* का जन्म होता है।

5. *रिपोर्ट ऑफ दि टास्क फोर्स ऑन मास कम्यूनिकेशन एंड एजुकेशनल टेक्नोलोजी,* विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली, 1983

एरिक्सन के उपर्युक्त वर्णन से हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि शैक्षिक प्रौद्योगिकी का संबंध शिक्षा के हर पहलू से है। कोई भी इससे नतीजा निकाल सकता है कि ऊपर के विवरण मे निम्नांकित क्षेत्रों की बातें शामिल हैं :

1. अधिगम का मनोविज्ञान
2. प्रस्तुतीकरण की दृश्य-श्रव्य पद्धति
3. शैक्षिक योजना तथा संगठन
4. पाठ्यक्रम का विकास और पाठ्यसामग्री को डिज़ाइन करना
5. शिक्षण-अधिगम सामग्री का निर्माण
6. सूचना का भंडारण, उसमें सुधार-परिष्कार तथा उसका प्रसार
7. संसाधनों का आबंटन
8. शिक्षा में माध्यम की लागत तथा प्रभाविता
9. नवाचार की समस्याएँ।

व्यावहारिक समस्याओं को हल करने के तरीके के रूप में शैक्षिक व्यवहारों के हर स्तर पर शैक्षिक प्रौद्योगिकी का प्रयोग किया जा सकता है।

पी.डी.मिचेल[6] शैक्षिक प्रौद्योगिकी की बहुपक्षीय अवधारणा को मानते हैं तथा इसको पॉच आधारभूत अर्थों मे विभाजित करके इस पर विचार करते हैं। यद्यपि इन पाँचों अर्थों का अपना स्वतंत्र अर्थ भी हो सकता है लेकिन इनको एक दूसरे में मिलाने से शैक्षिक प्रौद्योगिकी का सारतत्व हमारे सामने आ जाता है। इस अवधारणा को थोड़ा विस्तार में समझने की आवश्यकता है :

(i) शैक्षिक मनोप्रौद्योगिकी

इसका संबंध छात्र की इंद्रिय संवेदना को विकसित करने से है। यह कार्य प्रत्यक्ष या प्रतीकात्मक तरीके से किया जा सकता है, शाब्दिक अथवा दृश्य-श्रव्य संप्रेषण की मदद से भी इसको किया जा सकता है। इसमे केन्द्र बिंदु है — छात्र के व्यवहार में परिवर्तन का उद्देश्य, जिसे पाना होता है।

(ii) शैक्षिक सूचना और संप्रेषण प्रौद्योगिकी

दूसरे अर्थ का संबंध समीप में या दूरी पर प्रसार के लिए शैक्षिक सामग्री और संप्रेषण सामग्री का खाका (पाठ्यक्रम) तैयार करने, उसको बनाने तथा उसके मूल्यांकन से संबंध रखती है। इस प्रकार शिक्षा के लिए सूचना एकत्र की जाती है, उसमे से उपयुक्त सूचनाओं को चुना जाता है, उसे संसाधित करके उसका भंडारण किया जाता है ताकि आवश्यकता पड़ने पर उसको उपलब्ध कराया जा सके।

(iii) शैक्षिक प्रबंध की प्रौद्योगिकी

शैक्षिक प्रौद्योगिकी के तीसरे पहलू का केन्द्र बिंदु शैक्षिक संसाधनों का प्रबंध है। इसका संबंध समस्या को हल करने की प्रक्रिया से है जिसके जरिए वांछित शैक्षिक परिणाम प्राप्त करने के लिए संसाधनों का वितरण किया जाता है। इसमें संसाधनों की व्यवस्था का काम

---

6. पी.डी मिचेल, *एजुकेशनल टेक्नोलोजी,* एनसाइक्लोपीडिया ऑफ एजुकेशनल मीडिया, कम्यूनिकेशंस एड टेक्नोलोजी, मैक्मिलन, 1977

भी शामिल है। संसाधनों के प्रबंध मे जो बातें शामिल है, वे इस प्रकार है : योजना, बजट बनाना तथा कार्यानुसंधान।

(iv) शैक्षिक पद्धति प्रौद्योगिकी

इस प्रकार की शैक्षिक प्रौद्योगिकी का मूल पक्ष शैक्षिक पद्धति अभियांत्रिकी है। पूरी शिक्षा पद्धति की योजना बनाना, उसका खाका तैयार करना, उसका निर्माण तथा मूल्यांकन करना इसके कार्य हैं। इसका सरोकार प्रशासनिक पद्धति, क्रिया पद्धति (यानी एक विभाग, संस्थान, या पत्राचार पाठ्यक्रम, रेडियो या टेलिविजन) या निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए और किसी विकल्प से है।

(v) शैक्षिक योजना प्रौद्योगिकी

शैक्षिक योजना (सर्वोच्च संस्थानिक स्तर या राष्ट्रीय स्तर पर) गतिविधियों का अंतिम क्षेत्र है जो शैक्षिक प्रौद्योगिकी को परिभाषित करता है। कोठारी आयोग[7] ने छठे दशक में भारत के लिए इस प्रकार की योजना की व्याख्या की थी तथा 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में वर्तमान समय में इस योजना पर काम किया जा रहा है[8]। ऊपर जिन सार संक्षेपों या टिप्पणियों की चर्चा की गई है, इनसे हमें क्या दिशा निर्देश प्राप्त होता है? संभवतः कोई नहीं, यदि हम इन परिभाषाओं और अवधारणाओं को अलग थलग करके इनका उपयोग करें तथा भारतीय संदर्भ में हम अपनी शिक्षा का प्रौद्योगिकीय ढाँचा विकसित न करें तो इसके सहारे हम कहीं नहीं पहुँच सकते हैं।

भारत एक विशाल देश है जिसमें संस्कृति, पर्यावरण और भाषा की अपार विविधता है। शिक्षा के ढाँचे में एकरूपता की कल्पना सिर्फ उच्च शिक्षा के स्तर पर की जा सकती है। साक्षरता, तथा प्राथमिक स्तर पर, शिक्षा के उद्देश्यों को राज्य या क्षेत्र की जनता की जरूरतों तथा उनके व्यवसाय के अनुकूल होना होगा। उनकी संस्कृति को समाप्त करना या उनको नागर बनाना शिक्षा का लक्ष्य नहीं होना चाहिए बल्कि इसका लक्ष्य उनकी विरासत की रक्षा करना, उसे विचारों तथा वैज्ञानिक तरीकों से और संपन्न करना होना चाहिए। इसलिए भारत में शैक्षिक प्रौद्योगिकी को ऐसी अवधारणा अपनानी होगी जो देश की शैक्षिक जरूरतों की व्यष्टि, समष्टि दोनों ही स्तर पर पूर्ति करेगी यानी जिला, राज्य और राष्ट्रीय स्तर पर। शैक्षिक प्रौद्योगिकी पर हम नीचे दी गई उप-प्रणालियों की दृष्टि से विचार करने की कोशिश कर सकते है :

(i) सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा भाषायी जरूरतों के आधार पर किसी समुदाय को पहचानना, उसकी आकांक्षाओं को समझना। *आडियंस प्रोफाइल प्रौद्योगिकी* के लिए प्रणाली तैयार करना।

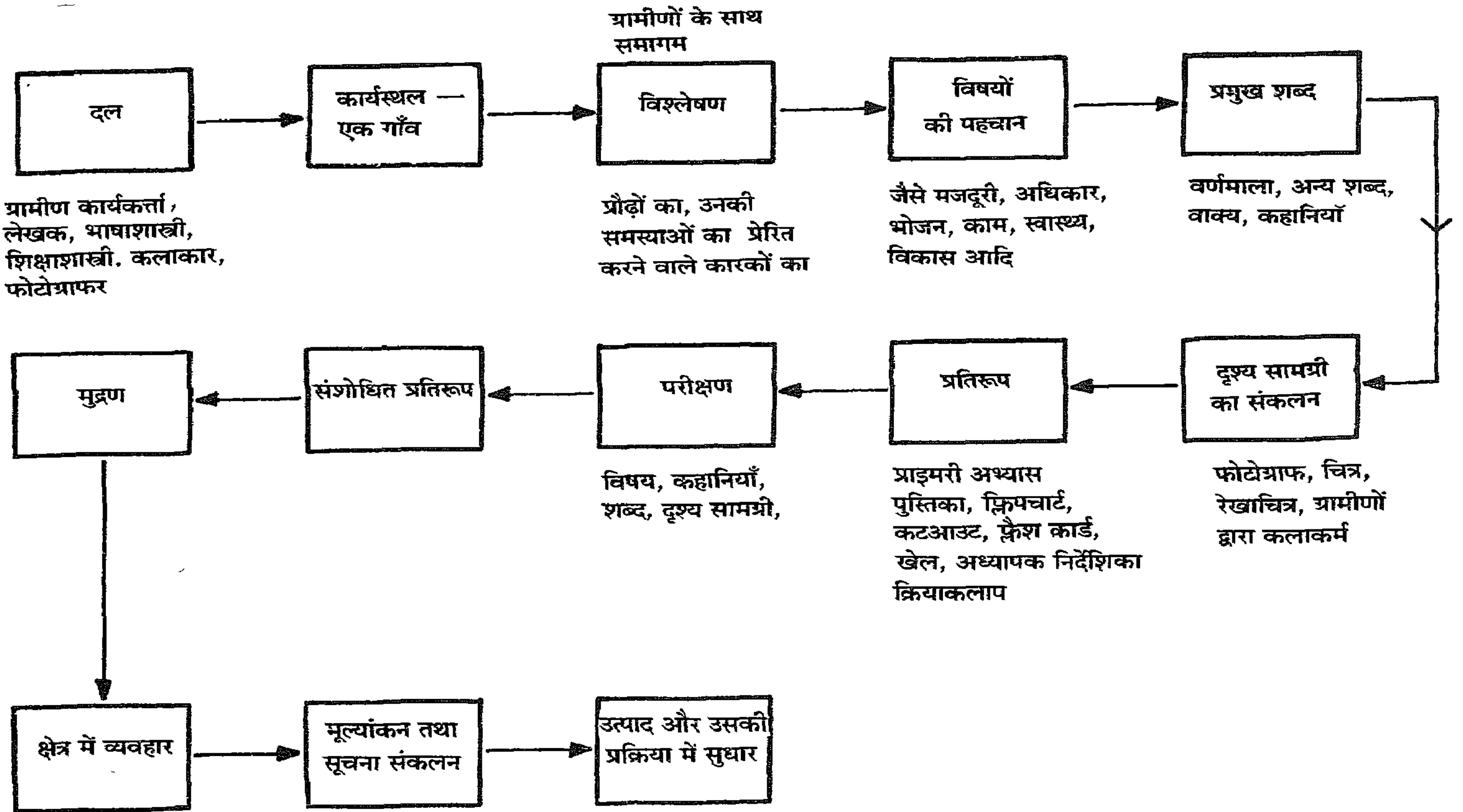
(ii) शिक्षा के अलग-अलग स्तरों पर (पूर्व-प्राथमिक, प्राथमिक, तथा आरंभिक आदि) अधिगम उद्देश्यों का विकास। *मनो सामाजिक प्रौद्योगिकी।*

(iii) भाषा, विज्ञान, कला तथा मानव मूल्यों की आपसी क्रिया प्रतिक्रिया के आधार पर पाठ्यक्रम का विकास। *पाठ्यक्रम प्रौद्योगिकी।*

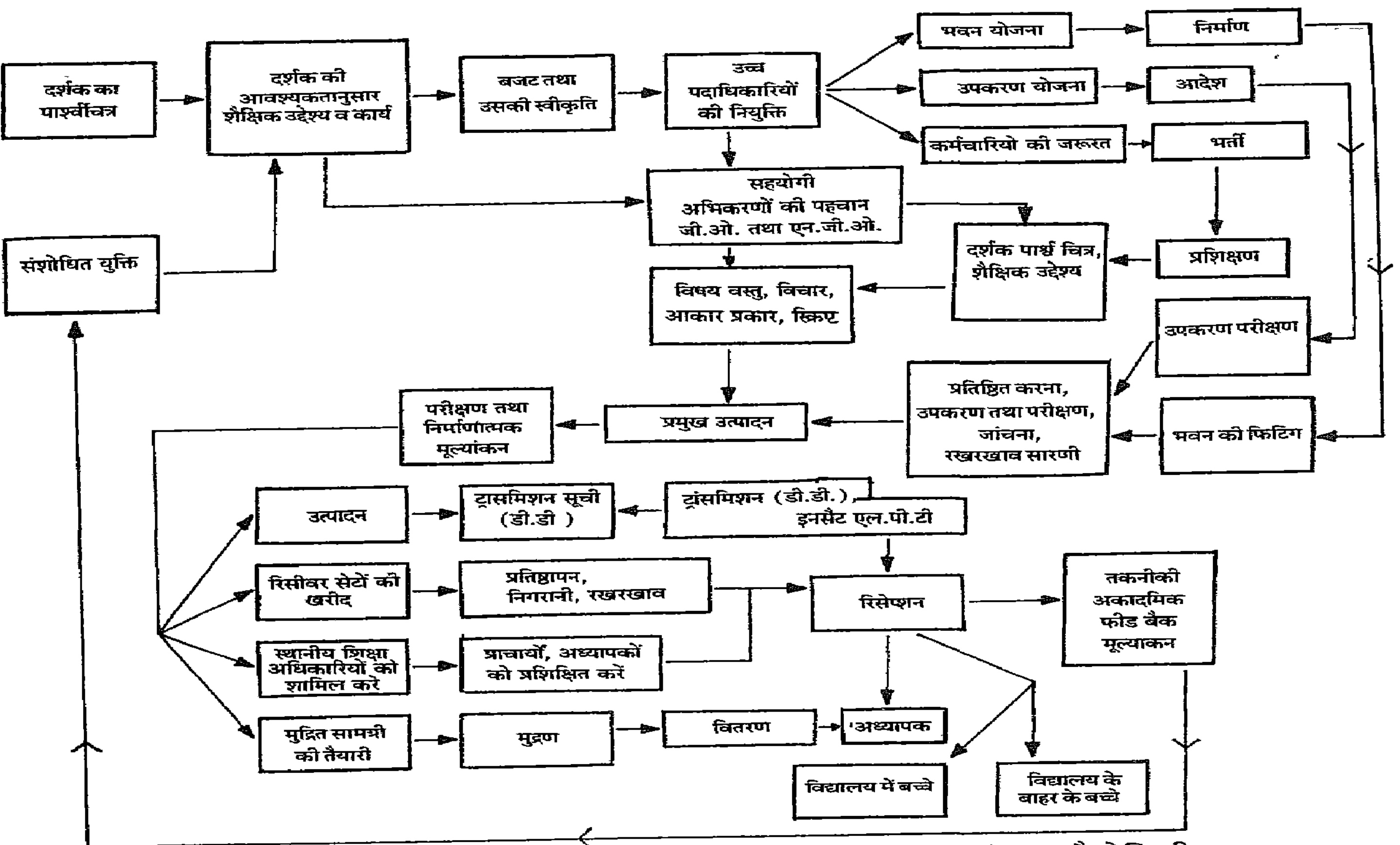
---

7. *रिपोर्ट ऑफ़ दि एजुकेशन कमीशन (1964-66)*, एजुकेशन एंड नेशनल डेवलपमेंट, शिक्षा मत्रालय, भारत सरकार, 1966

8 *नेशनल पॉलिसी ऑन एजुकेशन,* मानव संसाधन विकास मंत्रालय (शिक्षा विभाग), प्रकाशन संख्या 1539, नयी दिल्ली, 1986



चित्र - 2 **प्रौढ़ शिक्षा की सामग्री की उत्पादन पद्धति का खाका**



चित्र - 3 **गाँव के बच्चों और अध्यापकों के लिए प्रसारण द्वारा सुदूर शिक्षा प्रौद्योगिकी**

से हो रहा हो, जिसमें दो तिहाई आबादी अभी भी निरक्षर हो, साठ प्रतिशत बच्चे अपनी विद्यालयी शिक्षा पूरी न कर बीच में छोड़कर चले जाते हों, आदि, न केवल अध्यापकों की गुणवत्ता में सुधार के बारे में सोचना महत्वपूर्ण बन जाता है बल्कि शिक्षा की पहुँच के विषय में सोचना भी महत्व का विषय हो जाता है। जहाँ पर शिक्षक तथा छात्र के बीच सीधा संपर्क हो वहाँ सीधी सादी तथा प्रत्यक्ष अधिगम सामग्री महत्व की है और जहाँ पर स्थितियाँ दिक्कत पैदा करने वाली हैं, वहाँ रेडियो तथा टेलिविजन के जरिए होने वाला प्रसारण महत्वपूर्ण बन जाता है।

मोटे तौर पर निम्नलिखित तरीके से शैक्षिक माध्यम का वर्गीकरण किया जा सकता है :

(*i*) *यंत्रेतर उपाय :* जैसे चार्ट, नक्शे, ग्लोब, कट आउट, फ्लैश कार्ड, मॉडल, खिलौने, पहेलियाँ तथा खेल।
(*ii*) *यंत्र चालित उपाय :* फिल्म के टुकड़े, स्लाइडें, ओ.एच.पी., ट्रांसपेरेसियाँ, दृश्य-श्रव्य कैसेट और फिल्म।.
(*iii*) *प्रसारण :* रेडियो और टेलिविज़न।

इस बात को समझना महत्वपूर्ण है कि विश्व पैमाने पर विद्यालयों में अध्यापन कार्य अध्यापक, पुस्तक, श्यामपट्ट तथा अन्य सामान्य सहायक सामग्री की मदद से निपटाया जाता है। यहाँ तक कि आज भी इसका कोई स्थानापन्न नज़र नहीं आता है। प्राथमिक तथा प्रारंभिक पाठशालाओं में खिलौनों, खेलों तथा पहेलियों की भूमिका कोई यंत्र नहीं निभा सकता है।

शैक्षिक माध्यम के निम्नलिखित प्रमुख तत्व हैं जिनको सावधानी से नियोजित और विकसित करना चाहिए :

(अ) साफ्टवेयर का उत्पादन
(ब) साफ्टवेयर उत्पादन का प्रशिक्षण
(स) प्रचार प्रसार (पुनरुत्पादन, वितरण, बिक्री और आपूर्ति)
(द) माध्यम की उपलब्धता तथा उस तक पहुँच
(य) माध्यम के इस्तेमाल के लिए अध्यापक-प्रशिक्षण

शिक्षा में माध्यम के इस्तेमाल की संभावना तभी बन सकती है जब यह किसी जरूरत को पूरा करता हो, गुणवत्ता की दृष्टि से उच्च कोटि का हो तथा सीखने वालों की अध्यापक के जरिए या सीधे ही उस तक पहुँच हो।

साफ्टवेयर का उत्पादन

लक्षित श्रोताओं तक पहुँचने के निमित्त, शैक्षिक माध्यम के साफ्टवेयर उत्पादन के लिए जिन बातों की आवश्यकता होगी, वे है, विषय ज्ञान के साथ माध्यम की उत्पादन तकनीक तथा संप्रेषण की रणनीति का ज्ञान। किसी पुस्तक से किसी बड़े कागज पर चित्र उतारना इस बात को सुनिश्चित नहीं करता कि वास्तव में वह एक अच्छा चार्ट है और न किसी पुस्तक के एक अध्याय को टेप या वीडियो में उतारना इस बात को दर्शाता है कि उसने अच्छा टेप तैयार किया है या वीडियो रील तैयार की है। माध्यम (चाहे वह मुद्रित सामग्री हो या इलेक्ट्रॉनिक यंत्र) संप्रेषण के लिए एक उपकरण भर है जिसके उत्पादन से पहले कुछ मूल प्रश्नों के उत्तर की समझ आवश्यक होती है। वे इस प्रकार हैं :

(i) किसके लिए संप्रेषण है?
(ii) आवश्यकता किस प्रकार की है?
(iii) उद्देश्य क्या हैं?
(iv) पिछले अनुभव क्या हैं?
(v) साधन तथा माध्यम क्या हैं?
(vi) संप्रेषण करने वाला कौन है?
(vii) उसने कितनी तैयारी पहले से कर रखी है?
(viii) उसका संगठनात्मक/प्रशासनिक ढाँचा किस तरह का है?
(ix) गुणवत्ता वाली सामग्री के उत्पादन के लिए समय और धन की दृष्टि से क्या लक्ष्य संभव है?

यह प्रश्नों की कोई विस्तृत सूची नहीं है बल्कि इस प्रसंग में उठने वाले प्रश्नों के कुछ नमूने हैं। सामान्य तथा जटिल दोनों प्रकार के माध्यमों के लिए साफ्टवेयर विकसित करने में इनके उत्तर में हमें गहरी समझदारी मिलेगी। यहाँ तक कि बहुधा जब हम इन सवालों के उत्तर देते भी हैं तो हमें पता चलता है कि माध्यम की आवश्यकताओं और नवाचारों की जरूरत के अनुसार संगठनात्मक और प्रशासनिक ढाँचा नहीं बदलता है। सरकार के वर्षों पुराने नियम-उपनियम माध्यम की रचनात्मकता और उत्पादकता का गला घोंटते चले आ रहे हैं।

निम्नांकित में से कोई एक या एक से अधिक संप्रेषण के उद्देश्य हो सकते हैं :

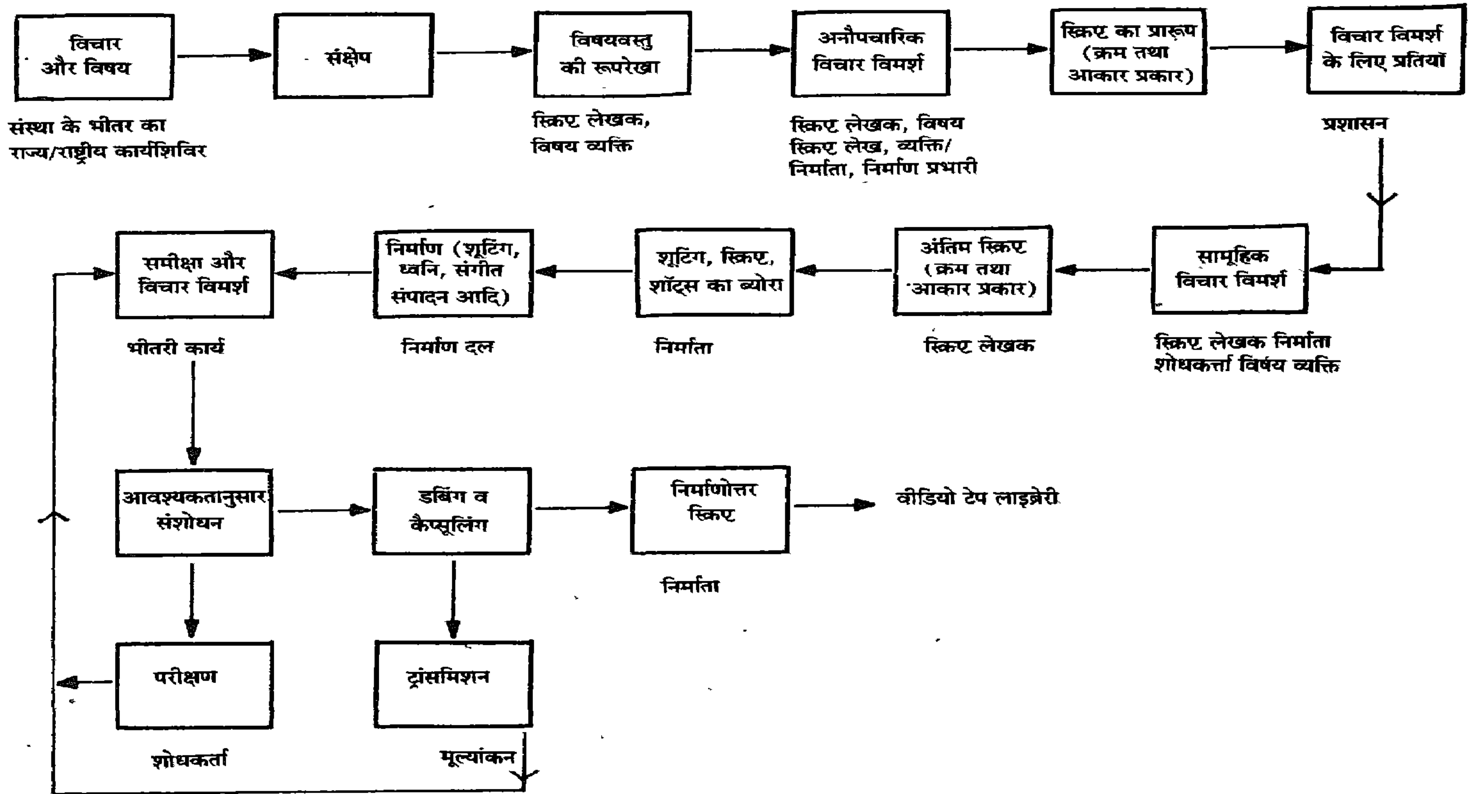
(i) मनोरंजन प्रदान करना
(ii) सूचना प्रदान करना
(iii) दक्षता प्रदान करना
(iv) व्यवस्थित ज्ञान या अवधारण प्रस्तुत करना
(v) समस्याओं से ज्ञान का संबंध स्थापित करना
(vi) सोचने के लिए कुरेदना, जिज्ञासा पैदा करना
(vii) रचनात्मकता तथा कल्पना शक्ति जगाना
(viii) समस्या के समाधान के लिए सक्रिय होने की प्रेरणा प्रदान करना
(ix) व्यवहार और रुख में बदलाव लाना
(x) परिवर्तन लाना

संप्रेषण के उद्देश्यों को ऊपर जिस क्रम में रखा गया है, उसका निहितार्थ यह भी है कि मनोरंजन करना सूचना प्रदान करने की तुलना में सरल होता है, इसी प्रकार दक्षता प्रदान करने से सूचना प्रदान करना आसान काम है, यह क्रम यों ही आगे बढ़ता चलता है। कल्पना शक्ति जगाना काफी चुनौती भरा कार्य है और समाज में परिवर्तन लाना तो बहुत कठिन और जटिल कार्य है। हमारी शिक्षा व्यवस्था का अधिकांश हिस्सा दूसरे, तीसरे और चौथे उद्देश्य के लिए कार्य करता है, और कहना चाहिए कि वह यहीं पर आकर के रुक जाता है। माध्यम का उद्देश्य इस चौथी अवस्था से काफी आगे पहुँचने का होना चाहिए, वह भी अत्यंत मनोरंजक और आकर्षक तरीके से। हम केवल दीर्घ अवधि के दौरान रुख में परिवर्तन की उम्मीद कर सकते हैं। प्रभावी माध्यम संप्रेषण एक दीर्घकालीन प्रक्रिया है तथा लक्षित श्रोता और माध्यम के लिए रचना तैयार करने में अंतर्दृष्टि की आवश्यकता पड़ती है।

शैक्षिक माध्यम में सभी कार्यों का मूलाधार रचना (स्क्रिप्ट) होती है। इसमें वे विचार शामिल हैं जिनको अत्यंत रोचक तरीके से किसी माध्यम पर प्रस्तुत किया जाना है। इसमें कोई शक नहीं है कि रेडियो कार्यक्रम के लिए जो रचना लिखी जायेगी वह टेलिविज़न के लिए लिखी गई रचना से भिन्न होगी। किसी भी माध्यम के लिए रचना लिखने के वास्ते माध्यम की क्षमता, उसके निर्माण की अवस्थाओं तथा प्रक्रियाओं की प्रौढ़ समझ होनी चाहिए। हमारे देश में प्राय: कार्यशालाएँ आयोजित की जाती हैं जहाँ तरह तरह के लेखकों को ऐसे माध्यम के लिए रचना तैयार करने को कहा जाता है जिस माध्यम के बारे में उनकी जानकारी बहुत ही थोड़ी होती है। यहाँ तक कि बिना अच्छे किस्म की शैक्षिक सामग्री जैसे मानचित्र, श्रव्य टेप, स्लाइड या वीडियो टेप का अवलोकन किए उनको कुछ 'पाठ्यपुस्तकीय भाषणों' के सहारे रचना लिखने, मानचित्र अथवा चित्र बनाने तथा फोटो खींचने का अभ्यास कराया जाता है। दस दिनों के बाद ढेरों मानचित्रों, चित्रों तथा तैयार की गई रचनाओं के बंडल प्रशिक्षण की गुणवत्ता और रचनात्मक के विषय में काफी गलत प्रभाव उत्पन्न करते हैं क्योंकि इस सामग्री की तैयारी में पृष्ठ 12 पर दी गई प्रश्नावली का परिप्रेक्ष्य गायब होता है। यह सामग्री बहुत कम ही वांछित स्तर की होती है जिसका तैयार करने वाले के अतिरिक्त कोई दूसरा अध्यापक उपयोग करना चाहेगा। शैक्षिक रचना को तैयार करने की समस्या, मात्र सही सूचना प्रदान करने का सवाल नहीं है। यह तो जरूरी है ही लेकिन इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बातें हैं, जैसे प्रस्तुतीकरण की पद्धति, श्रव्य उपकरणों तथा शब्दों के बीच का सामंजस्य, उनका क्रम तथा पारस्परिक संबंध आदि। बहुधा एक अच्छी रचना (स्क्रिप्ट) का जन्म अध्यापकों तथा विशेषज्ञों के बीच परस्पर प्रश्नोत्तर, पुनरीक्षण और तीन चार प्रारूप तैयार करने के बाद होता है। रचना को तैयार करने की इस प्रकार की एक पद्धति चित्र सं. 4 के मानचित्र में दर्शायी गई है।

साफ्टवेयर उत्पादन प्रशिक्षण

विभिन्न स्तरों पर यह भ्रांत धारणा प्रचलित है कि शैक्षिक माध्यम के उत्पादन का काम कलाकार, फोटोग्राफर, तथा कैमरा वाले, ध्वनि रेकार्ड करने वाले कर सकते हैं और अब तो इस काम को वीडियो की फिल्म बनाने तथा उसका संपादन करने वाले भी कर सकते हैं। बिना और किसी की मदद के कलाकारों से अच्छे चार्ट बनाने तथा कैमरा मैन से अच्छी फिल्म बनाने की उम्मीद की जाती थी। कुछ दूसरे लोग सोचते हैं कि एक अच्छे अध्यापक के सामने वीडियो कैमरे का मुँह घुमाने भर से एक अच्छा टेलिविज़न कार्यक्रम बन सकता है। इस तरह का गैर व्यावसायिक दृष्टिकोण प्रचलित है क्योंकि उनकी निगाह में माध्यम में संप्रेषण का कार्य विविध विषयों के लोग अलग-अलग तरीके से करते हैं। इसके विपरीत माध्यम द्वारा किया जाने वाला एक अच्छा संप्रेषण अंतर्विषयी जानकारी की मॉग करता है। इसमें एक सामूहिक प्रयास की आवश्यकता होती है, वह एक ऐसे आदमी के नेतृत्व में किया जाता है जिसे इसके उत्पादन के हर तत्व की थोड़ी बहुत समझ तथा जानकारी होती है। सत्यजित राय के चलचित्र तथा वीडियो चित्र इसीलिए सर्वोत्कृष्ट होते हैं कि वह अपनी कला की रग-रग से परिचित है। इसके साथ साथ मानव व्यवहार के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्वों के प्रति वे संवेदनशील हैं तथा अपनी कला में उसका किस प्रकार रचनात्मक उपयोग किया जाए इसे भी वे अच्छी तरह जानते हैं। भारत में ऐसे शैक्षिक माध्यम के निर्माताओं/निर्देशकों की संख्या अंगुलियों पर गिनने लायक है जिनकी शैक्षिक प्रौढ़ता तथा अभिरुचि अपने विषय से आगे बढ़ कर ग्राफिक्स, फोटोग्राफी, ध्वनि, नृत्य, संगीत, फिल्म और साहित्य की परिधि को छूती हो। इस शून्य को भरा जा सकता है बशर्ते कि



चित्र - 4 इनसैट परियोजना में शैक्षिक टेलीविजन कार्यक्रम निर्माण की अवस्थाओं को प्रदर्शित करने वाला मानचित्र

जो प्रतिभाशाली नवयुवक और नवयुवतियाँ विज्ञापन की तरफ आकृष्ट हो रहे हैं, उनको शैक्षिक माध्यमों की ओर खींचा जाए तथा उनको प्रशिक्षण की सुविधाएँ दी जाएँ। इस क्षेत्र में उनको बनाए रखने के लिए रोजगार के समान अवसरों की व्यवस्था भी आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए विश्वविद्यालयों को शैक्षिक संप्रेषण तथा प्रौद्योगिकी पर पाठ्यक्रम आरंभ करना चाहिए जिसमें प्रयोगात्मक कार्यों तथा प्रकल्पात्मक कार्यों के लिए पर्याप्त अवसर और अवकाश की व्यवस्था हो। इस पाठ्यक्रम में आवश्यक तत्वों को शामिल किया जा सकता है, और इनके पढ़ने की व्यवस्था नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ डिज़ाइन, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, तथा जामिया मिल्लिया के संचार माध्यम अनुसंधान केन्द्र में की जा सकती है। इसके बाद साफ्टवेयर उत्पादन कार्य में प्रशिक्षण उन लोगों द्वारा दिया जाना चाहिए जिनको माध्यम में उत्पादन कार्य का अनुभव हो तथा उनके द्वारा भी जो शिक्षा के क्षेत्र में काम कर रहे हों। माध्यम के विस्तार के साथ, स्नातक उपाधि ग्रहण करने के बाद के लिए दो वर्षीय पाठ्यक्रम आयोजित किए जाने चाहिए, एक वर्षीय डिप्लोमा पाठ्यक्रम तथा विशेष विषयों के लिए अल्पकालिक डिप्लोमा प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों के आयोजन की भी व्यवस्था होनी चाहिए। वीडियो के बहुत से पाठ्यक्रमों को 1/2 प्रौद्योगिकी पर सिखाया जा सकता है, वैसे ही जैसे अच्छी फोटोग्राफी के आधारभूत तत्वों की शिक्षा "हाट शाट" या बाक्स कैमरे से दी जा सकती है।

प्रचार प्रसार (डुप्लीकेशन, वितरण तथा प्रसारण)

जब तक मानव शक्ति तथा सुविधाओं का विकास नहीं हो पाता गुणात्मक रूप से बेहतर शैक्षिक माध्यम के लिए साफ्टवेयर का विकास संभव नहीं होगा और जब तक इसका विकास नहीं होगा तब तक ऐसे उत्पादन की संभावना कम ही है जो बहुसंख्यक छात्रों और अध्यापकों तक पहुँच सके। चूंकि संस्कृति और भाषाओं में विविधता बहुत अधिक है इसलिए जो साफ्टवेयर राष्ट्रीय स्तर पर तैयार किया जायेगा, वह सबके लिए सार्थक नहीं होगा। यदि इसके पाठ का रूप लिखित है, जैसा कि स्लाइड या चार्ट में होता है अथवा बोले गए शब्दों में है जैसा दृश्य-श्रव्य या श्रव्य कैसेट में रहता है, तो माध्यम में क्षेत्र विशेष की भाषा को शामिल करना आवश्यक है। यदि कार्यक्रम मे बीच बीच में टिप्पणी तथा व्याख्या को शामिल किया गया है तो वीडियो अथवा फिल्म मे डबिंग संभव है। यदि उसमें कथोपकथन या बातचीत है तो इसको डब करने में दिक्कत होगी, इससे संप्रेषण में समस्याएँ पैदा होती हैं। इसलिए राज्य तथा क्षेत्र स्तर पर शैक्षिक माध्यम के निर्माण केन्द्रों की स्थापना करनी ही पड़ेगी। तभी बड़े पैमाने पर इसका प्रसार संभव होगा। इस समय उचित दर पर पर्याप्त संख्या मे उच्चकोटि की स्लाइडों के डुप्लीकेशन और ओ.एच.पी. ट्रांसपेरेंसियों, दृश्य श्रव्य कैसेटों आदि के डुप्लीकेशन की देश में समुचित यांत्रिक सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं। जो सुविधाएँ आज फोटोग्राफी और फिल्म में उपलब्ध हैं, एक बार यदि यही सुविधाएँ दूसरे विषयों में देश मे बन जाएँ तो लंबे पैमाने पर वितरण के लिए बिक्री तथा आपूर्ति का कार्य निजी क्षेत्र को सँभालना होगा।

माध्यम तक पहुँच

रेडियो तथा टेलिविज़न ने माध्यम तक पहुँचने के लिए नई संभावनाओं का मार्ग प्रशस्त किया है। यह कार्य अब एफ.एम., सैटेलाइट से प्राप्त प्रसारण सुविधाओं (इनसैट-1बी, 1-सी, 2) तथा माइक्रोवेव ट्रांसमिशन के जरिए संभव हुआ है। शैक्षिक साफ्टवेयर निर्माण की क्षमताओं, मानव शक्ति विकास अथवा रेडियो टेलिविजन तक समुदाय की व्यवस्था की तुलना

में ट्रांसमिशन प्रौद्योगिकी और तत्संबंधी सुविधाएँ काफी अधिक विकसित अवस्था मे हैं। प्रसारण के व्यापक प्रसार के बावजूद दो बातों का उल्लेख जरूरी लगता है। पहली बात यह है कि रेडियो की पूरी क्षमता का उपयोग अभी भी किया जाना है (जिसकी कीमत कुछ सौ रुपये हो तथा जिसे एक साधारण बैटरी से चलाया जा सके)। एक बार यदि स्थानीय एफ.एम.स्टेशन बन जायें यानी, सातवीं पंचवर्षीय योजना मे प्रत्येक जिले में एक, तो इसका शैक्षिक उपयोग बड़े पैमाने पर किया जा सकेगा। सार्थक साफ्टवेयर की निर्माण-क्षमता (क्षेत्रीय स्तर पर) इसकी बाधा होगी। दूसरी बात है, अध्यापकों, बच्चों, वयस्कों, नवयुवकों आदि के लिए साफ्टवेयर का स्वरूप। पाठ्यक्रम सामग्री तथा उसको संपन्न बनाने, प्रसारण के जरिये क्या दिया जा सकता है और क्या गैर प्रसारण माध्यमों से सिखाया जा सकता है, इनके बीच सावधानी से चुनाव करना होगा। यह भी देखना होगा कि कौन सी सामग्री दोनों दृष्टियों से उपयोगी है। किसी विद्यालय या समुदाय के बच्चों की रेडियो या टेलिविजन तक पहुँच की व्यवस्था कैसे की जाए? टेलिविजन तथा रेडियो के सेटों की रखवाली कौन करेगा, इन उपकरणों को कौन चलायेगा, रखरखाव कौन करेगा? वर्तमान व्यवस्था का कोई न कोई विकल्प खोजा जाना चाहिए ताकि किसी एक ही अभिकरण को विकेन्द्रीकृत तरीके से इन तक पहुँच के लिए जिम्मेदार बनाया जा सके। विभिन्न सैटेलाइटों में अलग-अलग प्रेषग्राहियों (एस. और सी.बैंड) के जरिए प्रसारण प्रौद्योगिकी, ऊपर जितनी चीजों की चर्चा की गई है उन सबको आवश्यक समर्थन प्रदान कर सकती है। शिक्षा के लिए एक पृथक चैनल की कल्पना की जा सकती है, यहाँ तक कि एक पृथक सैटेलाइट के बारे में भी सोचा जा सकता है जो अततः *शैक्षिक प्रसारण सेवा* का रूप ग्रहण कर लेगा।

श्रव्य कैसेट तथा आध इंच वाले वीडियो कैसेट से शिक्षा मे निश्चय ही गैर प्रसारणीय प्रणाली का द्वार खुलेगा, विशेष रूप से शिक्षण प्रशिक्षण कार्यक्रमों में तथा खुला विद्यालय/विश्वविद्यालय के लिए। निश्चित विषयों में साफ्टवेयर को श्रृंखलाओं के रूप में तैयार करने की आवश्यकता होगी। यदि इस समय विद्यालयों को बड़े पैमाने पर वी.सी.आर. उपलब्ध कराने की कोशिशें की जाएँ तो इसके जो खतरे होंगे वे इस प्रकार है : (अ) यंत्र का दुरुपयोग किया जा सकता है, (ब) रखरखाव ठीक से नहीं होगा, (स) बहुमूल्य विदेशी मुद्रा से हाथ धोना पड़ेगा। वी.सी.आर. और टेलिविज़न के ऊपर विद्यालयों में जो धन व्यय किया जायेगा (लगभग बीस हजार रुपये) उसको पुस्तकों के लिए, साइंस किट खरीदने के लिए तथा गहन शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों में विद्यालय में खर्च किया जा सकता है या अधिक लोगों तक पहुँचने वाले रेडियो जैसे माध्यम में भी लगाया जा सकता है।

दिल्ली के विद्यालयों के टेलिविज़न सेटों का एक सर्वेक्षण[12] किया गया है। इस सर्वेक्षण में यह दिखाया गया है कि किसी भी समय इनमें से 75% से अधिक टी.वी.सेट काम करने की दृष्टि से ठीक हालत में नहीं होते है। इनमे से भी करीब 38% सेटों को ही विद्यार्थियों को देखने के लिए चलाया जाता है। गुजरात प्रांत में चलाई गई खेड़ा परियोजना पूरी हो चुकी है लेकिन इस क्षेत्र में काम की हालत में पाये जाने वाले सेटों की संख्या कुल सेटों के 50-60% के बीच ही पाई गई है। छः इनसैट राज्यों (उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र और गुजरात) से जो आँकड़े मिले हैं, वे सूचित करते हैं; काम की हालत में प्रत्यक्ष रिसेप्शन सेटों की संख्या 20% से अधिक नहीं हो सकती है। रेडियो अथवा टेलिविज़न सेट उपलब्ध कराना बहुत आसान है लेकिन किसी विद्यालय अथवा समुदाय मे इसे चालू हालत में बनाए रखना काफी दिक्कत का काम है। इसका संचालन, रखरखाव और उपयोग अधिकांशतः उस स्तर पर

---

12. *स्टडी इंटू यूटिलाइज़ेशन एंड काम्प्रीहेंसिबिलिटी ऑफ स्कूल टेलिविजन इन देहली*, ए रिपोर्ट, सी.ई.टी , 1980

शिक्षा पद्धति के आधारिक ढाँचे पर निर्भर करता है और साथ ही शिक्षक के व्यक्तिगत रुख से भी यह जुड़ा है। यदि किसी विद्यालय के पास भवन नहीं है, श्यामपट्ट नहीं है, फर्नीचर नहीं है या पर्याप्त अध्यापक नहीं हैं तो रेडियो, टेलिविज़न अथवा वी.सी.आर. किसी न किसी कारण से अवश्य खराब हो जायेगा। देश के पब्लिक स्कूलों अथवा केन्द्रीय विद्यालयों की ही फिलहाल संगणक, वी.सी.आर., फिल्म तथा स्लाइड प्रोजेक्टर तक पहुँच तथा उपलब्धता संभव है। शिक्षक प्रशिक्षण के कुछ संस्थानों में, कुछ विश्वविद्यालयों के शिक्षा विभागों में यह संभव हो सकता है। शेष विद्यालयों के लिए तो अभी पुस्तकालय, विज्ञान किट और सामान्य सहायक सामग्री जैसी चीजें भी सुदूर की कल्पना है।

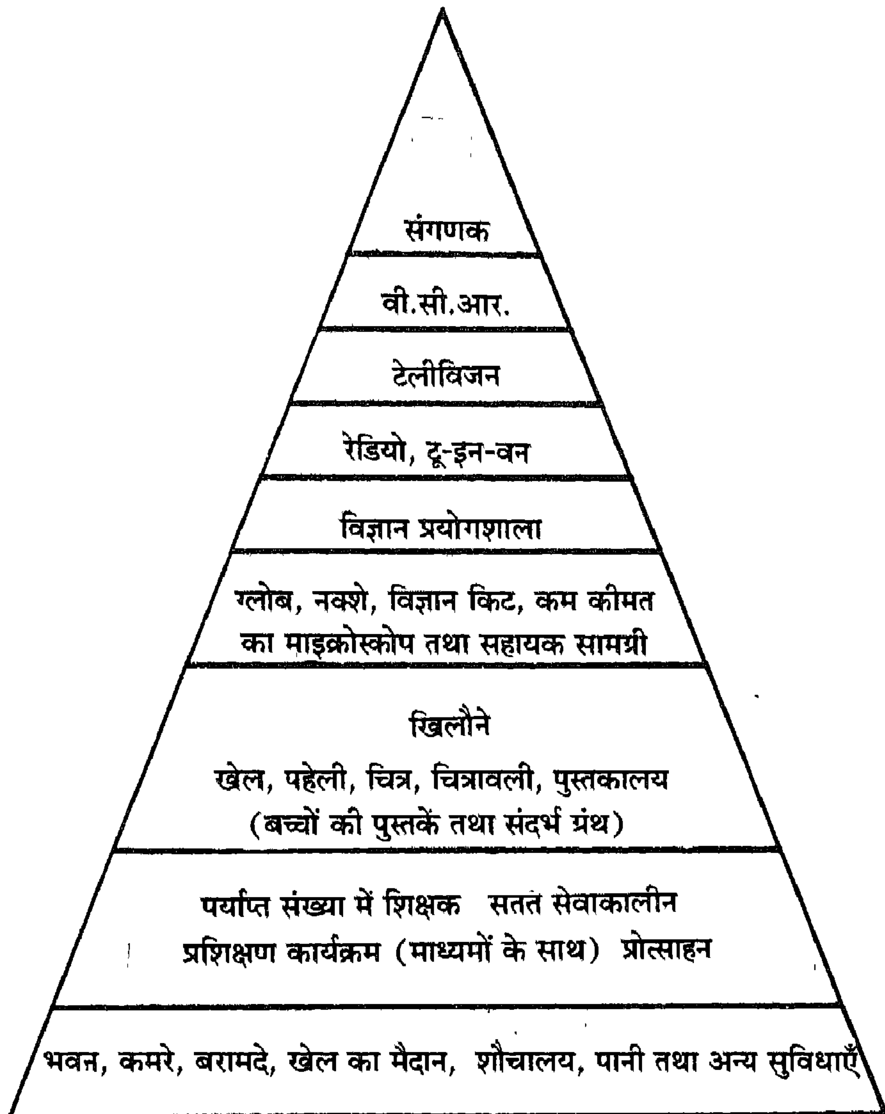
इस लेखक के विचार से अच्छे शिक्षण के लिए विद्यालयों में आधार भूत सुविधाएँ मिलनी चाहिए जैसे खिलौने, खेल और साधारण सामग्री तथा साथ में गहन सेवाकालीन शिक्षकों का प्रशिक्षण जिसमें माध्यम का इस्तेमाल बताया जाए। चित्र 5 में त्रिभुज के रूप में यह दिखाया गया है कि एक प्रारंभिक पाठशाला मे अन्य आधारभूत सुविधाओं के संदर्भ में माध्यम की जगह तथा प्राथमिकता क्या होनी चाहिए। इस त्रिभुज को इसके आधार के कारण स्थिरता मिलती है। इस नींव के सुदृढ़ होने के बाद ही शिक्षा की गुणवत्ता को सुधारने मे यंत्रों की प्रभावकारी भूमिका हो सकती है, इसके अभाव में यांत्रिक सुविधाएँ प्रभावहीन हो जाती हैं।

अध्यापकों की अनवरत सेवाकालीन शिक्षा

जनसंख्या विस्फोट से भी बड़ा प्रश्न ज्ञान के विस्फोट का है। पिछले तीन दशकों से ज्ञान प्रत्येक आठ या दस वर्षों में दुगना बढ़ता चला जा रहा है। इसका अर्थ यह है कि हम सब लोग और अध्यापक भी पद्रह सोलह साल के दौरान ज्ञान तथा अवधारणा के लिहाज से पुराने पड़ जायेंगे या अध्यापक अपने जीवन के तीसरे दशक तक पहुँचते-पहुँचते ज्ञान में पिछड़ जायेगा। इसलिए किसी भी स्तर पर शिक्षण के स्तर में गिरावट को रोकने के लिए और विशेष रूप से हाईस्कूल के स्तर पर रोकने के लिए अध्यापकों के लिए अनवरत सेवाकालीन शिक्षा की आवश्यकता होगी, साथ ही बढ़ते हुए ज्ञान को प्राप्त करने के लिए उसे पर्याप्त प्रोत्साहन भी देना होगा। विज्ञान तथा गणित में इस सुदृढ़ीकरण की अधिक आवश्यकता पड़ेगी।

हमारे देश में बच्चों, अध्यापकों और विद्यालयों की संख्या बहुत बड़ी है, हमारे मन को परेशानी में डालने वाली है। 1982 में देश में 53 हजार माध्यमिक विद्यालय थे और इनमे काम करने वाले अध्यापकों की संख्या नौ लाख 42 हजार थी। कोई भी कल्पना कर सकता है कि 1985 मे आकर माध्यमिक विद्यालयों की संख्या 55 हजार के आसपास पहुँच गई होगी और अध्यापक होंगे 10 लाख से भी अधिक। एक झटके में इन सबको प्रशिक्षण कार्यक्रम में प्रशिक्षित नहीं किया जा सकता बल्कि लगातार कार्यक्रम चला कर इस काम को निपटाया जा सकता है। ऊपर अध्यापकों की जो अनुमानित संख्या दी गई है, इसके साथ लगभग 500 माध्यमिक शिक्षकों के प्रशिक्षण संस्थान हैं, इनमें से प्रत्येक संस्थान में विभिन्न विषयों के 15 से 20 तक अध्यापक शिक्षक हैं, इस प्रकार अध्यापक शिक्षकों की संख्या 8000 के आसपास पहुँच जाती है। सबसे पहले इन अध्यापक शिक्षकों के ज्ञान को अद्यतन बनाने का लक्ष्य पूरा करना होगा। इनको गहन तथा सतत शिक्षण के आधार पर प्रशिक्षित किया जायेगा।

ऊपर बताई गई अध्यापकों और अध्यापक शिक्षकों की भारी भरकम संख्या परंपरागत शिक्षण से प्रशिक्षित नहीं की जा सकती है। बड़ी संख्या में शिक्षकों को प्रशिक्षित करने के लिए प्रतिभाशाली और सर्वोत्तम शिक्षकों को संचार माध्यमों (रेडियो, टेलिविज़न, मुद्रित साहित्य और



चित्र - 5 विद्यालयों में प्रयुक्त होने वाले उपकरणों की प्राथमिकता को दर्शाने वाला त्रिभुज

व्यक्तिगत संपर्क) पर लगाने की आवश्यकता है। वर्ष 1975-76 के दौरान *साइट* (शैक्षिक टेलिविज़न प्रयोग) के लिए प्रयुक्त सैटेलाइट ने लगभग 48 हजार शिक्षकों को समूचे देश में सैटेलाइट प्रसारण द्वारा तथा मल्टी मीडिया पैकेज से अभिविन्यास करने की क्षमता का प्रदर्शन किया। यह काम दो कार्यशिविरों में 12 दिन में पूरा किया गया।

विश्व पैमाने पर सुदूर शिक्षण में कई प्रयोग किए जा चुके हैं ताकि जनता के कामगार तबके तक पहुँचा जा सके। इंग्लैंड में खुला विश्वविद्यालय, थाईलैंड व पाकिस्तान में *स्टाऊ*, चीन का टेलिविज़न विश्वविद्यालय तथा अन्य देशों में इस प्रकार के प्रयोगों के ढेरों ऐसे उदाहरण हैं जिन्होंने जन संचार माध्यमों, मुद्रित सामग्री, बहु-माध्यमीय पैकेज तथा संपर्क के माध्यम से उच्च कोटि की शिक्षा देने की क्षमता का प्रदर्शन किया है। इन बातों से प्रोत्साहित होकर भारत सरकार ने नयी दिल्ली में इंदिरा गांधी खुला विश्वविद्यालय स्थापित किया है। लेकिन गुणात्मक दृष्टि से अच्छी सुदूर शिक्षा का संगठन तथा प्रबंध काफी जटिल और कठिन काम है[13]। आकाशवाणी विश्वविद्यालय की अवधारणा को विस्तृत करने की आवश्यकता है जिससे भारत में शिक्षकों की *सतत शिक्षा* का काम बड़े पैमाने पर चलाया जा सके।

अध्यापकों तथा अध्यापक शिक्षकों तक अद्यतन सूचना, ज्ञान तथा पद्धतियों को पहुँचाने का काम सरल नहीं है। निम्नांकित बातों को मद्देनजर रखते हुए इसकी योजना बनाने की जरूरत पड़ेगी :

(i) विभिन्न विषय क्षेत्रों मे आवश्यकताओं का पता लगाना,
(ii) पाठ्यक्रम के लिए दलों को ढूँढ़ना,
(iii) पाठ्यक्रम तैयार करना तथा उचित माध्यम और सामग्री का पता लगाना,
(iv) साफ्टवेयर सामग्री तैयार करना जिसमें मुद्रित तथा मुद्रितेतर दोनों प्रकार की सामग्री होगी,
(v) ऐसी तिथियों और समय का पता लगाना जो शिक्षकों तथा अध्यापक शिक्षकों दोनों के लिए अनुकूल हों,
(vi) सुदूर शिक्षण कार्यक्रम के लिए आधारिक ढाँचा तथा प्रबंध पद्धति विकसित करना,
(vii) सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय की मदद से श्रव्य तथा दृश्य टेपों के प्रसारण की व्यवस्था करना,
(viii) संपर्क व्यक्तियों का पता लगाना,
(ix) संपर्क व्यक्तियों का प्रशिक्षण,
(x) प्रशिक्षण कार्यक्रमों की समय सारणी तैयार करना,
(xi) परीक्षा प्रणाली तथा अन्य कई बातों को विकसित करना।

प्रौद्योगिकी का जो वर्तमान ढाँचा है, उसे देखते हुए शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए निम्नांकित चरण सुझाए गए हैं :

प्रथम चरण

गणित और विज्ञान विषय में पाँच सौ शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालयों में पूरे साल कार्यक्रम चलाकर शिक्षक प्रशिक्षकों के ज्ञान को अद्यतन किया जायेगा। भौतिकी, रसायन

13. एस.एम.चौधरी, *लुक बेफोर यू लीप*, संडे इंडियन एक्सप्रेस, 12 जनवरी 1986

शास्त्र, जीव विज्ञान और गणित में शिक्षक अध्यापकों की संख्या दो हजार के आसपास होगी। इनको टेलिविज़न, मुद्रित सामग्री तथा संपर्क तीनों माध्यमों से प्रशिक्षित किया जायेगा। पाठ्यक्रम के अंत में परीक्षा के बाद शिक्षकों को अंक प्रदान किए जायेगे। शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालयों की विज्ञान तथा गणित प्रयोगशालाओं को न्यूनतम उपकरणों से सज्जित किया जायेगा।

द्वितीय चरण

दूसरे चरण में हाईस्कूल के अध्यापकों तक पहुँचने का कार्य संपन्न किया जायेगा। इसमें अध्यापकों की संख्या दो लाख के करीब हो सकती है। यह प्रशिक्षण लगभग पाँच सौ शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालयों में दिया जायेगा। इसकी अवधि एक मास की होगी और एक केन्द्र पर 50 अध्यापकों को प्रशिक्षित किया जायेगा। इसके बाद इसी प्रकार इनको टेलिविज़न, मुद्रित सामग्री, संपर्क तथा प्रयोगशालाओं के जरिए प्रशिक्षित किया जायेगा। इसके बाद के महीने में सौ अध्यापकों का एक दूसरा दल उसी केन्द्र पर प्रशिक्षण के लिए बुलाया जायेगा। इनको भी इन्हीं बातों मे प्रशिक्षित किया जायेगा। इस प्रकार दो महीनों के प्रशिक्षण में 500×50×2 = 50,000 अध्यापकों को प्रशिक्षण प्रदान किया जायेगा। दो वर्षों के दौरान एक लाख अध्यापक इस प्रकार प्रशिक्षित किये जायेंगे। इस प्रक्रिया को प्रतिवर्ष दुहराया जायेगा। तीसरे वर्ष में आकर इस प्रकार प्रशिक्षित लोगों के प्रथम दल को पुनः बुलाया जायेगा। इस दौरान इनको शैक्षिक प्रौद्योगिकी के उन्नत पाठ्यक्रम में प्रशिक्षित किया जायेगा।

तृतीय चरण

इस प्रकार जब माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापक प्रशिक्षित किए जा चुके होंगे, इनमें से चुने हुए सर्वोत्तम लगभग 20 हजार अध्यापकों को देश के प्राथमिक और आरंभिक विद्यालयों के प्रशिक्षण के दौरान संसाधन व्यक्तियों के रूप में इस्तेमाल किया जायेगा। माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापक जब प्रथम वर्ष में प्रशिक्षित किए जा चुके होंगे, दूसरे साल उन्हें प्रारंभिक विद्यालयों के अध्यापकों को प्रशिक्षित करने का काम सौंपा जायेगा। ये उनको बेसिक प्रशिक्षण संस्थानों में प्रशिक्षित करेंगे। इस तरह माध्यमिक अध्यापकों का चक्र इस प्रकार होगा — प्रथम वर्ष : प्रशिक्षण लेना (एक महीना); द्वितीय वर्ष : पढ़ाना (एक महीना) तथा तीसरे वर्ष पुनः प्रशिक्षण आदि।

भविष्य

देश में प्रशिक्षण देने तथा शैक्षिक साफ्टवेयर विकसित करने के प्रयास पहले एक अथवा दो स्थानों पर किए गए थे। इसके विपरीत छठी पंचवर्षीय योजना में बड़े पैमाने के कार्यक्रम हाथ में लिए गए हैं, जो कि ज्यादातर केन्द्र के हाथ में हैं। इनमें निम्नांकित बातें हैं :

(अ) नयी दिल्ली में केन्द्रीय शैक्षिक प्रौद्योगिकी संस्थान की स्थापना;

(आ) पूना/बंबई, अहमदाबाद, हैदराबाद, लखनऊ, पटना तथा भुवनेश्वर में छः एस.आई.ई.टी. की स्थापना;

(इ) जामिया मिलिया इस्लामिया, गुजरात विश्वविद्यालय, पूना विश्वविद्यालय, सी.आई.ई.एफ.एल. हैदराबाद में ई.एम.आर.सी. स्थापित करना;

(ई) चंडीगढ़, मद्रास और भोपाल के टी.टी.टी.आई. में वीडियो तथा फिल्म सुविधाओं का विस्तार;

(उ) पंतनगर कृषि विश्वविद्यालय, गाजियाबाद दूर संचार संस्थान तथा भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान कानपुर में वीडियो जैसी अन्य सुविधाओं की व्यवस्था;

(ऊ) दूरदर्शन के कर्मचारियों के सेवाकालीन प्रशिक्षण के लिए डी.ई.सी.यू., अहमदाबाद के आई.एस.आर.ओ. तथा एफ.टी.आई.आई. पूना का उपयोग किया जाता है।

सातवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान इनसैट की परिधि में और अधिक राज्यों को लिए जाने के पूर्व, इन विधियों को शिक्षा विभागों से पृथक करने की जरूरत पर विचार किया जाना चाहिए और इस पर भी कि क्या माध्यम के लिए आवश्यक नए प्रबंध ढाँचे के अंतर्गत् इनको चलाने की आवश्यकता है। शिक्षा विभाग इस समय जो काम कर रहे है शैक्षिक प्रसारण का कार्य उससे एकदम भिन्न है।

शैक्षिक प्रसारण के दीर्घावधि तथा उचित विकास के लिए नीचे लिखे कार्यों को हाथ मे लेने की आवश्यकता है :

(1) क्षेत्रीय भाषाओं में साफ्टवेयर बनाने के लिए सुविधाओं (भवन तथा अन्य उपकरण) को निम्नांकित द्वारा उपलब्ध कराना :
  (अ) शिक्षा विभाग।
  (आ) शिक्षा क्षेत्र में अनुबंधों के तहत काम कर रहे लोग।

(2) निम्नांकित क्षेत्रों में मानव शक्ति का प्रशिक्षण
  (अ) साफ्टवेयर की तैयारी (अनुसंधान, स्क्रिप्ट लेख, निर्देशन आदि)।
  (आ) कैमरा तथा ध्वनि संपादन आदि।
  (इ) यंत्रादि (निर्माण के लिए) का रखरखाव।
  (ई) यंत्रादि (टेलिविज़न, रेडियो, वी.सी.आर. तथा सूर्य ऊर्जा पैक के इस्तेमाल) का रखरखाव।
  (उ) अनौपचारिक और औपचारिक शिक्षा मे माध्यम के इष्टतम उपयोग के लिए सर्वेक्षण तथा अनुसंधान।
  (ऊ) माध्यम की प्रबंध व्यवस्था।
  (ए) सूचना तथा अभिलेखन।

(3) जिनको सूचनाएँ प्राप्त करनी हैं उनके लिए निम्नांकित सुविधाओं की स्थापना :
  (अ) स्कूल के बाहर तथा भीतर देखने वालों के लिए उचित स्थान की व्यवस्था अथवा पृथक भवन की व्यवस्था।
  (आ) पावर स्टेशन या सोलर पैक के जरिए बाधा रहित बिजली की आपूर्ति।
  (इ) टी.वी.सेटों तथा वी.सी.आर. आदि की जिम्मेदारी तथा रखरखाव की व्यवस्था।
  (ई) सेटों की मरम्मत तथा कलपुर्जों को बदलने के लिए वाहनों तथा आवागमन की सुविधा की व्यवस्था।

(4) दूरदर्शन/सूचना और प्रसारण विभागों के साथ मिलकर प्रसारण की विभिन्न सुविधाओं की व्यवस्था यथा सैटेलाइट, अपलिंक, माइक्रोवेव तथा भू प्रसारण। इसका उद्देश्य होगा :
  (अ) राष्ट्रीय प्रसारण केन्द्र।
  (आ) क्षेत्रीय प्रसारण।
  (इ) पृथक चैनल की स्थापना।

(5) व्यावसायिक आधार पर प्रतिलिपि तैयार करना तथा विविध सामग्रियों की बिक्री तथा आपूर्ति की व्यवस्था करना।

देश में हार्डवेयर तथा साफ्टवेयर दोनों ही क्षेत्रों में प्रशिक्षार्थियों की संख्या बहुत कम है। इस समय जितने पाठ्यक्रम एस.ए.सी., एफ.टी.आई.आई. तथा सी.आई.ई.टी. में संचालित किए जा रहे हैं उतने ही या उसके दुगुने दर्जन कार्यक्रमों को चलाने की आवश्यकता होगी। इसलिए आगामी कुछ वर्षों तक एशिया पैसिफिक इंस्टीट्यूट फार ब्रॉडकास्टिंग डेवलपमेंट, क्वालालामपुर जैसी संस्थाओं से अनुबंध के आधार पर प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित करने की आवश्यकता होगी।

शैक्षिक प्रसारण में व्यावसायिक दक्षता लाने के लिए माध्यम प्रबंध के नए तरीके विकसित करने होंगे। साफ्टवेयर में उत्पादन तथा प्रशिक्षण के लिए और ग्रामीण स्तर पर सामुदायिक रूप से काम आने वाले सेटों की मरम्मत तथा देखरेख के लिए राज्य स्तर पर शायद *शिक्षा माध्यम निगम* जैसी संस्था की स्थापना की आवश्यकता है। यह संस्था उसी परंपरा में होगी जिसमे संगणक रखरखाव निगम या राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम/राज्य फिल्म विकास निगम या अपट्रॉन, मेलट्रॉन, केल्टरॉन जैसी सरकारी संस्थाएँ हैं। स्वैच्छिक तथा निजी संस्थानों के सहयोग से इसके स्वरूप को आकार प्रकार देने की आवश्यकता होगी।

इसके लिए तीन सोपानों वाला मॉडल आवश्यक है :

(अ) केन्द्रीय शैक्षिक प्रौद्योगिकी संस्थान।

(आ) प्रशिक्षण तथा अनुसंधान के लिए चार क्षेत्रीय केन्द्र।

(इ) उत्पादन तथा रखरखाव के लिए राज्यों के केन्द्र (ये सरकारी, स्वायत्त अथवा स्वैच्छिक हो सकते हैं)।

यंत्र अपने आप में न तो अच्छे होते हैं न बुरे। वे सिर्फ प्रौद्योगिकी के उत्पाद होते हैं तथा उनको बनाने का उद्देश्य होता है, मनोरंजन तथा सूचनाओं का प्रसार। प्रौद्योगिकी की गति की तुलना मे शिक्षा में परिवर्तन की गति काफी धीमी रही है। ज्यादा से ज्यादा वह प्रौद्योगिकी को या तो ज्यों का त्यों स्वीकार करती है या उसके अनुसार थोड़ा बहुत बदलाव ले आती है। लेकिन वह अवस्था भी आनी चाहिए जहाँ शिक्षा प्रौद्योगिकी को आदेश दे सके यानी बच्चों, अध्यापकों तथा प्रौढ़ों की आवश्यकताओं के अनुसार यंत्रों तथा उनकी संचालन पद्धतियों को विकसित किया जाना चाहिए। जब इस प्रकार का समय देश में आयेगा तब शैक्षिक प्रौद्योगिकी तथा शैक्षिक माध्यम की देश के संदर्भ में सब के लिए सार्थकता होगी। तब तक हमें अपनी सर्वोत्तम प्रतिभा और यंत्रों के सहारे देश में साफ्टवेयर निर्माण का कार्य जारी रखना चाहिए जिससे हम देश के अधिकांश लोगों तक पहुँचें और उसके बाद हम यह सवाल पूछें कि इसको और अच्छे तरीके से कैसे किया जा सकता है।

ए० के० जलालुद्दीन

प्रौढ़ शिक्षा द्वारा मौखिक से लिखित परंपरा में ग्रामीण भारतीय समाज के संक्रमण की समस्याएँ



ए.के. जलालुद्दीन

ए.के. जलालुद्दीन *(जन्म 1934) ने अनुप्रयुक्त भौतिकी में कलकत्ता विश्वविद्यालय से और भौतिकी तथा गणित में मास्को स्टेट यूनिवर्सिटी से डॉक्टरेट की उपाधियां प्राप्त कीं। ये लखनऊ के साक्षरता निकेतन और भारत सरकार के शिक्षा एवं संस्कृति मंत्रालय के अंतर्गत प्रौढ़ शिक्षा निदेशालय के निदेशक रह चुके हैं। अनेक प्राविधिक और व्यावसायिक निकायों के ये सदस्य भी रहे हैं, जिनमें प्रमुख हैं: राजा राममोहन राय* लाइब्रेरी फाउंडेशन, *कलकत्ता; शिक्षा और प्रशिक्षण की स्थायी समिति, राष्ट्रीय श्रम संस्थान, नई दिल्ली; कृषि अनुसंधान सोसाइटी की भारतीय परिषद्, नई दिल्ली; कार्यकारी समिति, भारतीय जन-संचार संस्थान, नई दिल्ली। आजकल ये राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के संयुक्त निदेशक हैं। भौतिकी, विज्ञान शिक्षा, शैक्षिक योजना, प्रौढ़ साक्षरता और विकास की युक्तियों पर इन्होंने लगभग पचास शोध प्रबंध लिखे है जिनमें यूनेस्को द्वारा प्रकाशित* मॉनीटरिंग ऑफ़ लिटेरेसी प्रोग्राम्स *भी है।* साइंस एंड मैन *नामक चयनिका का संपादन भी इन्होंने किया है।*

प्रौढ़ शिक्षा द्वारा मौखिक से लिखित परंपरा में ग्रामीण भारतीय समाज के संक्रमण की समस्याएँ

अंतर्राष्ट्रीय साक्षरता-आंदोलन की वर्तमान प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए विगत पचास वर्षों में भारत में जनसाक्षरता-कार्यक्रम का जोर *साक्षरता* से खिसक कर *व्यावहारिक साक्षरता* तथा *अनौपचारिक शिक्षा* के अंतःकालीन चरणों से होते हुए *प्रौढ़ शिक्षा* पर आ गया है (जलालुद्दीन 1978)। राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम (1978) के तीन महत्त्वपूर्ण घटकों में से दो घटकों — प्रौढ़ शिक्षार्थियों की कार्यात्मक क्षमता और चेतना के विकास को वर्तमान कार्यक्रम के *नीति-वक्तव्य* में प्रमुखता दी गई है। तीसरा घटक स्पष्ट रूप से साक्षरता ही है। साक्षरता-सामग्री बहुत कुछ साक्षरता सिखाने और सीखने की समाहारक पद्धति के आधार पर सूचक शब्दों, वाक्यों और दृश्यों में अंतर्भूत कार्यात्मक और चेतना संबंधी विचारों के साथ तैयार की जाती है। साथ ही इस कार्यक्रम के अंतर्गत प्रौढ़-शिक्षार्थियों तथा शिक्षकों, प्रोत्साहकों अथवा अन्य संसाधन व्यक्तियों के बीच विशेष परिचर्चा-सत्रों की व्यवस्था होती है और मौखिक तथा श्रव्य संचार की पारंपरिक पद्धति के प्रयोग पर भी बल दिया जाता है (मुश्ताक अहमद 1978)। केन्द्र द्वारा नियोजित कार्यक्रम मे संसाधनों के विकास की प्रक्रिया को विकेन्द्रित करने की आवश्यकता को समझा गया। उसमें किसी विशेष भाषा-योजना का भी ध्यान नहीं रखा गया। परिणामस्वरूप पंद्रह राज्य संसाधन केन्द्रों में से अधिकांश ने, जो सामान्यतः विभिन्न राज्यों की राजधानियों में स्थित हैं और जिनकी अपनी-अपनी संवैधानिक मान्यता प्राप्त राज्य भाषाएँ हैं, अपने-अपने राज्य की मानक भाषा में लिखित मूल साक्षरता-सामग्री प्रकाशित की। राज्य स्तर के नीचे संसाधन विकास क्षमता की उपर्युक्त सीमाओं से पहली बार व्यावसायिक भाषा-वैज्ञानिकों और परंपरागत प्रौढ़ शिक्षकों के दृष्टिकोणों का अंतर प्रकट हुआ। राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा निदेशालय ने केन्द्रीय भारतीय भाषा संस्थान, मैसूर के सहयोग से अगस्त 1978 में एक राष्ट्रीय विचार गोष्ठी आयोजित की और उसमें इन दोनों वर्गों को विचार-विमर्श के लिए आमंत्रित किया। इस विचार गोष्ठी की कार्रवाई का विवरण प्रबंध के रूप में बाद में प्रकाशित हुआ, जिसमें साक्षरता-शिक्षण संबंधी *औपचारिक* बनाम *अनौपचारिक* तथा *वर्णमाला पद्धति* बनाम *समाहारक पद्धति* के प्रश्न पर इन दोनों वर्गों के बीच बना रहने वाला दीर्घकालीन मतभेद कुछ पिघलता हुआ सा लगा (राव 1979)। अधिकतर प्रौढ़ शिक्षक साक्षरता सीखने और सिखाने के कार्य को प्रौढ़ शिक्षार्थियों को व्यावहारिक कौशल प्रदान करने और उन्हें *चेतना संपन्न* बनाने वाले एक साधन के रूप में ही जानते थे, जबकि सामाजिक-भाषा विज्ञानियों और भाषा शिक्षकों की दृष्टि में प्रौढ़ शिक्षार्थियों को पठन-लेखन कौशल सिखाने की प्रक्रिया में कुछ और बातें भी शामिल थीं। उपर्युक्त विचार

गोष्ठी के बाद के चार वर्षों की अवधि में भाषा और लिपि शिक्षण-योजना संबंधी प्रमुख मुद्दों के संबंध मे प्रौढ़ शिक्षकों की दृष्टि और अभिवृत्तियों में बहुत परिवर्तन आया है जैसा कि राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा निदेशालय द्वारा जेवियर समाज सेवा संस्थान के सहयोग से रांची में सन् 1982 मे, भाषिक अल्पसंख्यकों और अनुसूचित जनजातियों के लिए प्रौढ़ शिक्षा-कार्यक्रम पर आयोजित *राष्ट्रीय सेमिनार की रिपोर्ट* से स्पष्ट हो जाता है। सेमिनार की रिपोर्ट की अन्य संस्तुतियों में निम्नांकित भी है —

> शिक्षण-सामग्री की विषयवस्तु को स्थानीय होना चाहिए, अर्थात् स्थानीय जनजाति की पर्यावरणीय आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को ही शिक्षण-सामग्री का आधार बनाना चाहिए। यह अनुभव किया गया कि चूंकि इन शिक्षार्थी-समुदायों को व्यावहारिक रूप से साक्षर बनने के लिए प्रोत्साहित करना है अतः सीखने-सिखाने की सामग्री भी इस प्रकार निर्मित होनी चाहिए कि शिक्षार्थी मातृभाषी साक्षरता से क्षेत्रीय भाषी साक्षरता में संक्रमण करने में समर्थ हो सके। यह कार्य संपूर्ण प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम मे पूरा हो जाना चाहिए।

भाषा-दृश्य

भारत में अभी हाल की जन-गणनाओं के अनुसार यद्यपि 1652 मातृभाषाएँ मानी गई हैं, किंतु उनमें से केवल प्रमुख पंद्रह साहित्यिक भाषाओं — असमिया, उड़िया, उर्दू, कन्नड़, कश्मीरी, गुजराती, तमिल, तेलुगु, पंजाबी, बंगला, मराठी, मलयालम, संस्कृत, सिंधी और हिंदी को भारतीय संविधान की आठवीं धारा के अंतर्गत राजनैतिक मान्यता प्रदान की गई है (राम गोपाल 1966)। राज्यों की सीमाएँ भी बहुत कुछ राज्यों अथवा संघीय प्रदेशों की प्रमुख भाषा बोलने वाली जनसंख्या की प्रधानता के अनुसार ही निर्धारित हैं, यद्यपि वे सभी भाषाएँ आठवीं धारा के अंतर्गत नहीं आतीं। नागालैंड और सिक्किम में अंग्रेजी राज्य भाषा है, पर उन राज्यों में नागा समूह की भाषाएँ और नेपाली बहुसंख्यक जनता की भाषाएँ हैं। इसी प्रकार जम्मू और कश्मीर में उर्दू को राज्य भाषा की मान्यता प्राप्त है, किंतु कश्मीर घाटी और जम्मू क्षेत्र में क्रमशः कश्मीरी और डोगरी — पंजाबी भाषा बोलने वालों की बहुतायत है। अधिकतर प्रमुख राज्यों में भाषिक अल्पसंख्यक अपने पड़ोसी राज्यों की मानक क्षेत्रीय भाषाओं का व्यवहार करते हैं। तथापि कुछ क्षेत्रीय अथवा राज्य भाषाओं में द्विभाषीय विभिन्नताएँ हैं — उनके मौखिक और लिखित रूपों में बहुत अंतर पाया जाता है (सुगंधपाल 1976)। हिंदी भाषी राज्यों — बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश तथा जम्मू व कश्मीर राज्य के जम्मू क्षेत्र में बोलचाल की हिंदी में स्थानीय भिन्नताएँ हैं और कुछ मामलों में संरचनात्मक भिन्नताएँ भी हैं, जो अध्ययन की दृष्टि से दिलचस्प विषय है। कुछ भिन्नताएँ, जैसे बिहार में मैथिल और भोजपुरी, राजस्थान में राजस्थानी भाषाएँ, हिमाचल प्रदेश में पहाड़ी भाषाएँ सामान्यतः स्वतंत्र भाषाएँ मान ली जाती हैं। मौखिक और लिखित दोनों रूपों में हिंदी और उर्दू का मिश्रण इन प्रदेशों में प्रचलित है पर पंजाब और जम्मू में उर्दू शब्दावली अधिक है। मैथिल, भोजपुरी, राजस्थानी और पहाड़ी भाषाएँ देवनागरी में लिखी जाती हैं। प्राथमिक विद्यालयी स्तर पर भी ये भाषाएँ शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रयुक्त होती हैं।

लिखित परंपरा वाली इन क्षेत्रीय भाषाओं की स्थानीय भिन्नताओं के अतिरिक्त लगभग 400 जनजातीय-मातृभाषाएँ जनजातियों और अल्पसंख्यक नृजाति-समुदायों द्वारा बोली जाती हैं। इन भाषाओं की कोई विशिष्ट लिखित परंपरा नहीं है और उनके बोलने वाले देश की जनसंख्या के

लगभग 7 प्रतिशत हैं। भारतीय आर्यभाषा परिवार के अतिरिक्त ये जनजातीय-भाषाएँ मोटे तौर पर चार भाषा-परिवारों मे विभक्त हैं — तिब्बतो-बर्मन, अन्य तिब्बतो चाइनीज, द्रवीड़ियन और ऑस्ट्रिक। कोई एक जनजातीय भाषा बोलने वालों की संख्या सामान्यतः 10 लाख से भी कम है। केवल संथाली (आस्ट्रिक), भीली (भारतीय आर्य), गोंडी (द्रवीड़ियन) और ओरॉव (द्रवीड़ियन) बोलने वालों की जनसंख्या 1971 की जन-गणना के अनुसार क्रमशः लगभग 38, 34, 16 और 13 लाख है (तिवारी 1982)। सबसे बड़ा जनजातीय समूह संथालों का है, जो असम, पश्चिमी बंगाल, बिहार, आंध्र प्रदेश और उड़ीसा मे फैला हुआ है और अभी हाल मे भाषिक और राजनैतिक दोनों दृष्टियों से एक शक्तिशाली समुदाय के रूप मे उभरा है, विशेषतः रघुनाथ मुर्भू द्वारा प्रवर्तित *ओल चिकी* लिपि के व्यवहार के कारण, जिसका उद्देश्य उस क्षेत्र मे हावी बंगला भाषा और लिपि के प्रभाव को दूर करना है (सिंह 1982)। लगभग अन्य सभी मामलों मे, जहाँ किसी जनजातीय भाषा को लिखित रूप देने का प्रयास किया गया है, जैसे नागा परिवार की भाषाएँ, मुंडारी और ओरॉव, वहाँ मानक क्षेत्रीय भाषा अथवा राजभाषा की लिपि, प्रायः रोमन और देवनागरी लिपि को अपनाया गया है।

द्विभाषिकता और द्विसाक्षरता

भारत की जनगणना के अनुसार 9 7 प्रतिशत जनसंख्या यद्यपि द्विभाषी है क्योंकि वे अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त किसी *उपभाषा* का भी व्यवहार करते हैं, पर द्विभाषिकता के सुव्यवस्थित आँकड़ा-संकलन का बहुत कम प्रयास हुआ है। भारतीय राज्यो में द्विभाषिकता और द्विसाक्षरता का प्रचलन बहुत कुछ अल्पसंख्यक भाषियों पर वर्तमान विद्यालयी व्यवस्था के प्रभाव का सूचक है, क्योंकि उनकी मातृभाषा मानक राज्य भाषा से भिन्न मानक क्षेत्रीय भाषा होती है। उदाहरणत. अहिंदी भाषी क्षेत्रों में 46 प्रतिशत से अधिक अल्पसख्यक लोग अंग्रेजी और हिंदी-उर्दू भाषा समझते है। इसी तरह हिंदी भाषी क्षेत्रों मे, 32 प्रतिशत हिंदी-उर्दू भाषी लोग अंग्रेजी समझते है। जो भी हो, किसी भारतीय राज्य में औसतन प्रमुख राज्यभाषा मे अल्पसंख्यक भाषी समुदायो मे द्विभाषिकता केवल 20 प्रतिशत है (एक्का 1982)।

किसी राज्य की जनजातियों मे जो द्विभाषिकता है, उसमे विभिन्न सूक्ष्म अन्तर और अर्थभेद हैं। जहाँ पडोसी क्षेत्रों मे अनेक जनजाति समुदाय हैं, जैसा कि उत्तरी-पूर्वी पहाड़ी राज्यो अथवा बिहार के छोटा नागपुर खंड मे हैं, उनकी द्विभाषिकता स्वयं की अपेक्षा अपनी पड़ोसी जनजातियों की तुलना मे भिन्न हो सकती है। अधिकतर जनजातीय जनसंख्या की द्विभाषिकता राज्य की प्रमुख भाषा अथवा उसके क्षेत्रीय रूप के संदर्भ मे मानी जाती है (एक्का 1982)।

राष्ट्रव्यापी प्रौढ़ साक्षरता और शिक्षा-कार्यक्रम के संदर्भ मे अल्पसंख्यक भाषी समुदायो के लिए एक से अधिक लेखन प्रणाली अथवा लिपि अपनाने का प्रश्न भाषा-योजना का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। भारत मे इसी अर्थ मे द्विसाक्षरता शब्द का प्रयोग होता है। इसका संबंध अनेक जनजातीय भाषाओं के लिए लेखन प्रणाली विकसित करने के प्रश्न से भी जुडा हुआ है, क्योंकि इन भाषाओ का अस्तित्व अभी तक केवल मौखिक स्तर अथवा पूर्व-साक्षर स्तर पर ही है। पट्टनायक (1982) के अनुसार इस जटिलता का *दूसरा आयाम* भी है, जहाँ अनेक जनजातीय क्षेत्रों मे व्यापक सचार की भाषा मिश्रित भाषा है, जैसे नागालैंड मे नागामीज, बिहार और मध्यप्रदेश के कुछ भागो मे सादरी और उड़ीसा मे देसिया।

लिपि-विवाद

पूर्व-साक्षर जनजातीय भाषा के लिए लिपि के चुनाव के सबंध मे सांवेगिक और राजनैतिक

उग्रता को समय-समय पर अधिक महत्त्व दे दिया जाता है (दासवानी 1982)। संथाली को छोड़कर अन्य जनजातीय भाषाओं के लिए लिपि चुनाव के संबंध में कोई उल्लेखनीय विवाद नही रहा है, क्योंकि उनमें उस क्षेत्र की मानक साहित्यिक भाषा की लिपि ही प्रचलित है। संथाली जनता सबसे बड़े जनजातीय समुदायों में से एक है, जो चार राज्यों में बसी हुई है जिनकी चार मानक भाषाओं की पृथक-पृथक चार लिपियाँ हैं — बगला, उड़िया, देवनागरी और असमिया। संथाली भाषियों के लिए एक समान पहिचान की दृष्टि से वर्ण साम्य को देखते हुए इन लिपियों के आधार पर एक लिपि का विकास करना निरर्थक प्रयास नहीं कहा जाएगा। यही प्रयास रघुनाथ मुर्भू ने *ओल चिकी* लिपि के विकास में उड़िया, बंगला, देवनागरी और रोमन (अंग्रेजी) से कुछ वर्ण-आकृतियों के समावेश द्वारा किया है। मार्च 1981 में पश्चिम बंगाल की मार्क्सवादी सरकार ने *ओल चिकी* को प्राथमिक स्तर पर शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया है।

बिहार की हो जनजाति में, 1922 मे जन्मे लाखो बोदरा (भूतपूर्व रेलवे क्लर्क) ने अभी हाल में दावा किया है कि विलुप्त लिपि *वर्नो क्षिति*, (हो जनता के चमकते अक्षर) के चिह्न उन्हें एक गुफा में चालीस दिनों की लंबी साधना के बाद मिले हैं। जिन क्षेत्रों मे उनकी जनजाति रहती है, उनके विभिन्न भागों से शिलालेख तथा शिलाओं पर अंकित चिह्नों के टुकड़े एकत्र करके वे ले आए, फिर लिपि की *खोज* की। इसमे 31 वर्ण है, प्रत्येक के बड़े (कैपिटल) और छोटे (स्माल) रूप हैं जैसा कि रोमन लिपि मे है। कुछ वर्णों की आकृतियों मे ब्राह्मी लिपि का प्रभाव देखा जा सकता है, पर अनेक नए रूप भी जोड़े गए हैं (सिंह 1983)। किंतु *ओल चिकी* आंदोलन की भाँति लाखो बोदरा की लिपि को लोकप्रियता नहीं मिली।

अन्य जनजातीय समुदायों जैसे चकमा, सेवरा, मीती आदि द्वारा भी लिपि खोजने अथवा पुनः खोजने के और भी प्रयास किए गए। पर जहाँ भी जनजातीय भाषा का आंदोलन कुछ आगे बढ़ा जैसा 'काक बरोक' के मामले मे, (यह त्रिपुरा की पाँच लाख आबादी वाली उस जनजाति की भाषा है जिसमे 6 समुदाय और 2 उपसमुदाय शामिल हैं) तथा उत्तरपूर्वी भारत में मिजो और खासी जनजातीय भाषाओं के मामले में, यह पाया गया है कि इन भाषा-समुदायों में साहित्यिक भाषा की लिपि ही अपनाई गई है, जैसे, काक बरोक के लिए बंगला लिपि तथा और दूसरों के लिए रोमन लिपि। भारत के मध्य भाग में जनजाति समुदायों ने अधिकतर अंतर्जनजातियों और जनजातियों तथा बाहरी लोगों से संपर्क के लिए देवनागरी लिपि को अपनाया है।

खाई पाटना

किसी भी साक्षरता आंदोलन की एक प्रमुख चिंता होती है — पठन एवं लेखन कौशलों के सतत प्रयोग द्वारा साक्षरता को बनाए रखना। अधिकतर नव-साक्षर समुदाय आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से पिछड़े होते हैं और अपने तथा अन्य भाषिक समुदायों के अधिक मुखर लोगों द्वारा कुचक्र के शिकार बने रहते हैं। साक्षरता ही उनकी सामाजिक कुशलताओं के विकास का, विरोधों के पुनर्बोध का और सामान्य चेतना तथा जागृति का माध्यम भी है। पूर्व साक्षर भाषा के लिए लिपि का चयन और मानक क्षेत्रीय भाषा के साथ उपभाषा के रूप में द्विसाक्षरता की उन्नति भारत के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न बन गए हैं। इस संदर्भ में अल्पसंख्यक भाषा को प्रमुख क्षेत्रीय भाषा में *विलीन कर देने* अथवा *मिला* देने के प्रश्न पर भी देश में परिचर्चा होने लगी है (बोगार्ट 1982)। यद्यपि अधिकतर प्रौढ़ शिक्षकों और भाषा विज्ञानियों को प्रौढ़ शिक्षार्थियों के लिए प्रारंभ में उनकी मातृभाषा द्वारा साक्षरता-शिक्षा प्रदान करने में राष्ट्रीय एकता और वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था के लिए कोई खतरा नहीं दीख पड़ता पर इन कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने वाले राज्य-स्तर के अभिकरणों को इसमें इस कार्य के दुष्परिणामों की आशंका

दीख पड़ती है। तथापि प्रौढ़ शिक्षार्थियों को उनकी मातृभाषा के माध्यम से साक्षरता सिखाने के लिए मानक क्षेत्रीय भाषा की लिपि के प्रयोग और उनके लिए बोधगम्य सामान्य शब्दावली के प्रयोग का पक्ष उभर रहा है। अल्पसंख्यक भाषा की लेखन प्रणाली के अभाव मे मानक क्षेत्रीय भाषा की लेखन प्रणाली को सामान्य रूप से अपनाना एक *सेतु* का काम करता है। इस *सेतु* प्रणाली को तकनीकी दृष्टि से पुष्ट आधार देना अभी शेष है (एक्का 1982)। मातृभाषा से मानक क्षेत्रीय भाषा के संक्रमण में जहाँ भी ऐसे सेतु का प्रयास किया गया है, वह बहुत कुछ खंडित रहा है। इसमें प्रायः होता यह है कि बुनियादी साक्षरता-शिक्षण तो मातृभाषा मे होता है और तत्पश्चात् मानक क्षेत्रीय भाषा मे लिखित पठन सामग्री पढ़ाई जाती है।

अभी तक केवल एक विशिष्ट शोध अध्ययन प्राप्त है, जिसका उद्देश्य *मानक क्षेत्रीय भाषा में व्यावहारिक साक्षरता कौशल अर्जित करने के प्रारंभिक स्तर पर शिक्षार्थियों की बोली के प्रयोग के प्रभाव* का मापन करना है (श्रीवास्तव 1982)। इस अध्ययन के अभिकल्प की संरचना व्यावहारिक साक्षरता कौशलों की उपलब्धि जानने के लिए की गई थी कि यदि प्रारंभिक लिखित पाठ्यसामग्री उनकी बोली मे है, तो क्या फल मिलता है और यदि मानक क्षेत्रीय भाषा में है जो उनकी प्रथम भाषा नहीं है, तब क्या फल मिलता है?

इस नमूने में 369 शिक्षार्थी थे, जो प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों के दो समूहों मे विभक्त थे। एक समूह को बुनियादी साक्षरता स्तर पर प्रतिदिन पढ़ने और लिखने की शिक्षा पहले मातृभाषा मे (मानक क्षेत्रीय भाषा की लिपि का प्रयोग करते हुए) और तत्पश्चात मानक क्षेत्रीय भाषा मे दी गई। दूसरे समूह को पूरे कार्यक्रम में प्रारंभ से अन्त तक मानक क्षेत्रीय भाषा मे शिक्षा दी गई। दोनों समूहों की उपलब्धियों का मापन निकष संदर्भ विधि का प्रयोग करते हुए कार्यात्मक साक्षरता परीक्षण द्वारा किया गया।

आँकड़ों के मूल्यांकन के आधार पर श्रीवास्तव ने निष्कर्ष निकाला कि कार्यात्मक साक्षरता की प्राप्ति की दृष्टि से दोनों समूहों की अधिगम उपलब्धियों मे कोई विशेष अंतर नहीं था (1982)। फिर भी, बोली वाले समूह के लोगों में पढ़ना-लिखना सीखने के प्रति रुचि और अभिप्रेरणा अधिक मात्रा में थी। इस अध्ययन द्वारा स्थानीय प्रौढ़ साक्षरता कार्यक्रम मे भाषा-चयन के संबंध में कोई निर्णयात्मक निष्कर्ष नहीं प्राप्त हो सका।

द्विसाक्षरता शिक्षा में अधिक समय का प्रश्न भी निहित है, साथ ही प्रौढ़ शिक्षार्थियों के अल्पसंख्यक भाषी समुदायों में से पर्याप्त संख्या मे साक्षरता शिक्षा और उपर्युक्त द्विभाषी अथवा सेतु सामग्री प्राप्त नहीं होने से स्थानीय स्तर के अभिकरण उन साक्षरता विधियों और सामग्रियों को अपनाने के लिए विवश हो जाते हैं, जो मानक क्षेत्रीय भाषा में तत्काल सुलभ रहती हैं।

राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय आयाम

भारत में भाषिक अल्पसंख्यकों तथा जनजातीय समुदायों द्वारा अपनी अस्मिता की स्थापना के लिए किए गए आंदोलन भारतीय जनता द्वारा स्वतंत्रता और आर्थिक-सामाजिक विकास के लिए किए गए व्यापक राष्ट्रीय आंदोलन के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़े रहे हैं। पराधीनता काल में मध्य भारत में अनेक प्रख्यात जनजातीय आंदोलनों का उद्देश्य भूमि पर और हाल में वनों पर आर्थिक अधिकार प्राप्त करना रहा है। राजनैतिक अधिकारों के लिए कुछ जनजातियों का संघर्ष देश के उत्तरी पूर्वी क्षेत्र में अधिक प्रखर रहा है, क्योंकि उस क्षेत्र में उनका विशाल बहुमत है। किंतु यह संघर्ष उनकी भाषिक और सांस्कृतिक अस्मिता के प्रति खतरे के कारण नहीं था। इन जनजातियों में से अनेक सीमान्त क्षेत्रों में रहती हैं और परंपरागत रूप से उनकी भूमिका सेतु

अथवा बफर समुदायों के रूप में है और वे स्वतंत्रता संघर्ष के राजनैतिक आंदोलनों तथा भारत की सांस्कृतिक धारा से अपेक्षतया पृथक रही है (सिंह 1982)। पूर्वी भारत मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण जनजाति आंदोलन झारखंड राज्य की स्थापना का आंदोलन रहा है। नृजातीयता से क्षेत्रीयता के संक्रमण का, जैसा कि 1949 मे झारखंड पार्टी के निर्माण के रूप मे दीख पड़ा, गहराई से विश्लेषण करने पर भारतीय समाज के जनतंत्रीकरण की प्रक्रिया स्पष्ट हो सकती है, जो 1950 के भारतीय संविधान के बनने के पहले और बाद में प्रत्यक्ष हो गई थी। इस संविधान के अंतर्गत जनजातियों को अधिक अधिकार और सुविधाएँ (कम से कम सिद्धांतों में) दी गई है। इस पृष्ठभूमि मे झारखंड आंदोलन अन्य जनजाति रहित क्षेत्रीय आंदोलनों जैसे आंध्र मे तेलंगाना आंदोलन, महाराष्ट्र मे विदर्भ आंदोलन अथवा 1950-60 में पंजाबी सूबा आंदोलन से भिन्न नहीं है।

सातवें दशक में और आठवें दशक के प्रारंभ में जो बात स्पष्ट रूप से उभर कर आयी है, वह है भाषिक अल्पसंख्यकों तथा कुछ स्थानों पर जनजातियों के बीच सांस्कृतिक और धार्मिक पुनरुत्थान की प्रवृत्ति। यह भी एक संयोग की ही बात है कि 1975 में मूल देशी लोगों की विश्व परिषद् की स्थापना हुई जिसके स्पष्ट राजनैतिक उद्देश्य थे —

1. मूल देशी लोगों मे एकता सुनिश्चित करना।
2. विश्व के मूल देशी लोगो में सूचना के सार्थक आदान-प्रदान की सुविधा देना।
3. संगठन को सशक्त बनाना ताकि विभिन्न देशों में देशी लोगों का राजनैतिक और सांस्कृतिक मंच तैयार हो सके (सोमरलाड 1981)।

उसी स्रोत (आस्ट्रेलियन नेशनल यूनिवर्सिटी की एलिजाबेथ सोमरलाड, जो एशियन और पैसिफिक क्षेत्र में परिषद् की समायोजक भी है) के अनुसार परिषद् के सभापति ने आस्ट्रेलिया मे अप्रैल 1981 मे आयोजित विश्व सम्मेलन मे परिषद् का कार्य इन शब्दों मे घोषित किया, *प्राचीन देशी आदर्शों को, जिनमें संस्कृति, धर्म, भाषा और विधि शामिल हैं, पुनर्जीवित करना और सशक्त बनाना, आत्मनिर्णय और आत्मनिर्भरता के लक्ष्य के लिए कार्य करना, बच्चों को यह बताना कि शिक्षा के द्वारा संसाधनों का प्रयोग किस प्रकार करें कि हमारा राष्ट्रवाद सबल हो सके।* सोमरलाड की जिज्ञासा थी कि प्रौढ़ शिक्षा किस प्रकार उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति में देशी लोगों की सहायता कर सकती है।

एक ओर आस्ट्रेलिया के आदिवासियों, उत्तरी अमेरिका के मूल निवासियों तथा दक्षिणी अफ्रीका और नामीबिया के अफ्रीकी लोगों और दूसरी ओर इन क्षेत्रों मे बाद मे बसने वाले श्वेत निवासियों के बीच बनी हुई खाई को देखते हुए देशी लोगों का यह संघर्ष कि वे सर्वथा विदेशी संस्कृति मे खो न जाएँ, एक रचनात्मक विकास है। तथापि विकसित देशों में मूल निवासियों के आंदोलन का एशिया और अफ्रीका के विकासशील देशों में भाषिक अल्पसंख्यकों और जनजातीय समुदायों के आंदोलन के साथ संबंध जोड़ने से अनेक बुनियादी मुद्दे उठ सकते हैं। ये मुद्दे उन विधियों से पृथक स्वतंत्र नहीं हैं जिनके द्वारा विकसित देश विकासशील देशों के विकास-दर्शन को प्रभावित और निश्चित करने का प्रयास करते हैं।

पुराने जमाने में प्रौद्योगिक रूप से उन्नत, अखंडित और सुसंगठित पाश्चात्य राष्ट्र-राज्यों की औपनिवेशिक परंपरा रही है कि वे अपना भार अपने उपनिवेशों पर लादते रहे हैं और अब विकासशील देशो पर लाद रहे है। विकासशील देशों पर उनकी प्रभुता अब परस्पर राष्ट्रीय,

सांस्कृतिक और सैद्धांतिक अंतःक्रियाओं के मृदुल रूप मे प्रकट हो रही है। पट्टनायक ने सही संकेत दिया है कि *एकात्मक प्रतीकों पर निर्मित पश्चिम के राष्ट्र-राज्य एशिया और अफ्रीका के बहुभाषी, बहुजातीय और बहुसंस्कृति वाले देशों को एक चुनौती के रूप में देखते हैं जिसका समाधान ढूंढ़ने में वे असमर्थ हैं* (1982)। इन दोनों भिन्न-भिन्न संदर्भों में मूल निवासियों के बीच कोई सादृश्य नहीं हैं अतः विश्वमंच पर मूल निवासियों के बीच राजनैतिक संबंध के लिए खुला समर्थन देने से पश्चिम की जातीय स्थिति और विकासशील देशों के सांस्कृतिक बहुवाद के बीच तथाकथित समांतरवाद को बढ़ावा मिलेगा और इस प्रकार कुछ विकासशील देशों में राष्ट्रीय एकता संबंधी वर्तमान समस्याएँ और भी घातक सिद्ध होंगी।

प्रौढ़ शिक्षा का समाज विज्ञान

भारतीय बहुभाषीय स्थिति के संदर्भ मे यह कह सकते है कि एक समृद्ध मौखिक परंपरा के माध्यम से हजारों वर्षों तक विभिन्न भाषीय समुदायों में बहुत ही व्यापक और बहु आयामी अंतःक्रिया चलती रही है। आज के संदर्भ में जनजातियों तथा अन्य जनसंख्या के बीच अनेक विरोधी स्थितियाँ निश्चित ही भारतीय समाज के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के साथ सामाजिक-आर्थिक विकास की असमान गति और विभिन्न समुदायों के मौखिक परंपरा से लिखित परंपरा की ओर संक्रमण करने के कारण है। प्रभावपूर्ण भूमि-सुधार, कृषि-नीति और विकास-प्रक्रिया में सामुदायिक प्रतिभागिता का अभाव भी इसके कारण हैं। जब भी स्थानीय स्तर पर किसी साक्षरता-कार्यकर्त्ता को प्रत्यक्ष विरोध का सामना करना पड़ता है तो यह विरोध निश्चित ही भाषिक अथवा संजातीय मूल से भिन्न उन स्थानीय लोगों द्वारा होता है जिनका सामाजिक और आर्थिक स्वार्थ निहित होता है। अतः उनकी सामुदायिक अस्मिता का ध्यान रखते हुए प्रौढ़ शिक्षार्थियों के लिए विकसित शिक्षण-विज्ञान उन्हें उस समुदाय के सत्ताधारी वर्ग से मुक्ति की ओर नहीं ले जा सकता। यह शिक्षण-विज्ञान कम मुखर लोगों पर अधिक मुखर लोगों के प्रभुत्व की समस्याओं का समाधान नहीं कर सकता, क्योंकि यह मुखर (सत्ताधारी) वर्ग विकासशील समाज की लेखन परंपरा का प्रतिनिधित्व करता है। इसके विपरीत किसी भी शिक्षण-विज्ञान में सामुदायिक अस्मिता की प्रधानता से मूल प्रवृत्यात्मक मनोवेग और आवेगों को बढ़ावा मिल सकता है और शिक्षार्थियों के उद्धार का मुद्दा दो कारणों से घपले में पड़ सकता है। पहला, शिक्षा के अंतिम उद्देश्य को यह धूमिल करता है। यह उद्देश्य है — प्रत्येक व्यक्तिगत शिक्षार्थी का विकास और दिक्काल की सीमा से उसकी मुक्ति। दूसरा यह प्रमुख सामाजिक-आर्थिक कारकों और शक्तियों को, जो उसकी वस्तुस्थिति के लिए उत्तरदायी हैं, ओझल कर देता है। ऐसा शिक्षण-विज्ञान जो शिक्षार्थियों के आत्म नियमन के लक्ष्य को पूरा नहीं कर सकता और जो सामुदायिक नियमन तक ही सीमित है, उन्हें कुचक्रियों से मुक्त नहीं कर सकता, अधिक से अधिक यह उन्हें अपने कुचक्रियों को बदलने में सहायक हो सकता है।

प्रौढ़ शिक्षार्थियों को अपनी भाषिक और संजातीय अस्मिता के विकास के लिए *चेतना प्रदान करने* के उद्देश्य के प्रति प्रतिबद्ध प्रौढ़ शिक्षक की दुविधा बहुत कुछ इस प्रलोभन में निहित है कि समाज के शक्ति-आधार के पुनर्गठन के लिए साक्षरता का प्रयोग एक साधन है। जो भी हो, निर्णयात्मक नियमित सामाजिक और आर्थिक शक्तियों के मूल आधार के अभाव में शिक्षाशास्त्रियों को यह निराशा हाथ लग सकती है कि राजनैतिक आंदोलन की स्पष्टता के साथ समुदाय का नेतृत्व प्रतिष्ठान द्वारा सहयोजन की निरंतर प्रक्रिया में अधिक सुमेघ हो सकता है। इस प्रकार सामुदायिक अस्मिता को ध्यान में रखकर प्रौढ़ शिक्षा की *उद्धारक* और *अपनत्वकारी*

भूमिकाएँ गुडलक सिद्धांत के विरोध में दो बिंदुओं पर एक ही सिक्के के दो पहलू सिद्ध हो सकती हैं (1981)।

मौखिक परंपरा की जीवन-शक्ति

प्राचीन भारत में ज्ञान का प्रसार (पूर्व बौद्ध काल में भी) विधिवत् सस्वर पाठ और व्यवस्थित स्मरण (श्रुति) के रूप में सदियों तक होता रहा। ज्ञान की विभिन्न शाखाएँ, जो बाद में बौद्धोत्तर काल में अभिलिखित रूप मे पाई गई हैं, वे मुख्यतः दार्शनिक शास्त्रार्थ, ज्योतिर्विज्ञान और आयुर्वेद से संबंधित हैं। हस्तलिखित पांडुलिपियाँ बौद्ध और जैन धर्मोपदेशकों की है। इस काल की हस्तलिखित विषयसामग्री पद्य अथवा प्रवचन के रूप में हैं जिन्हे आवृत्यात्मक और चक्रीय शैली में प्रस्तुत किया गया है ताकि उन्हें कंठस्थ और आत्मसात करने में सुविधा हो। प्राचीन भारत के संदर्भ में बौद्ध और जैन उपदेशकों ने ज्ञान, मूल्य और अभिवृत्तियों के प्रसार की प्रक्रिया को जनवादी बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान की। उन विषय सामग्रियों के लिखने में प्रयुक्त सामग्री की विविधता से लिखने की व्यवस्था में सामान्य लोगों की प्रतिभागिता के विरुद्ध जो ब्राह्मणवादी आग्रह था, वह भी कमजोर हुआ। उत्तर भारत में मुस्लिम शासन के आने पर मध्यकाल में वृहत् पैमाने पर फारसी भाषा और लिपि के अध्यारोपित होने पर यह प्रक्रिया और भी तीव्र हुई। किंतु अठारहवीं सदी में बंगाल मे ब्रिटिश मिशनरियों द्वारा मुद्रण-प्रौद्योगिकी और आधुनिक शिक्षा के प्रारंभ होने के पहले हस्तलिखित पांडुलिपियों का, जो एक मात्र लिखित सामग्री थीं, साक्षरता-प्रसार पर नगण्य सा प्रभाव पड़ा।

शासकों के स्तर पर भाषाओं और लिपियों मे उपर्युक्त परिवर्तन के समानांतर ऐसे संतों और सूफियों की कतार खड़ी हुई, जिन्होंने तीर्थयात्रियों के रूप में प्राचीन ऋषियों और आचार्यों के ज्ञान को साधारण जनता के लिए स्थानीय भाषाओं में सुलभ बना दिया। उन्होंने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए भजनों और पदों को माध्यम बनाया (राघवन 1978)। शंकराचार्य के समय से लेकर पूर्व ब्रिटिश काल तक ये संत कवि महान् शिक्षक थे। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन सभी सन्तों ने अपने पदों और प्रवचनों में मानव जाति की एकता और भारतीय जनता की समष्टिगत चेतना पर बल दिया। उनका सामान्य प्रयास था — आत्म ज्ञान और बौद्धिक अनुशासन, जिसे दमन द्वारा नहीं, बल्कि सम्यक् उदात्तीकरण द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। उनके इस उपदेश से उनके श्रोताओं और अनुयायियों में स्वतंत्रता की चेतना जगी और उन्हें अपनी आंतरिक शक्ति का बोध हुआ। लोगों को शिक्षित करने और उन्हें जागरूक बनाने की उनकी पद्धति प्रचलित जनभाषा और उपमाओं, प्रतीकों, व्यंग्य-विनोद, भावों की सीधी अभिव्यक्ति, संवेदनशीलता, जीवन-मूल्य, अभिवृत्ति और तर्क संगति आदि का प्रयोग था। उन्होंने सूचना द्वारा ज्ञान और बोध की समकालीन श्रेणीबद्ध पद्धति नहीं अपनाई।

वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ मे विवेकानंद, रवीन्द्रनाथ, श्री अरविंद और गांधी ने भारत में जन शिक्षा की इस परंपरागत और अनौपचारिक प्रणाली की शिक्षार्थी-केन्द्रित शक्ति और सात्विक प्रकृति को पहिचाना था। उन्होंने अपने-अपने ढंग से अपने शिक्षा-दर्शन को प्रस्तुत और स्पष्ट किया। इनमे से गांधीजी प्रत्यक्ष रूप से स्वतंत्रता संग्राम से जुड़े हुए थे और उसके केन्द्रबिंदु भी थे। उन्होंने भारतीय जनता के सांस्कृतिक विकास को अपने सामाजिक-आर्थिक विकास के दर्शन के साथ जोड़ने की आवश्यकता का अनुभव किया। उनके कार्यक्रमों के ढाँचे में व्यक्ति तथा दरिद्र नारायण और छोटे से छोटा समुदाय भी केन्द्र में रहता था, बाहरी किनारे पर नहीं। उन्होंने बुनियादी शिक्षा के प्रयोग में ज्ञान के मानसिक गठन को उत्पादक और घरेलू कार्यों के साथ

सहसंबंध स्थापित करने का प्रयास किया। किंतु बुनियादी शिक्षा के गांधीवादी प्रयोगकर्त्ताओं ने यह बात नहीं समझी कि औपचारिक विद्यालयी प्रणाली और शैक्षिक पाठ्यक्रम के लिए कृत्रिम रूप से निर्मित बाजार मॉग के साथ इन पाठ्यक्रमों के स्नातकों द्वारा अर्जित क्षमताओं का कोई सह संबंध न होने के कारण शिक्षा में नव प्रवर्तित विचारों के समावेश का कोई उपयुक्त स्थान नहीं था। इन विगत विफलताओं की पृष्ठभूमि में देश के अनेक स्वैच्छिक अभिकरणों ने नए प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रमों में अपनी उचित भूमिका अदा की है।

मूल्यांकन अध्ययन

अन्य अनेक देशों में जहॉ सार्वजनिक प्रौढ़ साक्षरता और शैक्षिक कार्यक्रम अभी पिछले दिनों शुरू किए गए हैं, उनसे भिन्न भारत के विभिन्न राज्यों में राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम के क्रियान्वयन के साथ-साथ अनेक सुनियोजित मूल्यांकन अध्ययन भी किए गए है। ये अध्ययन अग्रणी समाज विज्ञान शोध संस्थानों द्वारा नियोजित और संचालित किए गए है। अब तक प्रकाशित अनेक अध्ययनों में 'टाटा इंस्टीट्यूट आफ सोशल साइंसेज', बंबई के हैबसूर के नेतृत्व में एक टीम द्वारा किया गया अध्ययन *महाराष्ट्र मे राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम, एक मूल्यांकन* विशेष उल्लेखनीय है। इसका उद्देश्य आधुनिकीकरण, प्रौढ़ शिक्षार्थियों और संभाव्य शिक्षार्थियों के परिवार मे साक्षरों के लिए जनसंचार साधनों का प्रयोग तथा सामान्य रूप से प्रयुक्त शिक्षण-अधिगम सामग्री, पढ़ाए गए प्रकरण आदि के सापेक्षिक प्रभाव की जाँच करना था (1981)। इस अध्ययन द्वारा यह भी जॉच करने का प्रयास किया गया कि कार्यक्रम के तीन प्रमुख घटकों : साक्षरता, कार्यात्मकता और सामाजिक चेतना से संबंधित प्रौढ़ शिक्षार्थियों की उपलब्धियों में क्या अंतर्निर्भरता है।

इस अध्ययन में शिक्षार्थियों के सामाजिक, आर्थिक तथा अन्य लक्षण जो ग्रामीण शिक्षार्थियों के साक्षरता-अर्जन के साथ सकारात्मक और विशिष्ट रूप से संबद्ध थे, निम्नांकित हैं — लिंग, जाति, व्यवसाय, आधुनिकीकरण की जानकारी, उपस्थिति में नियमितता, सीखने की सामग्री का अपने पास होना। शहरी शिक्षार्थियों के मामले में जाति और जन संचार का ज्ञान, उनके साक्षरता-निष्पादन मे अधिक सकारात्मक और विशिष्ट रूप से संबंधित पाया गया, जबकि आय का संबंध नकारात्मक और महत्त्वहीन रहा।

साक्षरता, कार्यात्मकता और सामाजिक चेतना तीनों को साथ लेने पर जॉच द्वारा यह पाया गया कि जिन शिक्षार्थियों ने प्रौढ़ शिक्षा केन्द्रों से उच्च मात्रा में कार्यात्मकता प्राप्त की है, उन्होंने सामाजिक चेतना में भी उच्च मात्रा हासिल की है। साक्षरता कौशलों की प्राप्ति का कार्यात्मकता और सामाजिक चेतना से उस प्रकार का सह संबंध नहीं पाया गया।

उपर्युक्त सुव्यवस्थित मूल्यांकन अध्ययनों के अतिरिक्त अनेक व्यक्तिगत प्रयासों तथा व्यक्ति-अध्ययनों (केस स्टडीज) द्वारा भी भारत में प्रौढ़ शिक्षा के नए आयामों पर प्रकाश डाला गया है। विद्यार्थी का कहना है (1982) :

> मैं मनकीरा नामक एक प्रौढ़ विरहोर (एक छोटी सी जनजाति जो पूर्व-सीमांत, पूर्व-कृषि और पूर्व-साक्षर स्थिति में है) को जानता हूँ। प्रौढ़ शिक्षा के पाठों के प्रति वह कल्पनापूर्ण उत्तर देता था। वह विष्णुपुर प्रखंड से 6 मील दूर टांडा (अस्थायी गॉव) मे रहता था। उसकी शिक्षा साक्षरता के अर्थ में आगे नहीं बढ़ी, किंतु अपने समुदाय की सामाजिक-आर्थिक और शैक्षिक समस्याओं की समझदारी के अर्थ मे वह आगे था। उसकी शिक्षा एक प्रकार

की प्राकृतिक विधि द्वारा बढ़ी जिसमें उसकी मानसिकता अपने आत्मविकास तथा अपने गाँव के सदस्यों के विकास के लिए आचरण और कार्य की समस्याओं के बीच आगे-पीछे जूझती रही। उसकी सहायता से बिरहोर परिवार जहानगुटुआ और बेती में पुनर्वास पा सके। जब उसकी दृष्टि कमजोर पड़ने लगी, तब वह उपचार के लिए राँची आने पर सहमत हुआ और उसने महसूस किया कि "जंगलों के ईश्वर से बाहरी लोगों का ईश्वर अधिक प्रभावशाली है।" जब उसका मोतियाबिंद दूर हो गया, वह अपनी जनजातीय दुनिया को अधिक स्पष्टता से देख सकता था। इस व्यक्ति मे प्रत्येक वस्तु के लिए मंद किंतु सशक्त जिज्ञासा जगी थी और सीमित शैक्षिक पाठ्यक्रम के साथ-साथ उसमें अपने गाँव की उन्नति में सहायता करने और उचित कार्य के लिए अपने उत्तरदायित्व के प्रति दृढ़ संकल्प का भाव भी जुड़ा रहा।

एक दूसरे लेख में बसु राय चौधरी ने लिखा है कि उन्होंने किस प्रकार एक प्रौढ़ शिक्षार्थी की उपलब्धियों के मूल्यांकन के लिए अनौपचारिक उपकरण तैयार किया है (1982) :

मेरा उत्तरदाता मुहम्मद यूसुफ था, 30 वर्ष का, चौथी कक्षा पास बीवी का शौहर, चार बच्चों का पिता। एक बच्चा कक्षा 6 में, एक कक्षा 5 में और छोटे दोनों कक्षा 4 में। 'कक्षा' मे आने के पहले युसुफ निरक्षर था। अब केन्द्र (प्रौढ़ शिक्षा) में उसे एक वर्ष हो गया है। वह मोटे अक्षरों मे लिखे या छपे हुए मार्ग संकेतों, पतों, समाचारपत्र के प्रमुख शीर्षकों को और हिंदी में सरल अनुच्छेदों को पढ़ सकता है, और उन्हे समझ भी सकता है यदि सामग्री बहुत जटिल न हो। वह उर्दू मे पढ़-लिख सकता है और पढ़ा हुआ लगभग आधा समझ भी लेता है।

जब जाँचकर्त्ता ने यूसुफ से आगे यह जानना चाहा कि वह अपने पारिवारिक जीवन के संबंध मे अपनी उपलब्धियों का स्वयं-मूल्यांकन बताए तो उसने कहा कि *मैं अपने बच्चों की शिक्षा पर निगरानी (सहायता नहीं) रख सकता हूँ।* वह इतनी जाँच कर सकता था कि क्या उन्होंने भाषा-पुस्तक वहाँ तक पढ़ ली है, जहाँ तक पढ़ लेने का उन्होने दावा किया है। उसने यह भी प्रकट किया कि उसका साक्षरता-शिक्षा की कक्षा में जाना उसकी पत्नी को पसंद है।

एक दूसरे मूल्यांकन मे, सरस्वती ने तमिलनाडु के एक गाँव मे महिला शिक्षार्थियों से लिए गए अपने साक्षात्कार का अनुभव इस प्रकार लिखा है (1980) :

साक्षरता सीखने मे उनके सांवेगिक अनुभवों के अर्थ में छात्राओं के साक्षरता-अनुभव, उनकी स्वयं-छवि यह प्रदर्शित करते हैं कि इस प्रायोजना में कुछ सचमुच तेज छात्राएँ थीं जो पढ़ने और समझने की योग्यता से बड़ी भावुक हो उठी थीं और पढ़ने-लिखने की अपनी योग्यता पर जिन्हें गर्व था। उनके भावात्मक अनुभवों को सुनना और उनकी आँखों की चमक देखना सचमुच बड़ा मूल्यवान था। यदि हर एक ऐसा कर सके तो केवल साक्षरता कार्यक्रम भी चेतना जगाने का कार्यक्रम बन सकता है।

कुछ दूसरे एशियाई देशों के अनुभव इससे अधिक भिन्न नहीं हैं (जलालुद्दीन 1982)।

नीति-निहितार्थ

भारत में भाषा और लिपि की तथा अन्य क्षेत्रीय और स्थानीय सांस्कृतिक विविधताएँ राष्ट्रीय

स्तर पर साक्षरता आंदोलन के संगठन कर्त्ता को और उससे भी अधिक बहुत ही कम विविधता वाले दूसरे देश के साक्षरता-कार्यकर्त्ता को किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर देते हैं। यह प्रत्यक्ष हानि एक भिन्न दृष्टि से देखने पर विविधता को सुरक्षित रखने और उन्नत करने के अर्थ में अतिरिक्त लाभप्रद सिद्ध हो सकती है। साथ ही यह बात भारतीय जनता की भावात्मक एकता की दृष्टि से भी जिसने आर्थिक विकास की मंदगति के बावजूद उसके सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनैतिक संरचना को स्थिरता प्रदान की है, लाभप्रद सिद्ध हो सकती है। देश मे उत्तरोत्तर इस बात का अधिकाधिक अनुभव किया जा रहा है कि विकास प्रक्रिया का अत्यधिक केन्द्रीयकरण उसके क्रियान्वयन को बहुत व्ययसाध्य बना देता है तथा गाँवों और दूर के क्षेत्रों के छोटे-छोटे समुदायों की प्रतिभागिता को रोक देता है। राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम यद्यपि प्रारंभ में केन्द्र द्वारा नियोजित हुआ था, पर *नीति-वक्तव्य* मे कार्यक्रम को लचीला और विकेन्द्रित बनाया गया था (1978)। संसाधन-विकास का अंतरण नए शिक्षा-कार्यक्रम का आधार रहा है। अभी कुछ समय पहले तक केवल पंद्रह राज्य-संसाधन-केन्द्र साक्षरता की सामग्री और विधि विकसित करने के लिए उत्तरदायी थे, किंतु अब लगभग सभी राज्यों ने सिद्धांततः ससाधन-विकास-कार्य को जिला स्तर तक विकेन्द्रित करने का निश्चय किया है, जिनकी संख्या लगभग 400 है और प्रत्येक की आबादी लगभग 17 लाख है, और 2000 से अधिक बस्तियां है और औसतन चार मातृभाषाएँ तथा बोलियाँ है। जिला स्तर पर साक्षरता तथा प्रौढ़ शिक्षा के संसाधनो के विकास का अभिकरण जिला संसाधन इकाई है जो अनेक संसाधन व्यक्तियों, जो स्थानीय मौखिक तथा लिखित भाषा या भाषाओं (जैसी भी स्थिति हो) का प्रतिनिधित्व करते है, विश्वविद्यालयी, महाविद्यालयी तथा विद्यालयी शिक्षकों, विकास विशेषज्ञों, ग्रामीण स्तर के संचारकों, पुतलीवालों, लोकगीतकारों, सामुदायिक स्तर पर स्वास्थ्य तथा प्रसार कार्यकर्त्ताओं तथा जिले के संबद्ध संस्थागत समूहों का मिलाजुला संकुल है।

राज्य संसाधन केन्द्रों और कुछ राज्यों मे जिला तथा स्थानीय स्तर की संसाधन इकाइयों और अनेक स्वैच्छिक अभिकरणो ने सामुदायिक समर्थन से सफलतापूर्वक साक्षरता तथा साक्षरोत्तर सामग्री तैयार करने के लिए प्रतिभागिता विधियों का विकास किया है। कुछ क्षेत्रों में साक्षरता-शिक्षकों एवं प्रौढ़ शिक्षार्थियों ने लिखित सामग्री तैयार करने में योग दिया है। इन स्थानीय सामग्रियों में प्रायः ही शिक्षार्थियों की मौखिक भाषा का रूप झलकता है और इस कारण नये शिक्षार्थियो के लिए ऐसी सामग्री का समझना अधिक आसान होता है। यह तथ्य ही कि नव-साक्षर भी नई सामग्री के लेखक हो सकते है, शिक्षार्थियों मे गर्व की भावना उत्पन्न करता है और साक्षरता कार्यक्रमों को स्थानीय परंपरा तथा संस्कृति के पुनर्नवीकरण की प्रक्रिया के रूप में विश्वसनीयता प्रदान करता है (जलालुद्दीन 1982)।

भारत के संदर्भ मे जन साक्षरता कार्यक्रम द्वारा लिखित परंपरा का उत्थान मौखिक परंपरा के *अंतर्ग्रस्त* जगत से *निर्लिप्त* जगत तक में संक्रमण की झलक नहीं प्रतीत होता जो लिखित परंपरा का प्रतिनिधित्व करे, जैसा कि मार्शल मैकुलुहान ने यूरोप में संक्रमण अवस्था का अर्थ लगाया है (1964)। भारत तथा अन्य विकासशील देशों में, जिन्होंने जन साक्षरता आंदोलन द्वारा ऐसे संक्रमण का अनुभव किया है अथवा अनुभव करने की प्रक्रिया में हैं, वैयक्तिक तथा सामाजिक रूपांतरण योज्य अथवा व्याप्ति की अपेक्षा एक प्रकार का नवीनीकरण की प्रकृति लिए हुए है।

यह ध्यान रखना दिलचस्प है कि भारत में सांस्कृतिक रूपांतरण की उपर्युक्त स्पष्ट प्रकृति औषधि तथा शिक्षा की परंपरागत भारतीय प्रणाली की सात्विक प्रकृति के अत्यधिक मेल में है।

यह सामयिक रुचि के सर्वाधिक जीवंत विषयों में से एक मन-मस्तिष्क की अंतःक्रिया को भी सामने ला देता है। जैसा कि पहले उल्लेख हो चुका है, भारत मे शिक्षा की गुरुकुल (शिक्षक-शिष्य) प्रणाली मे भावात्मक विकास को प्राथमिकता दी जाती थी, जिसके दो प्रमुख उद्देश्य थे — निर्लिप्तता या अनासक्ति की भावना उद्बुद्ध करना और तर्क शक्ति (विवेक बुद्धि) का विकास। किसी भारतीय की सहजात प्रज्ञा की शक्ति बहुत कुछ इन दो विशाल क्षेत्रों में स्थित है। भारत में प्रौढ़ शिक्षा के समकालीन प्रयोगों की सफलता का मूल्यांकन इस प्रकाश में करना चाहिए कि साक्षरता-कार्यकर्त्ता और प्रौढ़-शिक्षक इस सहजात प्रज्ञा का और विकास-प्रक्रिया के विस्तार में भावात्मक एकता का कितना लाभ उठाते हैं और भावना और तर्क की स्वर लहरी को मूर्त्त रूप देकर मौखिक परंपरा के नवीकरण की प्रक्रिया को कितना सुगम बनाते है, ताकि श्रव्य (नाद) और दृश्य दोनों एक-दूसरे को दबाने की जगह एक साथ एकरस होकर गुंजित हो उठे।

संदर्भ

आर.के. हेबसूर,जे. ऐकरा और जे. हैंड्रीक्स, *नेशनल एडल्ट एजुकेशन प्रोग्राम इन महाराष्ट्र. ऐन इवैलुएशन,* टाटा इंस्टिट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज, यूनिट फॉर रिसर्च इन दि सोश्यॉलॉजी ऑफ एजुकेशन, बम्बई 1981।

(इण्डिया),नेशनल एडल्ट एजुकेशन प्रोग्राम - पौलिसी स्टेटमेण्ट, शिक्षा और समाज कल्याण मत्रालय, नई दिल्ली, 1978।

एलिजाबेथ सोमरलाड, *एडल्ट एजुकेशन एण्ड इडिजेनेस पीपुल्स,* एडल्ट एजुकेशन एण्ड डेवलपमेण्ट 17 : 36-38 जर्मन एडल्ट एजुकेशन एसोसिएशन, बॉन, 1981।

ए के. जलालुद्दीन,*फिफ्टी इयर्स ऑफ एडल्ट एजुकेशन इन इण्डिया· ऐन एन्थालॉजी,* शिक्षा और समाज कल्याण मत्रालय, प्रौढ़ शिक्षा निदेशालय, 1978।

ए.के. जलालुद्दीन,*मानिटरिंग ऑफ लिट्रेसी प्रोग्राम्स,* यूनेस्को रीजनल ऑफिस फॉर एजुकेशन इन एशिया एण्ड दि पैस्फिक (पोर्टफोलियो आफ लिटेरसी मेटीरियल्स मोनोग्राफ सिरीज, सिरीज 2.), बैकाक, 1982।

ए.के. जलालुद्दीन,'कोर्स ड्यूरेशन एण्ड मोडैलिटीज इन दि कंटेक्स्ट ऑफ इकोनोमिक, सोशल, एण्ड कल्चरल कैरेक्टरिस्टिक्स', रिपोर्ट ऑफ दि नेशनल सेमिनार ऑन एडल्ट एजुकेशन प्रोग्राम्स फॉर लिंग्विस्टिक माइनार्टीज एण्ड ट्राइबल पापुलेशन, 24-28 नवं 1982, राची. जेवियर इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल सर्विस, राची, 1982, पृष्ठ 161-163।

एम. डब्ल्यू डी. सिल्वा सुगथपाल,डिग्लोसिया, सेण्ट्रल इस्टिट्यूट ऑफ इडियन लैंग्वेजेज, मैसूर, 1926।

एल.एस सरस्वती, एडल्ट एजुकेशन एण्ड सोशल चेज, रूरल डेवलपमेण्ट सोसाइटी, चेंगलपेट्टु, 1980।

एल.पी विद्यार्थी,थिकिंग एबाउट एडल्ट एजुकेशनः छोटा नागपुर - ए केस स्टडी. नेशनल सेमिनार ऑन एडल्ट एजुकेशन प्रोग्राम फॉर लिंग्विस्टिक माइनार्टीज एण्ड ट्राइबल पापुलेशन, रांची, 24-28 नवं, 1982, जेवियर इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल सर्विस, रांची, 1982।

एस.एन. तिवारी,'सोश्यालॉजी ऑफ एडल्ट एजुकेशन', इन इंट्रोड्यूसिंग ट्राइबल पापुलेशन इन बिहार, जेवियर इंस्टिट्यूट ऑफ सोशल सर्विस, रांची, 1982 पृष्ठ 24-33।

ओम श्रीवास्तव,दि यूज़ ऑफ स्पोकेन लैंग्वेजेज इन ऐन एडल्ट लिटरेसी प्रोग्राम इन इंडिया - ऐन ऐब्सट्रैक्ट ऑफ दि रिसर्च इन इनखेरवाडा ट्राइबल डेवलपमेण्ट ब्लाक, नेशनल सेमिनार ऑन एडल्ट एजुकेशन प्रोग्राम फॉर लिंग्विस्टिक् माइनार्टीज एण्ड ट्राइबल पापुलेशन, 24-28 नव 1982, जेवियर इस्टीट्यूट ऑफ सोशल सर्विस, राची, 1982।

के.एस सिह,'ट्रांस्फार्मेशन ऑफ ट्राइबल सोसाइटी, इटिग्रेशन वर्सेज एसिमिलेशन', रीडिंग मेटीरियल्स फ्रॉम दि नेशनल सेमिनार ऑन एडल्ट एजुकेशन प्रोग्राम्स फॉर लिंग्विस्टिक माइनार्टीज एण्ड ट्राइबल पापुलेशन, 24-28, नव 1982, जेवियर इस्टीट्यूट ऑफ सोशल सर्विस, राची, 1982, पृष्ठ 49-80।

जे गुडलक,*डिसाइडिंग ऑन ए डेवलपमेण्ट फिलॉसफी,* एडल्ट एजुकेशन एण्ड डेवलपमेण्ट फिलासफी, एडल्ट एजुकेशन एण्ड डेवलपमेण्ट 17 43-46,जर्मन एडल्ट एजुकेशन एसोसिएशन, बॉन 1981।

जे बसु राय चौधरी, 'सेल्फ असेसमेण्ट ऑफ लर्निंग वाई दि लर्नर ऐट ऐन एडल्ट एजुकेशन सेण्टर', नेशनल सेमिनार ऑन एडल्ट एजुकेशन प्रोग्राम्स फॉर लिंग्विस्टिक माइनार्टीज एण्ड ट्राइबल पापुलेशन, 24-28 नव 1982, जेवियर इस्टीट्यूट ऑफ सोशल सर्विस, रांची, 1982।

डी पी. पटनायक, 'ब्रिज सप्लिमेण्टरी एण्ड फॉलोअप मेटीरियल्स इन दि कंटेक्स्ट ऑफ रीजनल कम्यूनिकेशन पर्सपेक्टिव्ह', रिपोर्ट आफ दि नेशनल सेमिनार ऑन एडल्ट एजुकेशन प्रोग्राम्स फॉर लिंग्विस्टिक माइनार्टीज एण्ड ट्राइबल पापुलेशन, 24-28 नव 1982, जेवियर इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल सर्विस, रांची, 1982, पृष्ठ 123-127।

फ्रासिस एक्का,'सोशियो लिंग्विस्टिक ऐस्पेक्ट्स ऑफ ट्राइबल एजुकेशन' रिपोर्ट आफ दि नेशनल सेमिनार ऑन एडल्ट एजुकेशन प्रोग्राम्स फॉर लिंग्विस्टिक माइनार्टीज एण्ड ट्राइबल पापुलेशन, 24-28 नव 1982 जेवियर इस्टीट्यूट ऑफ सोशल सर्विस, राची, 1982, पृष्ठ 129-147।

माइकेल वी.डी बोगार्ट,'अप्रोच टु दि प्रिपेरेशन ऑफ बेसिक लिट्रेसी मेटीरियल्स विद् रेफरेन्स टु ट्राइबल एण्ड रीजनल लैग्वेजेज', रिपोर्ट ऑफ दि नेशनल सेमिनार ऑन एडल्ट एजुकेशन प्रोग्राम्स फॉर लिंग्विस्टिक माइनार्टीज एण्ड ट्राइबल पापुलेशन, 24-28 नवं 1982, जेवियर इस्टीट्यूट ऑफ सोशल सर्विस 1982, राची, पृष्ठ 85-111।

मार्शल मैक्लुहान,*अडरस्टैण्डिंग मीडिया दि एक्सटेशन ऑफ मैन,* मैक्गरा - हिल, न्यूयार्क, 1964।

मुश्ताक अहमद,*हाउ टु राइट प्राइमर्स,* प्रौढ़ शिक्षा निदेशालय, शिक्षा और समाज कल्याण मत्रालय, नई दिल्ली, 1978।

रामगोपाल,*दि यूनिटी ऑफ इडिया,* सूचना और प्रसारण मत्रालय, नई दिल्ली, 1966।

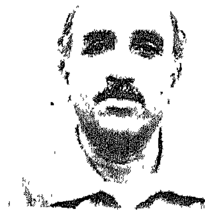
वी. राघवन,*डिवोशनल पोएट्स एण्ड मिस्टिक्स, पार्ट 1,* सूचना और प्रसारण मत्रालय, नई दिल्ली, 1978।

संबशिव जी राव,लिटरेसी मेथडॉलाजी, सेंट्रल इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डियन लैग्वेजेज, मैसूर, 1979।

सी जे दासवानी,ऐसपेक्ट्स ऑफ मैटीरियल्स प्रोडक्शन फॉर माइनार्टी एण्ड ट्राइबल लैंग्वेजेज', रिपोर्ट ऑफ दि नेशनल सेमिनार ऑन एडल्ट एजुकेशन प्रोग्राम्स फॉर लिंग्विस्टिक माइनार्टीज एण्ड ट्राइबल पापुलेशन 24-28 नव 1982, जेवियर इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल सर्विस, राची, 1982, पृष्ठ 113-121।

डी० पी० पटनायक

अध्यापक-शिक्षा



डी.पी. पटनायक

डी पी. पटनायक *(जन्म 1931) ने डॉक्टरेट की उपाधि संयुक्त राज्य अमरीका के कार्नेल विश्वविद्यालय से प्राप्त की। ये भाषाविज्ञान के पंडित माने जाते हैं। ये अनेक राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समितियों के सदस्य हैं और कई शैक्षणिक निकायों के अध्यक्ष भी है। आजकल ये मैसूर के केन्द्रीय भारतीय भाषा संस्थान के निदेशक हैं। इन्होंने भाषाविज्ञान, साहित्य और भाषाओं से संबंधित लगभग सौ शोध प्रबंधों और पन्द्रह ग्रंथों का लेखन और अनेक चयनिकाओं का संपादन किया है। अनेक भारतीय भाषाओं कें साथ-साथ ये फ्रेंच और रूसी भाषाएं भी जानते है।*

अध्यापक-शिक्षा

संपूर्ण विश्व के शिक्षाशास्त्रियों का यह मत है कि अच्छी शिक्षा अच्छे शिक्षक पर निर्भर है और शिक्षक की अच्छाई अध्यापक-शिक्षा की गुणता पर निर्भर है। ऐसी धारणा है कि विश्वविद्यालय के अध्यापक को स्नातकोत्तर शिक्षा के उपरांत किसी प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती जब कि प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तरो के अध्यापकों को अच्छा अध्यापक होने के लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि सभी मात्रात्मक सर्वेक्षण तथा प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा से संबंधित मूल्यांकन अध्यापक-शिक्षा की विशेषता और प्रसार के आँकड़े प्रस्तुत करते हैं। आगे के अनुच्छेदों में भारत में प्राथमिक तथा माध्यमिक अध्यापक-शिक्षा संबंधी एक विहगावलोकन का प्रयास किया गया है, विश्वविद्यालयी शिक्षा पर एक सूक्ष्म दृष्टि डाली गई है तथा ऐसे निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया गया है जो बहुसांस्कृतिक विकासशील देशों के लिए प्रासंगिक हों।

प्राथमिक स्तर

प्राथमिक अध्यापकों के प्रशिक्षण की स्थिति पूरे देश में अवधि, पाठ्यक्रम, प्रबंध, शैक्षिक-निविष्टि तथा छात्र संख्या की दृष्टि से भिन्न-भिन्न है। कुछ कार्यक्रम मिडिल कोर्स के उपरांत एक वर्ष वाले है, कुछ दो वर्ष वाले। कुछ मैट्रीकुलेशन अथवा उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के बाद एक वर्ष के हैं, तो कुछ दो वर्ष वाले पाठ्यक्रम हैं। राष्ट्रीय अध्यापक-शिक्षा परिषद् तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की तत्संबंधी समिति की संयुक्त बैठक में पर्याप्त विचार-विमर्श के पश्चात् अध्यापक-शिक्षा के पाठ्यक्रम का एक प्रारूप हालांकि तैयार कर लिया गया है (एन.सी.ई.आर.टी. 1978), फिर भी पाठ्यक्रम की विषयवस्तु हर राज्य में भिन्न-भिन्न है। शिक्षक-प्रशिक्षण की संस्थाओं का प्रबंध राजकीय, अर्द्धराजकीय अथवा निजी हाथों में होता है। शहरी विद्यालयों में तो शैक्षिक-प्रौद्योगिकी का बोलबाला होता है, पर ग्रामीण विद्यालय इतने अभावग्रस्त हैं कि उनमे न तो श्यामपट्ट होते हैं, न खड़िया। ऐसे विद्यालय हैं जहाँ सारी कक्षाओं के लिए केवल एक अध्यापक है, या अप्रशिक्षित अध्यापक हैं अथवा अर्द्ध-प्रशिक्षित अध्यापक हैं जिनका विषय-ज्ञान भी भिन्न-भिन्न स्तर का रहता है। विद्यार्थियों की पात्रता भी भिन्न-भिन्न स्तर की होती है। कुछ शिक्षार्थी ऐसी पीढ़ी के होते है जो पहली बार पढ़ने आ रही है, जबकि दूसरे शिक्षार्थी शिक्षित पारिवारिक पृष्ठभूमि से आते हैं, कुछ शिक्षार्थी शहरी क्षेत्र से होते हैं तो कुछ ग्रामीण अंचलों से।

सन् 1982 में भारतीय शिक्षा आयोग की रिपोर्ट जारी किए जाने के पहले प्राथमिक शिक्षक-प्रशिक्षण का कोई महत्व न था। आयोग ने प्राथमिक अध्यापकों के प्रशिक्षण का समर्थन किया। महाराष्ट्र उन राज्यों में से एक था, जहाँ किसी न किसी रूप में प्राथमिक शिक्षक-प्रशिक्षण

का कार्यक्रम सन् 1824 से चला आ रहा था।[1] जैसा कि भारतीय शिक्षा संस्थान (आई.आई.ई.) ने अपनी रिपोर्ट में इंगित किया है, महाराष्ट्र में *इन तमाम वर्षों ---- अर्थात् 1870 से 1984 की अवधि में प्राथमिक शिक्षक-प्रशिक्षण का पाठ्यक्रम कई बार संशोधित किया गया, जैसे 1884, 1899, 1910, 1925, 1945, 1966, 1972 तथा 1983 में। प्राथमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम में आमूल परिवर्तन प्रशिक्षण संस्थाओं की आवश्यकताओं को अनिवार्य रूप से प्रभावित करता है।* जो बात महाराष्ट्र में हुई, वही न्यूनाधिक रूप में अन्य राज्यों में भी। ज्यों-ज्यों नूतन विचारों ने पाश्चात्य देशों की पाठ्यचर्या को प्रभावित किया, त्यों-त्यों पाठ्यक्रम की माँग, संस्थागत निवेश और शिक्षकों की क्षमता के बीच का अंतराल बढ़ता गया।

अध्यापकों को इसलिए प्रशिक्षित किया जाता है कि वे विशिष्ट स्तर के बच्चों के अधिगम-अध्यापन कार्य का समुचित संचालन कर सकें। किसी विशेष स्तर के लिए निर्धारित लक्ष्य, युक्ति तथा प्रविधि और उस स्तर का शिक्षक-प्रशिक्षण परस्पर घनिष्ठ रूप से संबंधित होते है। श्री शर्मा के अनुसार *एन.सी.ई.आर.टी. तथा अन्य राज्यों के शिक्षा विभागों द्वारा निर्मित पाठ्यचर्या और पाठ्यक्रम मे भाषाविषयक सामग्री को भाषावैज्ञानिक रूप में निर्दिष्ट नहीं किया गया है। हमारे बच्चों की भाषिक क्षमता का जो स्तर है और जिस स्तर की उनसे अपेक्षा की जाती है, उनका मानक रूप नहीं ज्ञात है।*[2] ऐसी स्थिति में यदि अध्यापकों की क्षमता तथा पाठ्यक्रम की माँग के बीच मे अंतराल पाया जाता है, जैसा कि कर्नाटक के संबंध मे निदर्शित है, तो कोई आश्चर्य नहीं।[3,4]

शिक्षक-प्रशिक्षण के लिए विद्यार्थियों के चयन के तरीके भिन्न-भिन्न हैं। कुछ स्थान तो प्रतिनियुक्त सेवारत अध्यापकों के लिए सुरक्षित रहते है। अधिकतर प्रशिक्षण संस्थाओं मे अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा पिछड़े वर्गों के अभ्यर्थियों के लिए भी स्थान सुरक्षित रहते हैं। प्रायः इन वर्गो के अभ्यर्थियों को प्रवेश हेतु निर्धारित मानकों मे ढील दी जाती है, यह ढील चाहे अंतिम परीक्षा की उपलब्धि में हो, चाहे प्रवेश परीक्षा में अथवा मौखिक परीक्षा में हो। भावी अध्यापकों की माँग में भी घट-बढ़ होती रहती है। कभी-कभी माँग कम बताई जाती है, क्योंकि प्रशिक्षित अध्यापकों की बहुत बड़ी संख्या बेकार रहती है।

इन शिक्षकों के प्रशिक्षक प्रायः प्रशिक्षित स्नातक होते है, यद्यपि इनमें से कुछ स्नातकोत्तर उपाधि के बाद प्रशिक्षित होते हैं। फिर भी सबसे अधिक आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि जो स्नातक शिक्षक-प्रशिक्षण के लिए आते है, वे स्नातक स्तर पर ऐसे विषयों की शिक्षा प्राप्त किए रहते है जो विद्यालयों मे पढ़ाए ही नहीं जाते। प्रशिक्षण कार्यक्रम के दौरान शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाएँ असंभव लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करती है अर्थात् एक साथ दो लक्ष्य — विषय-वस्तु का शिक्षण तथा शिक्षण-पद्धति का प्रशिक्षण। यही बात पत्राचार तथा संपर्क कार्यक्रम के लिए भी सही है जो संस्थागत कार्य प्रणाली का औपचारिक विकल्प है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि *इस प्रकार के औपचारिक प्रशिक्षण कार्यक्रमों के प्रति असंतोष बढ़ता जा रहा है, क्योंकि आज*

---

[1] आइ.आइ.ई. (भारतीय शिक्षा संस्थान), 1984, *ट्रेनिंग ऑफ प्राइमरी स्कूल टीचर्स इन दि कंटेक्स्ट ऑफ यूनिवर्सल प्राइमरी एजुकेशन*, रिपोर्ट 1979-83, पुणे

[2] आइ.एस. शर्मा, 1983, *ए स्टडी इन दि कांप्रेहेंसिबिलिटी ऑफ लैंग्वेज यूज्ड इन साइंस, सोशल साइंस एंड लैंग्वेज टेक्स्ट बुक्स ऐट प्राइमरी लेवेल*, एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली, पृष्ठ 2

[3] सी.आइ.आइ.एल. (भारतीय भाषाओं का केन्द्रीय संस्थान), 1977, *गैप बिटवीन टीचर कापेटेंस एंड करीक्यूलर डिमांड्स*, मैसूर

[4] एन.सी.ई.आर.टी., 1978, *टीचर एजुकेशन करीक्यूलम : ए फ्रेमवर्क*, नई दिल्ली

ऐसे कार्यक्रमों को केवल अध्यापन-अधिगम प्रक्रिया का अभिनवीकरण अथवा दीक्षा प्रदान करना माना जाता है और इससे आधुनिक अध्यापक को प्रशिक्षित करने का लक्ष्य नहीं पूरा होता।[5]

अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग वेतनमान होने के कारण प्रशिक्षकों की योग्यता मे भी बड़ी विभिन्नता पाई जाती है। इस संबंध में स्थितियों के सतही सर्वेक्षण से दो दुर्बलताएँ स्पष्टतः प्रकट हो जाती है। पहली शिक्षक-प्रशिक्षक के रूप में काम करने के लिए विज्ञान स्नातकों की कमी और दूसरी यह कि प्रशिक्षण संस्थाओं में प्रशिक्षकों की नियुक्ति करते समय उनके अध्ययन-क्षेत्र का ध्यान न रखना। फलस्वरूप इन संस्थाओं में अनेक विषयों के लिए प्रशिक्षक नहीं होते अथवा ऐसे प्रशिक्षक नियुक्त हो जाते हैं जिनके विषयों का इस प्रशिक्षण-संस्था में कोई उपयोग नहीं।

वास्तविक व्यवधान तो शैक्षिक कार्यक्रमों मे है। प्रायः राज्यों के शिक्षा विभागों द्वारा नियुक्त समितियाँ शिक्षक-प्रशिक्षण संबंधी पाठ्यचर्या तैयार करती हैं जिन्हे वस्तुनिष्ठ यथार्थता का ज्ञान नहीं रहता। यह संभव है कि पाठ्यचर्या स्वयं में विषयवस्तु की दृष्टि से समृद्ध, आदर्श और अद्यतन हो परंतु उसके क्रियान्वयन के लिए सुयोग्य अध्यापकों, पाठ्यपुस्तकों, श्यामपट्ट, विज्ञान संबंधी किट और शिल्प शिक्षा के लिए आवश्यक सामग्री अथवा खेल के मैदान का अभाव हो तो अच्छी पाठ्यचर्या भी निरर्थक सिद्ध हो जाती है। इन प्रशिक्षण संस्थाओं में पढ़ाए जाने वाले सैद्धांतिक विषयों में किसी सीमा तक एकरूपता रहती है, परन्तु इन विषयों का स्तर सामान्य शिक्षा-स्तर की तुलना मे निम्न स्तर का होता है। अधिकांश संस्थाओं की प्रमुख समस्या है — पाठ्यपुस्तकों का पुरानापन और उसके फलस्वरूप शिक्षण विधि तथा शिक्षण-सामग्री की अनुपयुक्तता। निदर्शन पाठ तथा कक्षा-शिक्षण का अभ्यास प्रशिक्षण के अनिवार्य अंग हैं, परंतु वे इस प्रकार रूढ़िग्रस्त और रीतिबद्ध से होते हैं कि शिक्षण-उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनाए गए पाठ-सकेत पाठ्यपुस्तकों की गुणता को प्रभावित नहीं कर पाते। कक्षा-शिक्षण के गुणात्मक मूल्यांकन के लिए शायद ही कोई प्रपत्र हो, और यदि कहीं रहता भी है तो वहाँ उसका उद्देश्य निरीक्षकों के कार्यभार को आँकना मात्र होता है।

कक्षा-शिक्षण के अभ्यास के लिए विद्यालय बहुत कम और दूर-दूर स्थित होते हैं। इनके चयन का आधार अनिवार्य रूप से शैक्षिक कसौटी न होकर प्रशिक्षण संस्था से सन्निकटता, सहयोग देने की तत्परता, पर्याप्त स्थान तथा सुविधाओं की सुलभता आदि होते हैं। चूँकि इन विद्यालयों में से अधिकतर में अध्यापकों की संख्या कम होती है, उनकी योग्यता भी कम होती है, साज-सज्जा भी उपयुक्त नहीं होती, पिछड़े हुए छात्रों की संख्या अधिक होती है, अतः कक्षा-शिक्षण का अभ्यास आनुष्ठानिक मात्र होता है। इन विद्यालयों में उत्कृष्ट विधियों तथा संसाधनों का लाभ उठाने की क्षमता ही नहीं होती।

अधिकतर राज्यों की प्रशिक्षण संस्थाओं मे दस्तकारी, कृषि एवं बागवानी अनिवार्य विषय हैं, परंतु इन कार्यों के संपादन के लिए अपेक्षित सामग्री का इतना अभाव रहता है कि शायद ही छात्र-छात्राओं में इनके लिए कोई उत्साह या अभिप्रेरणा जगे। सामुदायिक जीवन संबंधी कार्यक्रम कार्यपरक न होकर प्रतीकात्मक अथवा फर्ज अदायगी मात्र होता है। यद्यपि छात्राध्यापक अच्छा जनसंपर्क स्थापित कर लेते हैं, पर शायद ही अध्यापक अभिभावक संघ के निर्माण में यह संपर्क प्रतिफलित होता हो।

यदि कोई परीक्षाफलों पर दृष्टि डाले, तो इन शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं के निष्पादन पर

---

[5] मेहरू बगाली, 1985, *आल्टरनेटिव्ज इन टीचर एजुकेशन*, जे.पी. नाइक नेशनल सेमिनार मे प्रस्तुत प्रबध, आइ.आइ.ई , पुणे

स्तंभित हो जाएगा। सामान्य शिक्षा में तो सौ में से बड़ी कठिनता से 12 प्राथमिक स्तर को पार कर पाते है। माध्यमिक स्तर पर यह औसत 30 प्रतिशत है। परंतु इन प्रशिक्षण-संस्थाओं में आंतरिक मूल्याकन (जिसमें व्यक्तिगत पक्षपात की बात प्रायः सुनी जाती है) और बाह्य मूल्यांकन के बावजूद 90 से 100 प्रतिशत परीक्षार्थी उत्तीर्ण होते है। यह और भी आश्चर्यजनक है क्योंकि अधिकतर प्रशिक्षण संस्थाओं में विज्ञान प्रयोगशालाएँ, पुस्तकालय तथा अन्य शैक्षिक निविष्टियाँ अपर्याप्त और असंतोषजनक रहती हैं।

सबसे अधिक जमी हुई विलक्षण स्थिति तो यह तथ्य है कि राजकीय हस्तक्षेप द्वारा मात्रात्मक और गुणात्मक सुधारों के बावजूद *प्राथमिक शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं में प्रशिक्षकों के लिए किसी विशेष अभिनवीकरण कार्यक्रम की व्यवस्था नहीं है। उनमें से अधिकतर के पास प्राथमिक विद्यालयों का शैक्षणिक अनुभव नहीं होता। वे प्राथमिक विद्यालयों के लिए अध्यापक तैयार करते हैं, परंतु उनका व्यक्तिगत अनुभव तथा शैक्षिक पृष्ठभूमि माध्यमिक विद्यालयों से संबंधित होती है।*[6] यद्यपि राष्ट्रीय सर्वेक्षण की रिपोर्ट में अनेक बहुमूल्य सुझाव दिए गए है, परंतु उनका ध्यान मूल प्रश्न पर नहीं गया है। तथ्य यह है कि प्राथमिक शिक्षा मुख्य रूप से भाषा की शिक्षा है और यह तथ्य शिक्षाविदों तथा योजनाकारों दोनों की दृष्टि से समान रूप से ओझल रहा है। उन बहुभाषीय देशों में जहॉ घर की भाषा तथा स्कूल की भाषा की शिक्षा क्रमागत सोपान हैं और विभिन्न भाषा माध्यमों द्वारा ज्ञान प्राप्ति की तैयारी को सबसे अधिक चुनौती भरा कार्य माना जाता है, वहॉ इन तथ्यों की अनभिज्ञता का भयावह परिणाम हुआ है। विद्यालय छोड़ देने, ठहराव, अपव्यय आदि बाते छोड़ भी दे, पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि अल्प भाषा-कौशल के कारण गणितीय कौशल में भी अल्पज्ञता बनी रहेगी। भाषा कौशल निष्पादन की अपर्याप्तता उन्हे ज्ञान की छाया तक ही ले जाती है और यही अधिकतर देशों की निम्नस्तरीय शिक्षा का मूल कारण है।[7]

यह समझ लेना अत्यंत महत्वपूर्ण है कि प्राथमिक स्तर पर विषय-अध्यापक और भाषा-अध्यापक का विभेदीकरण निरर्थक है। माध्यमिक स्तर पर भी इस बात को मानने में बहुत सतर्क रहना होगा। माध्यमिक विद्यालयों में प्रायः एक ही अध्यापक विषय-अध्यापक भी है और भाषा-अध्यापक भी। जैसा भी हो, पर भाषा की शिक्षा भी विषय की शिक्षा की भाँति ही दी जाती है। शिक्षक-प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम मे यह जागरूकता नहीं दीख पड़ती कि विषयज्ञान की क्षमता तथा भाषाज्ञान की क्षमता मे अनुबंधता आवश्यक है।

माध्यमिक स्तर

केवल प्राथमिक शिक्षक-प्रशिक्षण ही दिशाशून्य नहीं है, अपितु विभिन्न विषय-क्षेत्रों मे हुए विकास को देखते हुए माध्यमिक शिक्षक-प्रशिक्षण भी प्रगति के अनुकूल नहीं रहा है। राज्य सरकारों द्वारा संचालित माध्यमिक शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं के अलावा अधिकतर माध्यमिक शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाएँ निजी प्रयासों द्वारा स्थापित है। बहुत से विश्वविद्यालयों ने पत्राचार पाठ्यक्रम द्वारा यह प्रशिक्षण देना प्रारंभ किया है। यद्यपि पत्राचार पाठ्यक्रम द्वारा प्रशिक्षण को औपचारिक प्रशिक्षण संस्थाओं की अपेक्षा कम खर्चीला माना जाता है, किंतु बहुतेरी निजी प्रशिक्षण संस्थाएँ धन कमाने का धंधा कर रही है।

प्रथमतः शिक्षा को एक पृथक स्वशासी अध्ययन क्षेत्र मान लेने से विभिन्न विषयों के साथ

---

[6] एन.सी.ई.आर.टी., 1977, *नेशनल सर्वे ऑफ टीचर एजुकेशन ऐट एलिमेंटरी लेवल,* नई दिल्ली

[7] उपरोक्त

अंतर्विषयक अंतःक्रिया में अवरोध उत्पन्न होता है। दूसरे यह कि ऐसी कोई प्रक्रिया नहीं है जिसके द्वारा उच्चस्तरीय शैक्षिक संस्थाओं से उन्नत विधियों तथा शैक्षिक उपकरणों के ज्ञान का स्थानांतरण शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं में किया जा सके। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्. के तत्वावधान मे स्थापित चार क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालयों मे ऐसे प्रयोगों का शुभारंभ किया गया जिनके द्वारा शिक्षक-प्रशिक्षण में विषयवस्तु का ज्ञान और उसकी शिक्षणविधि दोनों का एकीकृत रूप में शिक्षण-कार्य संपादित हो सके। शिक्षाविदों तथा शिक्षा-योजनाकारों की निरंतर बदलती हुई रुचियों के लिए क्या कहा जाए, जिनके कारण इन प्रयोगों को सफल होने का अवसर नहीं दिया गया और उन्हे निष्फल हो जाने के लिए छोड़ दिया गया ताकि उनका नाम मात्र शेष रहे।

अधिकतर शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं में बहुत ही कम महत्वपूर्ण तथा सार्थक शोधकार्य देखने को मिलते हैं। स्कूल छोड़ देने वाले बच्चों, विज्ञान-शिक्षण, उन्नत पाठ्यक्रम, शैक्षिक सामग्री-निर्माण आदि संबंधी महत्वपूर्ण अध्ययन इन संस्थाओं से बाहर ही किए गए है। यदि उच्च कोटि के शोधकार्यों को छोड़ दे, तो आयु और कक्षा की दृष्टि से शब्दावली तथा अन्य भाषिक तत्वों से संबंधित शोध का भी पूर्ण अभाव पाया जाता है।

इन संस्थाओं मे प्रशिक्षित अधिकतर माध्यमिक शिक्षक विद्यालय निरीक्षक बन जाते है। इसके मूल्यांकन के लिए कोई भी वस्तुनिष्ठ पैरामीटर नहीं विकसित किया गया है। स्थिति यह है कि अधिकतर क्षेत्रों में निरीक्षकों और विद्यालयों का अनुपात 1:90 का है जो राष्ट्रीय मध्यमान से मेल नहीं खाता। यद्यपि राष्ट्रीय मध्यमान के लिए भी अभी बहुत कुछ अपेक्षित है। इन निरीक्षकों के अभिनवीकरण के अभाव तथा विषय क्षेत्र संबंधी उनके अल्प ज्ञान की स्थिति में विद्यालयों के भाग्य की कल्पना आसानी से की जा सकती है।

इस अभाव को सिद्ध करने के लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा। राष्ट्रीय शैक्षिक नीति के अनुसार प्राथमिक के बाद माध्यमिक स्तर पर तीन भाषाओं की शिक्षा दी जानी चाहिए। पर मातृभाषा/प्रथम भाषा का ज्ञान दूसरी भाषा के सीखने में किस प्रकार सहायक हो सकता है, इस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। फलतः समय और शक्ति दोनों का अपव्यय होता है। जब कि बालक एक भाषा में मिश्रित संरचनाओं का प्रयोग और वार्तालाप कर सकता है तो उसे तोते की तरह वर्षों तक अंग्रेजी भाषा में यही रटाया जाता है कि बिल्ली चटाई पर बैठी *(दि कैट सैट ऑन दि मैट)।* इस तथ्य को न तो अध्यापक देखता है और न निरीक्षक ही, क्योंकि वे दोनों एक ही प्रकार से प्रशिक्षित हैं। भाषा सीखने, भाषा के बारे मे सीखने और भाषा के माध्यम से सीखने मे निहित विशिष्टताओं को न समझने के कारण किसी विशेष भाषा के आत्मीकरण पर ध्यान नहीं दिया जाता। परिणामस्वरूप विषय-शिक्षण की भी क्षति होती है। यह प्रक्रिया उच्च स्तरों तक चलती रहती है। हम प्रायः विश्वविद्यालयों के अध्यापकों की यह शिकायत सुनते हैं कि उन्हें स्कूल का कार्य करना पड़ता है।

विश्वविद्यालयी शिक्षा

शिक्षा विषयक अध्ययन के प्रति विश्वविद्यालयों की रुचि उस समय हुई, जब कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग (1917-1919) ने इस बात की संस्तुति प्रस्तुत की।[8] उसी समय से समाज की आकांक्षाओं की पूर्ति मे उच्च शिक्षा की बढ़ती हुई असंगति के कारण शिक्षा अगली

[8] यू.जी.सी. (विश्वविद्यालय अनुदान आयोग), 1982, *स्टडी ऑफ एजुकेशन विद स्पेशल रेफ़रेंस टु यूनिवर्सिटी — ए स्टेटस रिपोर्ट,* नई दिल्ली

सदी के लिए शिक्षक तैयार करने मे तो असफल रही ही, ऐसे शिक्षक भी नहीं तैयार कर सकी जो अपने छात्रों को वर्तमान के योग्य बनाने मे सहायक हो सके। क्या अध्यापक सामाजिक परिवर्तन के लिए अपनी क्रांतिकारी भूमिका का निर्वाह कर सकेंगे? अथवा उनके संबंध मे जीन फ्राउड का यह कथन चलता रहेगा कि वे *सांस्कृतिक बिखराव के वेतनभोगी एजेंट* है। यह बात भारत के समकालीन शैक्षिक वाद-विवाद का बहुत बड़ा अंग बना हुआ है।[9]

जब से कोठारी आयोग (1964-66) ने इस बात पर बल दिया है कि *शिक्षक-प्रशिक्षण कार्यक्रम का सारतत्व उसकी गुणता है और उसके अभाव मे शिक्षक-प्रशिक्षक आर्थिक क्षति का ही नहीं अपितु संपूर्ण शैक्षिक स्तरों मे गिरावट लाने का एक स्रोत बन जाता है। अतः शिक्षक-प्रशिक्षण की गुणता मे सुधार लाना सर्वोपरि महत्वपूर्ण कार्यक्रम है। यह अनेक प्रकार से किया जा सकता है, जिसमे सेवारत अध्यापकों को प्रशिक्षित करने के कार्यक्रम को प्रभावपूर्ण बनाना भी शामिल है।* तब से सतत गुणात्मक प्रशिक्षण को सुनिश्चित बनाए रखने के लिए क्या विकल्प हों, इस सबंध में नए-नए शोध हो रहे हैं। सेण्टर फॉर एडवांस स्टडी इन एजुकेशन (बड़ौदा), एन.सी.ई.आर.टी. (नई दिल्ली), नेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ एजुकेशनल पलानिंग एंड एडमिनिस्ट्रेशन (नई दिल्ली), आई.आई.ई. (पुणे), कुछ विश्वविद्यालयों के शिक्षा विभाग, एवं शिक्षा सस्थान जिनमे विश्वभारती (शातिनिकेतन) और जामिया मिलिया (दिल्ली) शामिल हैं, आदि संस्थाओं ने शिक्षा के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण शोधकार्य किया है। क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालयों ने एकीकृत पाठ्यक्रम का प्रशिक्षण कार्यक्रम प्रस्तुत किया है। विभिन्न प्रशिक्षण संस्थाओं ने ग्रीष्मकालीन प्रशिक्षण पाठ्यक्रम, अंशकालिक अथवा अल्पकालिक प्रशिक्षण कार्यक्रम तथा पत्राचार एवं संपर्क कार्यक्रम प्रारंभ किए है। इस दिशा में मैसूर स्थित भारतीय भाषाओं का केन्द्रीय संस्थान ने आकाशवाणी तथा राज्य के शिक्षा विभागों के सहयोग से एक नया-प्रवर्तन किया है। इसने केरल तथा तमिलनाडु राज्यों में शिक्षकों के गुणात्मकं वर्द्धन कार्यक्रम को प्रारंभ किया है। इसने आकाशवाणी के प्रसारण को परस्पर अनुबंधित पत्राचार पैकेज के साथ संयुक्त करके एक ही समय मे बड़े पैमाने पर शिक्षक-प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाकर एक नई दिशा प्रदान की है।

वस्तुतः देश के तीन शीर्षस्थ भाषा संस्थानों (केन्द्रीय आंग्ल तथा विदेशी भाषा संस्थान, हैदराबाद, केन्द्रीय हिंदी संस्थान, आगरा तथा केन्द्रीय भारतीय भाषा संस्थान, मैसूर जो विश्वविद्यालय स्तर की संस्थाएं हैं) ने शिक्षक-प्रशिक्षण विधियों तथा भाषा शिक्षण संबंधी शिक्षण-सामग्री और मीडिया प्रयोग के संबंध मे नवीनीकरण का इतना अधिक कार्य किया है, जितना कोई भी विश्वविद्यालय किसी एक विषय-क्षेत्र मे नहीं कर सका है। दुर्भाग्य से इसका वांछित गुणात्मक प्रभाव नहीं पड सका है। यही कारण है कि भाषा शिक्षण के क्षेत्र में भी शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाएं तथा विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग आधुनिक ज्ञान की दृष्टि से बहुत पीछे रह गए हैं।

विद्यालय तथा अध्यापक दोनों की भूमिकाओं में गुणात्मक परिवर्तन हुए है। विद्यालयों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपना संबंध उत्पादनपरक समाज, कार्यपरक युवकों तथा प्रक्रिया-परक शिक्षा से स्थापित करें, पर हमारी परंपरागत शिक्षा केवल सूचना प्रदान करने, तथ्यों को ढूँढने और कौशलों के विकास पर ही केन्द्रित है। इस प्रकार अध्यापक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह परिवर्तन लाने वाला अभिकर्ता है, गति प्रदान करने वाला है, समाज की विकासशील

[9] एस. शुक्ला, 1985, *टीचर एजुकेशन — इशूज़ एंड आल्टरनेटिव्ज,* जे.पी. नाइक नेशनल सेमिनार मे प्रस्तुत प्रबंध, 1984-85, आइ.आइ.ई., पुणे

आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशील और सुविधा प्रदान करने वाला निर्देशक है तो परंपरागत शिक्षक-प्रशिक्षण उसे बदलते हुए नमूनों और पाठ्यपुस्तकों की मृगतृष्णा के पीछे भटकने के लिए विवश करता है। इस प्रक्रिया में पारंपरिक प्रज्ञा संश्यात्मक ज्ञान की खोज मे खो जाती है और ज्ञान सूचनाओं के अंबार के नीचे विलुप्त हो जाता है।

वर्तमान औपचारिक शिक्षा अपने ढाँचे मे बिना आमूल रूपांतरण के आज के विकासशील समाज की माँगों की पूर्ति नहीं कर सकती। हमारे जैसे देशों में अध्यापक-शिक्षा के केन्द्रिक कार्यक्रम को एक ओर कंप्यूटर साध्य शिक्षा और दूसरी ओर नई अधिभाषा के पीछे पड़ने से संबंधित विचार-तरंगों से बचना होगा।

शिक्षा की किसी भी अन्य शाखा की भाँति शिक्षक-प्रशिक्षण को भी बहु-माध्यमी और बहुसारिणी (मल्टी मीडिया तथा मल्टी चैनल) कार्यक्रम की भाँति देखा जाना होगा और यदि उसे शिक्षा तथा समाज की सेवा करनी है, तो उसमें संपूर्ण समाज को सम्मिलित करके उसके कार्यक्रम को अभिकल्पित और क्रियान्वित करना होगा।

विकासशील देशों में, जहाँ निरक्षरता को दूर करने पर विशेष बल दिया जाता है, शिक्षकों मे यह भेद किया जाता है—एक वे शिक्षक जो निरक्षरता दूर करेगे और दूसरे वे जो परिष्कृत ज्ञान देंगे।[10] ये उपागम तथा अभिवृत्तियाँ पिछड़ेपन की ही द्योतक है, क्योंकि ये यह मान कर चलती हैं कि अपढ़ लोगों को परिष्कृत ज्ञान की न तो आवश्यकता है और न इसे अपनाने की उनमें क्षमता ही है। इसके परिणामस्वरूप साक्षरता प्रसार का हमारा उत्साहहीन उपागम एक अनुष्ठान मात्र अथवा अधिक से अधिक एक प्रतीकात्मक मुद्रा मात्र बनकर रह जाता है और परिष्कृत ज्ञान प्रदान करने वाली उच्च शिक्षा अधिकांश नागरिकों के लिए अप्रासंगिक और असंगत हो जाती है। अतः शिक्षा तथा संचार प्रणाली का यह उत्तरदायित्व है कि साक्षरता हो या न हो, पर वे शिक्षित समाज का सृजन करे। साक्षरता ऐसे प्रयासों से ही समर्थन और संबल प्राप्त कर सकती है।

विकसित तथा विकासशील देशों में ज्ञान के अधिकतर क्षेत्रों में क्रमशः सिद्धांत-निर्माण व सिद्धांत-वितरण का श्रम विभाजन पाया जाता है। अधिगम-शिक्षण इसका अपवाद नहीं है। उन्नत देशों के अनुभवों पर आधारित सिद्धांत विकासशील देशों के लिए अप्रासंगिक ही नहीं दुष्प्रभावी भी हो सकते हैं। यदि शिक्षा को सार्थक और सर्जनात्मक होना है तो उसे अपने देश की ही प्रतिभा पर विश्वास करना होगा। इस दिशा में कुछ समकालीन प्रवृत्तियां केरल शास्त्र साहित्य परिषद् तथा किशोर भारती के क्रियाकलापों में देखने को मिलती है जिन्होंने अपने शिक्षा विज्ञान के लिए अपनी ही आधार-भूमि से प्रेरणा ग्रहण की है। यदि हम अपने विविध समाजों को संस्कृति के साम्राज्यवादी प्रभाव से बचाना चाहते है तो अध्यापक-शिक्षा मे परंपरा और आधुनिकता का समन्वय करना ही होगा।

---

[10] डी.एन सिन्हा, 1967, ऐड्रेस, *रिपोर्ट ऑफ दि टेथ कांफ्रेंस ऑफ़ इंडियन एसोसिएशन ऑफ टीचर एजुकेटर्स*, भुवनेश्वर

एच॰ एस॰ सिंघा

अध्यापन का व्यवसायीकरण



एच.एस. सिंघा

एच.एस. सिंघा *(जन्म 1932) ने शिक्षा में डॉक्टरेट की उपाधि जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से प्राप्त की। इन्होंने पंजाब और दिल्ली विश्वविद्यालयों के विभिन्न महाविद्यालयों में गणित का अध्यापन किया। ये राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् में रीडर; भारतीय विश्वविद्यालय संघ में परियोजना अधिकारी (परीक्षा); और केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के सचिव रह चुके है। आजकल ये गुरु हरकिशन पब्लिक स्कूल, वसंत विहार, नई दिल्ली के निदेशक और प्रिंसिपल हैं। विद्यालयों के लिए इनकी लिखी गणित की पुस्तकमाला बड़ी लोकप्रिय है। इन्होंने परीक्षा-सुधार एवं सिख धर्म पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं।*

अध्यापन का व्यवसायीकरण

शैक्षिक योजना की एक स्वयंसिद्धि यह है कि शिक्षा की गुणता बहुत कुछ शिक्षकों की गुणता पर निर्भर है। यद्यपि विशाल भवन, आधुनिक उपकरण और साज-सज्जा तथा पाठ्यपुस्तकें आदि महत्वपूर्ण है, पर वे प्रभावहीन सिद्ध होती हैं यदि ऐसे कल्पनाशील और सक्षम शिक्षक न हों, जो बच्चों को उनका उचित प्रयोग सिखा सकें। शिक्षा आयोग (1966 ई.) की आख्या में यह व्यंजित है, जहाँ उसने कहा है कि शिक्षा की गुणता को प्रभावित करने वाले और राष्ट्रीय विकास मे योग देने वाले सभी कारकों में निस्संदेह ही शिक्षक की योग्यता, क्षमता और चरित्र सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। माध्यमिक शिक्षा आयोग (1954 ई.) का भी यही मत है कि सुनियोजित शैक्षिक पुनर्गठन का सबसे महत्वपूर्ण घटक शिक्षक है अर्थात् उसकी वैयक्तिक गुणता, उसकी शैक्षिक योग्यता, उसका व्यावसायिक प्रशिक्षण तथा विद्यालय और समुदाय में उसका स्थान। उसकी यही मान्यता है कि विद्यालय की ख्याति और सामुदायिक जीवन पर उसका प्रभाव निश्चित ही इस बात से निर्धारित होता है कि वहाँ किस कोटि के शिक्षक कार्य करते हैं। अतः इस वास्तविकता को हम पुनः दुहरा सकते हैं कि किसी भी शिक्षा-प्रणाली मे अध्यापक का स्थान सर्वोच्च है। वस्तुतः कोई भी शिक्षा प्रणाली अपने शिक्षकों के स्तर के अनुरूप ही ऊँची उठ सकती है।

जैसी कि आज स्थिति है, भारत में अधिगम के भव्य रंगशाला मंच पर शिक्षक का केन्द्रवर्ती स्थान है। शिक्षकों द्वारा औपचारिक शिक्षा के माध्यम से अधिगम के लिए ही विद्यालयों का संगठन किया जाता है। इस प्रकार विद्यालयी शिक्षा ही शिक्षा का प्रतिनिधित्व करती है। भूल से अधिगम तथा शिक्षा को समानार्थी मान लिया गया है। कम से कम अध्यापकों से तो यही आशा की जाती है कि वे ऐसा ही करें और हम भी वैसा ही विश्वास कर लें। दुर्भाग्यवश, यद्यपि अधिगम के सिद्धांतों की भरमार है, पर अधिगम प्रक्रिया की हमारी समझ अपूर्ण और अधूरी है। लोग कैसे सीखते हैं? परिवेशीय स्थितियाँ अधिगम के लिए सर्वाधिक योग प्रदान करती हैं, सीखा हुआ ज्ञान इतना शीघ्र कैसे विस्मृत हो जाता है, अथवा कुछ बच्चे सीख लेते हैं और कुछ बच्चे नहीं सीख पाते आदि-आदि बातों के बारे में बहुत ही कम मालूम है। अधिगम को शिक्षा में परिणत कर देने का संबंधसूत्र ही विलुप्त है। इन सूचनाओं के अभाव में हमारे विद्यालयों मे तत्काल उपचार के लिए नीम-हकीमों का प्रवेश हो जाता है जिससे व्याधि और भी बढ़ जाती है। इन कारणों से अधिगम तथा शिक्षा के लिए उपयुक्त स्थिति का निर्माण करने मे शिक्षक का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। नीम-हकीमी तथा वास्तविक उपचार का अंतर शिक्षक का ज्ञान और उसकी विशेषज्ञता का है। सभी शैक्षिक मनोकल्पनाओं का वह विक्रेता है और दिलचस्प बात तो यह है कि उसकी औषधियों के लिए बँधे-बँधाए ग्राहक विद्यमान हैं। ऐसी परिस्थिति मे नीम-हकीमों की जगह व्यवसायी शिक्षकों की आवश्यकता है जो अपनी सहज प्रज्ञा

अथवा अन्य विधियों से विद्यालय में अधिगम को वास्तविक शिक्षा में परिणत करना जानते हों।

सीखने के सिद्धांतों में अंतराल होने के अतिरिक्त आज के अध्यापक को एक दूसरी चुनौती का भी सामना करना पड़ता है और वह है सूचनात्मक विज्ञान। शिक्षक दूसरों को ज्ञान का विक्रय करके अपनी आजीविका अर्जित करते हैं, जैसे डाक्टर, वकील, इंजीनियर, वास्तुशिल्पकार आदि। ज्ञान के व्यापार में उनकी संख्या सबसे अधिक है और इस संख्या के और भी बढ़ते जाने के लक्षण हैं। शीघ्र ही यह प्रवृत्ति विपरीत दिशा मे जा सकती है क्योंकि व्यावसायिक रूप का ज्ञान और सूचना भी सूक्ष्म संसाधनों द्वारा नियंत्रित यंत्रों से प्राप्त हो सकती है। यदि निकट भविष्य में ही सूचना-संग्रह और संप्रेषण का रूप बदल जाता है, विश्वास के साथ नवीन प्रौद्योगिकी को प्रयोग में ला सकने वाली नई पीढ़ी को लगभग सभी ज्ञान आवश्यकतानुसार अपने घर में ही प्राप्त करना सुगम हो जायेगा। ऐसी स्थिति में विद्यालयों में होने वाली शिक्षा के अस्तित्व को ही, जिसका उद्देश्य ज्ञान का संचार करना है, गंभीर चुनौती का सामना करना पड़ेगा। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि शिक्षक अनावश्यक हो जायेगा, पर निश्चित ही एक नए प्रकार के शिक्षकों की आवश्यकता पड़ेगी। इन सबका यह तात्पर्य है कि उपदेशात्मक शिक्षण स्वतः निरर्थक हो जायेगा। विद्यालयों में भावी शिक्षकों का काम मुख्यतः शिक्षार्थियों की अभिवृत्तियों से संबंधित होगा और ऐसे ज्ञान तथा कौशल प्राप्त करने की इच्छा और जिज्ञासा को उद्बोधित करना होगा जो उनके जीवन को समृद्ध कर सके।

वर्तमान की समस्याओं और भविष्य की चुनौतियों के संदर्भ में प्रस्तुत लेख का प्रतिपाद्य विषय यह है कि भारत मे शिक्षा की गुणता को सुनिश्चित करने का सर्वोत्तम उपाय अध्यापन के व्यवसायीकरण को अधिकाधिक संवृद्ध करना है। अब तक की शैक्षिक योजनाओं में इस पर अपेक्षित सीमा तक ध्यान नहीं दिया गया है। अपने आप में शिक्षण और व्यवसाय के रूप में शिक्षण के बीच महत्त्वपूर्ण अंतर स्पष्ट करने की आवश्यकता है। यह सुविदित है कि लोग अपने कुत्ते को पिछली टाँगों पर खड़ा होना सिखाते हैं, अपने मित्रों को ताश खेलने के दाँव-पेच सिखाते हैं और अपने बच्चों को डेज़ी श्रृंखला बनाना सिखाते हैं, पर इनके द्वारा उनकी शिक्षा में कोई आवश्यक योगदान नहीं माना जाता है। इस प्रकार का सिखाना अधिक से अधिक प्रशिक्षण (ट्रेनिंग) ही कहा जा सकता है। अतः प्रासंगिक संबंध अपने आप में अध्यापन और शिक्षा के बीच नहीं, अपितु व्यवसायिक अध्यापन और शिक्षा के बीच है। दूसरे शब्दों में व्यवसायी शिक्षक ही अधिगम को शिक्षा में परिणत करता है।

* * *

वृत्ति (अकुपेशन), रोजगार या धंधा (वोकेशन) और व्यवसाय (प्रोफेशन) पदों में सूक्ष्म भेद करना सरल नहीं है। वृत्ति एक सामान्य पद है जिसका अर्थ कोई विशेष कार्य अथवा कार्य का तरीका है जिसमे कोई व्यक्ति लगा हुआ हो। इससे किसी के जीवन का मुख्य पेशा द्योतित होता है। रोजगार का भी वही अर्थ है और इससे उस कार्य का बोध होता है जिसमें व्यक्ति नियमित रूप से लगा रहता है। सामान्यतः इसमें कुछ कौशलों का सन्निवेश होता है। वृत्ति (अकुपेशन) और रोज़गार (वोकेशन) को एक-दूसरे के लिए प्रयोग कर सकते हैं, पर व्यवसाय का प्रयोग इन दोनों पदों से भिन्न किसी और अर्थ के लिए किया जाता है। कुछ ही शब्द ऐसे होंगे जो व्यवसाय की तरह मनमाने अर्थों में प्रयुक्त होते हों। मोटे तौर पर हम सहमत हो सकते हैं कि *व्यवसाय एक ऐसी वृत्ति है जिसका आधार विशिष्ट अध्ययन और प्रशिक्षण है और जिसका उद्देश्य निश्चित शुल्क या वेतन लेकर दूसरों को कौशलपूर्ण सेवा या परामर्श देना है*

(— ए.एम.कार-सांडर्स, पृष्ठ 31) । यह एक ऐसा रोजगार है जिसमें अधिगम से संबंधित किसी शाखा के विशिष्ट ज्ञान का प्रयोग दूसरों के मामले मे अथवा उस पर आधारित कला के अभ्यास मे किया जाता है। प्रायः प्रत्येक विशिष्ट समूह, ज्योंही उसके सदस्य समाज के लिए महत्वपूर्ण सेवा प्रदान करने का दावा कर सकें, एक व्यवसाय के रूप में अपनी पहचान शुरू कर देता है। कुछ वर्ष पूर्व जो नई वृत्तियाँ थीं, अब वे पूर्णतः व्यवसाय के रूप में मान्य हैं और नए व्यवसायों का भी बड़ी तीव्र गति से उद्भव होता जा रहा है। अतः हम व्यवसाय शब्द के अर्थ की जाँच कुछ और सूक्ष्मता से करें।

यहाँ यह संकेत कर देना समीचीन है कि व्यवसाय एक सामाजिक घटना है, एक मिश्रित प्रकार की सामाजिक घटना। किंतु किसी सामाजिक घटना का एक महत्वपूर्ण लक्षण अर्थ का आयाम है, फलतः उसके सीधे निरीक्षण की अपेक्षा उसका सही बोध आवश्यक है। दूसरे शब्दों में व्यवसाय का अस्तित्व उसके सदस्यों द्वारा अपनी सदस्यता के प्रत्यक्षीकरण और साथ ही शेष समुदाय द्वारा इसे मान्यता देने पर निर्भर है। इस दृष्टि से जब हम व्यवसाय का निर्माण करने वाली जन-समष्टि की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य यह होता है कि उस व्यवसाय के लोग अपने को किस रूप में देखते हैं और दूसरों के द्वारा किस रूप में देखे जाते हैं।

उपर्युक्त समाजशास्त्रीय पक्ष के अतिरिक्त हम उस समूह के महत्वपूर्ण लक्षणों की सूची प्रस्तुत कर सकते हैं जिनसे व्यवसाय का निर्माण होता है —

1. उस सिद्धांत पर आधारित विशेषीकृत ज्ञान-निकाय जो समष्टि के कार्य का आधार होता है।
2. शैक्षिक संप्रेषणीय प्रविधि के द्वारा पर्याप्त दीर्घकालीन औपचारिक प्रशिक्षण की प्रक्रिया।
3. व्यवसाय की सदस्यता को प्रमाणित अथवा वैध बनाने की क्रियाविधि।
4. निष्पादन के मानकों के रूप — बौद्धिक, व्यावहारिक तथा नैतिक। व्यवसाय के सदस्यों द्वारा क्रियान्वित तथा परिभाषित आचार-संहिता।
5. परहितकारी उद्देश्यों के लिए अधिकाधिक कार्य संलग्न रहना अर्थात् सदस्यों द्वारा सामाजिक और आर्थिक प्रतिमानों के अनुसार आजीवन प्रतिबद्धता।
6. निकाय के रूप में सदस्यों द्वारा स्वयं संगठन की प्रवृत्ति। यह निकाय व्यावसायिक चिंतन, प्रतिमानों का नियंत्रण तथा सभी व्यावसायिक मामलों में परामर्श देने से संबंधित पूरे दल का प्रतिनिधित्व करता है। इसका यह भी आशय है कि उस व्यवसाय में संलग्न व्यक्ति तथा समग्र दल दोनों को ही व्यापक स्वायत्तता प्राप्त रहती है।

व्यवसायीकरण निश्चित हीं द्विभाजी नहीं है। यह एक निरंतरता है जिससे विभिन्न समूह विभिन्न स्तरों पर उस सीमा तक व्यवसायीकृत हो सकें जिस सीमा तक उपर्युक्त लक्षणों की पूर्ति हो जाए।

* * *

सर्वप्रथम हम यह देखें कि क्या अध्यापन कार्य दूसरों के द्वारा मान्य एक सामाजिक संवृत्ति के रूप में व्यवसाय कहलाने के योग्य है। संख्या की दृष्टि से मापने पर अध्यापन निस्संदेह ही विश्व का सबसे बड़ा समूह है जो एक रोजगार (वोकेशन) में संलग्न है। सारे विश्व में लगभग दो करोड़ अध्यापक हैं। वर्तमान विश्व के सभी देशों के लिए नहीं, अधिकांश देशों के लिए इस

समूह का एक स्थिर सत्य यह है कि यह महिलाओं का रोजगार है। विशेषतः प्राथमिक स्तर पर अध्यापिकाओं का ही बाहुल्य है। दो करोड़ अध्यापकों में से मोटे तौर पर दो तिहाई महिलाएँ हैं। भारत में स्थिति कुछ भिन्न है। चौथे अखिल भारतीय शैक्षिक सर्वेक्षण के अनुसार भारत में विद्यालयीस्तर तक लगभग तीस लाख अध्यापक हैं जिनमें केवल 27% ही महिलाएँ हैं।

शिक्षकों के संबंध में दूसरों की सम्मति उस भूमिका पर निर्भर है जिसे विश्व के ये दो करोड़ अध्यापक सामुदायिक कार्यों में प्रतिभागी के रूप में निभा रहे हैं। व्यापक रूप में एक अध्यापक का कार्य शिक्षार्थी को ज्ञान प्रदान करने के माध्यम से विषय सीखने में सहायता करनी है और एक ऐसी स्थिति का भी निर्माण करना है जिसमें शिक्षार्थी प्रभावपूर्ण ढंग से सीख सकें और अवश्य सीखें। किंतु यह कार्य करते हुए शिक्षक समाज के साथ अंतःक्रिया भी करता है, अतः शिक्षक बहुआयामी भूमिकाओं का निर्वाह करता है। ये भूमिकाएँ समुदायों और शैक्षिक स्तरों के अनुसार भिन्न होती हैं।

कुछ भूमिकाओं का निर्वाह विद्यालय अथवा विश्वविद्यालय में होता है और कुछ का समुदाय में। जिन भूमिकाओं का निर्वाह विद्यालय अथवा विश्वविद्यालय में होता है, वे हैं :—

> अधिगम में मध्यस्थ; छात्र-व्यवहार का अनुशासक और नियंत्रक; माता-पिता का स्थानापन्न; छात्रों का विश्वासपात्र; उपलब्धि का निर्णायक; पाठ्यक्रम का संगठनकर्ता; नौकरशाह (ब्यूरोक्रेट); अध्येता तथा शोध-विशेषज्ञ; और शिक्षक संगठन का सदस्य।

मुख्य रूप से जिन भूमिकाओं का निर्वाह समुदाय में करना पड़ता है, वे हैं —

> जन-सेवक; मध्यमवर्गीय नैतिकता का प्रच्छन्न प्रतिनिधि; ज्ञान और कौशल के कुछ क्षेत्रों का विशेषज्ञ; समुदाय का नेता; तथा सामाजिक परिवर्तन का अभिकर्ता।

सामान्य रूप से छोटे समुदायों में सामुदायिक संगठनों तथा क्रिया-कलापों में शिक्षक को नेतृत्व की भूमिका अदा करनी पड़ती है। बड़े तथा शहरी केन्द्रों में जहाँ नेतृत्व के लिए अधिक प्रतिस्पर्धा है, वहाँ समुदाय के क्रिया-कलापों में उसका प्रमुख स्थान नहीं है। वहाँ विद्यालय के शिक्षकों की अपेक्षा विश्वविद्यालय तथा महाविद्यालय के शिक्षक विशेष रूप से विद्वान तथा शोध-विशेषज्ञ, समुदाय के नेता तथा सामाजिक परिवर्तन के अभिकर्ता के रूप मे अधिक प्रभावी भूमिका का निर्वाह करने योग्य होते है। यही कारण है कि प्रशिक्षित न होते हुए भी वे विद्यालय के शिक्षकों की अपेक्षा व्यवसाय विशेषज्ञों के रूप में अधिक सम्मान प्राप्त करते हैं।

व्यवसायीकरण के स्तर तथा सामाजिक प्रतिष्ठा में द्विमुखी संबंध हैं। संपूर्ण विश्व में और भारत में विशेष रूप से, शिक्षक अच्छी सामाजिक मर्यादा के लिए, जिसमें अधिक वेतन भी शामिल है, आंदोलन करते रहे हैं। शिक्षण तथा शिक्षकों की समस्याओं के अध्ययन के लिए भारत सरकार ने राष्ट्रीय स्तर के दो शिक्षक-आयोगों का गठन इसलिए किया है कि वे अध्यापकों के कार्य-संपादन की स्थितियों तथा सामाजिक प्रतिष्ठा में सुधार के लिए अपनी संस्तुति दें। वे संस्तुतियाँ किस सीमा तक उनकी सामाजिक-प्रतिष्ठा तथा व्यवसायीकरण के संबंधों को मजबूत बना सकेंगी यह अनुमान का विषय है। साधारणीकरण के रूप में ऐसा प्रतीत होता है कि जन साधारण के मन में शिक्षकों की सामाजिक मर्यादा की श्रेणीबद्धता का क्रम इस प्रकार है —

1. महाविद्यालय का शिक्षक।
2. माध्यमिक विद्यालय का शिक्षक। तथा

3. प्राथमिक विद्यालय का शिक्षक।

शहरीकरण के विकास के परिणामस्वरूप शिक्षकों का छात्रों के माता-पिता से निकट और दैनन्दिन संपर्क से दूर होते जाने के कारण उनके प्रति सम्मान की भावना को निश्चित रूप से आँकना दुष्कर होता जा रहा है। निश्चय ही समाज में शिक्षक के अपरिहार्य महत्व के संबंध मे निरंतर उद्घोषणाएँ होती रही है, परंतु इन उद्घोषणाओं को सार्वजनिक नीति में कोई सार पूर्ण स्थान नहीं मिलता।

एक बात स्पष्ट है कि भारत मे विश्वविद्यालय के शिक्षकों अथवा अन्य व्यावसायिक दलों के विपरीत विद्यालय का शिक्षक एक सामाजिक रूढ़ि के रूप मे विकसित हुआ है। यह देखा जाता है कि विद्यालयों में शिक्षण-कार्य औसत दर्जे के उन लोगों के लिए शरणालय सा है जो परिश्रमी हैं परंतु कल्पना रहित और कारयित्री प्रतिभा से हीन हैं। इनमें स्वतंत्रता तथा सामाजिक साहस का अभाव है, पर बच्चों के लिए अगाध प्रेम है। व्यावसायिक दायित्व की दृष्टि से सामान्य विद्यालय-अध्यापक का उस तरह का कोई वैयक्तिक प्रभाव नहीं रहता, जैसा कि वकील, डॉक्टर अथवा इंजीनियर का समष्टि के संबंध में पाया जाता है। शिक्षक श्रेणी की परंपरा में अभी भी विस्तृत शिक्षा, धैर्यपूर्ण और श्रमपूर्वक तैयारी, सावधान तथा विनम्र प्रशिक्षण की माँग नहीं है जो कि एक वास्तविक पांडित्य वाले व्यवसाय में प्रवेश के लिए आवश्यक माना जाता है। अतः यह आश्चर्यजनक नहीं है कि वे व्यक्ति जिनसे यह आशा की जाती है कि वे शिक्षा की देख-रेख करेंगे, प्रायः उच्च शिक्षित वर्ग से नहीं आते। वे सामान्यतः पहली पीढ़ी के स्नातक होते हैं, ग्रामीण अंचलों में शिक्षा प्राप्त किए रहते हैं अथवा केवल अपनी शिक्षा-प्राप्ति के आधार पर सामाजिक गतिशीलता की तलाश में रहते है। कभी-कभी इनमें अपवाद रूप से वे महिलाएँ भी होती हैं जो उच्च शिक्षा प्राप्त परिवारों से आती हैं और शिक्षण-कार्य को विश्राम के रूप में अथवा अल्पकालीन कुछ घंटों के लिए अपनाती हैं, जिसका मेल उनके घरेलू जीवन के उत्तरदायित्व के साथ बैठ सके और सामाजिक प्रतिमानों तथा स्वीकृति का भी निर्वाह हो सके। जहाँ तक पुरुषों का संबंध है यह ध्यान देने योग्य दिलचस्प और विचित्र घटना है जो भारत में पिछले चालीस वर्षों में स्पष्ट रूप से उजागर हुई है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पहले शहरी, शिक्षित व्यक्ति ग्रामीण क्षेत्रों में अध्यापक होकर चले जाते थे, किंतु आजकल ग्रामीण अंचलों के लोग शहरी विद्यालयों में शिक्षण-कार्य को अपना रहे हैं। कारण स्पष्ट है — शहरी शिक्षित व्यक्ति के लिए अच्छे व्यवसायों को ढूँढ़ने के अवसर सुलभ हैं। विद्यालय का शिक्षक आज भी कम वेतन पाता है और जीवन निर्वाह करने में कठिनाइयों का सामना करता है। शिक्षण ऐसी वृत्ति है जिसमें आगे बढ़ने के द्वार बंद से हैं। एक बार अध्यापक तो सर्वदा अध्यापक। प्रोन्नति के मार्ग सीमित है। वे स्वयं को उपेक्षितों की श्रेणी मे समझते है। उनकी एक स्थायी सी शिकायत भरी माँग जो कभी-कभी हड़ताल का भी कारण होती है यह है कि उनको भी प्रोन्नति के अवसर प्रदान किए जाएँ। भारतीय प्रशासनिक सेवा का नवयुवक प्रवेशार्थी, सेना का कमीशंड अफसर, बैंक की सेवा में नई भर्ती का व्यक्ति अथवा राज्य विद्युत परिषद् का अभियंता शीघ्रता से प्रोन्नति पा जाते हैं। पर शिक्षकों के मामले में प्रगतिरोध उनके मुख की ओर घूर कर देखता रहता है। यदि किसी व्यवसाय की अन्य विशेषताओं की ओर देखें तो शिक्षण ने एक लंबा रास्ता तय किया है। अनेक वैधानिक तथा शासकीय कदम उठाए गए है जिनसे शिक्षण के व्यवसायीकरण में सहायता मिली है। शिक्षकों से जिन योग्यताओं की अपेक्षा है उन्हें तीन शीर्षकों में रखा जा सकता है — 1. विषय वस्तु, 2. शिक्षा विज्ञान, तथा 3. शिक्षा;जिनकी विभिन्न विषय-समूहों अथवा संयोगों में आवश्यकता होती है। विषय-वस्तु संबंधी योग्यताओं का स्तर इधर कुछ वर्षों से उन्नत किया जा रहा है। उदाहरण के लिए पचास वर्ष पहले द्वितीय श्रेणी में स्नातकोत्तर छात्र

विश्वविद्यालय अथवा महाविद्यालय में प्रवक्ता बनने की आकांक्षा रख सकता था, परंतु अब वेतनमानों में संशोधन हो जाने के बाद प्रवक्ता के लिए निर्धारित निम्नतम योग्यता डॉक्टरेट (पी-एच.डी.) की उपाधि हो गई है। इसी प्रकार पचास वर्ष पूर्व बहुतेरे प्राथमिक शिक्षक हाईस्कूल की भी योग्यता नहीं रखते थे। परंतु अब उच्चतर माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने के उपरांत एक अथवा दो वर्ष का शिक्षक-प्रशिक्षण प्राप्त किए बिना कोई भी प्राथमिक स्तर का शिक्षक होने की बात नहीं सोच सकता है। योग्यता-स्फीति की बात को पूर्णतः नकारा नहीं जा सकता, जो कुछ अंशों तक सही भी है। इससे अध्यापन के व्यवसायीकरण का स्तर निश्चित रूप से ऊँचा उठा है।

जहाँ तक शिक्षा-विज्ञान तथा शिक्षा की बात है, प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर के शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण महाविद्यालय इस दायित्व का निर्वाह करते हैं। इधर एक विशेष प्रकार के ज्ञान का आविर्भाव हुआ है जिसे *पैडागॉजी* अथवा शिक्षा-शास्त्र कहते हैं। शिक्षकों के प्रशिक्षण की पाठ्यचर्या इसी शिक्षा-शास्त्र के आधार पर निर्मित की जाती है। प्रशिक्षणोपरांत शिक्षक होने का प्रमाणपत्र प्रशिक्षार्थियों को दिया जाता है। पंडित तथा शिक्षा-शास्त्री के मध्य चलने वाले शीत युद्ध में ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यालयी स्तर पर शिक्षा-शास्त्री ने विजय हासिल कर ली है। राज्य के शिक्षा-विभागों ने शिक्षक-प्रशिक्षण के लिए निम्नतम योग्यता निर्धारित कर दी है। चतुर्थ अखिल भारतीय शैक्षिक सर्वेक्षण के अनुसार प्राथमिक स्तर के 86.7 प्रतिशत शिक्षक प्रशिक्षित हैं फिर भी मणिपुर, मेघालय, नागालैंड, पश्चिमी बंगाल तथा अरुणाचल प्रदेश मे प्राथमिक स्तर के अध्यापकों का बड़ा भाग अप्रशिक्षित है। इसी प्रकार जूनियर हाईस्कूल अथवा मिडिल स्तर पर 86.67 प्रतिशत शिक्षक प्रशिक्षित हैं। इस स्तर पर मेघालय में सबसे अधिक शिक्षक (81.8%) अप्रशिक्षित हैं। असम, मणिपुर, मेघालय, नागालैंड, सिक्किम तथा मिजोरम में पचास प्रतिशत से अधिक शिक्षक अप्रशिक्षित हैं। माध्यमिक स्तर पर 87.5 प्रतिशत अध्यापक प्रशिक्षित हैं। असम, मेघालय, मणिपुर, नागालैंड तथा मिजोरम में अप्रशिक्षित अध्यापकों की संख्या प्रशिक्षित अध्यापकों से कहीं अधिक है।

इन विकासों ने अध्यापन को एक व्यवसाय का रूप दिया है, परंतु उसे पूर्ण रूप से व्यवसाय का स्वरूप देने के लिए शिक्षा-सुधारकों, सरकारी योजनाकारों तथा शिक्षक संगठनों द्वारा और भी अधिक संयुक्त प्रयासों की आवश्यकता है। अब भी कुछ प्रतिमानों की आपूर्ति शेष है। एक अध्यापक सारे जीवन भर अध्यापक भले ही रहे, परंतु तब भी उसमें अपने कार्य के प्रति आजीवन प्रतिबद्धता विकसित होनी चाहिए। शैक्षिक स्तर को बनाए रखने और उसमें सुधार लाने के दायित्व को निभा सकने वाले शैक्षिक संगठन अभी नहीं बन पाए हैं। अतः हम कह सकते हैं कि शिक्षण का व्यावसायिक स्तर हाल में ऊँचा अवश्य उठा है परंतु यह अब भी अर्द्धव्यावसायिक स्तर से अधिक ऊँचा नहीं उठ सका है।

* * *

अर्द्धव्यवसाय के रूप में शिक्षण का क्रमिक विकास इतिहास के उत्थान-पतन के माध्यम से हुआ है। कोई व्यक्ति यह धारणा बना सकता है कि भारत मे कम से कम सामाजिक कार्य-व्यापार की दृष्टि से शिक्षण को एक व्यवसाय का सम्मान प्राप्त था। जाति प्रथा की अत्यधिक श्रेणीबद्धता के रूप में यह रूढ़िबद्ध हो गया था। यह प्रक्रिया संभवतः मध्ययुग तक चलती रही। अधिकतर अध्यापक ब्राह्मण थे जिनका इस व्यवसाय से लगाव परंपरा से प्राप्त सम्मान

के कारण अधिक था। यह लगाव आर्थिक लाभ के कारण नहीं था चाहे वह धन के रूप में हो या वस्तु के। तत्कालीन विद्यालय का शिक्षक अपने समुदाय से कुछ विशेष अधिकारों का दावा कर सकता था जिससे उसके अल्पवेतन की क्षतिपूर्ति पर्याप्त सीमा तक हो सकती थी। वह पूर्णतः उस जन-समुदाय का सम्मानित व्यक्ति माना जाता था जिसके बच्चों को वह पढ़ाता था। लोग अपने हृदयों तथा घरों में उन्हें सदा स्मरण करते थे। प्रत्येक बड़े भोज पर उसे अनिवार्य रूप से आमंत्रित किया जाता था तथा महत्वपूर्ण पर्वों तथा त्यौहारों पर उसे उपहार प्रदान किए जाते थे।

अंग्रेजों के आने पर परिस्थितियाँ तीव्र गति से बदलने लगीं। यद्यपि सामाजिक स्तरीकरण पूर्ण रूप से ध्वस्त नहीं हो पाया था, पर मध्यवर्गीय प्रभुता की प्रवृत्ति प्रकट होने लगी थी। शिक्षा के देशी रूप में स्वतः परिवर्तन होने लगा था। इसका ढांचा यूरोप की उन्नीसवीं शताब्दी की शिक्षा पद्धति के अनुसार विकसित होने लगा था, ताकि एक औद्योगिक समाज में सार्वजनीय साक्षरता की मान्य आवश्यकता की पूर्ति हो सके। शिक्षकों की माँग भी आवश्यक रूप से बढ़ गई। यह स्पष्ट था कि इतने शिक्षकों को उच्च जाति से नहीं लिया जा सकता था, इस कारण शैक्षिक व्यवसाय बहुत बड़ी सीमा तक जाति-निरपेक्ष होने लगा। इसके अतिरिक्त शिक्षा व्यवस्था ऐसी स्थिति में नहीं थी कि वह पर्याप्त संख्या में योग्य अध्यापकों की आपूर्ति जारी रख सके। अतः अनाप-शनाप ढंग से प्रशिक्षित व्यक्ति भी शिक्षक के रूप में स्वीकार्य हो गए।

एक प्रचलित धारणा यह भी थी कि प्राथमिक स्तर का शिक्षण-कार्य किसी सम्मानित घरेलू नौकरी के समान है जिसके अंतर्गत् बच्चों के पालन-पोषण संबंधी पारिवारिक दायित्व का कुछ भाग शिक्षक सँभाल लेता है। उस समय के सामान्य प्राथमिक विद्यालयों मे जो शिक्षक पढ़ाते थे, उनसे यह अपेक्षा की जाती थी कि वह पढ़ने-लिखने तथा गणित के प्रारंभिक ज्ञान की शिक्षा देंगे। प्रत्येक शिक्षक के लिए गुणा भाग, जोड़ घटाना, पहाड़े, अढ़ैये-सवैये आदि का ज्ञान आवश्यक था। इसके अतिरिक्त उसका सुलेख भी कुछ अच्छा हो तथा सरल लेख पढ़ सकने की उसमें योग्यता हो। सामान्य विद्यालयी शिक्षक के लिए इतनी ही योग्यताएँ अपेक्षित थीं। यही कारण है कि शिक्षक को अनभिज्ञ माना जाता था और वास्तव में पुस्तकों से जो ज्ञान प्राप्त करना था, उन्हें भी उतना ही सीखना था, जितना बच्चों को। फलस्वरूप जब सामाजिक स्तरीकरण का प्रभाव कमजोर पड़ गया, या शैक्षिक उपलब्धि निम्न स्तर की हो गई तो स्वाभाविक ही था कि शिक्षक भी अपनी सामाजिक मर्यादा तथा व्यवसायीकरण खो बैठा।

समाज की सामाजिक, आर्थिक और पारिवारिक संरचना मे इधर हुए परिवर्तनों से सभी लोगों के लिए उच्चस्तरीय शिक्षा आवश्यक हो गई है और अब कुछ समय से अच्छी योग्यता वाले तथा प्रशिक्षण-प्राप्त शिक्षकों की आवश्यकता का भी स्पष्ट रूप से अनुभव किया जाने लगा है। कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग (1917-19 ई.) ने कहा था कि प्रशिक्षित शिक्षकों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि की जाय, ढाका तथा कलकत्ता विश्वविद्यालयों में शिक्षा-विभाग की स्थापना की जाय तथा इंटरमीडिएट, बी.ए. और एम.ए. की परीक्षाओं में 'शिक्षा' विषय का समावेश किया जाय। अब भारत के लगभग सभी विश्वविद्यालयों में इसे कार्यान्वित कर दिया गया है। समाज में विद्यालय और विद्यालयी शिक्षा का अर्थ अधिक महत्वपूर्ण बन गया है। विद्यालयी पढ़ाई की अवधि को बारह वर्ष के लिए कर देना, सामान्य रूप से विद्यालयी पाठ्यक्रम को समृद्धिशाली बनाना तथा उच्च शिक्षा की आकांक्षा ने व्यवसायी शिक्षकों की माँग पैदा कर दी है। फलस्वरूप, जैसा ऊपर कहा गया है, अध्यापन-कार्य अधिकाधिक व्यवसायीकृत होता जा रहा है। परंतु लक्ष्य की प्राप्ति में उसे अब भी लंबा रास्ता तय करना है।

* * *

शिक्षण को व्यवसाय की संज्ञा दिए जाने के विषय में उसकी भयावह असमर्थता, उसके इतिहास और परंपरा से ही प्रगट हो जाती है। अनेक कारक उसके व्यवसायीकरण के मार्ग में बाधक हो रहे हैं, इनका संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के प्रारंभ-काल से ही और आज भी अनेक राज्यों में प्रशिक्षण के लिए जिस निम्न स्तर की तैयारी तथा प्रवेश संबंधी अपेक्षाएँ की जाती है उनसे जन-मानस मे शिक्षकों के प्रति एक हीनता तथा अयोग्यता बद्धमूल हो गई है। जनमानस में किसी व्यवसाय का महत्व उसी अनुपात मे होता है जितना उसमे प्रवेश पाने में कठिनाई होती है। उदाहरण के लिए इंजीनियरिंग अथवा मेडीकल कालेज में प्रवेश पाना कितना कठिन होता है। पर शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालयों में प्रवेश पाना कितना सरल होता है। प्रवेश के लिए भाग-दौड़ इस बात पर निर्भर है क्रि प्रशिक्षार्थी उस प्रशिक्षण को प्राप्त करने के बाद समाज मे किस स्तर की प्रतिष्ठा तथा विशेषाधिकार प्राप्त करता है।

अध्यापन को व्यावसायिक प्रतिष्ठा तथा मान्यता प्राप्त करने मे सबसे बड़ी रुकावट संभवतः प्राथमिक विद्यालय के शिक्षकों की हीन भूमिका है। परंपरा से समाज ने यह सोच रखा है कि बच्चा जितना जानता है, शिक्षक को उससे कुछ ही अधिक ज्ञान की आवश्यकता है, जिसे वह पढ़ाता है। यहाँ तक कि कुछ वर्ष पूर्व तक शिक्षण व्यवसाय तक में यही धारणा तथा मान्यता बनी हुई थी। जैसा पहले कहा गया है, भारत मे पचास वर्ष पूर्व जो व्यक्ति माध्यमिक कक्षा तक भी नहीं पढ़ पाता था, और जिसे कोई भी शिक्षण-प्रशिक्षण नहीं मिला था, वह भी प्राथमिक विद्यालय में शिक्षक होने की बात सोच सकता था। तब इतने बड़े देश में हम शिक्षक बनने के लिए उच्चस्तरीय योग्यता का निर्धारण किस प्रकार कर सकेगे।

व्यवसायीकरण के स्तर को संवृद्ध करने के संबंध में शिक्षकों की सामाजिक तथा आर्थिक मर्यादा सदा से ही विचारणीय रही है। शिक्षा-आयोग (1966 ई.) ने यहाँ तक कहा है कि —

> शिक्षण-व्यवसाय की कार्य-कुशलता तथा उसका राष्ट्रीय विकास में सामान्य तथा शैक्षिक सुधार में विशेष योगदान बहुत सीमा तक उसकी सामाजिक मर्यादा और मनोबल पर आधारित है। इसके लिए यह परस्पर-संबंधित दो कारकों पर निर्भर है — (1) आर्थिक प्रतिष्ठा और (2) शिक्षकों के नागरिक अधिकार, उनकी व्यावसायिक कार्यक्षमता, चरित्र तथा समर्पण की भावना। पूरे विश्व मे सर्वसामान्य अनुभव रहा है कि ज्यों-ज्यों अध्यापक की भौतिक संवृद्धि होती रही है, त्यों-त्यों यह संभव हुआ है कि इस व्यवसाय में सतत् विकासशील योग्यता वाले तथा दीर्घकालीन प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्तियों को ही प्रवेश मिले। उसी अनुपात में शिक्षकों की कार्यक्षमता, ईमानदारी तथा समर्पण की भावना भी बढ़ती है। यही वांछित और न्यायोचित भी है। तभी समाज उन्हें अधिक भौतिक और आर्थिक प्रतिष्ठा तथा मान्यता प्रदान करने का इच्छुक होता है। अगले बीस वर्षों में भारत मे भी इसी प्रकार की बात हम सोच सकते हैं। (पृष्ठ 115)

बीस वर्ष का यह समय अब करीब-करीब बीत जाने वाला है और कोई भी इस बात का साक्षी हो सकता है कि इस प्रकार के आसार उपस्थित हो गए है, किंतु यदि अध्यापन को पूर्ण व्यवसाय का सम्मान मिलना है, तो शिक्षक के आर्थिक और सामाजिक प्रतिष्ठा के सुधार के क्षेत्र में बहुत कुछ करना शेष है। जीवन का कठोर सत्य यह है कि कोई भी (पुरुष) अध्यापक जितना वेतन पाता है, उससे वह अपना जीवनयापन नहीं कर सकता। वह अपनी व्यावसायिकता की कीमत पर अपनी आमदनी को किसी प्रकार बढ़ाने के लिए विवश है। अध्यापिकाएँ तो

अपने घर की देख-भाल द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से इस कमी को पूरा कर लेती है। वास्तव में अधिकतर शिक्षक अंशकालिक शिक्षक होते हैं। यह बात अन्य व्यवसायों में नहीं पाई जाती।

अध्यापन मूलतः अन्य व्यवसायों से भिन्न है, क्योंकि अध्यापक सार्वजनिक सेवक होता है जिसे इस व्यवसाय से नौकरी छीनकर हटाया जा सकता है। दूसरे व्यवसायों के सदस्य चूँकि अपने को स्वयं-रोजगार में लगा सकते है अतः उन्हें हटाने के लिए उनका लाइसेंस रद्द करना होगा। किसी ने भी स्वयं-रोज़गार मे लगे शिक्षक के महत्व को सामान्यतः समाज के लिए और विशेषतः शिक्षण के व्यावसायीकरण के लिए मान्यता नहीं दी है। स्वयं रोजगार प्रायः पक्के व्यवसाय की निशानी है। एक डाक्टर अपने को स्वयं रोज़गार मे लगा सकता है। इसी प्रकार इंजीनियर अथवा वकील भी। लेकिन अध्यापक ऐसा नहीं कर सकता। स्वयं-रोज़गार का अभाव व्यावसायीकरण के मार्ग में एक रुकावट है। शिक्षकों को स्वयं-रोज़गार के लिए प्रोत्साहित किया जाय, इस सुझाव के प्रति होने वाली आलोचना से लेखक अवगत है क्योंकि लोग कहेंगे कि इससे शिक्षा का व्यापारीकरण होने लगेगा और इस उदात्त तथा पवित्र व्यवसाय की मर्यादा भंग होगी। लेकिन व्यावसायिक शिक्षक-संगठन कदाचित् इस पर नियंत्रण लगा सकते हैं।

यदि भारत में शिक्षण का पूर्ण व्यवसायीकरण होना है, तो शिक्षक-संगठनों को प्रशासनिक संगठनों से शैक्षिक अग्रगामिता छीननी होगी। किसी भी शैक्षिक अभिनवीकरण, विशेष रूप से पाठ्यचर्या, पाठ्यपुस्तकों, परीक्षा-प्रणाली तथा शिक्षण विधियों में सुधार के क्षेत्रों में उन्हें प्रमुख भूमिका का निर्वाह करना होगा। यदि शिक्षक-संगठनों के पहल पर इन सुधारों का श्रीगणेश हो जाता है तो शिक्षण का व्यवसाय वर्तमान युग के अनुरूप बन जायेगा। संसार के सभी भागों मे इन्हीं संगठनों ने इसका अनुगमन किया है अथवा विकास के समान रूप का अनुगमन कर रहे हैं, जैसे — श्रमिक संघों की तरह प्रारंभ करके जो भौतिक लाभों के निमित्त होते हैं तथा क्रमशः ऐसे निकायों का स्वरूप अपनाते हैं, जो अपने सदस्यों के जीवन के अनेक पक्षों से अपने को संबंधित कर लेते हैं। भारत में इनमें से अधिकांश शिक्षक-संगठन, शिक्षकों के अच्छे वेतनमानों तथा सेवा की स्थितियों के सुधार के लिए प्रयत्नशील हैं। उनमें से कुछ ने शैक्षिक कार्यों को भी प्रारंभ कर दिया है। वे शोध कार्य कर रहे हैं, सेवारत शिक्षकों के प्रशिक्षण तथा शिक्षकों के लिए आवश्यक साहित्य की व्यवस्था कर रहे हैं। उन्हें अध्यापकों के लिए एक व्यावसायिक आचार-संहिता भी स्थापित करनी चाहिए और यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि उसके सभी सदस्य उसका पालन अवश्य करें।

परंतु व्यवसायीकरण के लिए अधिकांश अंतःप्रेरणा व्यक्तिगत रूप से शिक्षक के अंतःकरण से उत्पन्न होनी चाहिए। यह बात व्यावसायिक मूल्यों को अर्जित करने और तद्नुसार आचरण करने से संबंधित है। एक प्रकार से यह स्वयं आरोपित आचार संहिता है। अध्यापन को प्रभावपूर्ण बनाने में अध्यापकों के इन व्यावसायिक मूल्यों का महत्वपूर्ण योगदान है। हाल मे ही एक शोध कार्य (गुप्ता एवं कपूर, 1983) ने व्यावसायिक मूल्यों जैसे — निष्ठा, अनुरक्ति, नई चुनौतियों को स्वीकार करने की प्रवृत्ति, शोध करने तथा व्यावसायिक अभियान प्रारंभ करने की प्रवृत्ति के आधार पर अध्यापकों के मूल्यांकन का प्रयास किया है। माध्यमिक स्तर के शिक्षक अनुरक्ति, नई चुनौतियों को स्वीकार करने की प्रवृत्ति तथा शोध प्रवृत्ति के आधार पर बहुत ही निम्न स्तर के मूल्यांकित हुए हैं। अपने व्यवसाय में अनुरक्ति न होने का यह अर्थ है कि उनका इस व्यवसाय में अकस्मात् प्रवेश हो गया है। उनकी कार्य-संलग्नता, आनंद और शिक्षण द्वारा संतोष भावना आदि निम्नस्तर के हैं। नई चुनौतियों को स्वीकार न करने तथा शोध-प्रवृत्ति में निम्नस्तर का होना, उनके पढ़ने-लिखने की प्रेरणा तथा नव-प्रवर्तन की प्रवृत्ति के अभाव का द्योतक

है। फिर भी उपर्युक्त मूल्यांकन द्वारा शिक्षकों में कार्य निष्ठा की भावना उच्चस्तर की पाई गई है। यह भी देखा गया है कि कुछ सीमा तक उनमें व्यावसायिक प्रेरणा भी है अर्थात् व्यवसाय के अभिनवीकरण की प्रेरणा और अपने व्यावसायिक स्तर में सुधार के लिए व्यावसायिक कार्यक्रमों में भाग लेने की प्रवृत्ति उनमें है। रोचक बात यह पुष्ट हुई है कि वयोवृद्ध तथा छोटी उम्र के शिक्षकों में व्यावसायिक मूल्य मध्यवय के शिक्षकों की अपेक्षा उच्चस्तर के हैं।

* * *

सारांशतः यदि कोई शिक्षा के सुधार के लिए एकसूत्री कार्यक्रम की तलाश में है तो दृढ़ता से यह कह सकता है कि अध्यापकों को व्यवसायी के रूप में मान्यता दी जाय तथा अध्यापन को एक व्यवसाय माना जाय। वह समय आ गया है कि तत्काल ऐसे कदम उठाए जायें जिनसे अध्यापन को पूर्ण व्यवसाय के स्तर पर लाने मे ऊपर लिखी बाधाएँ दूर की जा सकें।

पर यह इतना सरल नहीं है जितना ऊपरी विश्लेषण से दिखाई पड़ता है। आवश्यकता यह है कि बौद्धिक मानकों तथा अध्यापकों के लिए नैतिक-संहिता के दृढ़तापूर्वक निर्धारण द्वारा अध्यापन के व्यावसायीकरण की वर्तमान प्रवृत्ति को सुदृढ़ किया जाय। इसके अतिरिक्त शिक्षा-विज्ञान के सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक पक्षों में भी सुधार आवश्यक है। परंतु इससे भी आवश्यक यह है कि समाज ऐसी स्थिति में हो कि अध्यापन व्यवसाय में लगे व्यक्तियों में शिक्षा के प्रति आजीवन प्रतिबद्धता की भावना पैदा कर सके। जब तक अध्यापक दूसरे व्यवसायों की तलाश बंद नहीं कर देते, अन्य व्यवसायों को छोड़ केवल अध्यापन के प्रति प्रतिबद्ध नहीं हो जाते तब तक वे व्यवसायी शिक्षक कहे जाने के अधिकारी नहीं हो सकते। यह अधिक अच्छा होगा कि वे निरंतर सहानुभूति-पात्रता की भावना से परे हो जायें और उन अवसरों, विशेष अधिकारों, कर्तव्यों, समाज-सेवा तथा उत्पादनशील वृत्तियों पर ध्यान दें जो अब नवयुवकों के लिए शिक्षण मे उपलब्ध हैं। नामांकन में असाधारण वृद्धि के कारण, जिसका सामना हमें करना पड़ रहा है और जिसके परिणामस्वरूप शिक्षण, प्रशासन, पर्यवेक्षण के पदों में इतनी वृद्धि हुई है कि नवयुवकों को जो अपना जीवनयापन सफल रूप से करना चाहते हैं असीम सुअवसर सुलभ हुए हैं। इसका आशय यह नहीं है कि वे अपनी बुनियादी आवश्यकताओं जैसे कार्य करने की परिस्थितियाँ, वेतनमान तथा अवकाश प्राप्ति के समय मिलने वाले लाभ के प्रति असावधान हो जाएँ। शिक्षा-आयोग (1966 ई.) के अनुसार स्वातंत्र्योत्तर काल में शिक्षकों के प्रत्येक स्तर के वेतनमानों में सुधार लाने के लिए निरंतर प्रयत्न किये गए। परंतु प्राप्त परिणाम पर्याप्त नहीं हैं। प्रत्येक स्तर पर वेतन-वृद्धि का प्रभाव अत्यधिक मँहगाई बढ़ जाने के कारण नगण्य सा हो गया है। किन्हीं-किन्हीं मामलों में तो सही अर्थो में पारिश्रमिक घट गया है। अतः इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जब शिक्षकों को व्यावसायिक दृष्टि से सुधार करने के लिए उद्‌बोधित किया जाता है तो इसके साथ ही अब वह समय भी आ गया है कि उनके वेतनमानों, सेवा-शर्तों, छोटी-मोटी सुविधाओं, सेवा-निवृत्ति-लाभों तथा प्रोन्नति के पर्याप्त अवसरों में आमूल सुधार कर के उनकी मर्यादा बढ़ाई जाए।

संदर्भ

ए.के.गुप्ता तथा डी.आर.कपूर, *ए स्टडी ऑफ प्रोफेशनल वैल्यूज़ अमंग टीचर्स इन डिफरेंट आर्गेनाइज़ेशनल क्लाइमेट्स ऐट 10+2 स्टेज* इन ईपीए बुलेटिन, वाल्यूम 6, न 3 एंड 4, अक्तूबर 1983 और जनवरी 1984।

ए.एम.कार-सांडर्स, *प्रोफेशंस : देयर आर्गेनाइजेशंस एंड प्लेस इन सोसायटी,* आक्सफोर्ड, दि क्लेरेडन प्रेस, 1928।

टी.एम.स्टिनेट, *दि प्रोफेशन ऑफ टीचिंग,* प्रेंटिस हॉल ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, 1965।

लैंगफोर्ड ग्लेन, *टीचिंग ऐज़ ए प्रोफ़ेशन,* मैनचेस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस, 1978।

इम्प्रूविंग स्टैंडर्ड्स फॉर दि टीचिंग प्रोफ़ेशन (रिपोर्ट ऑफ दि 1953 सीरीज़ ऑफ रीजनल कान्फरेंस), नेशनल एजुकेशन एसोसिएशन ऑफ़ दि यूनाइटेड स्टेट्स, वाशिंगटन, 1953।

एजुकेशन एंड नेशनल डेवेलपमेंट (रिपोर्ट ऑफ दि एजुकेशन कमीशन 1964-66), एन सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली, 1971।

प्रेमनाथ कृपाल

शिक्षा
इक्कीसवीं शताब्दी के लिए



प्रेमनाथ कृपाल

प्रेमनाथ कृपाल *(जन्म 1909) की शिक्षा लाहौर के गवर्नमेंट कॉलेज और युनिवर्सिटी लॉ कॉलेज तथा ऑक्सफोर्ड के बैलिओल कॉलेज में हुई। इनको टेनोके, लेनिनग्राद और पंजाब विश्वविद्यालयों से मानद उपाधियां मिली है। ये अनेक महत्वपूर्ण पदों पर रहे जिनमें प्रमुख हैं: लंदन के इंडिया हाउस में शैक्षिक सांस्कृतिक सलाहकार; भारत सरकार के शिक्षा व संस्कृति मंत्रालय में सचिव; यूनेस्को के एक्ज़ीक्यूटिव बोर्ड के अध्यक्ष; राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के निदेशक। पेरिस में 1968 में हुए विश्व शैक्षिक योजना सम्मेलन के सभापति ये ही थे। आजकल ये अंतर्राष्ट्रीय शैक्षिक संघ, नई दिल्ली के अध्यक्ष हैं। सांस्कृतिक संबंध एवं विकास अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली के संस्थापक-अध्यक्ष भी ये ही हैं। अनेक राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार इन्हें मिल चुके है जिनमें कुछ हैं: यूनेस्को स्वर्ण पदक (1972); अंतर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक सहयोग को बढ़ावा देने के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार; और ऑर्डर ऑफ़ दि रिपब्लिक ऑफ ईजिप्ट एंड यू.ए.आर.। इनके प्रमुख प्रकाशन हैं:* भारतीय शिक्षा का एक दशक; ईस्ट इंडिया कंपनी एंड पर्शिया 1800-1810; दि सांग्स ऑफ साइकी—ए कलेक्शन ऑफ़ इलस्ट्रेटेड फिलसॉफिकल पोएम्स; दि कॉस्मिक सी एंड अदर पोएम्स।

शिक्षा
इक्कीसवीं शताब्दी के लिए

इक्कीसवीं शताब्दी के लिए शिक्षा की विश्वव्यापी संभावनाएं सभी महाद्वीपों और समाजों के सामने हैं और निश्चित रूप से आगामी दो दशकों में इनकी प्रासंगिकता और सार्थकता बढ़ती जाएगी। विकास के विभिन्न स्तरों पर शैक्षिक सिद्धांतों और व्यवहारों के बारे में विभिन्न परपराओं वाले लोग और राष्ट्र विचार करते हैं। अब शिक्षा राष्ट्रीय वास्तविकताओं और सीमाओं में बंद नहीं है, बल्कि इन सीमाओं के बाहर शीघ्रता से नयी विश्वव्यापी समस्यायें उभर रही हैं और आम लोगों की समस्याओं का समाधान करने और सभी को अवसर देने के लिए मानवीय चिन्ता अधिकाधिक बढ़ती जा रही है। विज्ञान और तकनीकी विकास के कारण समय और स्थान के नए आयामों तथा खासतौर पर संचार प्रणाली में क्रांति होने से लोग विचार, कर्म और आकांक्षाओं की दृष्टि से एक दूसरे के निकट आ गए हैं। राष्ट्रों की परस्पर निर्भरता अर्थव्यवस्था और संचार माध्यमों की सीमाओं के बहुत आगे निकल गई है। मानवीय कष्टों और संकटों में सभी शामिल होते हैं और विकास कार्य लोगों और राष्ट्रों के सहयोग पर निर्भर है। अब अधिकाधिक लोगों का विचार है कि अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा उस नैतिक और मानवीय एकता के लिए आवश्यक है जिसके बिना आदमी उभरती हुई विश्वव्यापी समस्याओं को हल नहीं कर सकता और वह प्रसन्नता तथा सृजनात्मकता के साथ मिलकर रहने और काम करने के दौरान आने वाली समस्याओं का भी हल नहीं ढूंढ़ सकेगा।

21वीं सदी मे मानव शिक्षा का विकास विश्वव्यापी समस्याओं के संदर्भ मे होगा, जो आज भी विद्यमान है। कुछ खास समस्याओं का संक्षिप्त हवाला यहां आवश्यक है ताकि अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा और उसके विकास की दिशा समझने में सहायता मिले। ये नयी विश्वव्यापी समस्यायें क्या हैं?

मानव जाति की प्रमुख चिंताओं में, जो भविष्य में और भी बढ़ती जाएँगी, ये समस्याएँ शामिल हैं — तीव्र विकास के कारण *तीन महान विस्फोट,* आधिपत्य के लिए संघर्ष के कारण *तीन महत्वपूर्ण प्रश्न,* शांतिपूर्ण संकल्प और संतुलित समन्वय के लिए अपेक्षित *तीन गहरे द्वंद्व,* गंभीर खतरों और भाग्य निर्णायक चुनौतियों के कारण *तीन मार्मिक अंतराल।* इन बारह समस्याओं में से कुछ ने अतीत में भी कई सभ्यताओं को आक्रांत किया था, लेकिन 21वीं सदी में वे पूरी मानव जाति के लिए खतरा बन सकती हैं, इसलिए, इस बुराई को दूर करने के लिए विश्वव्यापी प्रयास अपेक्षित हैं और इसके लिए जो उपाय और तरीके अपनाए जायें उन्हें अच्छा प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। मैं यहां संक्षेप में उन समस्याओं का उल्लेख करना चाहता हूँ, जिन्हें सर्वत्र शिक्षित व्यक्ति जानते है, यद्यपि सांस्कृतिक विभिन्नता और अतीत से विरासत में प्राप्त विभिन्न परम्पराओं के कारण उनके फलितार्थों और प्रतिक्रियाओं में काफी अंतर है।

जनसंख्या विस्फोट

जनसंख्या मे तेजी से वृद्धि, खासतौर से विकासशील देशों मे, जहाँ गरीबी का प्रकोप है और जो तेजी से फैलती है, विकास और जीवनस्तर दोनों के लिए गंभीर समस्या उत्पन्न करती है। यदि जनसंख्या नियंत्रण और परिवार नियोजन नाटकीय ढंग से सफल हो जाये, जिसकी आशा बहुत कम है, तब भी 21वीं शताब्दी में जनसंख्या में भारी वृद्धि होना अवश्यम्भावी है। इससे संबंधित सार्थक शिक्षा और जीवन स्तर मे सुधार जनसंख्या विस्फोट का समुचित नियंत्रण करने के लिए आवश्यक है, लेकिन अभी तक इन क्षेत्रों में शीघ्रता की समुचित भावना और प्रभावपूर्ण कार्रवाई का कोई लक्षण दिखाई नहीं देता। जब तक कोई भारी आपदा नहीं आती, 21वीं सदी में संसार की जनसंख्या दुगनी होने में कसर नहीं होगी जिसका सबसे अधिक दबाव सबसे निर्धन देश के अत्यल्प संसाधनों पर पड़ेगा और इस देश के लोग सबसे अधिक वंचित होंगे, जिसका प्रभाव सभी लोगों की जीवन पद्धति पर प्रतिकूल रूप से पड़ेगा।

ज्ञान का विस्फोट

कुछ सीमा तक तो भविष्य की बढ़ती हुई जनसंख्या को ज्ञान के उपयोग खासकर विज्ञान और प्रौद्योगिकी से लाभ मिलेगा। मनुष्य महासागरों का दोहन और अंतरिक्ष की खोज करेगा और आवश्यकताओं की बाध्यता के कारण साहसिक अभियान करेगा जिसके साथ धन की भी प्राप्ति होगी। लेकिन जिस रफ़ार से हाल में ज्ञान में वृद्धि हुई है और भविष्य में छलाँग लगाने की प्रवृत्ति है तो ज्ञान का विस्फोट होगा और यदि मनुष्य का मन गलत उद्देश्यों और हानिकर विकृत मूल्यों की ओर उन्मुख हो जाये तो वह घातक सिद्ध हो सकता है। अगली शताब्दी के मनुष्य को पर्याप्त नैतिकता और सृजनशीलता की आवश्यकता होगी ताकि वह मानव कल्याण के लिए ज्ञान-शक्ति को नियमित कर उसका ठीक उपयोग करे। परन्तु इसके शकुन शुभ नहीं दीख रहे हैं।

अपेक्षाओं का विस्फोट

जनसंख्या और नये ज्ञान के अनियंत्रित विस्फोट से, खास तौर से प्रौद्योगिकी ज्ञान से दूसरे प्रकार का विस्फोट होगा जो अधिक खतरनाक और शक्तिशाली होगा, क्योंकि यह मनुष्य के मन में होगा और इच्छा और लोभ के रूप में उभरेगा और वह आक्रामक हो जायेगा तथा उपभोग की लालसा रखेगा। संचार व्यवस्था मे क्रांति होने से साधारण मनुष्यों मे भी सम्पन्न व्यक्तियों की नकल करने की कल्पना और इच्छा उत्पन्न होगी। इससे लोगों में अपेक्षाएं पैदा होंगी, जो सामान्यतया पूरी नहीं होंगी और जीवन की पुरानी पद्धति को अस्त- व्यस्त कर देगी। लोकतंत्र लागू करने वाली शक्तियाँ ऐसी अपेक्षाओं को बढ़ावा देती हैं, जिनसे प्रायः सच्चे लोक को हानि पहुँचती है और संस्कृति विकृत होती है। जीवन को उन्नत बनाने और व्यक्तिगत चरित्र मे सुधार के लिए परिवर्तन की इच्छा अच्छी और प्रशंसनीय है और विकास के लिए आवश्यक है, लेकिन अपेक्षाओं की अनियंत्रित बाढ़ से ऐसे कार्य और मूल्य उभरेगे जो जीवन की गुणवत्ता और विकास के लाभों को उलट देगे। क्या हम आम जनता में अनुशासित कार्य के लिए सच्ची चेतना और दृढ़ संकल्प की भावना पैदा कर सकते है ताकि वे इच्छाओं और अपेक्षाओं की अंधाधुंध दौड़ जिससे स्वार्थ और लिप्सा उत्पन्न हो, के बजाय विकास की प्रक्रिया में उनका सहयोग सुनिश्चित कर सकें। अपेक्षाओं का विस्फोट नियंत्रित किया जाना चाहिए ताकि उसका उपयोग मानव और मानवता के भले के लिए किया जा सके। आर्थिक विकास से भारी लाभ होने के साथ ही

अपराधों की संख्या मे भी वृद्धि हो रही है जो सभी देशों मे चिन्ता का कारण बन रही है।

इन तीन सामान्य विस्फोटों — जनसंख्या, ज्ञान और अपेक्षाओं की अपेक्षा अधिक आवश्यक और प्रभावी कुछ ठोस और विरोधी शक्तियां भी हैं जो हमारी वर्तमान सभ्यता के अस्तित्व और सुरक्षा पर बुरा प्रभाव डालती है।

युद्ध और शांति का मामला

इन घातक मामलों में युद्ध और शांति का प्रश्न मनुष्य के हठधर्मी के इतिहास के संदर्भ मे अब विद्वानों के लिए शैक्षणिक दृष्टि से विचारणीय नहीं रह गया है। पहले से मौजूद शस्त्रों की शक्ति और उनकी भयावह मारक शक्ति सभ्यता के अस्तित्व ही नहीं मानव-जीवन तक के लिए गंभीर खतरा है। अतीत में शस्त्र शक्ति का उपयोग हमेशा राष्ट्रीय सीमाओं के विस्तार और साम्राज्य निर्माण के लिए किया जाता था। क्या इस बात की कोई गारंटी है कि घातक परिणामों की निश्चितता के कारण युद्ध नहीं शुरू किए जाएंगे? 20वीं सदी में यह एलान हो चुका है कि मानव मन में शांति की रक्षा करने का संकल्प पैदा किया जाना चाहिए। क्या 21वीं सदी का मानव कुछ अभेद्य बचाव कर सकेगा? युद्ध और शांति का प्रश्न कच्चे धागे से अधर में लटक रहा है। इससे एक नयी प्रकार की शिक्षा की खोज की जा रही है जो मानव का आध्यात्मिक विकास कर सके और उसे भावातीत प्राणी बना दे और ऐसी चेतना पैदा करे जो अतीत मे अज्ञात थी।

मनुष्य और पर्यावरण का मामला

मनुष्य द्वारा अपने पर्यावरण और प्रकृति की बढ़ती हुई लूट-खसोट, बड़े पैमाने पर और तेज रफ़ार से सीमित संसाधनों का अपव्यय, जिससे पर्यावरण का संतुलन बहुत बिगड़ जाये, यहाँ तक कि हमारी पृथ्वी पर जीवन धारण करने के लिए आवश्यक वायुमण्डल ही दूषित हो जाये, गम्भीर चिन्ता का विषय है। प्रकृति की सुरक्षा, पर्यावरण की देख-भाल, प्रदूषण की रोकथाम के उपाय अत्यंत आवश्यक है। जंगलों की कटाई और महासागरों मे प्रदूषण का तकाजा है कि इन बहुमूल्य साधनों की रक्षा के लिए तुरन्त आवश्यक उपाय किया जाये। प्रौद्योगिक शक्ति के दोहन पर कुछ अंकुश लगाना आवश्यक है।

संस्कृति और प्रौद्योगिकी

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप प्रौद्योगिकी में शीघ्र प्रगति और वैज्ञानिक ज्ञान के विस्फोट से संस्कृति के लिए एक चुनौती खड़ी हो गयी है। इसमें संदेह नहीं कि प्रौद्योगिकी से लोगों की संस्कृति समृद्ध बनायी जा सकती है और बुनियादी तौर पर प्रौद्योगिकी के उपयोग और संस्कृति के आनन्द मे कोई विरोधाभास नहीं है। यह समस्या तब उठती है जब प्रौद्योगिकी के प्रभाव से संस्कृति के संतुलन और एकता में एकाएक गिरावट आ जाती है और इसके फलस्वरूप सांस्कृतिक अनुभवों और मानवीय संबंधों पर प्रभाव पड़ता है। फलतः संस्कृति का रूप व्यावसायिक और अमानवीय बन जाता है, तथा मनुष्य अपनी ही प्रौद्योगिकी का दास बन जाता है।

जीवन के संतुलन मे व्यतिक्रम के फलस्वरूप गंभीर संघर्ष उत्पन्न होते हैं जिससे समाज की व्यवस्था और जीवन में विकार आ जाता है।

मनुष्य के अंतःकरण और बाहरी दुनिया में द्वंद्व

वर्तमान में सबसे गम्भीर है, मनुष्य का उसके काम और समाज के बीच बढ़ता हुआ विलगाव

जिसके फलस्वरूप पुराने आश्रयों और सुपरिचित मानवीय संबंधों से मिलने वाली सहायता से वह वंचित हो रहा है। गहराई मे जाने पर यह अनुभव होगा कि विज्ञान और आध्यात्मिकता में समन्वय होने मे कठिनाई पैदा हो रही है। ऐसा नहीं है कि कोई समन्वय नहीं हो सकता, लेकिन बेहतर शिक्षा और बेहतर संपन्न तथा अधिक समन्वित सांस्कृतिक जीवन के लिए प्रयास करने की आवश्यकता है।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक संगठन

औद्योगीकरण और शहरीकरण का दूसरा प्रभाव यह है कि सामाजिक संगठन की पेचीदगी से मनुष्य की अपनी पसंद और सामुदायिक जीवन में उसकी भागीदारी मे कठिनाई उत्पन्न हो रही है। मनुष्य की ईमानदारी और स्वतंत्रता की कीमत पर यांत्रिकीकरण और तानाशाही की प्रगति हो रही है।

परम्परा और आधुनिकीकरण

परिवर्तन में शीघ्रता और वैज्ञानिक तथा तकनीकी आविष्कारों के कारण रफ़्तार और मात्रा मे तेजी आने से उन परम्पराओं को खतरा पैदा हो गया है जिनसे मनुष्य के विश्वास और मूलबद्धता को पोषण मिलता था और जीवन की गुणवत्ता को सार्थकता प्राप्त होती थी।

उपरोक्त विकास, संघर्ष और समस्याओं ने पारस्परिक अंतर के कारण गम्भीर रूप धारण कर लिया है जिससे समाज के कार्यकलापों और मनुष्य के व्यक्तित्व मे टकराव पैदा हो गया है।

विकसित और विकासशील देशों के बीच अंतराल

इन अंतरालों में सबसे पहला वह है जो कुछ देशों मे ऐशो आराम से रहने वाली लगभग 30 प्रतिशत आबादी को उसके उन शेष 70 प्रतिशत लोगों से अलग करती है, जो लगातार गरीबी और बुनियादी जीवन स्तर से वंचित अवस्था में रहने के लिए बाध्य है। यह अंतराल बढ़ता जाता है और हम विज्ञान और तकनीक की विशाल उपलब्धियों के साथ विकासशील देशों मे रहने वाले विशाल जनसमूह की दरिद्रता और गिरावट को देखकर घोर पीड़ा का अनुभव करते हैं। इन गरीबों की परम्परागत जीवन प्रणाली और बहुमूल्य मानवीय संबंधों मे लगातार ढील आने से उनकी स्थिति और भी अधिक दयनीय होती जा रही है। उनकी संस्कृति को भौतिक विकास के विदेशी नमूनों की शक्ति और चकाचौंध से खतरा पैदा हो गया है। धनी और गरीब के बीच की दरार को पाटे बगैर अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर सामाजिक न्याय, समानता, मानवता और मानवीय एकता की माँग को पूरा नहीं किया जा सकता। आवश्यकता इस बात की है कि इस दरार को विश्वव्यापी स्तर पर कम करने के लिए अंतर्राष्ट्रीय सहयोग और मानव सदाशयता को उचित दिशा में मोड़ दिया जाये। यह फिर 21वीं सदी के लिए किसी प्रकार की उपयुक्त अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा की प्रभविष्णुता पर निर्भर है।

ज्ञान और विवेक में अंतराल

भावी शिक्षा में केवल ज्ञान का प्रसार ही नहीं होगा बल्कि अधिकाधिक ज्ञान का निर्माण भी होगा। इसलिए शिक्षा का लक्ष्य यह होना चाहिए कि विवेक का विकास हो और जीने की कला मे उसका अनुपालन हो। मनुष्य मनुष्य बने, वह अपने को जाने, इन्द्रियातीत होने का प्रयास करे, चेतना और सृजन की ऐसी ऊंचाइयों को प्राप्त करे जिसे अतीत में केवल थोड़े से संतों, ऋषियों और ज्ञानियों ने प्राप्त किया था।

सत्ता और प्रेम के बीच अंतराल

अधिकार को प्रेम में परिणत किए बिना भावातीत अवस्था की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके लिए पहला सही कदम यह होगा कि अन्य लोगों को समझने का प्रयास किया जाए और उनकी सेवा मे स्वयं को लगाया जाए और समाज के लोगों के प्रति प्रेम भावना विकसित की जाये। भविष्य मे शिक्षा का सर्वोच्च उद्देश्य ही यह होना चाहिए कि मनुष्य की प्रकृति और उसके अनुप्रयोगात्मक मूल्यों में उचित रूपांतरण हो। आज की वस्तुस्थिति और समस्याओं को मानवीय संकट समझकर नए भविष्य के निरूपण के लिए उचित शिक्षा का विकास आवश्यक है।

21वीं सदी के वास्ते शिक्षा की शैली और विषय वस्तु पर समुचित प्रकाश डालने के लिए यह आवश्यक है कि जीवन और समाज की उभरती हुई समस्याओं को समझा जाये, जो आने वाले दशकों में हमारे साथ चलेंगी और आने वाली पीढ़ियाँ जिनका सामना करेंगी और इस प्रक्रिया में जिनकी शिक्षा-प्रणाली का रूप निर्धारित किया जायेगा। अगली शताब्दी में पुरुषों और स्त्रियों के लिए शीघ्रता से उभरने वाली जिन समस्याओं का मैंने संक्षेप मे उल्लेख किया है वे पहले भी थीं, किन्तु अब उनकी तीव्रता, आकार और महत्व को देखते हुए उन्हें एक नया अर्थ देना होगा। यह भी स्पष्ट है कि शिक्षा का क्षेत्र समय और स्थान की दृष्टि से बढ़ता जा रहा है। उसमें मानव व्यक्तित्व के समग्र समन्वय और व्यापक चेतना की खोज, जहाँ मनुष्य का श्रमिक, नागरिक, मानव, व्यक्ति और सृजनकर्ता के रूप में जीवन का संपूर्ण भाग शामिल है, शिक्षा के दायरे में आता है। संपूर्ण संसार और अनन्त अंतरिक्ष मनुष्य के लिए विचारणीय हो गए हैं और उसकी नयी चेतना उसके लिए सृजनकर्ता का दायित्व सौंपती है तथा उसके भवितव्य और विकास की प्रक्रिया को अधिकाधिक निदेश देती है। जीवन पर्यन्त चलती रहने वाली शिक्षा, शिक्षा के तरीकों में विविधता, शिक्षार्थी का महत्व, संचार की नयी प्रौद्योगिकी का चयन, उपयुक्त शैक्षणिक सामग्री और शिक्षा की परिस्थितियाँ उस शिक्षा की ओर इंगित करती हैं जो बिलकुल नयी होगी, खासतौर से क्षेत्र और व्यापकता की दृष्टि से इसका स्वरूप अलग होगा। 21वीं सदी मे शिक्षा के प्रयोजन और दायित्व क्या होंगे?

* * * *

यह स्पष्ट है कि भविष्य की शिक्षा भूमंडलीय सभ्यता के संदर्भ में विकसित होगी जिसका स्वरूप विज्ञान की उपलब्धियों, प्रौद्योगिक संरचनाओं, विचारप्रवाहों तथा कल्पनाओं के आधार पर अभूतपूर्व मात्रा मे निश्चित होगा। भूमंडलीय सभ्यता में पाँच प्रमुख उद्देश्य और प्रवृत्तियाँ होंगी जिनका मैं संक्षिप्त विवरण देना चाहता हूँ।

1. संस्कृतियों में विभिन्नता

भूमंडलीय सभ्यता की बाहरी एकरूपता के भीतर विभिन्न संस्कृतियाँ पल्लवित और पुष्पित होंगी और लोगों में परस्पर संबंधित होने और मूलबद्ध होने की भावना विकसित होगी जिससे उनके समुदायों के सांस्कृतिक जीवन मे भाग लेने की वास्तविक संभावना उत्पन्न होगी। मानव समुदायों और राष्ट्रों की सांस्कृतिक पहचान अधिकाधिक व्यक्त होगी जबकि भूमंडलीय स्तर पर इनका आकार और महत्व भी बढ़ता जाएगा। सारे संसार की एक संस्कृति हो, इसकी न तो संभावना है और न ही यह वांछनीय होगा। वास्तव में सांस्कृतिक समूहों की संख्या मे वृद्धि होगी और साथ ही भूमंडलीय संस्थाओं और उनकी व्यवस्था का काम भी बढ़ेगा।

2. सत्ता का विकेन्द्रीकरण

शिक्षा में इस प्रकार की प्रवृत्ति की पूर्ति सत्ता के अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण से होगी। सत्ता के केन्द्रीकरण से न तो अच्छी व्यवस्था की जा सकती है और न ही उनकी स्वतंत्रता और लोगों का सहभागी होने का कार्य ही सम्पादित हो सकेगा जो कि अधिक उत्पादकता और गुणवत्ता के लिए आवश्यक है।

3. सबके लिए जीवन का उत्कर्ष

परस्पर समन्वित समुदायों मे सांस्कृतिक विभिन्नता की समृद्धि और अभिव्यक्ति सभी के जीवन के उत्कर्ष के आधार पर होगी जो कि विकास का लक्ष्य होना चाहिए। अतीत की श्रेयस्कर मान्यताओं तथा भविष्य की आकांक्षाओ और आदर्शों की दृष्टि से प्रत्येक समुदाय जीवन को उन्नत बनाने का प्रयास करेगा और इस तरह विकास के प्रभुत्वशील पश्चिमी तरीके के भूत को भगा देगा जिसमें उपभोग और लिप्सा के लिए अधिकाधिक मात्रा मे धन का संग्रह करना ही अभीष्ट रहता है। जीवन का उत्कर्ष इस पर निर्भर करता है कि सांस्कृतिक मूल्यों के बारे में विभिन्न समाजों और व्यक्तियों की अपनी पसंद और व्यवहार किस प्रकार के हैं।

4. मानव संहिति की भावना

प्रत्येक समाज के लिए उपयुक्त सांस्कृतिक मूल्यों में कुछ मानवीय मूल्य शामिल होंगे जो सभी संस्कृतियों में समान रूप से पाए जाते हैं। मानवीय मूल्यों के प्रसार से विशिष्ट संस्कृतियाँ समृद्ध होंगी और मानव संहिति भी सुदृढ़ होगी जिसके आधार पर अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की सक्षम प्रणाली का विकास होगा।

5. एक नयी विश्व व्यस्था

ऐसे सहयोग से न्याय में प्रगति होगी और सम्पत्ति का उचित वितरण होगा जिससे भूमंडलीय सभ्यता के विश्वव्यापी कार्य और विभिन्न प्रकार की प्रभुसत्ता सम्पन्न संस्कृतियों के पोषण के लिए नई विश्व व्यवस्था उत्पन्न होगी। वर्तमान संयुक्त राष्ट्र प्रणाली को नई विश्व व्यवस्था में बदलना उचित होगा जो मानव एकता और जीवन के उत्कर्ष में सहायक हो, सभी संस्कृतियों की विभिन्नता का आदर करे और सत्ता विकेन्द्रीकरण की ओर प्रेरित करे। अभी इस दिशा में कुछ काम हो रहा है जो बाद में अधिक सचेतन, व्यवस्थित और प्रबुद्ध हो जायेगा। भविष्य में शिक्षा का स्वरूप इसी रूपांतरण के संदर्भ में विकसित होगा और दूरगामी परिवर्तनों को सुगम बनाएगा।

21वीं शताब्दी में शिक्षा के उद्देश्य

अगली शताब्दी में शिक्षा का उद्देश्य और भूमिका क्या होनी चाहिए जिससे नई भूमंडलीय सभ्यता और नई विश्व व्यवस्था का उदय हो, जो अधिक न्यायसंगत, मानवीय और समन्वित हो और मानव की गरिमा, व्यक्तित्व की पवित्रता का आदर करे और समाज के कार्यों में स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व की प्रगति में योग प्रदान करे।

मेरी कल्पना में मनुष्य के जीवन में संस्कृति की प्रधानता एक बड़ा परिवर्तन है। विकास के ढाँचे में सभी समाजों में संस्कृति और उसके आनन्द और•सृजन पर जोर दिया जाएगा। औद्योगिक युग के बाद सम्पन्न राष्ट्रों को अवकाश का सदुपयोग करना चाहिए और भौतिक सम्पदा के उपभोग का नियमन करना चाहिए तथा मन और आत्मा को महत्तर ध्येय की ओर उन्मुख करना चाहिए। निर्धन देशों में उनका सांस्कृतिक जीवन विकास-प्रक्रिया में जन सहयोग प्राप्त करने में सहायक होगा, राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करेगा और जीवन ऐसी गुणवत्ता लाएगा जो

भौतिक समृद्धि पर एकांतिक रूप से निर्भर नहीं होगी। धनी और गरीब दोनों के लिए विश्व संस्कृति और सांस्कृतिक मूल्य सहयोग के स्रोत होंगे जिनसे शांति, कल्याण और जीवन की गुणवत्ता का उदय और विकास होगा। यदि 20वीं शताब्दी आर्थिक और भौतिक विस्तार की शताब्दी रही है तो 21वीं शताब्दी संस्कृति की प्रधानता की उद्घोषक होगी, जो मनुष्य के आंतरिक जीवन और आध्यात्मिकता पर अधिक जोर देगी।

वर्तमान शिक्षा प्रणालियाँ भौतिक सफलता से प्राप्त औद्योगिक क्रांति, जो कुछ मिले उसे हथियाने की होड़, तथा राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के अनुभवों के आधार पर बनाई गई थीं और अब भविष्य की शिक्षा जीवन में ऊँचे आदर्शों की उपलब्धि तथा राष्ट्रों और संस्कृतियों में बेहतर सहयोग स्थापित करने की दृष्टि से बनाई जानी चाहिए। वर्तमान मानवीय धारणा को अब कल्पना क्षेत्र से आगे जाकर विश्व संस्कृति की ठोस वास्तविकता को अंगीकार करना होगा। अब हमें अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा के महत्व को मान्यता देनी चाहिए और ऐसी अग्रता देनी चाहिए जिसकी वह हकदार है।

21वीं शताब्दी में शिक्षा की नयी धारणा और प्रणाली में उदीयमान प्रवृत्तियों को फलने-फूलने के लिए अभी से बुनियाद रखनी होगी और नयी दिशाओं का पता लगाकर उनका अनुसरण किया जाना चाहिए। यूनेस्को की *भावी शिक्षा* नामक एक रिपोर्ट, श्री एडगर फारे की अध्यक्षता में शिक्षा के विकास पर एक अंतर्राष्ट्रीय आयोग द्वारा प्रस्तुत की गई है जिसमें इस रूपांतरण के लिए राष्ट्रीय सरकारों को तीन बुनियादी कार्य और तरीके सुझाए गए हैं। वे इस प्रकार हैं :—

(i) सरकारों को चाहिए कि राष्ट्रीय शिक्षा प्रणालियों में बुनियादी रूप-परिवर्तन शुरू करें और शिक्षा तथा प्रशिक्षण के विश्वव्यापी निदान के कार्य में भाग लें। वर्तमान अवस्था में समसामयिक संसार के लिए शिक्षा के बारे में शिक्षा शास्त्री विचार करें और वर्तमान पीढ़ी के प्रति उत्तरदायित्वों का पुनः मूल्यांकन करें ताकि भावी संसार के लिए उन्हें तैयार किया जा सके। आयोग यह आशा करता है कि राष्ट्रीय शक्तियाँ *शैक्षणिक समस्याओं को व्यापक संदर्भ में ऊँचा स्थान देने की आवश्यकता को मान्यता देंगी और इस महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर खोजेंगी कि क्या शिक्षण संस्थाएँ जिस रूप में हैं, आज के युग में व्यक्तियों और समाजों की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की वास्तविक पूर्ति करने में सक्षम हैं?*

(ii) राष्ट्र के अधिकारियों को चाहिए कि अपने समाजों के शैक्षणिक जीवन को अधिक गहराई से छान-बीन कर समझने का प्रयास करें और वर्तमान प्रवृत्ति से, जो केवल शिक्षा की मात्रा और गुणवत्ता तक ही सीमित रह जाती हैं, आगे बढ़कर खोज करें।

अतीत में हमारा प्रमुख प्रयोजन था *पहले से अधिक करना* और अब बाद में *पहले से अच्छा करना* हुआ। अब हमें यह देखना है कि पहले से भिन्न शिक्षा होनी चाहिए क्योंकि जो कुछ पहले था वह अब न तो उपयुक्त है और न ही सुसंगत है। *"शिक्षा एक इतना विशाल उपक्रम है कि मानव के भविष्य पर इसका क्रांतिकारी प्रभाव पड़ता है और यदि शिक्षा की संरचना, व्यूह रचना और प्रणाली तक ही विचार सीमित रखा जाता है तो वह हानिकर होगा। शिक्षा की सारगर्भिता, मनुष्य और विकास से उसका संबंध, समाज के उत्पाद और तथ्य के रूप में पर्यावरण की क्रिया और प्रतिक्रिया सभी की गहराई से छानबीन की जानी चाहिए और विस्तारपूर्वक उन पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए।"*

(iii) राष्ट्र के अधिकारियों को चाहिए कि शिक्षा प्रणाली को दो समानान्तर पद्धतियों के नए ढाँचे में ढालें — (क) आन्तरिक सुधार तथा वर्तमान शिक्षा प्रणाली में सतत सुधार

और (ख) विकल्पों एवं नए संसाधनों के लिए नव प्रवर्तित रूपों की खोज।

आयोग ने ठीक ही कहा है :— *अब यह फिलहाल वांछनीय नहीं है कि शैक्षणिक* पद्धति के लक्ष्यों और उनके तरीकों की पूर्ण धारणा के बिना छोटे मोटे सुधार शुरू कर दिए जायें। यह मालूम करने के लिए कि पुर्जों को नया रूप कैसे दिया जाये, मशीन को सम्पूर्ण रूप से समझा जाए। ...हमें भविष्य के लिए नये रास्तों का पता लगाना होगा। ...हमें ऐसा लगता है कि नवीकरण के सही तरीकों के व्यावहारिक विकल्पों की खोज किसी शैक्षिक उपक्रम के लिए प्रमुख कारणों में से एक है।

शैक्षणिक परिवर्तन की इन प्रमुख रीतियों से, जिन्हें यथाशीघ्र शुरू करना है, विश्व समुदाय को इस विषय की गहराई में जाना होगा, जिससे सभी उपलब्ध साधनों और तरीकों से मनुष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होता है, खास तौर से एक दूसरे को समझने और सभी राष्ट्रों, जातियों और धार्मिक समुदायों में सहिष्णुता और मैत्री तथा अंतर्राष्ट्रीय एकता और सहयोग सुदृढ़ करना, इसमें शामिल हैं। इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के साधनों और तरीकों को *यूनेस्को* ने नवम्बर, 1974 में अपने सामान्य सम्मेलन द्वारा अठारहवे अधिवेशन में अंतर्राष्ट्रीय भाईचारा, सहयोग और शांति के लिए शिक्षा के संबंध में अपनी सिफारिशों में स्पष्ट रूप से बताया है। सिफारिशों की सूची में निम्नलिखित उद्देश्य शिक्षा-नीति के प्रभुत्व निर्धारक सिद्धांतों के रूप में बताए गए हैं :—

(क) शिक्षा में सभी स्तरों पर उसके सभी स्वरूपों के बारे में अंतर्राष्ट्रीय परिचर्चा और विश्वव्यापी परिप्रेक्ष्य,

(ख) समस्त मानव, उनकी संस्कृति, सभ्यता, जीवन के मूल्य और तरीके जिनमें उनकी घरेलू जातिगत संस्कृतियाँ और अन्य देशों की संस्कृतियाँ शामिल हैं, को समझना और उनका सम्मान करना,

(ग) जनता और राष्ट्रों के बीच बढ़ती हुई विश्वव्यापी परस्पर-निर्भरता के बारे में जागृति,।

(घ) अन्य लोगों से संप्रेषण की योग्यता,

(ङ) व्यक्तियों, सामाजिक समूहों और राष्ट्रों में एक दूसरे के प्रति न केवल अधिकारों बल्कि कर्तव्यों के प्रति भी जागरूकता,

(च) अंतर्राष्ट्रीय एकता और सहयोग की आवश्यकता समझना, और

(छ) अपने समुदाय, राष्ट्र और विश्व की समस्याओं को हल करने में व्यक्ति की ओर से सहभागिता की इच्छा।

व्यक्ति के उपयुक्त बौद्धिक और भावात्मक विकास को आगे बढ़ाने के लिए शिक्षा, प्रशिक्षण, सूचना, क्रिया और अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा का समन्वय किया जाना चाहिए। इससे कम साधन सम्पन्न समुदायों के प्रति सामाजिक दायित्व और एकता की भावना का विकास किया जाना चाहिए जिससे दैनिक जीवन के आचरण में समानता के सिद्धांत का पालन किया जाये। इससे ऐसे गुणों, रुचियों और योग्यता का विकास हो कि राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर समस्याओं पर आलोचनात्मक विवेचन करने, तथ्यो को समझने तथा उनकी व्याख्या करने, विचार करने, समूहों के काम करने, खुली बहस मे भाग लेना स्वीकार करना, उसके लिए व्यवहार्य सामान्य सिद्धांतों का पालन, मूल्य आधारित निर्णय करना और सम्बन्धित तथ्यों तथा कारणों की युक्तिसंगत व्याख्या के आधार पर निर्णय।

इस संदर्भ में महान शिक्षक श्री जॉ पियाजे ने, जिनको शिक्षा जगत ने अभी हाल में ही खो दिया है, निम्न शब्दों में अपना विचार रखा था :

> शिक्षा का प्रमुख कार्य ऐसे मनुष्य का सृजन करना है जो नये कार्य करने में सक्षम हो, न कि अन्य पीढ़ियों के कामों की आवृत्ति करना। शिक्षा से सृजन, खोज और आविष्कार करने वाले व्यक्ति का निर्माण होना चाहिए। दूसरा कार्य ऐसे मस्तिष्क की रचना है जो आलोचना कर सके, तथ्यों का सत्यापन करे और जो कुछ कहा जाये उसे आँख मूँदकर स्वीकार न करे। आज सबसे बड़ा खतरा नारेबाजी, सामूहिक विचार और तुरन्त तैयार विचारों से है, हमे व्यक्तिगत रूप से इनका सामना करना है। साथ ही उनकी आलोचना करना और
>
> सत्य-असत्य में भेद करना भी अपेक्षित है।

उपरोक्त उद्धरण से 21वीं शताब्दी में पहुँचने का मार्गदर्शन होता है जब जीवन का आध्यात्मिक आयाम व्यापक क्षेत्र में प्रवेश करेगा और जीवन पर्यन्त शिक्षा की प्रक्रिया जिसमें संस्कृति की प्रधानता रहेगी, मानवीय और सांस्कृतिक मूल्यों की भावना होगी, शिक्षा के सारतत्व के रूप मे मान्य होगी। इस तरह हम *होने के लिए सीखना* के स्थान पर *निर्माण के लिए सीखना* की शिक्षा प्राप्त करेंगे और एशिया के देशों की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विरासत के भावात्मक अभियान में आधुनिक विज्ञान और लाभकारी तकनीक से सहयोग लेकर महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की जा सकती है।

21वीं सदी में समन्वित शिक्षा और देदीप्यमान संस्कृति से मनुष्य का निर्माण, छलाँग लगा कर ऐसी मानव चेतना पैदा करेगा जैसी कि महान भारतीय संत श्री अरविंद ने अपनी पुस्तकों मे लिखी है, जिनके विचार से शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य यह है कि *विकासशील आत्मा की सहायता करके सर्वोत्तम को आत्मसात करना और उसके अच्छे उपयोग के लिए पूर्णता प्राप्त करना।* अगली शताब्दी मे विज्ञान और आध्यात्मिकता के समन्वय से मानव के मन और उदीयमान जगत मे एक नई चेतना आयेगी जो शिक्षा की सही उपलब्धि होगी।

* * * *

शिक्षा व्यापक अर्थ में, जिसमें जीवन पर्यन्त शिक्षा की धारणा शामिल है, मूल्यों के निर्धारण में सबसे सशक्त माध्यम है जिसमें परम्परा और नवीनता का समन्वय हो, परम्परागत ज्ञान और विवेक के नवीकरण और व्यवहार की प्रगतिशील प्रणाली द्वारा एक नया समाज खास तौर से विकासशील दुनिया में उभर कर सामने आये। आजादी के बाद भारत में शैक्षिक विचार, योजना और उसके कार्यान्वयन में कठिनाइयों, असफलताओं और साथ ही महत्वपूर्ण उपलब्धियों और सफलताओं का अनुभव विचारणीय है। यद्यपि मूल्यों के निर्धारण में अध्यापकों के काम, पाठ्यक्रम की विषयवस्तु, पाठ्यक्रमेतर कार्यों के तरीकों और सफलताओं का भारी प्रभाव पड़ता है, फिर भी यहाँ माता-पिता का दायित्व, समुदाय के सांस्कृतिक जीवन में सम्मिलित होना, संचार प्रणाली की कार्यशीलता और एकान्त चिन्तन भी अपना प्रभाव डालते है। योग की शांति और इलेक्ट्रॉनिक्स की गतिशीलता दोनों ही आंतरिक मन और बाहरी दुनिया से सीखने के लिए आवश्यक हैं।

भारत में शिक्षा के क्षेत्र में नये कामो और समस्याओं को निकट अतीत की पराधीनता से

विरासत में मिली स्थिति, आजादी की लड़ाई में प्रस्तुत आदर्श, अतीत की प्राचीन परम्परा है। भारत में शैक्षिक प्रणाली के पुनर्निर्माण की योजनाओं और प्रयासों का इस संदर्भ में परीक्षा करके मूल्यांकन किया जाना चाहिए। शिक्षा में आधुनिकीकरण के लक्ष्यों को, उभरते हुए समाज की सामाजिक आवश्यकताओं और व्यक्ति के काम में उसके विकास दोनों से संबंधित होना चाहिए। अन्य लोगों के साथ भाई-चारे की भावना, साथ ही आंतरिक संतुलन के लिए उसकी खोज, सामंजस्य और दूरदर्शिता व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक है।

संसार मे सर्वत्र विचार और कार्य, आदर्श और यथार्थ शिक्षा के क्षेत्र में नियोजन और कार्यान्वयन मे विशाल अंतराल है, लेकिन हमारे देश में यह अधिक बड़ा और तीखा है जिसमें बहुत से कामों और समस्याओं के लिए साधनों और काम के उपकरणों की भारी कमी है। इसलिए, कारगर कार्यान्वयन की रीति के साथ-साथ उद्देश्यों और प्राथमिकताओं का निर्धारण भी महत्वपूर्ण बन जाता है।

भारत में शिक्षा का नवीकरण भविष्य में नैतिक और भौतिक विकास की कुंजी है। ऐसा नवीकरण आवश्यक बुनियादी परिवर्तन के लिए उत्कृष्ट कार्य-पद्धति निर्धारित करने पर निर्भर करता है। शिक्षा के क्षेत्र में नीति निर्धारण के लिए पहले कुछ सिद्धांत निश्चित किये जाने चाहिए। शिक्षा में विशाल नवीकरण और रूपांतरण के लिए ऐसे 10 सिद्धांतों का सुझाव मैं पेश करता हूँ:

1. हमें शिक्षा की प्रकृति, भूमिका और प्रक्रिया को समझ लेना चाहिए, जो हमारी वर्तमान स्थिति के प्रसंगानुकूल हो, जिसमें अतीत का दायित्व-निर्वाह हो, जो नवोदित भविष्य की ओर उन्मुख हो और जो हमारा स्वयं का चयन तथा निर्माण हो। इसके लिए स्पष्ट और सृजनात्मक चिंतन आवश्यक है, लेकिन वह पुराने नारों और कृत्रिम अलंकृत भाषा से मुक्त हो। *गंभीर चिंतन कीजिए और कृत्रिम अलंकरण से बचिए।*

2. अब हमें शिक्षा का सर्वव्यापक अर्थ समझना चाहिए जिसमें समाज की सभी महत्वपूर्ण समस्याओं पर विचार किया जाये। शिक्षा सामाजिक रूपांतरण के लिए महत्वपूर्ण अभिकरण के रूप में काम करे और विद्यार्थी की आवश्यकताओं, क्षमताओं और रुचियों को सतत ध्यान में रखे। *शिक्षा जीवन का पर्याय है।*

3. यद्यपि राज्य का महत्व बहुत अधिक है और शिक्षा के लिए राजनीतिक संकल्प प्रायः निर्णायक होता है, किन्तु शिक्षा की विषय वस्तु, गुणवत्ता और उपयोग इस बात पर निर्भर करते हैं कि लोग समाज की उपयुक्त संस्थाओं के माध्यम से विकास कार्यों में सार्थक सहयोग देकर रूपांतरण की प्रक्रिया में अपना योगदान दें। ज्ञान, संस्कृति और कार्यजगत से शिक्षा-जगत का निर्माण होता है और वे मिलकर सीखने की स्थिति और शैक्षिक पद्धति को अनुप्राणित करते हैं। इनकी शक्ति का पूर्णतम उपयोग किया जाना चाहिए पर अपव्यय और उलझनों से बचना भी चाहिए। *शिक्षा एक व्यापक राष्ट्रीय कार्य है, जिसमें सभी लोगों और समाजों को* मानव संसाधनों की सेवा मे *शामिल किया जाना चाहिए।* यह राष्ट्रीय एकता और स्थायी संस्कृति के लिए आवश्यक है।

4. हमें यथाशीघ्र शिक्षा की ऐसी समन्वित प्रणाली और विषयवस्तु की योजना निर्मित और प्राप्त करनी चाहिए जिसमें सार्वभौमिकता और विविधता के साथ संस्कृति के अंतर्गत कला, विज्ञान और प्रौद्योगिकी का समावेश हो। नवोदित भविष्य की समन्वित शिक्षा मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा की आवश्यकता और क्षमता को संवृद्ध करे, शक्ति का नियमन करे

और समाज की व्यवस्था तथा मानवीय संबंधों में प्रेम का संचार करे तथा व्यक्ति तथा समाज दोनों के कार्यों में रचनात्मकता की भावना को उन्नत करे। *समन्वित शिक्षा व्यक्ति और सामाजिक विकास के हित-संपादन में संलग्न रहे।*

5. समन्वित शिक्षा और जीवन पर्यन्त अधिगम का लक्ष्य मानव की श्रेष्ठता और जीवन में सर्वोच्च गुणवत्ता की उपलब्धि है जिसके लिए चेतना की विशालता और गम्भीरता, अभिव्यक्ति की गरिमा और सौंदर्य तथा अंतरात्मा की उत्तरोत्तर ऊपर उठती हुई इंद्रियातीत अवस्था की ओर निरंतर प्रयास आवश्यक है। नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों के उत्कर्ष के साथ समन्वित शिक्षा का लक्ष्य यह होना चाहिए कि विज्ञान और तकनीक का कला और मानविकी के साथ संतुलित समन्वय किया जाये जो संस्कृति के सम्पूर्ण क्षेत्र और मनुष्य की आत्मा में व्याप्त हो। *मूल्य परक शिक्षा संतुलित व्यक्तित्व और समन्वित समाज के लिए अत्यंत आवश्यक है।*

6. यद्यपि भारतीय शिक्षा को मुख्यतः राष्ट्रीय विशिष्टता के अनुकूल होना चाहिए लेकिन उसे अन्य देशों और उनकी संस्कृतियों से प्रभावित होने का दरवाजा बंद नहीं करना चाहिए। भारत को अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा में अपना योगदान करना चाहिए और भविष्य के विश्वव्यापी समाज को जिसमें हमारे बच्चे रहेंगे और सहभागी बनेंगे, आवश्यक तत्वों और नये प्रवर्तनों से अनुप्राणित करना चाहिए। *भारतीय शिक्षा को विकासशील अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा की सामग्री ग्रहण करनी चाहिए और उसे अपने योगदान से समृद्ध करना चाहिए।*

7. भारतीय शिक्षा को चाहिए कि वह परम्परा और आधुनिकता एवं विज्ञान और आध्यात्मिकता से अच्छी बातें ग्रहण कर नये विश्वासों, मूल्यों और ज्ञान से युक्त महान सांस्कृतिक उत्थान का लक्ष्य बनाए जिसमें विचार समृद्ध हो, कला की शोभा-वृद्धि हो और हमारे महाद्वीपीय समाज के सभी वर्गों की जीवन पद्धति में गुणवत्ता का विकास हो। *शिक्षा को चाहिए कि वह एक महान सांस्कृतिक पुनर्जागरण में सहायता करे और उसे सुदृढ़ बनाए।*

8. भारतीय शिक्षा को चाहिए कि दूसरों से वांछित तत्वों को कृतज्ञतापूर्वक ग्रहण करते हुए वह अपने अनुभवों तथा अंतर्दृष्टि से विकासशील देशों को लाभान्वित करे और इस प्रकार विकास के लिए अंतर्राष्ट्रीय सहयोग को समृद्ध करे। *शिक्षा को चाहिए कि वह सहकारी उपक्रमों द्वारा विकास में सहायक बने।*

9. शिक्षा को चाहिए कि लोकतंत्र को सहारा दे और उसकी उन्नति करे, मानव अधिकारों की रक्षा करे और शांति तथा स्वतंत्रता के लिए योगदान करे। *शांति की सुरक्षा सर्वोत्तम रूप से मानव-मस्तिष्क मे ही निर्मित होती है।*

10. शिक्षा को चाहिए कि ज्ञान का उद्‌बोधन और पोषण करे और औद्योगिक सभ्यता के बाद के संस्कृति परक समाजों के लिए विवेक पैदा करे। खासतौर से नई तकनीक अपनाने के लिए परम्परागत तकनीकों का बुद्धिमत्तापूर्वक वर्गीकरण करना और उपयुक्त और विशिष्ट उपयोग के लिए विदेशी नमूने अपनाना जहाँ आवश्यक हो, परिष्कृत तकनीक का अंतरण करना आदि के लिए निर्णय लेने में मार्गदर्शन करना। प्रौद्योगिकी का योगदान बहुजन हिताय होना चाहिए और थोड़े से लोगों के हाथ में शक्ति को केन्द्रित होने से रोकना चाहिए। इसका उपयोग परार्थ और वितरण के लिए होना चाहिए न कि केवल अधिग्रहण और लाभ के लिए। *नयी तकनीक के उपयोग का तकाजा है कि इसे राष्ट्रीय विशिष्टता में समाहित करें और बड़ी सावधानी और विवेक से नैतिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों को सुरक्षित रखें।*

मैंने शैक्षिक पुनर्निमाण के दस सिद्धांतों की चर्चा की है, जो निश्चय ही समर्पण और विवेक के साथ हमारी नयी सरकार द्वारा लागू किये जा सकते हैं, जो भारी बहुमत और युवा भावना के समर्थन से बनी है और जिसमें विचार और कार्य के सभी तरीकों के माध्यम से आशा और समन्वय से वृहत्तर समाज बना है, जो निस्संदेह अस्तित्व में है और आसानी से जिसका पता भी लगाया जा सकता है। अब जिस बात की आवश्यकता है वह दृढ़ और प्रबुद्ध राजनीतिक संकल्प है जो मानव की सेवा और विकास के लिए शिक्षा के नवीकरण और रूपांतर का कार्य पूरा करे। मेरा विश्वास है कि अब वह समय आ गया है। शिक्षा के माध्यम से नया मनुष्य बनाने के लिए और सार्थक तथा सुसंगत विकास की सफलता के लिए आवश्यकता है कि हमारे देश की नैतिक और भौतिक उन्नति के लिए उपयुक्त प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल किया जाये और यथार्थ जीवन तथा व्यवहार मे प्रतिबिंबित नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों से भरपूर समृद्ध और शाश्वत संस्कृति को सुरक्षित रखा जाये। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के सभी प्रचुर और बढ़ते हुए लाभ हमें सुलभ है और हम उनमें से सर्वोत्तम को चुनकर राष्ट्रीय विकास में लगा सकते हैं और उन खतरों और त्रुटियों से बच सकते है जिनसे विकसित और समृद्ध देश पीड़ित है।

यह निष्कर्ष निकलता है कि 21वीं सदी में जाने का मार्ग अनिश्चित क्षेत्रों से गुजरता है जिसमें समस्याएँ और कठिनाइयाँ भरी है, जिसमें आकर्षक संभावनाएँ और देदीप्यमान प्रकाश से जगमगाता क्षितिज भी है। क्या मानवीय भावना इस चुनौती को स्वीकार कर शांति, समृद्धि, भ्रातृत्व और सृजन से पूर्ण नए विश्व का निर्माण करने में समर्थ होगी? जो कुछ भी हो, शिक्षा का महत्व इसमें निश्चय ही निर्णायक होगा। यह तभी होगा जब हमारा समाज और सत्ता के केन्द्र इसे मान्यता देंगे और बुद्धिमानी तथा दृढ़ निश्चय से काम करेंगे।

मैल्कम एस॰ आदिशेषय्या

शैक्षिक परिप्रेक्ष्य



मैल्कम एस. आदिशेषय्या

मैल्कम एस. आदिशेषय्या *(जन्म 1910) ने अर्थशास्त्र मे डॉक्टरेट की उपाधि कैम्ब्रिज से प्राप्त की। वरिष्ठ अधिकारी, सहायक महानिदेशक, और उप महानिदेशक के रूप में इन्होंने पेरिस में यूनेस्को की सेवा 23 वर्षों तक की। 'एशिया में प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के लिए कराची योजना', 'अफ्रीकी और लातीनी अमरीकी शैक्षिक विकास के लिए अदीस अबाबा व सैनटियागो की योजनाओं' और तदनुरूपी एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमरीका के लिए विज्ञान योजनाओं के विकास का श्रेय इनको ही है। बैंकिंग, ग्रामीण ऋण, मुद्रा, और कृषि रूपांतर आदि विषयों पर इन्होंने अनेक पुस्तके लिखी है। इनकी दो पुस्तकें यूनेस्को ने प्रकाशित की हैं:* जागे मेरा देश *और* शुभारंभ की बेला। *ये अनेक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समितियों के अध्यक्ष रहे। इन्हें पन्द्रह विभिन्न विश्वविद्यालयों ने मानद उपाधियां देकर सम्मानित किया है।*

शैक्षिक परिप्रेक्ष्य

हर तरह की शिक्षा दीर्घकालीन और समय-साध्य होती है। खेती में हम आज बोते हैं और तीन से छः मास मे पकी फसल काट सकते हैं। बगीचे मे वार्षिक या अर्द्धवार्षिक फसल होती है। मत्स्यपालन मे उपलब्ध मछली को प्रतिदिन पकड़ सकते हैं। उत्पादन के अधिकांश क्षेत्रों में, छोटी इकाइयों में एक वर्ष मे उत्पादन का फल मिल जाता है, तथा मध्यम और कुछ बड़ी इकाइयों में दो वर्षों मे उत्पादन प्राप्त होता है। किंतु शिक्षा के क्षेत्र में, प्रौढ़ साक्षरता को छोड़ कर—जहां एक वर्ष के भीतर ही साक्षरता सिखाई जा सकती है, तथा प्रौढ़ शिक्षा जो औपचारिक शिक्षा का ही एक रूप है और तीन मास से एक वर्ष ही जिसकी अवधि है-अग्रिम शिक्षा के अन्य सारे रूपों में जो समय लगता है, वह प्राथमिक शिक्षा के लिए 8 वर्ष,माध्यमिक शिक्षा के लिए 10 वर्ष, विश्वविद्यालय की पहली उपाधि के लिए १५ वर्ष तथा स्नातकोत्तर और शोध की उपाधि के लिए 17 से 20 वर्ष का समय लगता है। समय संबंधी यह तत्व पर्याप्त रूप से सीधा और स्पष्ट है।

परन्तु शिक्षा में यह समय-तत्व उसकी प्रणाली में अप्रचलन के तत्व को सन्निहित किए रहता है। शिक्षक, जो सम्पूर्ण शिक्षण तथा अधिगम व्यवस्था के लिए उत्तरदायी हैं, जिस समाज और शिक्षा व्यवस्था में शिक्षा प्राप्त करते हैं, वह लगभग बीस वर्ष से पचास वर्ष तक पुरानी पड़ जाती है, जब वे स्वयं शिक्षक के रूप में शिक्षण कार्य करते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि शिक्षक को विशेष परिश्रम तथा सतत् प्रयास के द्वारा अपने ज्ञान के पुराने पड़ जाने की प्रक्रिया के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ता है ताकि तह अपनी सूचनाओं तथा अपने ज्ञान और प्रविधि को अद्यतन बनाए रख सके। किन्तु केवल इतना ही नहीं।

शिक्षा कि प्रक्रिया मे पूर्व बोध के तत्व—एक प्रकार की प्रौद्योगिक भविष्यवाणी—की भी आवश्यकता होती है। क्योंकि अध्यापक को, जिसने पचास वर्ष पूर्व के समाज और शिक्षण व्यवस्था में प्रशिक्षण प्राप्त किया है, अपनी जड़ता या निष्क्रियता पर विजय पाना है तथा अपने छात्रों को तीन से पांच दशक आगे आने वाले उस समाज के लिए शिक्षित करना है, जिसकी रूपरेखा का वह धुँधले रूप में ही पूर्वानुमान कर सकता है। अतः वह बीते हुए समय की उपलब्धियों अथवा अनुपलब्धियों पर निर्णय लेते समय भारतीय शिक्षा की वर्तमान अव्यवस्थित स्थितियों का मूल्यांकन करता है, तो उसे इस समयावधि के अन्तराल के कारण उत्पन्न विकृतियों को भी ध्यान में रखना पड़ता है।

उपलब्धि

स्वतंत्रता के बाद हमारी शिक्षा-प्रणाली की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि अविश्वसनीय रूप से उसका मात्रात्मक विस्तार है।

स्वतंत्रता के पूर्व 1945-46 में हमारी शिक्षा-व्यवस्था में दो करोड़ छात्रों का नामांकन और अब (1983-84) ग्यारह करोड़ छात्रों का नामांकन बताया जाता है। 1945-46 में पांच लाख दस हजार शिक्षकों की संख्या थी जो 1983-84 में बीस लाख पचास हजार हो गई है। 1945-46 में एक लाख अस्सी हजार प्राथमिक विद्यालय, दस हजार माध्यमिक विद्यालय, बीस विश्वविद्यालय, 1171 महाविद्यालय थे। 1983-84 मे सात लाख 75 हजार प्राथमिक विद्यालय, पचास हजार माध्यमिक विद्यालय, 120 विश्वविद्यालय तथा पांच हजार महाविद्यालय हो गए हैं। 1945-46 में शैक्षिक बजट 120 करोड़ रु. था जो 1983-84 में पाँच हजार करोड़ रु. हो गया है। यह वास्तव में असाधारण उपलब्धि है क्योंकि, शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में 40 वर्षो का मध्यमान निकालने पर विकास की दर 500 प्रतिशत ठहरती है, जब कि जनसंख्या के विकास की दर 110 प्रतिशत, रोजगार के विकास की दर 90 प्रतिशत, कृषि के विकास की दर 100 प्रतिशत, औद्योगिक विकास की दर 200 प्रतिशत तथा राष्ट्रीय आय के विकास की दर 140 प्रतिशत रही है। इससे एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठ खड़ा हुआ है।

सामान्य रूप से स्वीकृत प्रस्थापना की छूट देने पर भी कि दूसरे सामाजिक तथा आर्थिक सांकेतिकों की अपेक्षा शिक्षा को एक कदम आगे होना आवश्यक है, जिससे कि वह एक अग्रणी अभिकर्त्ता के रूप में कार्य कर सके, यह अवशिष्ट समस्या रह जाती है कि क्या विभिन्न स्तरों पर शिक्षा के विकास की दर और संपूर्ण रूप से अन्य विकास की दरों में, जैसे रोज़गार अथवा राष्ट्रीय आय से किसी प्रकार का सह संबंध है? क्या संबंधों के इस अभाव के कारण शिक्षा में माँग और आपूर्ति की शक्ति के बीच असंतुलन तथा असंगतियों की एक श्रृंखला खड़ी नहीं हो गई है?

क्षति

हमारी शिक्षा-प्रणाली में सबसे प्रमुख क्षति उसकी विषय वस्तु तथा प्रक्रियाओं में हुई है जिसे देश की आवश्यकताओं के लिए निष्क्रियात्मक कहा जा सकता है, जैसा कि सातवीं पंचवर्षीय योजना के उपागम पत्रों में कहा गया है कि हमारी शिक्षा-प्रणाली की यह निष्क्रियता न तो व्यक्ति की जरूरतों को पूरा कर पाती है और न देश की जरूरतों को। इस प्रकार हमारे देश मे शिक्षा और शिक्षा प्रणाली एक दूसरे से विमुख खड़े पाए जाते हैं। शिक्षा अधिगम (सीखना) है, जबकि हमारी शिक्षा-प्रणाली केवल कंठस्थ करना है। शिक्षा यह सीखना है कि कैसे सीखा जाए, पर हमारी शिक्षा प्रणाली में सीखने का अर्थ है, किसी प्रकार अनुरूपता बनाए रखना। शिक्षा प्रत्येक भारतीय का अधिकार है, पर हमारी शिक्षा-प्रणाली अधिकांश भारतीयों को शिक्षा से वंचित रखती है। शिक्षा जीवन-पर्यंत प्रक्रिया है, पर हमारी शिक्षा प्रणाली विशेष आयु से आबद्ध — 11 वर्ष (प्राथमिक), 14 वर्ष (मिडिल), अथवा 18 वर्ष (माध्यमिक), अथवा 21 वर्ष (महाविद्यालय) है। शिक्षा लोकतांत्रिक है और शैक्षिक उपलब्धियों को समान करने की अपेक्षा रखती है, पर हमारी शिक्षा-प्रणाली संभ्रांत-वर्गीय है, जो थोड़े से शिक्षित लोगों को भी अनेक श्रेणियों में विभाजित करती है — जैसे — बौद्धिक (प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी, तृतीय श्रेणी तथा अनुत्तीर्ण) तथा सामाजिक (अग्र, पिछड़े तथा अत्यधिक पिछड़े समुदाय)। शिक्षा मानवतावादी है जिसके आदर्श हैं परस्पर संबंध द्वारा कर्म, सत्य, संबोध तथा सहयोग; पर हमारी शिक्षा-प्रणाली मानव विरोधी भले न हो पर अमानवीय अवश्य है जो बौद्धिक अकर्मण्यता, बेइमानी, भृष्टाचार तथा अहंवाद को प्रश्रय देती है और उस सिद्धांत पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ही लिए है, जो शैतानियत को सबसे अधिक बढ़ावा देती है।

इस परिस्थिति में यह महत्वपूर्ण है कि हम इस उत्साहवर्धक सत्य का अनुभव करें और याद

रखें कि जब हमारी शिक्षा-प्रणाली हमारे लिए निष्फल सिद्ध हो रही है और गिरती जा रही है, शिक्षा एक सीखने की प्रक्रिया के रूप में स्वायत्तता लिए हुए है तथा एक तरफ तो वह नवीन एवं नव-प्रवर्तित आदर्शों को जन्म दे सकती है, और दूसरी तरफ व्यक्ति की आकांक्षाओं की पूर्ति तथा सामाजिक परिवर्तन की अभिकर्ता हो सकती है। हमारी जनता की बढ़ती आशाओं की क्रांति के साथ ही राष्ट्रीय एकता तथा एकीकरण और गांधीजी ने जिसे चरित्र-निर्माण तथा शिक्षा का उद्देश्य माना है उसमे वह स्वतंत्रता तथा सच्चाई के साथ योग प्रदान कर सकती है।

तात्कालिक मात्रात्मक प्राथमिकताएँ

हमारे देश की शिक्षा-प्रणाली के सम्मुख दो मात्रात्मक प्राथमिकताएँ हैं : (अ) पहली प्राथमिकता प्राथमिक शिक्षा की है जिसका 1990 ई. तक उतना प्रसार हो जाना है जिससे संविधान की धारा 45 में उल्लिखित दायित्व का निर्वाह हो सके। इस दृष्टि से हम 25 वर्ष पीछे है। यह दायित्व है — 14 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों के लिए प्राथमिक शिक्षा का प्रावधान। इसके लिए सातवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान 6 करोड़ अतिरिक्त बच्चों का नामांकन करना होगा। (ब) दूसरी प्राथमिकता है — प्रसार का क्षेत्र अर्थात् 15 से 35 वर्ष तक के सभी निरक्षर प्रौढ़ों के लिए 1990 ई. तक प्रौढ़ शिक्षा का प्रावधान। छठी योजना के प्रारंभ में इस आयु वर्ग मे 10 करोड़ अशिक्षित प्रौढ़ थे, जिनकी संख्या 1990 ई. तक 11 करोड़ हो जायेगी। यदि शिक्षा मंत्रालय द्वारा दिए गए आँकड़ों को आधार मानकर अनुमान लगायें, तो छठी पंचवर्षीय योजना के अंत तक 2 करोड़ 23 लाख प्रौढ़ साक्षर बन चुके होंगे। फलस्वरूप 8 करोड़ 77.7 लाख निरक्षर प्रौढ़ों को साक्षर बनाना शेष रहेगा तथा 2 करोड़ 23 लाख जो छठी योजना के अंतर्गत् नए साक्षर बने है, उनको साक्षरोत्तर शिक्षा देनी होगी। जहाँ तक प्राथमिक शिक्षा की बात है, चौथी पंचवर्षीय योजना से ही यह प्राथमिकता निर्धारित है, और जहाँ तक प्रौढ़ शिक्षा का संबंध है, इसे पाँचवीं पंचवर्षीय योजना से प्राथमिकता दी गई है। पर उनकी लक्ष्य-प्राप्ति से हम अभी बहुत दूर हैं।

इसे बहुत स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि यदि सातवीं पंचवर्षीय योजना के अंत तक (1990) प्राथमिक शिक्षा तथा प्रौढ़ शिक्षा को सार्वजनीन बनाना है, तो माध्यमिक शिक्षा तथा उच्च शिक्षा, कला-विज्ञान, विश्वविद्यालय और महाविद्यालयों के साथ ही तकनीकी, चिकित्सा तथा माध्यमिकोत्तर कृषि-शिक्षा आदि का कोई भी प्रसार नहीं होना चाहिए। यह निर्णय हमारी आत्म-अस्वीकृति तथा हमारे आत्म-निषेध का है। शिक्षक के रूप में हम लोगों को, जो अधिकतर ऐसे वर्ग से आये हैं, जिन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त थी और जिन्होंने प्राथमिक तथा प्रौढ़ शिक्षा के पक्ष में अपनी उद्घोषणाएँ की हैं, लेकिन सर्वदा इसके विरोध में माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा का प्रसार करते रहे हैं, यह निर्णय लेना है कि यदि प्राथमिक तथा प्रौढ़ शिक्षा की प्राथमिकता की अवहेलना या उसे पीछे छोड़ना गंभीर बात है, तो उसे ईमानदारी और यथार्थ रूप से कार्यान्वित करना है। तालिका 1 स्पष्ट रूप से निदर्शित करती है कि जो उपदेश हम देते हैं उसको व्यवहार मे नहीं लाते। अमेरिकन मुहावरे के अनुसार जहाँ हमारा मुँह है वहाँ हम धन नहीं लगाते।

पाँचवीं तथा छठी योजना में भी जब प्रतिशत बढ़ाया गया, वास्तविक व्यय प्रस्तावित से कम है, जो यह सिद्ध करती है कि कार्यान्वियन के समय प्राथमिकता कम की गई है। फलस्वरूप ह्रास की प्रकृति पुनः सक्रिय हो रही है अतः आवश्यक है कि इस प्रवृत्ति के बिल्कुल विपरीत हमें प्राथमिक और प्रौढ़-शिक्षा के लिए वित्तीय तथा यथार्थ प्राथमिकता पर बल देना है।

प्रतिधारण

प्राथमिक तथा प्रौढ़ शिक्षा की उपर्युक्त प्राथमिकता का अर्थ है कि अधिक नामांकन को

तालिका 1

योजना	संपूर्ण शिक्षा रु. करोड़	प्राथमिक शिक्षा रु. करोड़	प्रतिशत प्राथमिक शिक्षा पर	प्रौढ़ शिक्षा रु. करोड़	प्रतिशत प्रौढ़ शिक्षा पर
प्रथम योजना	153	85	55.6	5	3.2
द्वितीय "	273	95	34.8	4	1.5
तृतीय "	589	178	30.2	2	0.3
वार्षिक "	322	65	20.2	0.2	0.06
चतुर्थ "	823	235	18.2	6	0.7
पंचम योजना प्रारूप	1726	743	43.6	40	2.3
वास्तविक	1286	410	31.9	32	2.4
छठी योजना प्रारूप	2524	905	35.8	120	4 7
वास्तविक	2900	900	31.0	110	3.5

स्रोत · योजना आयोग तथा शिक्षा मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्टें

महत्व देने के स्थान पर जिन बच्चों के नामांकन हो चुके हैं उन्हें प्रतिधारित किया जाए, और यह सुनिश्चित किया जाये कि सीखने के बुनियादी उद्देश्यों को वे प्राप्त कर लेते हैं। मेरे राज्य तमिलनाडु के एक शासकीय सर्वेक्षण से सिद्ध है कि प्राथमिक विद्यालयों में विद्यालय छोड़ने की दर 51.1 प्रतिशत है। शिक्षा मंत्रालय ने पूरे देश में विद्यालय छोड़ने वालों की दर 67 प्रतिशत के आसपास ठहराई है, जैसा कि तालिका 2 से स्पष्ट है।[1]

प्रतिधारण की यह समस्या प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम पर भी लागू होती है, जहाँ नामांकन तथा पाठ्यक्रम पूरा करने वालों की संख्या में इसी तरह का अंतराल है। तमिलनाडु राज्य के 2573 प्रौढ़ शिक्षा-केन्द्रों का, जिन्हे स्वयंसेवी संस्थाएँ चलाती हैं, सरसरी तौर से मूल्यांकन करने पर यह ज्ञात हुआ कि प्रत्येक केन्द्र पर 30 की संख्या में प्रविष्ट छात्रों में से 50 प्रतिशत बीच में ही छोड़ देते हैं[2] तथा अंत में प्रत्येक केन्द्र पर केवल 4 प्रौढ़[3] शिक्षा पूरी करते हैं। आगे दी गई तालिकाओं से प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम में प्रतिधारण तथा अधिगम उपलब्धि की संख्या स्पष्ट हो सकती है।

प्रथम स्तर का शैक्षिक पार्श्वचित्र जो उभरकर सामने आता है, वह कितना खौफनाक है? यदि वास्तविक उपस्थिति की तुलना स्कूल छोड़ देने वालों, निकाले गए तथा विद्यालयी शिक्षा को अधूरी स्थिति में छोड़ देने वालों से की जाए तो दुःखद निष्कर्ष यह निकलता है कि हमारे देश

[1] *टुवर्ड्स ए लर्निंग सोसाइटी*, ए प्लान फॉर एजुकेशन, साइंस एंड टेक्नोलोजी 1976-86, स्टेट प्लानिंग कमीशन, मद्रास, 1975
एजुकेशन इन इंडिया 1965-66, शिक्षा व समाज कल्याण मंत्रालय, नयी दिल्ली, 1967
अनिल बोर्डिया, *रिटर्न टु दि रॉयट्स*, आइ आइ.ई., पुणे, 1985

[2] नेशनल एडल्ट एजुकेशन प्रोग्राम, *ऐन अप्रेज़ल ऑफ दि रोल ऑफ वालंटरी एजेसीज़*, मद्रास इंस्टीट्यूट ऑफ़ डेवलपमेंट स्टडीज़, मद्रास, 1980, टेबुल 5.20, पृष्ठ 80

[3] उपरोक्त,टेबुल 5.16, 5.17, 5.18, पृष्ठ 74-79.

तालिका 2
संख्या 000 में (हजार में)

वर्ष	कक्षा 5 में नामांकन की कुल संख्या	बच्चों की वह संख्या जिन्होंने कक्षा 5 मे सफलतापूर्वक शिक्षा प्राप्त की	कक्षा 1 मे नामांकित बच्चों के संदर्भ मे कक्षा 5 मे सफल हुए बच्चों की दर
1975	7849	6609	31 29
1976	8188	6894	31 08
1977	8375	7502	
1978	8476	7137	32.48
1979	अनु.	8588	32 89
1980	अनु.	8253	32 89
1981	अनु.	8252	32 89
1982-83	अनु.	8369	32.89

स्रोत : (अ) हैंडबुक ऑफ एजुकेशनल एंड एलाइड स्टैटिस्टिक्स, मिनिस्ट्री ऑफ एजुकेशन, नयी दिल्ली, 1983
(ब) डेमोग्रैफिक एंड एलाइड स्टैटिस्टिक्स इन इंडिया नीपा, नयी दिल्ली, 1980

तालिका 3
विद्यालय छोड़ने वालों तथा वैवाहिक स्थिति का वितरण

आयु-वर्ग वर्षों में	वैवाहिक स्थिति	कुल (N=85)	पुरुष (N=36)	स्त्री (N=49)
15-19		28	17	39
20-24		33	47	19
25-29		16	11	20
30-35		23	25	22
विवाहित		51	42	61
अविवाहित		49	58	39

स्रोत : स्वयंसेवी संस्थाओं का एम.आई.डी.एस. मूल्यांकन

में प्राथमिक विद्यालयों के भीतर की अपेक्षा बाहर के बच्चों की संख्या कहीं अधिक है[4] और समानांतर रूप से जो संख्या प्रति वर्ष निरक्षरों के समूह में सम्मिलित होती है, वह साक्षर होने वालों की संख्या से अधिक बड़ी होती है।

विद्यालय में बच्चों के न रुक सकने का मूल कारण उनके माता-पिता की गरीबी है। यह

4. मैल्कम एस.आदिशेषय्या, *बैकड्रॉप टु लर्निंग सोसाइटी*, मद्रास इंस्टीच्यूट ऑफ़ डेवलपमेंट स्टडीज़, 1978

तालिका 4
गद्यांश से शब्दों के पढ़ने की योग्यता

योग्यता	योग्यता प्राप्त प्रतिभागियों का प्रतिशत			
	पढ़ाई पूरी कर लेने वाले			
	पुरुष	स्त्रियाँ	संपूर्ण सीखे हुए	सीखने में लगे हुए
प्रवाह के साथ पढ़ना	16	11	14	8
कठिनाई के साथ पढ़ना	59	29	33	29
प्रत्येक अक्षर को पहले पढ़ने के बाद शब्दोच्चारण करना	8	15	11	10
केवल अक्षरो को पहचानना	18 (N =61)	45 (N =55)	31 (N =116)	53 (N =78)

स्रोत : स्वयंसेवी संस्थाओं का एम.आई.डी.एस मूल्याकन

कोई आकस्मिक संयोग नहीं है कि विद्यालय छोड़ देने वालों की राष्ट्रीय दर 60 प्रतिशत से ऊपर है और हमारे राष्ट्र की गरीबी की दर भी यही है। गरीब परिवार के लड़कों को अपने माता-पिता के साथ-साथ खेतों मे, पशुओं को चराने में, घरेलू उद्योग-धंधों में, कारखानों में काम करना पड़ता है जिससे वे मजदूरों पर होने वाले खर्च को बचा सकें अथवा परिवार की अपर्याप्त आमदनी की कमी को पूरा कर सकें। लड़कियों को घर में रुककर परिवार का भोजन पकाना पड़ता है, अथवा छोटे बच्चों की देख-भाल करनी पड़ती है जिससे माँ बाहर जाकर कुछ अर्जित कर सके। केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् ने इस तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है :—

> विद्यालयों में पूरे समय की उपस्थिति केवल उन बच्चों द्वारा संभव है जो संपन्न परिवारों से आते हैं, जिनके श्रम की आवश्यकता पारिवारिक बजट को संतुलित करने के लिए नहीं पड़ती। ऐसे बच्चे इस समय भी स्कूलों में हैं (कुछ क्षेत्रों में बालिकाओं को छोड़कर)। आगे आने वाले दस वर्षों की समयावधि में, जिससे हमारा संबंध है, सामान्य जन के बच्चे पूरे समय विद्यालय में उपस्थित रहने मे समर्थ नहीं होंगे। परिवार की आर्थिक दशा सुधारने के पहले यदि आप उनको पूरे समय विद्यालय मे उपस्थित रखने का प्रयास करते है, तो इसके लिए हमे प्रचार और प्रेरणाओं पर प्रचुर शक्ति और धन खर्च करना होगा और इन सबके बाद भी नाम मात्र का ही नामांकन बढ़ना संभव होगा, जो आगे गतिहीनता तथा अपव्यय को बढ़ाएगा। हम यह अवश्य अनुभव करते है कि प्रेरणाओं पर हमारा अत्यधिक

तालिका 5
सीखने वालों की बोले गए शब्दों को लिखने की योग्यता

प्रतिभागियों का वह प्रतिशत जिन्हें यह योग्यता प्राप्त है

शुद्ध लिखने की योग्यता	पूर्ण रूप से सीखे हुए			सीख रहे शिक्षार्थी
	पुरुष	स्त्री	सभी सीखने वाले	
60% से अधिक शब्द लिखाए	31	20	26	21
40% से 60% तक शब्द लिखाए गए	20	16	18	15
40% से कम शब्द लिखाए गए	31	15	23	8
केवल अक्षर अथवा कुछ नहीं	18	49	33	56

स्रोत . स्वयंसेवी संस्थाओं का एम.आई.डी.एस. मूल्यांकन

तालिका 6
पूर्ण शिक्षार्थी की गणित सीखने की योग्यता

गणित की क्रियाएँ कर लेने वाले प्रतिभागियों का प्रतिशत

गणित की क्रियाएँ	1,2 अथवा 3 अंकों के	1 अथवा 2 अंकों के	कम से कम 1 अंक के
भाग	4	21	36
गुणा	9	21	56
घटाना	41	67	93
जोड़	50	70	98

स्रोत : स्वयंसेवी संस्थाओं का एम.आई.डी.एस. मूल्याकन

बल देना, हमारी लागत को असाधारण रूप से बढ़ा देता है और उसके अनुपात में प्राप्त परिणाम प्रति उत्पादक होता है। क्योंकि जो हम करने जा रहे हैं — अर्थात् उन बच्चों को पूरे समय के लिए नामांकित करना जो काम करने के लिए विवश हैं — यह आर्थिक रूप से अव्यावहारिक है।[5]

क्या इसका अर्थ यह है कि प्राथमिक शिक्षा का शत-प्रतिशत सार्वजनीकरण उस समय तक नहीं हो सकता जब तक कि देश से गरीबी नहीं दूर हो जाती। दुर्भाग्य से योजना के दस्तावेजों में इसे स्वीकार नहीं किया जाता है। अतः यह महत्वपूर्ण है कि इस सरल परंतु क्रूर आर्थिक-सामाजिक सत्य का सामना किया जाये और यथाशीघ्र गरीबी दूर करने के लिए आवश्यक सामाजिक तथा आर्थिक कार्यक्रमों को शक्तिशाली बनाया जाए। इसका यह भी अर्थ है कि यदि इसे गरीबी के विरुद्ध चल रहे संघर्ष का अंग बना दिया जाए तो इस विवशता के कारण प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम को भी हानि नहीं उठानी पड़ेगी, जैसा कि सन् 1978 में त्रिसूत्रीय-कार्यक्रम नीति का लक्ष्य निर्धारित हुआ था। इस दौरान बच्चों को स्कूल में रोक रखने के लिए कुछ कार्यक्रम अपनाए जा सकते हैं। उनमें से एक है — 15 वर्ष तक के बच्चों को प्रतिदिन दोपहर को पौष्टिक तथा ठोस भोजन देना। जून 1982 से इस कार्यक्रम को अपनाने वाले राज्य का यह अनुभव है कि (अ) यह गरीबी से राहत देता है क्योंकि गरीबी की रेखा के नीचे वाले परिवारों के बच्चों को कम से कम दिन में एक बार भोजन का आश्वासन मिल जाता है। इसका प्रबंध भी संभव है क्योंकि राज्य को एक वर्ष में केवल 150 करोड़ रुपये खर्च करने पड़ते है जो वार्षिक बजट का केवल 5 प्रतिशत है और यह पूँजी-निवेश राज्य तथा देश की भावी पीढ़ी के लिए है। (ब) इससे स्कूलों में उपस्थिति बढ़ जाती है। वार्षिक नामांकन जो पूर्ववर्ती वर्ष में 1.75 लाख था, वह 1982-83 में बढ़कर 2.63 लाख हो गया तथा 1983-84 में 3.82 लाख हो गया। (स) पूर्व विद्यालयी बच्चों के स्वास्थ्य की स्थिति में सुधार हुआ है, उनका भार और बाँहों की मोटाई बढ़ी है तथा दूसरे बच्चों की सामान्य बीमारियों और रतौंधी में कमी हुई है।

इस अनुभव के आधार पर मैं एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकालता हूँ। चूँकि गरीबी दूर करने में लम्बा समय लगेगा, अतः 15 वर्ष तक की आयु के बच्चों को भोजन देने के कार्यक्रम को 20 सूत्रीय राष्ट्रीय कार्यक्रम में शामिल किया जाए। मुझे खुशी है कि इस पर गंभीरता से विचार किया जा रहा है और अंतरसचिवालीय समिति इसके निहितार्थों की जाँच कर रही है तथा ब्यौरेवार प्रस्ताव तैयार कर रही है।

विद्यालय में बच्चों को पढ़ाई के लिए रोक रखने की शक्ति के विरुद्ध दूसरे तत्व भी कार्य कर रहे हैं। प्राथमिक विद्यालयों की वर्तमान आधारिक संरचना भी स्कूल छोड़ देने तथा निकल जाने की प्रक्रिया को उत्प्रेरित करती है। एक सरकारी सर्वेक्षण[6] की रिपोर्ट है कि देश के 7 लाख 75 हज़ार प्राथमिक विद्यालयों में से 53 प्रतिशत यानी 4,10,750 विद्यालयों के पास भवन नहीं हैं, 59 प्रतिशत यानी 4,52,250 विद्यालयों मे पीने के पानी की सुविधा नहीं है, 40 प्रतिशत यानी 3,10,000 विद्यालयों में श्यामपट्ट नहीं है, 1,62,000 विद्यालयों में बच्चों के बैठने के लिए टाट-पट्टी नहीं हैं, 71 प्रतिशत यानी 5,50,250 विद्यालयों में पुस्तकालय नहीं हैं तथा 34.7 प्रतिशत यानी 2,68,925 विद्यालयों में हरेक मे केवल एक अध्यापक है। एक अध्यापक वाले

---

[5] *रिपोर्ट ऑफ़ दि वर्किंग ग्रुप ऑन यूनिवर्सल प्राइमरी एजुकेशन,* सेंट्रल एडवाइज़री बोर्ड ऑफ़ एजुकेशन, नयी दिल्ली, 1974

[6]. एन.सी.ई.आर *टी. दि फोर्थ ऑल इंडिया एजुकेशनल सर्वे,*नयी दिल्ली, 1982

विद्यालय जम्मू-कश्मीर राज्य में 78 प्रतिशत, कर्नाटक राज्य में 72.5 प्रतिशत, राजस्थान मे 52 प्रतिशत हैं। 3 हजार विद्यालय तो ऐसे हैं, जहाँ कोई अध्यापक नहीं है। ऐसे समय जब हम कंप्यूटर की सहायता से शिक्षा देने की योजना बना रहे हैं, जो इक्कीसवीं शताब्दी मे हमारे प्रवेश के लिए आवश्यक भी है, और जिसे संभ्रांतवर्गीय शहरी विद्यालयों मे हम शुरू करने जा रहे हैं, हमें सर्वप्रथम अपने इन ग्रामीण विद्यालयों के इन बुनियादी अभावों को अवश्य दूर करना चाहिए, और वे दूर किए भी जा सकते है। उन अभावों को दूर करना हमारे साधनों की सीमा में है। हम शिक्षकों मे, शिक्षाविदों तथा हमारे समुदाय मे जो कमी है, वह है — इन आधारिक संरचनाओं के सुधार की इच्छा शक्ति का अभाव। इस कारण प्राथमिक शिक्षा की अर्थ व्यवस्था में भी कुछ परिवर्तन लाना होगा जिसमें अखिल भारतीय आधार पर शिक्षकों के वेतन पर वार्षिक बजट का 95.3%, शिक्षण सामग्री पर 1.1%, आधारिक संरचना पर 1.7% और प्रशासन पर 1.9% व्यय होता है। मेरे राज्य तमिलनाडु मे शिक्षा वित्त आयोग की रिपोर्ट[7] है कि पूरे बजट का 99.2% केवल प्राथमिक शिक्षकों के वेतन पर खर्च होता है।

इस प्रकार स्कूल की आधारिक संरचना मे सुधार एक दूसरा निवारक होगा जिससे बच्चे अपने विद्यालय को छोड़कर जाना बंद कर देंगे और आज की तरह अपने नीरस वातावरण से इतनी बड़ी संख्या में बाहर नहीं रहेगे।

इस समस्या के निवारक अन्य साधनों में अंशकालिक शिक्षार्जन की व्यवस्था, अनौपचारिक विधियाँ, शिक्षण की विषयवस्तु, शिक्षण-विधि तथा समय-को स्थानीय आवश्यकताओं के अनुकूल करना सम्मिलित हैं जिसके लिए विकास खंड तथा विद्यालयी स्तर पर विस्तृत योजना शुरू कर देनी चाहिए। छूटे हुए तथा छोड़े गए बच्चों की आवश्यकता तथा वरीयता के अनुरूप सीखने का अवसर देना ही इन बच्चों के संदर्भ में अनौपचारिक शिक्षा का उद्देश्य है, तथा कभी-कभी यही उनके लिए सुविधाजनक भी होता है (विशेषतः जब वे काम मे नहीं लगे रहते), जैसा कि निरक्षर प्रौढ़ों के लिए सायंकालीन साक्षरता कार्यक्रम में किया जा रहा है और साथ ही आमदनी कराने वाले कौशलों को सिखाया जा रहा है। यहाँ मूल बात यह है कि वर्तमान स्कूल के निश्चित घंटों के स्थान पर जीवन की लय और स्थानीय समुदाय के कार्य से उसे संबंधित करना है। इसके समान ही दूसरा महत्वपूर्ण तत्व है — विद्यालय में वर्तमान एक बिंदु के स्थान पर अनेक बिंदुओं पर प्रवेश तथा निकास की सुविधा प्रदान करना। यहाँ एक चेतावनी देना चाहूँगा कि औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा को दो अलग-अलग कोठों में न बंद किया जाए, ताकि उस स्थिति को बचाया जा सके जिसमें औपचारिक शिक्षा केवल प्रथम श्रेणी (संभ्रांत वर्ग) के बच्चों और नागरिकों के लिए हो जाए तथा अनौपचारिक शिक्षा द्वितीय श्रेणी की शिक्षा होकर द्वितीय श्रेणी (निर्धन) के बच्चों तथा प्रौढ़ों के लिए रह जाए। यह भी सत्य है कि इस प्रकार के कोठों में विभाजन से अनौपचारिक शिक्षा की संपन्नता औपचारिक शिक्षा को कभी भी उपलब्ध नहीं होगी। (चीन ने इस समस्या का समाधान स्कूल की शिक्षा तथा छूटे हुए बच्चों और प्रौढ़ों की शिक्षा को नए नामकरण तथा संगठन द्वारा किया है और दोनों को ही औपचारिक शिक्षा कहा है और इस प्रकार अनौपचारिक शिक्षा के शब्द प्रयोग और लक्ष्यार्थ दोनों से बच निकलने का प्रयास किया गया है)।

पूर्णकालिक तथा अंशकालिक व्यवस्थाओं और औपचारिक तथा अनौपचारिक प्रणालियों के इस्तेमाल का यह अर्थ होता है कि (अ) हर बच्चा औपचारिक तथा अनौपचारिक रूपों,

---

7. *रिपोर्ट ऑफ़ दि तमिलनाडु एजुकेशनल फाइनेंस रिव्यू कमेटी 1975*, गवर्नमेंट ऑफ़ तमिलनाडु, मद्रास, 1976

विधियों और प्रक्रियाओं के द्वारा शिक्षित किया जा रहा है, (ब) दोनों एक-दूसरे से जाल की भाँति आबद्ध रहने के कारण एक का दूसरे को पोषित करना तथा दूसरे से पहले का पोषण होना जिससे पाठ्यचर्या, सीखने की विधियाँ, मूल्यांकन विधि आदि जिसे अनौपचारिक शिक्षा ने विकसित किया है, औपचारिक शिक्षा में प्रवाहित हो जाता है, जिससे औपचारिक शिक्षा की पूर्वरचना तथा पुनर्नवीकरण के लिए सुदृढ़ और अनुभवजन्य आधार मिलेगा। इसमें यह बात भी शामिल है, जैसा पहले कहा जा चुका है, कि विद्यालयी व्यवस्था में अनेक बिंदुओं पर प्रवेश तथा निकास का प्रावधान करना होगा जो औपचारिक और अनौपचारिक शिक्षा को एक में मिलाने का एक उपाय होगा।

विकेन्द्रित योजना

यह प्रस्तावित किया गया है कि विद्यालयों की ग्रहण क्षमता को सुनिश्चित करने, प्रतिधारण की दर बढ़ाने तथा शिक्षा की विषयवस्तु, विधि तथा समय को स्थानीय आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने के लिए शैक्षिक योजनाओं को राष्ट्र की राजधानी दिल्ली में, अथवा प्रदेशों की राजधानियों मे, जैसे मद्रास या लखनऊ में, केन्द्रित न किया जाये, जैसा कि आज है, अपितु इसको विकासखंड तथा विद्यालय-स्तर पर विकेन्द्रित कर दिया जाए। यही युक्ति युक्त है क्योंकि अंत में संपूर्ण शिक्षा 1:1 का संबंध रखती है और शिक्षा की योजना बनाने तथा उसे कार्यान्वित करने मे जितना अधिक विकेन्द्रीकरण होगा उतना ही अधिक सीखने के उद्देश्यों की प्राप्ति भी हो सकेगी।

पहली आवश्यकता इस बात की है कि हम नियोजन के विकेन्द्रीकरण के सिद्धांत के प्रति संपूर्ण हृदय से पूर्णतः प्रतिबद्ध हों। हमारी परंपरा, जिसका हमने ही निर्माण किया है, केन्द्रीयकरण के विरुद्ध रही है। तदुपरांत हमे इसके निहितार्थ का सामना करना है। दूसरे शब्दों में हमे इन प्रश्नों पर विचार करना है — (अ) क्या विकासखंड स्तर पर शैक्षिक योजना का विकास, संपूर्ण योजना — कृषि, ग्राम-विकास, स्वास्थ्य, भवन निर्माण आदि योजनाओं को विकासखंड स्तर पर लाए बिना संभव है? (क्या कलुषित सागर में कोई निष्कलुष द्वीप हो भी सकता है?) तथा (ब) किस प्रकार उपकरण तथा साधन रहित ग्रामीण स्कूल अपनी पाठ्यचर्या, विषयवस्तु, सीखने की विधि तथा समय का नियोजन करने मे समर्थ हो सकते हैं, जबकि विभिन्न प्रकार की ग्रामीण शक्तियों का जाल फैला हुआ है और जो इस निम्न स्तर की शैक्षिक इकाइयों पर भी अपना नियंत्रण बनाए रखते हैं ? हम इसे कैसे रोक सकते हैं कि यह विकेन्द्रीकरण संभ्रांत शहरी स्कूलों के लिए समृद्धि का दूसरा स्रोत न बन सके? यह विकेन्द्रीकरण कहाँ तक ग्रामीण विद्यालयों की आधारिक संरचना को शक्तिसंपन्न बनाने में योग प्रदान कर सकेगा? इन सब प्रश्नों पर विचार करने और उत्तर ढूंढ़ने की तत्काल आवश्यकता है।

माध्यमिक शिक्षा

माध्यमिक शिक्षा के अन्तर्गत मेरे सामने दो प्रश्न हैं : माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रमों के सुधार की प्रकृति तथा उच्चतर माध्यमिक शिक्षा पद्धति मे दुर्व्यवस्था।

माध्यमिक विद्यालयो के पूर्णकालीन पाठ्यक्रम के पुनर्गठन की आवश्यकता, जिससे कार्यानुभव के संदर्भ में भाषा, प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञान, कला, शारीरिक शिक्षा आदि मे सीखने, निरंतर सीखने की आधारशिला रखी जा सके।

इस प्रकार विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की विस्फोटित शक्तियों की अभिव्यक्ति शिक्षा होगी, जो

हमारे कृषि, पशुपालन, वानिकी, मत्स्य-पालन, खनन तथा उत्पादन के कारखानों में क्रियाशील रहेगी। (मैं विज्ञान और प्रौद्योगिकी का प्रयोग व्यापक रूप में कर रहा हूँ जिसमें भौतिक, प्राकृतिक, मानवीय तथा सामाजिक विज्ञान और उनकी प्रविधियाँ शामिल हैं)। विद्यालयों तथा महाविद्यालयों में जिस विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का विकास होगा, उनके दो प्राथमिक कार्य होंगे — (1) वे अध्ययन जगत और कार्यजगत के बीच, चिंतन और क्रिया के बीच, सिद्धांत और व्यवहार के बीच सेतु का कार्य करेगे। विद्यालय मे अथवा उसके बाहर सीखने के प्रत्येक स्तर पर सैद्धांतिक घटक के साथ-साथ कार्यानुभव के घटक होंगे। ये दोनों ही विज्ञान पर आधारित स्वयं में और स्वयं के लिए सीखने के अनुभव होंगे, ये दिशा निर्देशन मात्र के लिए नहीं होंगे। प्रारंभिक स्तरों पर विज्ञान पर आधारित इस प्रकार का सीखना बागबानी, उर्वरकों को मिलाना, कीटाणुनाशक दवाओं का प्रयोग, भूमि तथा जल का प्रबंध, पक्षियों, कीड़ों तथा पशुओं के जीव-विज्ञान, ऊष्मा तथा कंक्रीट का भौतिक विज्ञान, मिट्टी का रसायन विज्ञान, विद्युत-परिपथ, बुनाई, पाक शास्त्र आदि पर केन्द्रित होगा तथा उच्च स्तरों पर सीखने की क्रिया कृषि, पशुपालन, मत्स्यपालन, विज्ञान, कृषि पर आधारित औद्योगिक विज्ञान तथा विभिन्न दूसरे प्रौद्योगिकियों पर केन्द्रित होगी।
(2) हमारे शिक्षालयों में विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा इनके शोध-परिणामों का दूसरा कार्य यह होगा कि हमारे कृषि और औद्योगिक विकास के ये केन्द्रबिंदु होंगे, (न कि जैसा आज है, अनावश्यक वस्तुओं से संबंधित होकर वे औद्योगिक देशों में हो रहे विज्ञान तथा शोधकार्यों के हाशिए में रख दिए जाते हैं तथा उन देशों में चल रहे शोध कार्यों के प्रभावहीन और पीले पड़े हुए अनुकरण मात्र रह जाते हैं)। हमारी विज्ञान और प्रौद्योगिकी प्रणाली का कार्य निर्धन क्षेत्र के लिए आवश्यक वस्तुओं के पूर्ण उन्नत उत्पादन तथा सेवाओं के लिए आधारिक संरचना तैयार करना होगा। तभी हमारी शिक्षा प्रणाली समाज के लिए प्रवेश द्वार न होकर समाज का केन्द्र होगी। खेतों और बाजारों की ओर से शिक्षा के द्वार बंद नहीं होंगे, बल्कि खेत और बाजार इसमें शामिल रहेंगे।

यह अनुभव नहीं किया जाता कि अधिकतर छात्रों, कदाचित् बहुसंख्यकों के लिए माध्यमिक विद्यालय औपचारिक शिक्षा के (सीखने के नहीं अपितु औपचारिक विद्यालयी शिक्षा के) अंत्य बिंदु हैं। सामान्य रिपोर्ट है कि हाईस्कूल, इंटर, बी.ए., बी.एस-सी. तथा बी.कॉम. की परीक्षाओं में सामान्यतः 60% छात्र अनुत्तीर्ण होते हैं। मैंने सामान्य रिपोर्ट की बात कही है, वस्तुतः अनुत्तीर्ण छात्रों की संख्या इससे कहीं अधिक होती है। एक राज्य आयोग ने परीक्षा संबंधी जाँच के आधार पर कहा है —

> 1982 ई. की एस.एस.एल.सी. परीक्षा में बिना माडरेशन के केवल 20.19 प्रतिशत परीक्षार्थी सफल घोषित हुए। सफल प्राइवेट परीक्षार्थी केवल 12.56 प्रतिशत थे। माडरेशन होने पर उत्तीर्ण छात्रों की संख्या 34.55 प्रतिशत हो गई लेकिन प्राइवेट परीक्षार्थियों का प्रतिशत 12.56 प्रतिशत से बढ़कर 47.9 प्रतिशत हो गया।

इसने यह भी रिपोर्ट दी है कि 12वीं कक्षा में वास्तविक सफल छात्रों का प्रतिशत 1982 में बिना माडरेशन के एक विश्वविद्यालय क्षेत्र में केवल 8 प्रतिशत और दूसरे में केवल 12 प्रतिशत था। स्नातक स्तर पर रिपोर्ट के अनुसार उत्तीर्ण प्रतिशत 30 से 35 प्रतिशत रहा।[8] जिस बात का अनुभव नहीं किया जाता वह यह है कि अनेक अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर 60 से 80 प्रतिशत असफल होने वाले छात्रों में से, यदि माध्यमिक स्तर से ही प्रारंभ

---

8. *रिपोर्ट : जस्टिस एम.पी. मेनन कमीशन ऑफ इंक्वायरी,* गवर्नमेंट ऑफ केरल,1984

किया जाये तो, केवल 10 प्रतिशत छात्र दुबारा एक या अनेक बार परीक्षा में बैठने पर सफल हो पाते है।

इस तथ्य से कि बहुत बड़ी संख्या में माध्यमिक शिक्षा पूरी करने वाले छात्र वास्तव में इस बिंदु पर अपनी विद्यालयी शिक्षा समाप्त कर देते हैं, अनेक मुद्दे उठ खड़े होते हैं। इनमें पहला पाठ्यक्रम के निहितार्थों से संबंधित है। माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम में यह सुनिश्चित होना चाहिए कि कक्षा दस तक विद्यार्थी जीवन और कार्य के लिए कुछ क्षमताएँ अवश्य अर्जित कर लें। साथ ही साथ उन छात्रों को जो उच्च शिक्षा प्राप्त करने की अभिरुचि रखते हैं, एक बौद्धिक आधार भी प्राप्त हो जाए।

दूसरा मुद्दा परीक्षा-पद्धति की वैधता से संबंधित है, जिस पर बाद में विचार किया जायेगा। जब तक वर्तमान परीक्षा-प्रणाली का अस्तित्व है, इस स्तर पर एक सामान्य धारणा यह है कि जो परीक्षार्थी एस.एस.एल.सी. परीक्षा में असफल होते हैं उनमें बहुसंख्या ऐसे छात्रों की है जिनमें माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने की अभिरुचि नहीं है।

इस धारणा पर प्रश्न उठ सकते हैं, पर जिस पर प्रश्न नहीं उठ सकता है वह यह है कि माध्यमिक शिक्षा (और आगे की शिक्षा भी) अत्यधिक सहायता प्राप्त (राज्य द्वारा) शिक्षा प्रणाली है। एक ऐसे देश मे जहाँ साधन अपर्याप्त हैं, साधनों के अपव्यय पर गंभीरता से सोचना होगा। आने वाले 10 वर्षों मे इस प्रश्न का सामना करना होगा कि माध्यमिक विद्यालयों मे प्रवेश किसी प्रकार के चुनाव के आधार पर क्यों न किया जाए। इसका प्रभाव उन छात्रों पर नहीं पड़ेगा जो अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति तथा पिछड़े वर्ग के हैं। क्योंकि आरक्षण पद्धति द्वारा इनकी पहली पीढ़ी के सीखने वालों की देख-रेख हो जायेगी।

और यह वह स्तर है जहाँ मुक्त विद्यालय प्रणाली को विकसित करना चाहिए और उन छात्रों के लिए इसे सुलभ होना चाहिए जो सहायता प्राप्त विद्यालयों में प्रवेश नहीं पा सके, पर अंशकालिक अथवा अपने समय के अनुसार माध्यमिक शिक्षा जारी रखने के इच्छुक हैं। इस प्रकार की खुली शिक्षा-प्रणाली औपचारिक शिक्षा की अपेक्षा कहीं अधिक नवीनता लिए हुए, लचीली तथा व्यक्तिगत आवश्यकता और अभिरुचियों के अनुरूप बनाई जा सकती है। यह शिक्षा-प्रणाली आधुनिक संचार-साधनों तथा इलैक्ट्रॉनिक सुविधाओं का पूरा लाभ उठा सकेगी।

उच्चतर-माध्यमिक

10 + 2 स्तर पर अव्यवस्था

उच्चतर-माध्यमिक स्तर पर अनेक समस्याएँ हैं। पहली, जैसा कि हाल के अध्ययन से ज्ञात होता है, यह है कि पूरे देश में +2 के स्तर पर अत्यधिक अव्यवस्था है। पाँच राज्यों, पंजाब, हरियाणा, मध्यप्रदेश, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश ने अभी भी 10+2+3 प्रणाली को नहीं अपनाया है। +2 स्तर का व्यवसायीकरण भी अधिकतर राज्यों ने नहीं अपनाया है। एक राज्य में, जहाँ इस स्तर पर नामांकन 1 लाख 80 हजार है, केवल 1080 छात्रों ने, जो 1% से भी कम हैं, 1984-85 में व्यावसायिक शैक्षिक धारा में प्रवेश लिया। सामान्यतः यही स्थिति अधिकतर राज्यों मे है। +2 के स्तर की स्थिति में भी बड़ी भिन्नता है। कुछ राज्यों में यह विद्यालय शिक्षा-प्रणाली का ही भाग है और इसे उच्चतर माध्यमिक कहा जाता है। कुछ अन्य राज्यों मे इसे जूनियर महाविद्यालय (कालेज) कहा जाता है जो या तो किसी डिग्री कालेज से संलग्न हैं अथवा उनकी स्थापना स्वतंत्र रूप से की गई है। एक राज्य में 11वीं कक्षा को विद्यालय से संलग्न कर दिया गया है तथा 12वीं को महाविद्यालय से। कुछ दूसरे अन्य राज्यों में इसे प्री-डिग्री

के नाम से जाना जाता है और वह उन कालेजों की शिक्षा का ही अंग है, जो विश्वविद्यालयों से संलग्न हैं।[9] यह व्यापक श्रेणीबद्ध भिन्नता उन कारणों में से एक है जिसके कारण शिक्षा के दो वर्षीय स्तर के दोहरे लाभ को न तो विद्यार्थी, माता-पिता, अध्यापक, राज्य सरकार तथा सामान्य रूप से समाज द्वारा समझा गया है और न ही स्वीकार किया गया है। शिक्षा के इस स्तर पर पाठ्यचर्या की चयन संबंधी उलझनों का भी यही कारण है।

ऐसी परिस्थिति में सभी राज्यों के लिए +2 स्तर को अपनी विद्यालय प्रणाली का अंग बना लेने की तत्काल आवश्यकता है।

शैक्षिक धारा

इस प्रकार की व्यवस्था से यह संभव होगा कि उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों के संगठन में दो धाराएँ होंगी। पहली — शैक्षिक धारा, जो पूर्व स्नातक तथा स्नातकोत्तर पाठ्यचर्याओं — कला, विज्ञान, कृषि, चिकित्सा-शास्त्र, इंजीनियरिंग आदि — की ओर ले जाएगी तथा दूसरी — विशाल बहुसंख्यक छात्रों के लिए व्यावसायिक पाठ्यचर्या जो उन्हें रोजगार अथवा स्व-रोजगार की ओर ले जाएगी। उन लोगों के लिए जो शैक्षिक धारा में प्रवेश करना चाहते हैं, एक परीक्षा आयोजित करनी होगी, इसमें अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जन जातियों के लिए आरक्षण नीति द्वारा निर्धारित छूट रहेगी। व्यावसायिक महाविद्यालयों मे प्रवेश के लिए चुनाव के इस सिद्धांत को हमने सभी राज्यों में स्वीकार कर लिया है। उच्चतर माध्यमिक तथा कला एवं विज्ञान के स्नातक पाठ्यक्रमों में भी प्रवेश के लिए इसी सिद्धांत को व्यवहृत करने की आवश्यकता है। एक राज्य में एस.एस.एल.सी. के प्रमाण-पत्र पर यह वाक्य छपा रहता है — "उच्च शिक्षा के लिए योग्य।" इसे स्वतः हटा देने की आवश्यकता है।

व्यावसायिक धारा

चूँकि व्यावसायिक धारा का मुख्य उद्देश्य यह है कि उसके छात्रों को रोज़गार के लिए, विशेषतः स्व-रोजगार के लिए तैयार किया जाए, अतः उसके पाठ्यक्रम मे विभिन्न कौशलों के सिद्धांत और अभ्यास पर अधिक ध्यान देना होगा।

व्यावसायिक धारा अनेक मुद्दों को उठाती है। एक यह है कि, वर्तमान श्रम की बाजार स्थिति को मान कर तथा शिक्षित बेरोजगारों की संख्या को निरंतर बढ़ता हुआ देखकर जिसमें प्राविधिक तथा व्यावसायिक रूप से प्रशिक्षित बेरोजगार भी सम्मिलित हैं, व्यावसायिक धारा के छात्रों की बढ़ती हुई वास्तविक माँग रोजगार पाना है, न कि रोजगार रहित प्राविधिक स्नातक डिग्री। ऐसी संभावनाएँ भी रखी जाये जिससे व्यावसायिक धारा के छात्रों की उर्ध्वाधर गतिशीलता संभव हो सके। जो थोड़े से सचमुच योग्य हैं और इच्छुक हैं, वे उच्चस्तरीय तकनीकी अथवा वैज्ञानिक शिक्षा भी प्राप्त कर सकें। मेरे विचार से यह एक सैद्धांतिक मुद्दा है।

दूसरा मुद्दा यह है कि व्यावसायिक पाठ्यक्रमों को स्थानीय सर्वेक्षण तथा रोज़गार देने वाले राजकीय तथा गैर राजकीय अभिकरणों के सहयोग से स्थानीय रोजगार के जो अवसर प्राप्त होते हैं उन पर आधारित होना चाहिए। इस प्रकार रोजगार देने वाले अभिकरणों को, उदाहरण के लिए पशु-चिकित्सा विभाग, दंत-चिकित्सा विभाग, कृषि विभाग, पर्यटन विभाग तथा होटल आदि और निजी नियोक्ताओं को यह सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि व्यावसायिक शिक्षा पूरी कर लेने वालों में से 15 से 20 प्रतिशत तक को सवैतनिक रोजगार देना होगा। और राष्ट्रीयकृत बैंक

---

[9] *हायर सेकंडरी एजुकेशन,* इंडियन इस्टीच्यूट ऑफ़ एजुकेशन, पुणे, 1984

शेष 80 से 85 प्रतिशत लोगों को स्व-रोजगार योजना के अंतर्गत् विविध कार्यों के लिए ऋण उपलब्ध कराएँगे।

एक अन्य मुद्दा व्यावसायिक शिक्षक है। कुछ क्षेत्रों में जहाँ आवश्यक उपकरण अथवा साधन बहुत मँहगे नहीं हैं विद्यालय शिक्षक की भर्ती कर सकता है तथा आवश्यक उपकरणों को खरीद कर लगवा सकता है। परन्तु जब आवश्यक उपकरण मँहगे हों, जैसे दंत-चिकित्सा, डेरी-प्रबंध, ए.एन.एम. तथा सामुदायिक स्वास्थ्य-कार्यकर्त्ता, पर्यटन तथा होटल के काम आदि में उन लोगों को शिक्षक रखा जा सकता है जो इन संस्थाओं मे कार्यरत है और सिखाने का काम करते हैं। उन्हें +2 स्तर के बजट से वेतन दिया जा सकता है। अंत में प्रारंभिक तौर पर रोजगार के सुनिश्चित कौशलों से विचलन न हो, इसके लिए स्व-रोजगार में लगे व्यावसायिक धारा के छात्रों की परीक्षा की जगह छात्रों द्वारा दो वर्ष में सीखे गए कौशलों का संचयित अभिलेख रखा जा सकता है। वैतनिक रोजगार में भी यह संचयित अभिलेख रोजगार देने वालों के लिए एक आधार हो सकता है। आगे शैक्षिक संस्थान अपनी चयन परीक्षा ले सकते हैं, जो अब अधिकतर हो भी रहा है।

शिक्षक तथा प्रशासन

शिक्षकों को पर्याप्त रूप से प्रशिक्षित, पूर्णतः अभिप्रेरित और अपने कार्यो के प्रति पूर्ण रूप से उत्तरदायी होना चाहिए। अभिप्रेरणा शिक्षक के लिए सीखने, निरंतर सीखते रहने की आवश्यकता को बनाए रखती है। और इस अर्थ मे वह अपने छात्रों की प्रतिष्ठा का समभागी होता है। अर्थात् दोनों ही सीखने वाले, जीवन पर्यंत सीखने वाले बने रहते हैं।

भविष्य की शिक्षा जीवन-पर्यंत शिक्षा होगी। 21वीं शताब्दी के प्रारंभ होने के पहले सामान्य जन की निरक्षरता दूर कर दी गई है, इस धारणा के साथ 21वीं शताब्दी में हम प्रवेश करेगे। परंतु इन शेष 15 वर्षों में हम निरक्षर माता-पिता, बड़े भाई-बहन आदि को शिक्षित करने के घोर प्रयास द्वारा एक महान तथा क्रांतिकारी सत्य की झलक पा सकेंगे — कि शिक्षा विद्यालय तथा महाविद्यालय नाम से पुकारे जाने वाले स्थानों का ही कोई स्थानिक एकाधिकार नहीं है, यह कोई समयबद्ध अधिगम-अनुभूति नहीं है। यह शैशव की शिक्षा, बचपन की शिक्षा, किशोरावस्था की शिक्षा, तरुणों की शिक्षा, प्रौढ़-शिक्षा जैसी भी कोई चीज़ नहीं है। न ही यह शिक्षा विज्ञान या पुरुषों की शिक्षा मात्र जैसी भ्रमित करने वाली, समय नष्ट करने वाली शैक्षिक नौकरशाही ही है। सच्ची शिक्षा वह है जो जीवन का ही एक रूप है। वह जीवन पर्यंत चलने वाली जीवन शैली है। प्रत्येक वर्ष, प्रत्येक माह, प्रत्येक दिन, पालने से कब्र तक व्यक्ति सीखता रहेगा, यदि उसे सीखने का अवसर, घर, विद्यालय, विश्वविद्यालय, कारखाना, खेत, अस्पताल, कार्यालय, सहकारिता, मंदिर, श्रमिक-संघ, राजनैतिक दल, सिनेमा, क्लब आदि मे मिलता रहेगा, तो वह सीखने के लिए सदा उन्मुख रहेगा। बिना दीवारों के विद्यालय, बहु संयोजक कक्षाएँ, समेकित स्कूल, खुले आसमान के विश्वविद्यालय, खेतों, कारखानों, व्यापार गृहों से शिक्षा संबद्ध रहेगी, जिससे कि ये सभी अभिकरण अपने सर्वेक्षण प्रलेखन तथा शोध-सुविधाओं के साथ शैक्षिक विस्तार के कारक बन सकें। स्वयं शिक्षा का सम्पूर्ण खुला हुआ विस्तृत क्षेत्र, ठीक वैसा ही जैसा हमारे ग्रामीण क्षेत्रों में है, क्रियाशील हो उठेगा। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि किसान और उसकी घरवाली के लिए उसका खेत ही उसका विद्यालय है। जो कुछ वे अपने जीवन मे करते है, वही उनके सीखने का पाठ्यक्रम है। प्रत्येक दिन की उत्तरजीविता की समस्या, जूझने की उनकी अनुभूति ही उनकी शिक्षा के मूल्यांकन का सार है। जीवन पर्यंत शिक्षा जीवन का एक तथ्य है।

जीवन पर्यत सीखते जाने का यह भी अर्थ है कि शिक्षक और शिक्षार्थी को अलग करने वाला कृत्रिम व्यवधान टूट जायेगा और उसके बंधन छिन्न-भिन्न हो जायेंगे। जब हम 21वीं शताब्दी में प्रवेश करेंगे तो कक्षा में हम यह नहीं देख पायेंगे कि — *एक शिक्षक अपने मंच पर खड़ा होकर ज्ञान (अथवा अज्ञान) की वाग्धारा अपने छात्रों के निष्क्रिय श्रवणशील कानों में उड़ेलता जा रहा है।* यह शिक्षा विरोधी संबंध है, जो अगले 15 वर्षों में, जब हम आगे बढ़ेंगे समाप्त हो चुका होगा। इसके स्थान पर शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों ही सीखने की समान खोज में, प्रत्येक दिन और हर प्रकार से सीखने तथा कैसे सीखा जाए इसके सीखने में संलग्न होंगे।

तब केवल प्रशासन का प्रश्न रह जाता है। प्रशासकीय सुधार का प्रश्न बहुत बड़ा है जिसकी चर्चा यहाँ नहीं की जा रही है। अधिक तात्कालिक आवश्यकता इस बात की है कि प्रशिक्षण विधि तथा प्रक्रियाओं को अभिनवीकृत किया जाए और साथ ही उसके निरीक्षण के ढाँचे में सुधार लाया जाये। इस संबंध मे शिक्षकों के दो आयोगों ने जिस प्रकार के निरीक्षण संबंधी ढाँचों की संस्तुति की है, उसके सावधानी से परीक्षण की आवश्यकता है। क्योंकि उनमे से कुछ शिक्षक-संघों की श्रमिक संघ वाले चरित्र की प्रतिध्वनि है, जो आज की प्रमुख प्रवृत्ति बन गई है, बजाय इसके कि वे अपने ज्ञान को अद्यतन बनाएँ तथा अपनी कार्यक्षमता को ऊँचा उठाएँ। पहले आयोग की आठ चुनी हुई संस्तुतियों में से पाँच का संबंध शिक्षकों के पारिश्रमिक से है। दूसरे आयोग की पाँच संस्तुतियों मे से चार का संबंध शिक्षको के वेतनमान, आवास-सुविधा, चिकित्सा, अवकाश आदि से है। वास्तव में शिक्षक संघों तथा आयोगों ने शिक्षक के कर्तव्यों पर, मूल उत्तरदायित्वों पर तथा शैक्षिक कार्यभार पर इतना कम ध्यान दिया है कि जिन साधनों से शिक्षक उन गुणों "का, जिनका ब्यौरा ऊपर दिया गया है विकास कर पाएगा, स्पष्ट नहीं है। शिक्षकों की शिक्षा तथा अभिप्रेरणा के क्षेत्र मे विश्वविद्यालयों का एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है, जिसका निर्वाह उन्होंने नहीं किया है। मेरा एक सुझाव यह है कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग वर्तमान संकाय-सुधार के कार्यक्रम का पुनरीक्षण करे तथा उन्हें इस रूप मे पुनः निर्धारित करे जिससे सेवा पूर्व तथा सेवा के दौरान सुधार संभव हो। साथ ही साथ व्यावसायिक सुधार के कार्यक्रम भी लिए जाएँ। मैं और आगे बढ़कर पूछता हूँ कि क्या शिक्षक पादरियों (पुरोहितों) की तरह व्यवसाय में परीक्षित होने के उपरांत चुने जायें अथवा क्या शिक्षक श्रमिक संघों की तरह शिक्षक-संघ बनाना छोड़ दें ताकि उनका शिक्षक-व्यवसाय पूर्ण रूप से प्रकट हो और कर्तव्यों का पालन हो सके। शिक्षकों की समस्याएँ तथा उनकी शिकायते सामान्य रूप से प्रत्येक विद्यालय मे शिकायतों को सुनने और दूर करने वाली व्यवस्था को सौंप दी जाएँ और इसका वहाँ स्पष्ट रूप से प्रावधान हो।

वित्तीय व्यवस्था

शिक्षा व्यवस्था का खर्च केन्द्र तथा राज्य सरकारें उठाती हैं। जो प्रति वर्ष 5250 करोड़ रुपया है। तथा विभिन्न निजी साधनों, परिवारों, धार्मिक, शैक्षिक तथा सांस्कृतिक न्यासों एवं मिशनरियों द्वारा 3000 करोड़ रुपये अतिरिक्त खर्च होते हैं। सभी राज्यों मे शिक्षकों के वेतन का भुगतान सरकार द्वारा प्रत्येक स्तर — प्राथमिक से महाविद्यालय (विकास खंडों को अनुदान देने की व्यवस्था द्वारा) और विश्वविद्यालय तक हो जाने पर शिक्षा प्रत्येक छात्र के लिए निःशुल्क सी हो जाती है। छात्रों की बहुत बड़ी संख्या संपन्न परिवारों से आती है। हमारी विद्यालयी तथा विश्वविद्यालयी व्यवस्था की सामाजिक संरचना के संबंध मे अंतिम वक्तव्य सन् 1978 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के नीति संबंधी पत्रक मे दिया गया है। उसके अनुसार विद्यालय

तथा महाविद्यालय की शिक्षा को पूरा करने वाले 70 प्रतिशत वे छात्र है जो समाज के उच्च वर्गीय 30% लोगों में से ही हैं।[10] इसका यह अर्थ है कि राज्य उन विद्यार्थियों को मुफ्त शिक्षा दे रहा है जो संपन्न घरानों के हैं। यदि इस बात मे यह तथ्य भी जोड़ दिया जाय कि शैक्षिक खर्च सभी सरकारी खर्चों के मुख्य भाग (90%) की ही भाँति अप्रत्यक्ष करों से प्राप्त होता है (जिसमें राज्य के भी कर सम्मिलित हैं जो अधिकांशतः अप्रत्यक्ष कर होते हैं) और जिसका भुगतान बहुसंख्यक निर्धन समुदाय करता है, तो इस देश में प्रत्येक स्तर की शिक्षा एक ऐसा साधन बन गई है जिसके द्वारा गरीबों के संसाधनों का स्थानांतरण अमीरों के पक्ष मे हो जाता है। सामान्य तौर पर इस समस्या का सामना नहीं किया जाता और इस पर आवरण डालकर उसे ओझल कर दिया जाता है। दूसरी ओर केन्द्र सरकार तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग अपनी नीति यह बताते हैं कि वे कालेजों के द्वारा कैपिटेशन (प्रतिव्यक्ति कर) शुल्क लगाने के विरोधी है और एक कानून बनने वाला है जो ऐसे कालेजों की मान्यता छीन लेगा जो कैपिटेशन शुल्क लेते हैं।

इस मुद्दे पर मैं एक बुनियादी प्रश्न उठाता हूँ। मेरे लिए महत्वपूर्ण आर्थिक प्रश्न यह है कि संपन्न परिवारों के विद्यार्थी, जिनकी संख्या अधिक है (70%), जैसा कि पहले बताया जा चुका है, और जो विद्यालय तथा महाविद्यालय की शिक्षा का लाभ उठाते हैं, उन्हे उतना शुल्क क्यों नहीं देना चाहिए जिससे उनकी शिक्षा का व्यय वहन किया जा सके — चाहे वह सामान्य शिक्षा हो चाहे व्यावसायिक। जो छात्र अनुसूचित जाति अथवा अनुसूचित जन जाति के हैं, अथवा गरीब परिवारों के हैं उन्हें निःशुल्क शिक्षा, शिक्षा-वृत्ति तथा अन्य ऋण मिलते रहेंगे जिनसे वे अपनी पुस्तकों के मूल्य, छात्रावास पर होने वाले व्यय आदि का भुगतान कर सकेंगे। संपन्न छात्रों को शुल्क देना होगा और साथ ही विद्यालय भवन तथा उसकी देख-रेख से संबंधित योगदान भी। प्रतिव्यक्ति शुल्क (कैपिटेशन फी) की समस्या से संबंधित यह एक भिन्न उपागम है। वही देता है जो देने की सामर्थ्य रखता है। इसे हमें आधिकारिक रूप से प्राप्त करना चाहिए, प्राप्ति की रसीद देनी चाहिए तथा उसकी लेखा-परीक्षा करानी चाहिए जिससे यह सुनिश्चित किया जा सके कि उस राशि का इस्तेमाल संस्था के विकास के उद्देश्य से किया जा रहा है। यदि ऐसा कर लिया जाता है और उसके साथ सुझाए गए बचत के उपाय अपनाए जाते हैं तथा समुदाय की भागीदारी मिल जाती है तब सातवीं योजना के लिए आबंटित धनराशि इन कामों के लिए पर्याप्त होगी — (अ) ग्रामीण विद्यालयों के लिए वित्तीय सहायता, (ब) प्रौढ़ साक्षरता केन्द्र, तथा (स) अनुसूचित जाति, अनुसूचित जन जाति तथा अन्य गरीब परिवारों के बच्चों की शिक्षा, और माध्यमिक एवं आगे की शिक्षा के लिए हमारी सतत् प्रतिबद्धता के खर्च को भी वह पूरा कर सकेगी।

नवोदित शैक्षिक आदर्श

मै अब उपर्युक्त विश्लेषण का सारांश प्रस्तुत करता हूँ।

वर्तमान शैक्षिक आदर्श मे अनेक अवगुण हैं जैसे समय-बद्ध सीखने के स्तरों के संरचनात्मक सोपान या श्रेणियाँ, एक बिंदु पर प्रवेश, समाज और बाजार से अलग-थलग, युग विमुख शैक्षणिक विषय वस्तु, निरर्थक मूल्यांकन पद्धति तथा वर्गीय पक्षपात से ग्रस्त उत्तरजीविता आदि। इनसे युक्त वर्तमान आदर्श के स्थान पर व्यवस्थागत आदर्श आवश्यक है। इस उद्देश्य के लिए निम्नांकित कदम उठाए जाएँ —

---

[10] *पॉलिसी ऑन हायर एजुकेशन,* विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नयी दिल्ली, 1978

(अ) अनौपचारिक शिक्षा की उपव्यवस्था को वरीयता के आधार पर दो समूहों [(1) 6 से 14 के आयु वर्ग में पढ़ाई छोड़े हुए विद्यालयी बच्चों का तथा (2) 15 से 40 के आयु वर्ग में कार्यरत निरक्षर प्रौढ़ों का] के लिए प्रारंभ करना। इसमें क्रियात्मक पाठ्यक्रमों का निर्माण, शिक्षण सामग्रियों का निर्माण, प्रशिक्षित शिक्षकों, प्रगतिशील कृषकों, अभियंताओं, संगीतज्ञों, नाट्य विशेषज्ञों, खिलाड़ियों आदि से शिक्षण संसाधनों का संग्रहण करना, तथा संकेन्द्रित पाठ्यक्रम को चलाने के लिए वर्तमान भवनों, प्रयोगशालाओं तथा कार्यशालाओं का प्रयोग करना शामिल है। अब यह सरकारी नीति हो गई है और कुछ राज्यों में इसका क्रियान्वयन प्रारंभ कर दिया गया है। अब इसकी गति को तीव्रता प्रदान करने की आवश्यकता है।

(ब) वर्तमान औपचारिक शिक्षा की उपव्यवस्था के पुनर्गठन के द्वारा विभिन्न स्तरों पर बहुविध प्रवेश तथा निकास के बिंदुओं को स्वीकार करना जिससे छात्र विद्यालय तथा विश्वविद्यालय व्यवस्था में अनेक बिंदुओं में से किसी पर प्रवेश पा सकें, छोड़ सकें, पुनः प्रवेश पा सकें, और अपने घर, खेत, कारखाने अथवा कार्यालय की आवश्यकता के अनुसार कार्य कर सके। और ऐसा करते हुए वे अपनी शिक्षा को संगठित अनौपचारिक शिक्षा के कार्यक्रमों के द्वारा जारी रखते हुए उचित बिंदुओं (कक्षाओं) पर विद्यालय अथवा विश्वविद्यालय में पुनः प्रवेश ले सकेगे। इससे जब भी उनकी इच्छा और आगे कौशलों को सीखने की होगी तो वे सीख सकेंगे। अनौपचारिक शिक्षा पद्धति के प्रारंभ हो जाने तथा औपचारिक शिक्षा के इस प्रकार पुनर्गठित हो जाने से उन बहुसंख्यक शिक्षार्थियों को शिक्षा का अवसर मिलेगा जो इस समय शिक्षा से वंचित रह जाते हैं। औपचारिक शिक्षा के इस प्रकार के पुनर्गठन की बात बहुत दिनों से, 1910 में श्री गोखले के समय से ही, चल रही है। अब हम शिक्षाविदों का यह दायित्व हो जाता है कि इस प्रस्ताव को प्रत्येक राज्य में व्यावहारिक तथा क्रियाशील योजना में रूपांतरित कर दें। निकास के बिंदुओं (कक्षा जिसमें शिक्षा छोड़ी जा सके) को निश्चित करना, निकले हुए विद्यार्थियों को प्रमाण पत्र देना, पुनः प्रवेश की आवश्यकताओं अथवा माँगों और कार्यविधि को परिभाषित करना, साथ ही साथ अनौपचारिक शिक्षा के विद्यार्थियों द्वारा अर्जित अनुभवों के मूल्यांकन साधनों के विकास आदि को भी निश्चित करना होगा ताकि इस पद्धति को सक्रिय बनाया जा सके।

(स) दोनों उपव्यवस्थाओं के बीच संबंध स्थापित करना जिसमें (जैसा पहले कहा गया है) एक से दूसरे में आने-जाने के बिंदु तथा आदान-प्रदान संबंधी प्रावधान भी शामिल हैं तथा उनके शैक्षिक विषयों, पद्धतियों, और सीखने तथा सिखाने की प्रविधियों के बीच संबंध स्थापित करना होगा।

(द) उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों तथा टेक्निकल स्कूलों में विविध विषयक अधिगम-अनुभूतियों की व्यवस्था के माध्यम से द्वितीय स्तर का व्यवसायीकरण, जिससे कार्य पर आधारित शिक्षा विद्यालय के भीतर और बाहर 15 से 16 के आयु वर्ग के सभी बच्चों को निःशुल्क उपलब्ध हो जाए तथा विद्यालय की धारा मे पूरे समय के लिए प्रवेश करने वाले 80 प्रतिशत शिक्षार्थियों के लिए यह रचनात्मक कौशल सीमांत बिंदु बन जाए।

प्रफुल्ल दवे

प्राथमिक शिक्षा के लिए व्यापक उपागम — एक दृष्टिकोण



प्रफुल्ल दवे

प्रफुल्ल दवे (जन्म 1931) ने शिक्षा मनोविज्ञान में डॉक्टरेट की उपाधि वाशिंगटन विश्वविद्यालय से प्राप्त की। ये 1980 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के विज़िटिंग फ़ेलो और 1982-83 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के राष्ट्रीय प्रवक्ता रहे। आजकल ये राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् के डीन (शैक्षणिक) एवं पूर्व-विद्यालयी और प्रारंभिकी शिक्षा विभाग मे प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष हैं। इनके महत्वपूर्ण प्रकाशनों में प्रमुख हैं: हाइआरकी इन कॉग्निटिव लर्निंग; एवं इंप्रूविंग लैंगुएज स्किल्स इन दि मदर टंग।

प्राथमिक शिक्षा के लिए व्यापक उपागम — एक दृष्टिकोण

अति सम्मानीय एवं बहुचर्चित प्रलेख *लर्निंग टु बि* के प्रकाशन के बहुत पहले खद्दर के छोटे अंगोछे से तन ढके हुए एक क्षीणकाय सीधे-सादे व्यक्ति ने निम्नांकित स्मरणीय पंक्तियाँ लिखीं, जो किसी भी विकासशील देश के लिए आज भी उपयोगी हैं :

> शिक्षा को ऐसा क्रांतिकारी रूप देना चाहिए जिससे वह निर्धन से निर्धन ग्रामीण की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके।

इससे पूर्व भारतीय राष्ट्रीय जीवन की दुर्दशा के प्रति एक महान संत, स्वामी विवेकानंद ने ऐसी ही चिंता व्यक्त की थी। उन्होंने कहा था :

> शिक्षा, शिक्षा, केवल शिक्षा। यूरोप के अनेक नगरों में भ्रमण करते हुए और वहाँ के निर्धनों के जीवन में भी सुख-सुविधा और शिक्षा को देखते हुए मेरे मन में अपने देशवासियों की दशा का चित्र घूम गया और मेरी आँखों से आँसू बहने लगे। इस अंतर का क्या कारण था? मुझे उत्तर मिला — शिक्षा।

बहुत कम भारतीयों ने इस देश की शिक्षा की समस्याओं को सही रूप में समझा है, जिस प्रकार इस धरती के इन दो यशस्वी सपूतों ने समझा था। यद्यपि गांधी जी को ब्रिटिश शिक्षा प्रणाली का साक्षात् अनुभव था, किंतु छद्म पाश्चात्य रंग में रँगे हुए अनेक बुद्धिजीवियों की भाँति वे उस प्रणाली से विमोहित नहीं हुए। इसका तथ्यात्मक परिणाम यह हुआ कि नेहरू, पटेल, आजाद तथा अन्य अनेक महापुरुषों ने उनके विचारों को स्वीकार किया और उनके मार्गदर्शन का अनुसरण किया। गांधी जी इस देश के सांस्कृतिक रूपांतर के लिए प्रशंसनीय सामाजिक-राजनीतिक अभिकर्त्ता के रूप में विख्यात हुए।

इन महापुरुषों ने तत्काल ही यह अनुभव किया कि इस देश में सदियों से शिक्षा का अधिकार कुछ थोड़े से — केवल संभ्रांतवर्गीय लोगों को ही उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होता रहा है। परिणामतः उन्होंने स्वतंत्र रूप से देशी, सर्वतोमुखी शिक्षा-प्रणाली का प्रवर्तन किया जिससे जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके और उन्हें लाभ पहुँच सके। गांधी जी, विशेष रूप से गौतम बुद्ध की भाँति, बुनियादी शिक्षा के रूप में जन शिक्षा-आंदोलन के अग्रदूत बने।

पूर्वव्यापी समस्या

शिक्षा मे संभ्रांत वर्गोन्मुखता की अंतर्बोधात्मक अनुभूति के अतिरिक्त इस आग्रह के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष पर्याप्त प्रमाण है कि प्राचीन काल से ही धनी-निर्धन अथवा सम्पत्तिवान और संपत्तिहीन वर्गों के बीच केवल बड़ा विभाजन ही नहीं था, वरन् ज्ञान अर्जित करने वालों द्वारा शायद जानबूझकर इस विभाजन की रचना की गई थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के रूप में हमारी श्रेणीबद्ध जातीय व्यवस्था विषमतामूलक सामाजिक व्यवस्था के अस्तित्व का ज्वलंत प्रमाण है, जिसका निर्माण बड़ी चतुराई से अपने ही लोगों के एक वर्ग को *ज्ञान-प्राप्ति* से वंचित करने के लिए किया गया था। इतनी पटुता से यह आयोजित किया गया था कि एक वर्ग के लोग केवल अपने जीवन-काल में ही नहीं अपितु पीढ़ी दर पीढ़ी नुकसान सहते रहे। इस प्रकार उनमें हीनता का संलक्षण विकसित होता रहा, जिसे हमारे संघीय गणतंत्र के संविधान में उन्मूलित करने के संकल्प के बावजूद अभी दूर करना शेष है। मानव इतिहास में ऐसी किसी प्रजाति का पाना दुर्लभ है, जिसने सोद्देश्य अपने लोगों में से ही एक वर्ग को ज्ञान की अभिगम्यता से परे रखा हो। यह विश्वास करना कठिन है कि हमारे हर प्रकार से गणमान्य प्रबुद्ध पूर्वजों ने इस प्रकार की व्यवस्था को जन्म दिया और उसे स्थायित्व प्रदान किया, चाहे परिस्थितियों की कितनी ही बाध्यताएँ और अनिवार्यताएँ रही हों।

यह तथ्य मानते हुए कि पौराणिक गाथाएँ ऐतिहासिक प्रमाण नहीं हैं, फिर भी सत्यकाम जाबाल, कर्ण (कुंती पुत्र होते हुए भी उसे पांडव नहीं माना गया), एकलव्य तथा बौद्धकाल तक अनेक लोगों की हृदय विदारक गाथाएँ ऐसी हैं जिन्हें भुला पाना बहुत कठिन है। कुछ लोग यह आग्रह कर सकते हैं कि भारतीय इतिहास के स्वर्ण युग के गौरवपूर्ण तथ्यों की अपेक्षा ये दुखद गाथाएँ हिन्दू मस्तिष्क मे शायद अधिक गहराई से घर कर गई है।

बुद्ध प्रथम द्रष्टा और उत्कृष्ट सुधारक थे, जिन्होंने शोषक वर्ग की प्रभुता के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए सफलतापूर्वक साधन रूप में शिक्षा का प्रयोग किया। जन-शिक्षा आंदोलन का उनका क्रांतिकारी युग था। वे एक महान् शिक्षक थे। उन्होंने जन-शिक्षा के लिए संस्कृत की जगह जन-भाषा-प्राकृत को *संप्रेषण (अथवा शिक्षा) का माध्यम* बनाया। आधुनिक शब्दजाल का प्रयोग करें तो हम उन्हें अंतःद्रष्टा प्रबंधक की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं। उन्होंने सूक्ष्मता के साथ एक सुदृढ़ सामाजिक संदर्भ से जुड़ी हुई शिक्षा प्रणाली की आधारिक संरचना तैयार की जिसमे प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालयी स्तर तक का समावेश था। ऐसी *समानता* और *श्रेष्ठता* — जनशिक्षा और उच्च शिक्षा — का एक साथ समुन्नयन पाना दुर्लभ है, जिसमें न केवल जाति, विश्वास, धर्म, लिंग वरन् प्रजाति और देश आदि का भी कोई भेद-भाव नहीं था। एक ओर जहां नालंदा और तक्षशिला श्रेष्ठता के चट्टान-सदृश गौरवपूर्ण उदाहरण हैं, वहीं दूसरी ओर अनेक भिक्षु (एक आवासीय नगर में लगभग 21) केवल शिक्षण का ही काम करते थे। यह समान शिक्षा का अर्थात् सभी को उसके द्वार पर शिक्षा प्रदान करने का जीता-जागता उदाहरण है। बुद्ध के समकालीन महावीर ने भी ज्ञान पर ब्राह्मण संस्कृति के एकाधिकार को चुनौती दी और सामान्य जन की शिक्षा के मार्ग में आने वाले अवरोधों को दूर करने का प्रयास किया। किन्तु इस संक्षिप्त काल के अलावा यह वर्गीय शिक्षा-विभाजन पूर्व की ही भाँति नारकीय बना रहा।

वस्तुतः मध्य युग, विशेषतः 16वीं शती से 18वीं शती तक सांस्कृतिक जड़ता का युग था,

जिसे अंधकार काल कहा गया है। यह मत व्यक्त किया जाता है कि राजनैतिक असुरक्षा और सामाजिक उथल-पुथल के कारण स्त्री-शिक्षा की अपार क्षति हुई, जिसका प्रभाव देश की स्त्री-शिक्षा की वर्तमान स्थिति में विशेषतः राजधानी के आस-पास उत्तरी भारत के राज्यों मे जहाँ विध्वंस और उसके परिणामों को अधिक भुगतना पड़ा, आज भी परिलक्षित होता है।

दुर्भाग्यवश ब्रिटिश शासनकाल और भी प्रतिकूल तथा शायद सार्वजनिक शिक्षा के मार्ग में और भी अधिक निर्णयात्मक व्यवधान सिद्ध हुआ। जैसा कि विदित है, प्राच्य विचारक जनता को देशी भाषाओं के माध्यम से देशी शिक्षा प्रदान करने के पक्ष में थे और पाश्चात्य विचारक पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार थोड़े से लोगों में करना चाहते थे। इन दोनों के संघर्ष में पाश्चात्य विचारकों की विजय हुई। मैकाले के मिनट (1835 ई.) का निम्नांकित उद्धरण किसी भी भारतीय के लिए बहुत ही दुखद है —

> सभी दल एक बात पर सहमत प्रतीत होते हैं कि भारत के इस भाग के निवासियों की सामान्य प्रचलित बोलियों मे न तो साहित्य है और न वैज्ञानिक सूचनाएँ ही। वे इतनी अनुन्नत और अशिष्ट हैं कि जब तक उन्हें अन्य प्रकार से संवर्द्धित नहीं किया जाता तब तक उनमें किसी मूल्यवान साहित्य का रूपांतरण सरल कार्य नहीं है। ..... मै प्राच्य विद्या को स्वयं प्राच्य विचारकों के मूल्यांकन के आधार पर स्वीकार करने को तैयार हूँ। मुझे उनमें से कोई भी ऐसा नहीं मिला जो इस बात से इन्कार कर सके कि किसी अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय की केवल एक आलमारी की बराबरी भारत और अरब का संपूर्ण देशी साहित्य नहीं कर सकता। समिति के वे सदस्य, जो शिक्षा की प्राच्य योजना के समर्थक हैं, पाश्चात्य साहित्य की अंतर्भूत श्रेष्ठता को पूर्णतः स्वीकार करते हैं।

सामान्य रूप से भारतीय संस्कृति और विशेष रूप से साहित्य के प्रति इस घोर पक्षपातपूर्ण मत पर विचार करना व्यर्थ का समय गँवाना है। तथापि वर्तमान प्रकरण के संदर्भ मे यह ध्यान रखना अधिक महत्वपूर्ण है कि उपर्युक्त नीति से जन-शिक्षा का अवसर अनेक पीढ़ियों के लिए जाता रहा। इस मार्मिक कटु सत्य का अनुभव गांधी जी को हुआ। यहाँ इस बात का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं है और इससे सामान्यतः सभी विद्वान सहमत हैं कि बुनियादी शिक्षा की देशी योजना का क्रियान्वयन अंग्रेजियत मे रंगे हुए नौकरशाहों ने भीतर ही भीतर केवल इस कारण ध्वस्त कर दिया ताकि कुछ थोड़े से लोगों के लिए संभ्रांतवर्गीय शिक्षा प्रणाली आगे भी बनी रहे। यह ठीक वैसे ही हुआ जैसे हमारे प्राचीन पूर्वजों ने सदियों पूर्व किया था। मैकाले की दोनों अभिलाषाएँ इस प्रकार पूरी हुईं: (1) पाश्चात्य दृष्टिकोण वाले शिक्षितों का एक संभ्रांत वर्ग तैयार करना जो भारत जैसे विशाल देश के शासन मे अंग्रेजों की सहायता कर सके और (2) इस वर्ग का प्रयोग इस तरह करना कि वह भारत मे देशी शिक्षा प्रणाली को जड़ न जमाने दे ताकि देशी और विजातीय देशी के बीच की खाई कभी न पटे।

राजनैतिक रंगमंच के रूप में सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा की माँग दादा भाई नौरोजी ने सरकारी तौर पर 1882 में *भारतीय शिक्षा आयोग* के सम्मुख रखी थी। स्थानीय निकायों द्वारा चुने हुए क्षेत्रों में अनिवार्य शिक्षा प्रारंभ करने का बिल गोखले ने 1910 में प्रस्तावित किया था, किन्तु उसे अस्वीकार कर दिया गया। कुछ समय के लिए इसका भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। तथापि, जैसा कि उनका पूर्वानुमान था, भारत सरकार ने 1921 में अनिवार्य शिक्षा संबंधी अपनी शिक्षा-नीति घोषित की। 1944 में सार्जेंट रिपोर्ट ने आठ साल की अनिवार्य विद्यालयी शिक्षा

की संस्तुति की और 40 वर्ष (1944-1984) में इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक लंबी अवधि की योजना तैयार की। बाद में खेर समिति ने इसे 1960 तक प्राप्त कर लेने के लिए योजना में संशोधन किया, जिसकी पुष्टि संवैधानिक धारा 45 द्वारा की गई।

प्राथमिक शिक्षा के लिए एक वैकल्पिक अनौपचारिक उपागम

वर्तमान स्थिति

यहाँ शिक्षार्थियों के नामांकन, प्रतिधारण और उपलब्धि स्तर के आँकड़ों का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करना समीचीन नहीं है। संक्षेप में हम कह सकते है कि कक्षा 1 में जहाँ सौ बच्चों का नामांकन होना चाहिए, वहाँ 83 प्रतिशत छठी पंचवर्षीय योजना के अंत में नामांकित हुए। इस प्रतिशत मे से लगभग 40 प्रतिशत कक्षा 6 तक पहुँच सके और केवल 22 प्रतिशत कक्षा 8 तक शिक्षा पूरी कर सके। यह उल्लेख अनावश्यक है कि जो शिक्षार्थी शिक्षा से विरत हो जाते हैं अथवा बाहर कर दिए जाते हैं, वे समाज के सुविधाहीन वर्ग जैसे अनुसूचित जाति, अनुसूचित जन जाति व अन्य पिछड़े वर्ग के होते हैं, और बालिकाएँ तो संपन्न वर्ग की भी शिक्षा से वंचित रह जाती हैं। यह अनुमान किया गया है कि यदि देश मे 1990 तक, सातवीं पंचवर्षीय योजना के समाप्ति वर्ष तक, प्राथमिक शिक्षा का सार्वजनीकरण पूरा करना है तो 6 से 14 वर्ष के आयु-वर्ग के 6 करोड़ 40 लाख अतिरिक्त बच्चों को नामांकित करना होगा और उन्हें 8 वर्ष तक की पूरी विद्यालयी शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रतिधारित किए रहना होगा।

औपचारिक प्रणाली की अप्रासंगिकता

अब इस मुद्दे पर बहस की गुंजाइश नहीं रह गयी है कि शिक्षा की औपचारिक प्रणाली से सार्वजनिक नामांकन, प्रतिधारण, शैक्षिक गुणता में सुधार आदि में कोई सहायता और सफलता नहीं मिली है। इन तीनों सूचकों से संबंधित वास्तविक तथ्य इतने स्पष्ट है कि इन्हें अत्यंत प्रतिबद्ध राजनीतिज्ञ तथा प्रतिष्ठानों के नौकरशाह भी नहीं छिपा सकते। हर कोई महसूस करते हैं कि हम स्वयं खतरा लेकर ही ऐसा कर सकते हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति पर वर्तमान विचार-विमर्श से स्पष्ट है कि हमने एक राष्ट्र के रूप में छिपाने या टालने की जगह सच्चाई और शालीनता का ही परिचय दिया है।

एक वैकल्पिक प्रतिरूप

प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण की युक्ति पर चर्चा करने के पहले इस लक्ष्य-प्राप्ति के परिणामों पर विचार करना उचित होगा। इस प्रकरण पर अधिकतर परिचिर्चाओं से यह स्पष्ट है कि इस लक्ष्य प्राप्ति के परिणाम सकारात्मक हैं। यद्यपि दार्शनिक शब्दावली और समाज शास्त्रीय संदर्भ में लक्ष्य का तात्पर्य वांछित दिशा से है, पर आनुभविक परिणाम नकारात्मक अथवा अवांछित फल का भी सूचक हो सकता है। यदि इसे विधर्मिता न समझी जाए, तो मैं इस समस्या पर एक प्राक्काल्पनिक दृश्य योजना के आधार पर सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा के स्पेक्ट्रम के अंत पर विचार करना चाहूँगा।

यदि सभी बच्चे पाँच वर्ष की शिक्षा का चक्र पूरा कर लेते है, तो राष्ट्रीय दृश्य क्या होगा? यह उचित ही है कि वे उच्च प्राथमिक शिक्षा की माँग करेंगे। यह मान लें कि उन सभी को आठ वर्ष की शिक्षा का चक्र पूरा करने की अनुमति मिल जाती है, जिसके लिए संवैधानिक

प्रतिबद्धता होने के कारण सभी प्रयास किए जाएँगे, तो इस प्रकार शिक्षित हुए इन बच्चों की आकांक्षा क्या होगी? स्वभावतः आगे की शिक्षा। यदि आगे की शिक्षा के लिए कड़ाई से भी प्रवेश दिया जाए, तो भी विद्यालयी स्तर पर बहुत भयंकर दबाव पड़ेगा।

अब हम वर्तमान दृश्य से उसकी तुलनात्मक विवेचना करें। 10 प्रतिशत से भी कम विद्यार्थी उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के प्रवेश के लिए अभ्यर्थी होते हैं, इस पर भी वर्तमान प्रणाली इतनी अधिक प्रतियोगात्मक हो गई है कि 90 प्रतिशत अंक पाने वाले छात्र ही व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश ले पाते हैं। विज्ञान पाठ्यक्रम के लिए भी 60 प्रतिशत से अधिक अंक प्राप्त करने होते हैं। इसके फलस्वरूप क्या स्थिति होगी, उसके अनुमान के लिए किसी विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। जैसा कि जेम्स कोनांट ने अमेरिकन संदर्भ में एक उपमा दी है कि यह स्थिति वैसी ही भयावह होगी जैसे किसी भीड़ वाले नगर के किसी परित्यक्त भवन में विस्फोटक बारूद का अंबार इकट्ठा कर दें। यह देखना अप्रासंगिक नहीं है कि कुछ आलोचकों ने पंजाब और उड़ीसा में हाल के उपद्रवों की व्याख्या उसी रूप में यह कहते हुए की है कि आकांक्षी शिक्षित बेरोजगार युवकों की बहुत बड़ी संख्या ऐसे कार्य करती है अथवा उससे ये कार्य कराए जाते हैं जो विध्वंस की ओर ले जाते हैं। सार रूप में यही वह परिणाम है, जिसके संबंध में शिक्षा के वांछित लक्ष्य का विरोधी अथवा नकारात्मक रूप होने पर सोचा जा सकता है। मैं व्यक्तिगत रूप से भावी सामाजिक-आर्थिक परिणामों से पृथक शिक्षा अथवा किसी वैकल्पिक उपागम की बात नहीं सोच सकता।

आधारतत्व

क्रियान्वयन के लिए ठोस सुझाव देने के पूर्व उन आवश्यक आधार-तत्वों का उल्लेख आवश्यक है जो इस संदर्भ का आधार और ढाँचा प्रदान कर सकें:

(1) ऐसी अनेक सुदृढ़ सामाजिक-आर्थिक बाध्यताएँ है, जिनके अंतर्गत भारतीय शिक्षा प्रणाली को आने वाले समय में कार्य करना है। जन-शिक्षा अथवा शैक्षिक अवसरों की समानता का प्रावधान होना चाहिए जो नितांत आवश्यक हैं। इन व्यवधानों का ध्यान रखते हुए जनशिक्षा को नियोजित और आयोजित करना चाहिए।

(2) मानव संसाधन विकास के लिए शिक्षा एक महत्वपूर्ण किन्तु एकमात्र निवेश नहीं है। बाल उत्तरजीविता, पौष्टिकता एवं स्वास्थ्य-स्थिति तथा कुछ अन्य सूचकों के साथ यह राष्ट्रीय विकास के लिए उत्प्रेरक के रूप में कार्य कर सकती है।

3) अपरिहार्य कारणों से अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा को विशेष आयु-वर्ग तक सीमित रखना होगा।

(4) समस्त प्राप्य संसाधनों का प्रयोग करते हुए प्रत्येक बालक की पूर्ण क्षमता के विकास के लिए सभी प्रयास करना आवश्यक होगा।

(5) तथापि, इस आयु वर्ग के बाद, योग्य, प्रतिभाशाली और गुणी छात्रों के चयन का तरीका अपनाना होगा। ज्यों-ज्यों बच्चे शिक्षा के उच्च सोपानों पर चढ़ते जाएँ, त्यों-त्यों चयन भी सख्त होना चाहिए। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि चयन प्रक्रिया व्यापक होनी चाहिए। अतः मूल्यांकन की विभिन्न युक्तियों एवं साधनों का प्रयोग करते हुए शिक्षार्थी की वेक्षणीय एवं अनवेक्षणीय सभी संप्राप्तियों का मूल्यांकन किया जाना चाहिए।

('6) बहुत लम्बे काल से शिक्षा और कार्य का द्विभागीकरण बना हुआ है। प्रारंभिक अवस्था से ही इन दोनों का योग इस प्रकार होना चाहिए कि शैक्षिक और कार्य की कुशलता की

पृथकता एक-दूसरे के पक्ष या विपक्ष मे सक्रिय न हो। वस्तुतः प्रारंभ से ही कार्य, कला और शैक्षिक विषयों को आवश्यक अधिगम के विकास के लिए एक हार मे पिरो देना चाहिए। ज्यों-ज्यों बच्चों की वृद्धि और विकास हो, एक व्यापक सामान्य पाठ्यक्रम/शिक्षा के एक ही कार्यक्रम के अंतर्गत बच्चों की योग्यताओं और अभिरुचियों के अनुकूल पाठ्य विषय-सामग्री के विभिन्न अनुपातों पर बल देना होगा।

(7) शिक्षा को जीवन की तैयारी के रूप में समझना चाहिए और इसलिए उसे वास्तविक जीवन स्थितियों से संबधित करके प्रदान करना चाहिए। दूसरे शब्दों में किसी भी स्तर पर शिक्षा के प्रमुख उद्देश्य को केवल बौद्धिक नहीं होना चाहिए, अपितु शिक्षार्थियों के जीवन और उनके सामुदायिक सदस्यों की गुणता में सुधार भी होने चाहिए।

(8) इस कारण यह आवश्यक है कि बिल्कुल प्रारंभिक स्तर से ही विद्यालयी व्यवस्था और पाठ्यक्रम संबंधी निर्णय लेने की प्रक्रिया का विकेन्द्रीकरण किया जाए।

एक परिचालन योजना

उपर्युक्त आधारतत्व व्यापक हैं और शिक्षा की संपूर्ण प्रणाली को ध्यान में रखते हुए उनका विकास किया गया है। अब बढ़ते हुए नामांकन एवं बीच में ही पढ़ाई छोड़ देने की प्रवृत्ति को रोकने और संप्राप्ति स्तर में सुधार लाने के उद्देश्यों की पूर्ति की दृष्टि से एक लघु निदर्शी कार्य-योजना प्रस्तुत की जा रही है —

(1) सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा के लक्ष्य को बिना किसी विशेष अवधि निर्धारित किए हुए यथासंभव यथाशीघ्र पूरा करने के लिए कक्षा 5 तक सीमित रखना चाहिए।

(2) पाँच वर्ष (कक्षा 5) की अवधि में हमारा यह भरसक प्रयास होना चाहिए कि शिक्षा सुविधाहीन बच्चों के द्वार तक पहुँच जाए। भोजन, आवास और उत्तरजीविता के सदृश शिक्षा को भी सभी बच्चों की मूल आवश्यकताओं में गिनना चाहिए।

(3) अभी कुछ समय तक औपचारिक प्रणाली में ढाई करोड़ अतिरिक्त बच्चों से अधिक को ले सकने की सामर्थ्य नहीं है और न दिनों-दिन अधिक तथा उत्तम शिक्षा की बढ़ती हुई माँग के दबाव का ही सामना करने की क्षमता है। इस कारण आवश्यक हो गया है कि अनौपचारिक शिक्षा की वैकल्पिक व्यवस्था को धीरे-धीरे बनाया जाए — जिसमें विविध प्रकार की परंपरागत, परंपरा रहित तथा प्रौद्योगिकी व्यवस्था हो ताकि बचे हुए तीन करोड़ नब्बे लाख बच्चों को उसमे शामिल किया जा सके। इस संबंध में सबसे महत्वपूर्ण बात है — उपयुक्त, लचीली तथा प्रासंगिक शिक्षा-सामग्री के साथ उस व्यवस्था में दाखिल होना ताकि बच्चों की जीवन-शैली में कोई आमूल परिवर्तन न हो और न उनके जीवन की लय ही भंग हो।

(4) केन्द्र/केन्द्रों से विषय-मर्मज्ञ और शिक्षा-विशेषज्ञ क्षेत्र विशेष की परिस्थितियों और समस्याओं पर आधारित स्वयं नियोजित सामग्री के निरूपण मे स्थानीय शिक्षकों और समुदाय के साथ परस्पर अंतःक्रिया अर्थात् विचार-विमर्श अवश्य करें।

(5) बच्चों को शिक्षा सुलभ कराने के कार्य में जो भी भाग लेना चाहें, उन्हें प्रोत्साहित किया जाए। इस प्रकार के शिक्षण-प्रयास जहाँ भी थोड़ी-बहुत सुविधाएँ विद्यमान हों अथवा निर्देशक द्वारा निर्मित हों, आयोजित किए जाएँ। पात्रता के लिए न्यूनतम योग्यता भी निर्धारित होनी चाहिए।

(6) निर्देशक को सुनिर्मित, अधिकाधिक चित्रित एवं स्वयं-नियोजित शिक्षण-सामग्री विविध

एवं पर्याप्त मात्रा में प्रदान करनी चाहिए।

(7) उनका प्रारंभिक और अल्पकालिक आवर्ती प्रशिक्षण सावधानी से सुनियोजित होना चाहिए। इस प्रकार के पाठ्यक्रम का निरूपण निर्देशकों के साथ अंतःक्रिया द्वारा होना चाहिए।

(8) जनपद, अथवा अधिमानतः खण्ड स्तर पर सेवाकालीन और मूल्यांकन केन्द्र स्थापित होने चाहिए।

(9) किसी प्रकार के पर्यवेक्षण की आवश्यकता नहीं है। निर्देशक के निष्पादन का मूल्यांकन उसके शिक्षार्थियों की संप्राप्ति के आधार पर किया जाता है। शिक्षार्थियों के संप्राप्ति स्तर का निर्धारण खुले प्रश्न बैंकों की सहायता से मूल्यांकन केन्द्र पर किया जाता है। ये प्रश्न बैंक सभी शिक्षार्थियों को व्यक्तिगत रूप में खुले मिलेंगे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ये प्रश्न बैंक बहुत ही सावधानी के साथ तैयार किए जाएँगे जिसमें परिणाम-आधारित प्रकरण (विषय विशेष नहीं) शामिल होंगे। खुली प्रणाली होने पर भी प्रश्न पत्रों की रचना विभिन्न कठिनाइयों और योग्यताओं वाले बहुसंख्य प्रकरणों में से यादृच्छिक चयन के आधार पर की जाएगी। इसमें अध्ययन के निर्दिष्ट स्तर पर शिक्षार्थियों की उपलब्धि का वैध और विश्वसनीय सूचकांक प्राप्त होगा।

(10) शिक्षार्थियों की क्षैतिज और ऊर्ध्वाधर गतिमानता को उपयुक्त प्रमाण-पत्र और मान्यता की सहायता से सुनिश्चित किया जाना चाहिए।

रामप्रसाद सिंहल

भारत में माध्यमिक शिक्षा : भावी परिप्रेक्ष्य



रामप्रसाद सिंहल

रामप्रसाद सिंहल *(जन्म 1928) ने वाणिज्य मे आगरा विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। ये अनेक महत्वपूर्ण पदों पर रहे हैं जिनमें प्रमुख हैं: केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के अध्यक्ष; भारत में विद्यालयी शिक्षा के बोर्डों की परिषद् के अध्यक्ष; नई शिक्षा प्रणाली की राष्ट्रीय समिति के सदस्य-सचिव; + 2 की पाठ्यचर्या के लिए बनी राष्ट्रीय समीक्षा-समिति के सदस्य-आयोजक; और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की परीक्षा-सुधार समिति के सदस्य। आजकल ये नई दिल्ली के राष्ट्रीय शैक्षिक योजना और प्रशासन संस्थान के कार्यकारी निदेशक हैं। इनकी लिखी पुस्तकों में प्रमुख है:* रिवाइटलाइजिंग स्कूल कम्प्लेक्सेज़ इन इंडिया, माडेर्नाइज़िंग स्कूल इंस्पेक्शन सिस्टम; टीचर-पूपिल रेशिओज़ फॉर स्कूल्स इन इंडिया; दि न्यू एजुकेशनल पैटर्न इन इंडिया (सह लेखक); सेकंडरी स्कूल इक्जामिनेशन सिस्टम ऑफ यू.के.; ओपेन स्कूल ऑफ़ इंडिया—ए ब्लु प्रिंट; *और* लर्निंग टु डू।

भारत में माध्यमिक शिक्षा : भावी परिप्रेक्ष्य

टॉफलर का कथन है, *भविष्य-निर्माण की मूर्त कल्पना ही शिक्षा का स्रोत है। यदि समाज द्वारा मान्य यह मूर्त रूप नितांत अनुपयुक्त है तो उसकी शिक्षा-प्रणाली भी युवकों के लिए प्रवंचना मात्र होगी।* यह कथन बहुत अंशों तक सत्य है, क्योंकि विगत अनुभवों पर हमेशा ज्यादा बल दिया जाता है और निर्माणाधीन वस्तुओं के भावी स्वरूप पर सामान्यतः कम ध्यान दिया जाता है, जिसके अभाव में संपूर्ण नियोजन और निर्णय लेना निष्फल हो जाता है। निस्संदेह अतीत की उपेक्षा नहीं की जा सकती और न की जानी चाहिए, किन्तु उदीयमान भविष्य की झांकी उससे अधिक महत्वपूर्ण है। यह बात जीवन के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा शिक्षा के सम्बन्ध मे अधिक सत्य है, क्योंकि यह अपेक्षा की जाती है कि संपूर्ण विश्व में तीव्र गति से वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक तथा अन्य विकासों पर शिक्षा का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है और इन विकासों से शिक्षा स्वयं प्रभावित होती है। अतः जब तक शिक्षा भविष्य की चुनौतियों का सामना करने के लिए अपने को समर्थ नहीं बनाती, तब तक यह *यथापूर्व स्थिति* बनाए रखने का निष्क्रिय साधन बनी रहेगी और जनता की आकांक्षाओं को पूरा करने में असफल रहेगी।

इस दृष्टि से विचार करने पर शिक्षा को अग्रदर्शी होना पड़ेगा। प्राथमिक, माध्यमिक अथवा तीसरे, सभी शैक्षिक स्तरों पर सतत पुनरीक्षण और परिवर्तन करना होगा जब तक कि शिक्षा प्रणाली के अंतर्बाह्य द्रुत परिवर्तनों के साथ उनका तालमेल न बैठ सके। शैक्षिक सोपान में माध्यमिक शिक्षा का विशिष्ट स्थान है, क्योंकि बहुसंख्यक विद्यार्थियों के लिए अन्तिम स्तर है और वे ज्योंहि यह शिक्षा पूरी करते हैं, त्योंहि किसी न किसी काम में लग जाते है। इस स्तर के बाद अल्पसंख्यक विद्यार्थी ही उच्च शिक्षा ग्रहण करते हैं, और उनके लिए भी माध्यमिक शिक्षा एक सेतु का काम करती है।

इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा पर एक ओर विद्यार्थियों को कार्य-जगत के लिए तैयार करने का उत्तरदायित्व है तो दूसरी और उच्च शिक्षा की आवश्यकताओं की पूर्ति भी करनी है ताकि जो विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिए जाएं, उनकी आधारशिला मजबूत और समर्थ हो, और वे उस ज्ञान को आत्मसात कर सकें जो उच्च शिक्षा से उन्हें प्राप्त होगी।

केवल देशी बने रहना काफी नहीं

यह कहना सही है कि हर देश को सामान्य विकास और विशेष रूप से शैक्षिक विकास के राष्ट्रीय लक्ष्यों के समग्र ढाँचे के भीतर ही माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य, संरचना, विषय-वस्तु, पाठ्यक्रम आदि का निर्माण करना होगा, पर यह भी अनिवार्यता है कि माध्यमिक शिक्षा समाज की नवोदित आवश्यकताओं को भी पूरा करे और विश्व के अन्य भागों में, विशेषतः उस क्षेत्र में

होने वाले विकासों के प्रति ग्रहणशीलता बनाए रखे। शिक्षा की देशी प्रणाली का प्रावधान रखते हुए उसे उस यथार्थ का भी ध्यान रखना है जिसमे संचार के आधुनिक साधनों ने विश्व को एक सार्वभौम गाँव बना दिया है। सबसे पृथक अपने मे ही किसी प्रणाली के बारे में सोचना कठिन ही नहीं बल्कि परामर्श योग्य भी नहीं है। अतः माध्यमिक शिक्षा को ऐसे ढांचे में ढलना है जिसमे लचीलापन हो और अन्यत्र, विशेषतः पास-पड़ोस में जो कुछ घट रहा है, उससे पराङ्मुख भी नहीं होना है।

यदि यह आधार मान लिया जाता है, तो इस तथ्य को ध्यान में रखना आसान होगा कि आज का विश्व प्रौद्योगिक के विकास की ओर द्रुतगति से बढ़ रहा है और कंप्यूटर साध्य शिक्षा, मुक्त अधिगम प्रणाली, ग्राम्य और शहरी तथा स्त्री-पुरुष जनसंख्या के लिए भेद-भाव रहित पाठ्यक्रम, शिक्षण का अंतर्विषयक उपागम, शिक्षा और कार्य का एकीकरण और ऐसी मूल्य-प्रणाली की स्थापना जिससे अंतर्राष्ट्रीय सद्भावना, शांति, समन्वय का विकास हो, आदि भविष्य की माध्यमिक शिक्षा के कुछ महत्वपूर्ण घटक होंगे।

त्वरित विकास

यह भी तथ्य है कि विभिन्न देशों में विकास की गति भिन्न-भिन्न है। कोरिया मे विशेष आयुवर्ग के 75 प्रतिशत छात्र औपचारिक उच्च विद्यालय की शिक्षा ग्रहण करते है, जबकि भारत में इसी आयु वर्ग के केवल 25 प्रतिशत छात्र ही यह शिक्षा ग्रहण करते हैं। थाईलैंड मे प्राथमिक शिक्षा पूरी कर लेने पर केवल 48 प्रतिशत छात्र माध्यमिक विद्यालयों में प्रवेश लेते हैं। भारत में लगभग यही स्थिति है। जापान में 94 प्रतिशत तक निम्न माध्यमिक पास कर उच्च माध्यमिक में प्रवेश लेते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि माध्यमिक विद्यालयों मे प्रतिभागी दर उन देशों मे तेजी से बढ़ानी है जिन देशों मे यह कम है। यह भी आवश्यक है कि माध्यमिक शिक्षा को प्रासंगिक और सार्थक बनाने के लिए विशेष ध्यान देना होगा ताकि नामांकन मे वृद्धि हो और बीच में ही पढ़ाई छोड़ने वाले छात्रों की संख्या में ह्रास हो।

इस प्रकार भारत में औपचारिक माध्यमिक विद्यालयों के सामने प्रतिभागी-दर और साथ ही सामाजिक सार्थकता दोनों दृष्टियों से गंभीर चुनौती है।

चूंकि भारत में माध्यमिक शिक्षा अभी तक अनिवार्य नहीं है, इसलिए उसके विकास का अनुमान लगाना भी कठिन है। ओ.ई.सी.डी. रिपोर्ट (1979) के अनुसार अनिवार्योत्तर शिक्षा जारी रखने का निर्णय विद्यालय मे विद्यार्थी के निष्पादन से, जो स्वयं छात्र के सामाजिक आर्थिक वातावरण (माता-पिता के व्यवसाय, आय और शैक्षिक स्तर) से प्रभावित है, और सफलता के संयोगों से बहुत अधिक सम्बन्धित है जिसे हर वर्ग अपनी सामाजिक और भौगोलिक स्थितियों के अनुसार अपनी दृष्टि से अनुमानित करता है। फिर अध्ययनात्मक विषयों के चयन और उत्तरजीविता-दर भी व्यावसायिक अभिप्रेरणाओं और परीक्षा फल से प्रभावित होते है और यह भी छात्र की सामाजिक पृष्ठभूमि और लिंग के सम्बन्धित है। अनेक देशों मे की गई जांचों से पता चलता है कि इन विभिन्न चरों को एक समर्थ साधन प्रदान करने की दृष्टि से जोड़ा जा सकता है जिससे छात्र की भावी शिक्षा का अनुमान किया जा सके। सुविधासंपन्न सामाजिक वर्गों के अच्छे छात्र अधिक सम्मानजनक पेशो की ओर ले जाने वाले विषयों को अध्ययन के लिए चुनते है, जिसमें शैक्षिक असफलता और तत्पश्चात वित्तीय उपलब्धि के खतरे अधिक हैं, सुविधारहित वर्गों के अच्छे छात्र, जिनके लिए अध्ययन जारी रखने से जीविकोपार्जन का अभाव विषय-निर्वाचन

में एक महत्वपूर्ण कारक है, दीर्घकालीन और सामान्य पाठ्यविषयों के चयन का खतरा नहीं उठना चाहते।

विस्तार का दबाव

उपर्युक्त के बावजूद, हमारे देश में माध्यमिक शिक्षा का विस्तार आगामी दशकों मे निश्चित ही होगा। प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण पर उत्तरोत्तर अधिक ध्यान देने और परिणामतः प्राथमिक स्तर से माध्यमिक स्तर पर अधिकाधिक छात्रों के स्थानांतरण दर में वृद्धि के कारण माध्यमिक शिक्षा पर दबाव पड़ेगा। निम्न स्तर पर सुविधाओं के बढ़ने से तथा शिक्षा की उपयोगिता के प्रति बढ़ती हुई जन जागृति के कारण भी माध्यमिक शिक्षा के प्रसार की मांग बढ़ रही है। और फिर बालिकाओं तथा समाज के निर्बल वर्गों के बच्चों की शिक्षा के लिए भी विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

यूनेस्को (1984) के अनुसार एशिया (अरब राज्यों को छोड़कर) मे माध्यमिक स्तर पर कुल नामांकन अनुपात नीचे लिखे गए हैं:-

माध्यमिक स्तर पर कुल नामांकन अनुपात
(एशिया में अरब राज्यों को छोड़कर)

वर्ष	पुरुष	स्त्री	योग
1960	26.9	13.9	20.5
1965	34.3	18.8	26 7
1970	36.3	20 3	28 5
1975	38.2	23.4	31 0
1980	41.7	27.0	34.6

स्रोतः *यूनेस्को स्टैटिस्टिकल ईयर बुक 1984,* पृ. 34, (टेबुल 2,10)

इसका यह अर्थ है कि एशियाई क्षेत्र के देशों को सामान्य रूप से आगामी वर्षों मे माध्यमिक स्तर पर नामांकन अनुपात बढ़ाने के लिए कठोर प्रयास करना है, क्योंकि लगभग दो-तिहाई बच्चे अभी भी माध्यमिक विद्यालय के बाहर है। एक श्रेणी मानकर विकासशील देशों मे इस स्तर पर कुल नामांकन अनुपात तुलनात्मक दृष्टि से नीचे है (1980 मे संपूर्ण एशिया के 34.8 की तुलना मे 31.2 प्रतिशत) और इसलिए इन देशों मे बच्चों को विद्यालय में लाने के लिए और भी अधिक प्रयास करना होगा। यदि इसकी तुलना अन्य क्षेत्रों से करे, उदाहरणतः अमेरिका (59.1), उत्तरी अमेरिका (83.1), यूरोप रूस को शामिल करके (76.4), और ओसनिया (70.6), तब स्थिति और भी गंभीर लगती है। हमारी जैसी स्थिति है, हम सहज रूप से मान सकते हैं कि एशिया क्षेत्र के अधिकांश देशों में जिनमें भारत भी शामिल है, माध्यमिक स्तर पर आठवें और नवें दशक मे नामांकन बढ़ता जाएगा, विशेषतः इसलिए कि इन देशों में तीव्र गति से बढ़ती हुई प्राथमिक शिक्षा के कारण माध्यमिक शिक्षा पर अतिशय दबाव पड़ेगा।

रूढ़िविहीन उपागम

फिर, वृद्धि का दूसरा विशेष रूप यह होगा कि रूढ़िविहीन उपागम अपनाने होंगे क्योंकि सक्षम संसाधनों के अभाव मे इस अतिशय दबाव को संभालने में औपचारिक शिक्षा प्रणाली समर्थ नहीं हो सकेगी। इस स्थिति का सामना करने के लिए बड़े पैमाने पर अंशकालीन, स्वयं कालीन शिक्षा, सुदूर शिक्षा, सायंकालीन विद्यालय, रविवासरीय कक्षाएं, व्यवसाय पाठ्य-विषय, मुक्त विद्यालय आदि की व्यवस्था करनी होगी। इस दिशा मे शुरुआत हो भी चुकी है। भारत में 'मुक्त विद्यालय' का प्रयोग जिसे केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के तत्वावधान में 1979 मे जब मै बोर्ड का अध्यक्ष था, शुरू किया गया था, एक सफल नवीकरण सिद्ध हो चुका है और उन विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को पूरा कर रहा है जो सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कारणों से औपचारिक विद्यालयों की शिक्षा से वंचित रह गए थे।

दिनोंदिन अधिक संख्या मे वे शिक्षार्थी जो शिक्षा का अवसर खो चुके थे, मुक्त विद्यालयों तथा अन्य पत्राचार शिक्षा संस्थानों में प्रवेश ले रहे हैं ताकि वे अपनी माध्यमिक तथा उच्च माध्यमिक शिक्षा पूरी कर सके, इनमें वे लोग भी हैं, जो नौकरी अथवा स्वयं रोजगार मे लगे हुए हैं, और किसी नियमित विद्यालय में प्रविष्ट न होकर आगे की शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक हैं।

पठन-पाठ्न के इस नए उपागम से माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन की आवश्यकता पड़ेगी, ताकि वृहत स्तर पर अनौपचारिक तथा मुक्त शिक्षण प्रणाली के लिए प्रावधान और मान्यता दी जा सके। यह केवल सहायक प्रणाली के रूप में नहीं, अपितु औपचारिक और अनौपचारिक के बीच सेतु तथा पूरक और वैकल्पिक प्रणालियों के रूप में भी मान्य होगी अथवा यह भी कह सकते है कि पारंपरिक और परंपरारहित शिक्षा प्रणालियों के बीच भी यह सेतु का काम करेगी। अनौपचारिक प्रणाली अधिक लचीली और मुक्त होने के कारण पठन-पाठन में नई तकनीकों जैसे रेडियो, दूरदर्शन-श्रव्य कैसेट्स और वीडियो आदि के अधिक अनुकूल है और उन्हें अपना सकने में अधिक सक्षम सिद्ध होगी।

इसका मतलब यह सुझाव देना नहीं है कि मुक्त शिक्षण प्रणाली औपचारिक विद्यालयों को हटा देगी, क्योंकि उनकी उपादेयता और महत्व तो सभी प्रकार से आगे भी बना रहेगा। विद्यालय विहीनता अथवा विद्यालय रहित समाज अभी दूर की ढोल है और कुछ समाजशास्त्री, शिक्षाविद् और भविष्यवादी इसके समर्थन मे चाहे जो भी तर्क दे, औपचारिक तथा अनौपचारिक दोनों प्रणालियाँ भविष्य में भी चलती रहेंगी।

प्रासंगिकता और उत्पादकता

माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में उचित मुद्दा यह है कि इसे व्यक्ति तथा समाज की आवश्यकताओं की दृष्टि से अधिक प्रासंगिक बनाया जाए। दक्षिण पूर्व एशिया क्षेत्र की जनसंख्या में विश्व के सर्वाधिक निर्धनों के जमाव का प्रतिनिधित्व है। लगभग 50 करोड़ लोगों का ऐसा पारिवारिक जीवन है जिनकी वार्षिक आय प्रति व्यक्ति 70 यू.एस. डालर से भी कम है। इन निर्धनों की अधिक संख्या ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है और प्रशिक्षित जनशक्ति का अभाव व्यापक आधार पर इन क्षेत्रों के विकास में बहुत बड़ा व्यवधान है। इस क्षेत्र मे कुछ प्रमाणों से पता चलता है कि सामान्य शिक्षा से छोटे किसानों की उत्पादकता में वृद्धि हुई है। फिर भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिला है कि किस प्रकार की शिक्षा और प्रशिक्षण अधिक प्रभावी है और किस प्रकार बिखरी हुई ग्रामीण जनसंख्या की सामान्य और विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति मितव्ययिता के साथ हो सकती है (यूनेस्को, 1980)। माध्यमिक शिक्षा का ग्रामीकरण भी न तो संभव है

और न वांछित ही है, क्योंकि इससे शिक्षा में एक जातिगत प्रणाली पैदा होगी। गांव के लोग भी इसे नहीं स्वीकार करेंगे और उन्होंने कुछ देशों में इसे इस कारण अस्वीकार कर भी दिया है कि शिक्षा का शहरी नमूना संभ्रांत वर्ग के लिए है और ग्रामीण नमूना निर्धनों के लिए है और इस प्रकार सम्पत्ति जीवी तथा सम्पत्ति विहीनों के बीच की खाई और भी चौड़ी होती जाएगी। शिक्षा इस प्रकार के विभाजन का साधन नहीं हो सकती और न उसे होना चाहिए। अतः आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षा का विकास के साथ, जिसमें ग्रामीण विकास भी शामिल है, एकीकरण किया जाए।

शिक्षा और कार्य का एकीकरण

दूसरा प्रश्न जिसका समाधान अभी तक नहीं हुआ है, यह है कि क्या माध्यमिक स्तर पर पाठ्यक्रम द्वारा बुनियादी व्यावसायिक शिक्षा देनी चाहिए अथवा विशिष्ट कौशल प्रशिक्षण। इस समय जो प्रवृत्ति उभर रही है, वह यह है कि विशिष्ट कौशल प्रशिक्षण की अपेक्षा सामान्य अथवा बुनियादी व्यावसायिक शिक्षा को अधिक महत्व दिया जा रहा है। एकीकृत उच्च विद्यालयों पर अधिक बल दिया जा रहा है जैसा कि कोरिया मे है जहां चयनित व्यावसायिक पाठ्यक्रम सामान्य शिक्षा के अंग बन गए हैं। किसी व्यवसाय के लिए विशेष प्रशिक्षण, कार्य के समय माध्यमिकोत्तर क्रियाओं अथवा अप्रेटिसशिप प्रशिक्षण के रूप में प्रदान किया जाता है। यह विश्वास किया जाता है कि इस प्रकार के विद्यार्थी जब कार्य-जगत में प्रवेश करते है तो व्यवसायों के चयन में उन्हें अधिक खुले अवसर मिलते है, कार्य के प्रति उनका अभिनवीकरण अधिक अच्छा होता है तथा उनमे अनुकूलन क्षमता और कार्य की आवश्यकताओं के साथ सामंजस्य स्थापन की सामर्थ्य अधिक होती है। वह विद्यार्थी स्थिति के अनुसार कार्यशाला, कारखाना, अधिष्ठान, कृषि फार्म अथवा अन्य कार्यो में कौशल-प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए अधिक योग्य सिद्ध होता है।

उद्योग आदि के साथ सम्बन्ध

माध्यमिक विद्यालयों में व्यावसायिक पाठ्यक्रमों के लिए कार्यशालाओं की स्थापना और धातुसामग्री का प्रावधान बहुत ही व्ययसाध्य है, उनका लागत मूल्य ही ऊंचा नहीं है, वरन् शीघ्रता के साथ समय-समय पर यंत्रों को बदलना भी सम्भव नहीं है, जो तीव्र प्रौद्योगिकी परिवर्तन के कारण अति आवश्यक हो सकता है। बाजार की आर्थिक स्थिति तथा अन्य कारणों से व्यावसायिक प्रतिरूपों में भी जल्दी-जल्दी परिवर्तन होते है और व्यावसायिक पाठयक्रमों के लिए विद्यालयों मे भारी निवेश होने के कारण पाठ्यक्रमों का परिवर्तन और समय-समय पर बदलती हुई व्यावसायिक मांगों के अनुकूल नए पाठ्यक्रम का समावेश विद्यालयों के समायोजन मे बाधक हो सकता है। अत· समीचीन विकल्प यह है कि विद्यालयों का सम्बन्ध उद्योग, कृषि तथा कौशल-प्रशिक्षण के अन्य अधिष्ठानों से स्थापित हो। व्यावसायिक स्नातकों को गहन प्रशिक्षण प्रदान करना उद्योगों का अनिवार्य कर्तव्य होना चाहिए क्योंकि आखिरकार ऐसे प्रशिक्षण का लाभ इन उद्योगों को ही मिलेगा। वस्तुतः उद्योगों तथा दूसरे नियोक्ता-अभिकरणों को माध्यमिक विद्यालयों के साथ पाठ्यक्रम निर्माण, शैक्षणिक सामग्री के निर्माण, पाठ्यक्रमीय शिक्षण प्रदान करने, विद्यार्थियों के मूल्यांकन तथा उनके कार्य-नियोजन आदि में सहयोग करना चाहिए। पश्चिमी जर्मनी तथा जर्मन डिमोक्रैटिक रिपब्लिक मे शिक्षा की द्वैध प्रणाली विचारणीय बिन्दु है, जहां आंशिक प्रशिक्षण विद्यालय में दिया जाता है और शेष कारखाने में। पर इसका यह मतलब नहीं है कि कुछ निश्चित विशिष्ट क्षेत्रों मे पॉलिटेक्निक्स अथवा पृथक व्यावसायिक अथवा

प्राविधिक विद्यालयों के लिए स्थान नहीं है। वे तो निश्चित ही चलते रहेंगे, लेकिन पॉलिटेक्निक्स आदि में जो कुछ उपलब्ध है, उनकी आवृत्ति किए बिना भी माध्यमिक विद्यालयों में व्यवसायीकरण की आवश्यकता पर बल देने की आवश्यकता है।

शिक्षण-अधिगम का आधुनिकीकरण

इस प्रकार माध्यमिक शिक्षा के समग्र संप्रत्यय मे परिवर्तन लाना है। पारंपरिक रुढ़िबद्ध विषयों के स्थान पर, जिनकी वास्तविक जीवन-परिस्थितियों से कोई प्रासंगिकता नहीं रह गई है, उन सार्थक पाठ्यविषयों को लाना है, जिनसे एक ओर विद्यार्थी उत्तरदायी विद्यार्थी बनेंगे और दूसरी ओर उनकी रोजगारपरकता बढ़ेगी तथा उनकी उत्पादकता संवर्द्धित होगी, जिनसे राष्ट्रीय विकास मे उनका योगदान प्राप्त होगा।

इसका अर्थ होगा - विज्ञान और गणित पर अधिकाधिक बल, प्रायोजना-कार्यो और अंतर्विषयक उपागम के लिए अधिक अवसर, विषयों, समयसारिणी, शिक्षण विधियों, शैक्षणिक स्थितियों, आधुनिक शिक्षण-साधनों के प्रयोग, कंप्यूटर साध्य शिक्षा तथा स्वयं अधिगम सामग्री आदि मे अधिक लचीलापन।

माध्यमिक विद्यालयों के शिक्षकों को भी अपने शिक्षण-अभ्यास में परिवर्तन लाना होगा तथा सेवा-पूर्व एवं सेवाकालीन शिक्षक-प्रशिक्षण को नई आवश्यकताओं के अनुकूल दिशा देनी होगी। जब तक बदलती हुई चित्र योजना के साथ शिक्षण व्यवसाय का तालमेल नहीं होगा तब तक माध्यमिक शिक्षा द्वारा अपेक्षित निष्पादन और उसके द्वारा सचमुच प्रदत्त परिणाम के बीच की खाई माध्यमिक विद्यालयों को उत्पादक विरोधी बना देगी। माध्यमिक विद्यालयों से निकले छात्र हताश अभागों के समूह होंगे और वे निरुद्देश्य और अनंत रूप से महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों के प्रांगण में प्रवेशार्थी बने रहेंगे, जैसा कि आज अनेक देशों में है, विशेषतः तृतीय विश्व में जहां शिक्षितों की बेरोजगारी भयंकर रूप से बढ़ती जा रही है।

जहां माध्यमिक शिक्षा का आधुनिकीकरण करना है और उसे प्रासंगिक बनाना है, वहाँ यह भी आवश्यक है कि उसका विकास नवनिर्मित समाज के अनुरूप एक पूर्ण व्यक्तित्व के रूप मे होना है। कहने का तात्पर्य यह है कि नए समाज के लिए एक नए व्यक्तित्व को विकसित और शिक्षित करना है। यह स्पष्टतः एक अभूतपूर्व जटिल कार्य है और संभवतः शिक्षा अपने दीर्घकालीन इतिहास में कभी भी ऐसे चौराहे पर नहीं रही है और न तो उसके सामने इतना जटिल और प्रमुख कार्य ही रहा है (आई.आई.ई.पी., 1978)।

समुदाय के साथ सम्बन्ध

इस कारण माध्यमिक विद्यालय के लिए पाठ्यक्रम को सतत अद्यतन रूप देते रहना अपरिहार्य हो जाता है। समय-समय पर माध्यमिक विद्यालय के पाठ्यक्रम मे नए संप्रत्ययों, नए सिद्धांतों, नए प्रयोगों, अन्वेषणों और आविष्कारों का समावेश करते रहना है। किन्तु एक महत्वपूर्ण बात को सदा ध्यान में रखना है कि माध्यमिक विद्यालय को समुदाय के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना है। आज दुर्भाग्यवश अधिकतर माध्यमिक विद्यालय अपनी सामाजिक भूमिका महसूस नहीं करते और पृथक अस्तित्व बनाए हुए है। अतः भविष्य में विस्तार कार्य माध्यमिक विद्यालय का अभिन्न अंग होगा। अब विद्यालय अपनी चहारदीवारी के भीतर अपने निश्चित पाठ्यक्रम और परिणामतः शैक्षणिक कार्यों तक ही सीमित नहीं रह सकता। फलस्वरूप विद्यालय और समुदाय की परस्पर घनिष्ठ अंतःक्रिया और सम्बन्ध आज की परम आवश्यकता है।

इसका अर्थ यह होगा कि माध्यमिक विद्यालय को अपने घेरे से बाहर निकलकर निकट के किसी गांव अथवा गंदी बस्ती अथवा अस्पताल अथवा अनाथालय से अपना नाता जोड़ना होगा। इससे छात्रों को वास्तविक स्थिति से निकट परिचय का ही अवसर नहीं मिलेगा, अपितु उन्हें सामाजिक विकास में भाग लेने की योग्यता भी प्राप्त होगी। इससे उन्हें सीखने की अक्षय निधि प्राप्त होगी और इन्हे समाज का सुयोग्य सदस्य बनने मे सहायता मिलेगी।

संसाधन केन्द्र के रूप में माध्यमिक विद्यालय

इसी तरह, आने वाले कल के माध्यमिक विद्यालय को एक ऐसा आंदोलन तीव्र करना है जिससे यह पड़ोस के प्राथमिक और प्रारंभिक विद्यालयों के लिए शक्ति संचार के बिन्दु और संसाधन केन्द्र के रूप में कार्य कर सके। अभी तक की प्रवृत्ति यह है कि ये निचले विद्यालय ऊपर के विद्यालयों के लिए परिपूरक संस्थाओं के रूप मे कार्य करते रहे हैं। तात्पर्य यह है कि केवल एक मार्गी ऊर्ध्व संचरण ही रहा है। माध्यमिक विद्यालय को अब 'जनक' विद्यालय की भूमिका निभानी है और तथाकथित परिपूरक विद्यालयों के लिए अपनी सेवाएँ अर्पित करनी है। अतः परंपरागत संप्रत्यय और चिंतन में परिष्कार करना है और माध्यमिक विद्यालय तथा प्रारंभिक प्राथमिक विद्यालयों के बीच द्विमार्गी संचरण स्थापित करना है।

माध्यमिक विद्यालय इस प्रकार विद्यालय समष्टि (जिनमे निकट सान्निध्य में स्थित 10-15 प्राथमिक और उच्च प्राथमिक विद्यालय होंगे) के लिए केन्द्रीय विद्यालय के रूप में कार्य करेगा। इस हैसियत से उसे उस समष्टि के सदस्य-विद्यालयों को अपने भौतिक और मानवीय संसाधनों मे हिस्सा देना होगा। उन्हें अपने नव-प्रवर्त्तनों और प्रयोगों में भागीदार भी बनाना होगा। भारत में जहां बहुत बड़े अनुपात (लगभग 36 प्रतिशत) में एक शिक्षकीय प्राथमिक विद्यालय हैं, विद्यालय समष्टि की संस्था के लिए आवश्यकता पड़ने पर तत्काल अस्थाई रूप से स्थानापन्न शिक्षक प्रदान करना आसान होगा और शिक्षकों की अनुपस्थिति तथा ऐसे स्कूलों के पुनः-पुनः बंद होने की स्थिति को रोका जा सकेगा (सिंहल 1983)। माध्यमिक विद्यालय को इस प्रकार निचले विद्यालयों का परिवीक्षण, पर्यवेक्षण और निर्देशन करना है और प्रणाली की आंतरिक दक्षता बढ़ाने के लिए अभिकर्ता के रूप मे कार्य करना है, साथ ही सदस्य विद्यालयों के शिक्षण-अधिगम की गुणता को भी संवर्द्धित करना है। इससे उसकी स्वयं की गुणता और निष्पादन की संवृद्धि मे सहायता मिलेगी। विद्यालय समष्टि की प्रणाली कई देशों जैसे भारत, थाईलैण्ड और लंका में छोटे पैमाने पर अथवा प्रायोगिक आधार पर अस्तित्व ग्रहण कर चुकी है। परिणाम काफी उत्साहवर्द्धक है। विद्यालय समष्टि के नवीकरण को व्यापक पैमाने पर संस्थापित करने की आवश्यकता है और इस कार्य में माध्यमिक विद्यालय को निश्चित ही महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करना है।

माध्यमिक शिक्षा में एक प्रमुख चिंता का विषय उसकी परीक्षा प्रणाली है, जो विद्यालय छोड़ने के प्रमाण-पत्र के महत्व के कारण अत्यंत दुर्वह बन गई है। जो प्रमाण-पत्र दिया जाता है, वह बहुत कुछ नौकरी के लिए, उच्च शिक्षा मे प्रवेश के लिए और विवाह तक के लिए भी 'पासपोर्ट' है। परीक्षा में भ्रष्टाचार है। बड़े पैमाने पर धोखाधड़ी, जिसका बहुत प्रतिकूल प्रभाव शिक्षण-अधिगम पर पड़ता है, के अलावा प्रश्नपत्र खुले बाजार में बेचे जाते हैं। परिक्षाएँ, जो कक्षा-शिक्षण को बहुत प्रभावित करती थीं क्योंकि परीक्षा की आवश्यकता के अनुसार शिक्षण-कार्य होता था, अब व्यवहारतः मखौल बन गई हैं। अतः माध्यमिक स्तर पर पूरी परीक्षा प्रणाली के विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता है। यदि ये परीक्षाएं अंतर्विद्यालय समष्टि स्तर पर ली

जाएँ तो खोया हुआ विश्वास पुनः प्राप्त किया जा सकता है। शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया पर इसका हितकारी प्रभाव भी पड़ेगा, क्योंकि तब इसका सम्बन्ध स्थानीय पर्यावरण से बना रहेगा और शिक्षकों को प्रयोग तथा नवीकरण के लिए यथेष्ट स्वतंत्रता भी दी जा सकेगी।

सांस्थानिक नियोजन

और अंततः, माध्यमिक विद्यालय का भविष्य उज्जवल होगा यदि प्रत्येक विद्यालय में संस्थागत नियोजन अपनाया जाए, क्योंकि इस प्रकार के नियोजन से उसे अपने अल्प संसाधनों के अधिकाधिक उपयोग मे सहायता मिलेगी। माध्यमिक शिक्षा मे प्रति विद्यार्थी पर होने वाला व्यय प्राथमिक शिक्षा के प्रति विद्यार्थी से दुगुना होने का अनुमान है (आई.आई.ई.पी., 1978)। दूसरे शब्दों में माध्यमिक शिक्षा मे एक विद्यार्थी का नामांकन प्राथमिक शिक्षा में दो विद्यार्थियों के नामांकन के समान है। यद्यपि प्राथमिक शिक्षा की प्राथमिकता वर्तमान सदी के अंत तक इस क्षेत्र के अधिकांश देशों में बनी रहेगी, तथापि माध्यमिक शिक्षा की वृद्धि भी जारी रहेगी। संस्थागत नियोजन से सुलभ निधि के अधिकाधिक उपयोग में योगदान मिलेगा और बढ़ती हुई आवश्यकताओ तथा भावी माध्यमिक विद्यालय की चुनौतियों की पूर्ति हो सकेगी। इससे विद्यालय स्वयं मूल्यांकन तथा अपने कार्यक्रमों, प्रायोजनाओं और क्रिया-कलापों के परिवीक्षण में सक्षम हो सकेंगे। सार्वजनिक क्षेत्र में विद्यालय-शिक्षा के वृहत विस्तार से विद्यालय निरीक्षणालय निष्क्रिय से हो गए है। वे न तो स्कूलों के पर्यवेक्षण में समर्थ हैं और न उन्हे परामर्श और निर्देशन देने में ही। संस्थागत नियोजन उन कठिनाइयों के निराकरण में अच्छे साधन सिद्ध होंगे, जिनका सामना निरीक्षकों को करना पड़ रहा है और इससे माध्यमिक विद्यालयों को योजना बनाने तथा अपने कार्यक्रमों के व्यवस्थापन की स्वायत्तता भी प्राप्त होगी।

रुढ़ि-विच्छेद की आवश्यकता

भविष्य की माध्यमिक शिक्षा, इस प्रकार अनेक संकल्पों और चुनौतियों से भरी हुई है। इसे नवोदित परिवर्तनों के अनुकूल अपने को ढालना है और पारंपरिक रुढ़ियों तथा प्रणालियों से विच्छेद करना है। इसमें सुधार की वर्तमान चिंता से यह आशा जगती है कि भविष्य अंधकारमय नहीं है।

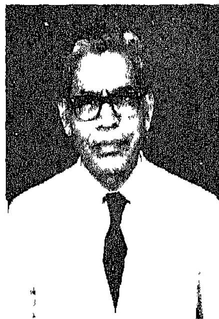
संदर्भ

1. ऐल्विन टॉफलर आदि *लर्निंग टुमारो - दि रोल आफ दि फ्यूचर इन एजुकेशन*, रैण्डम हाउस, न्यूयार्क, 1974।
2. *एजुकेशन एण्ड दि फ्यूचर*, रिपोर्ट ऑफ डिस्कशन ग्रुप मीटिंग, यूनेस्को, बैंकाक, 1980।
3. *फ्यूचर एजुकेशनल पॉलिसीज इन दि चेंजिंग सोशल एण्ड इकोनोमिक कंटेक्स्ट*, ओ.ई.सी डी , पेरिस, 1979।
4. आर.पी सिंहल, *रिवाइटलाइजिंग स्कूल कंप्लेक्सेज इन इंडिया*, कन्सेप्ट, 1983।
5. *दि फ्यूचर ऑफ एजुकेशन एण्ड दि एजुकेशन ऑफ दि फ्यूचर*, आई.आई.ई.पी , पेरिस, 1978।
6. *यूनेस्को स्टेटिस्टिकल ईयर बुक*, यूनेस्को, पेरिस, 1984।

सी॰ वी॰ गोविंद राव

उच्चतर माध्यमिक शिक्षा का व्यवसायीकरण
अथवा
व्यावसायिक शिक्षा?

जीवनक्षम व्यवस्था के लिए एक रचनात्मक पुनरीक्षण



सी.वी. गोविंद राव

सी वी. गोविंद राव *(जन्म 1920) विद्युत अभियांत्रिकी मे स्नातक हैं। इन्होंने अन्नामलाई विश्वविद्यालय ; जबलपुर के राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय; रुड़की विश्वविद्यालय; रांची के बिड़ला प्रौद्योगिकी संस्थान; जोधपुर विश्वविद्यालय; जयपुर के मालवीय क्षेत्रीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय; मैसूर के क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय मे अध्यापन किया है। ये राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् मे व्यावसायिक शिक्षा एकक के अध्यक्ष भी रहे। आजकल ये बंगलूर के भारतीय प्रबंध संस्थान के प्राविधिक शिक्षा प्रबंध केन्द्र के परामर्शदाता हैं। ये इंस्टीच्यूट ऑफ़ इंजीनियर्स (इंडिया) और इंस्टीट्यूशन ऑफ़ इलेक्ट्रोनिक्स एड इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग के फेलो हैं। इन्हे इनके शोधपत्रों पर 1963 में इंस्टीट्यूशन ऑफ़ इजीनियर्स (इंडिया) का पुरस्कार और 1967 मे मदन मोहन मालवीय स्वर्ण पदक मिल चुका है। देश-विदेश की पत्र-पत्रिकाओं में ये निरंतर लिखते रहे है। इनकी दो प्रकाशित पुस्तकें है:* इलेक्ट्रिकल मैशीन्स विदाउट कम्प्यूटेटर्स; *और* जेनेरलाइज्ड सर्किट थियरी ऑफ इलेक्ट्रिकल मैशीन्स।

उच्चतर माध्यमिक शिक्षा का व्यवसायीकरण
अथवा
व्यावसायिक शिक्षा ?

जीवनक्षम व्यवस्था के लिए एक रचनात्मक पुनरीक्षण

देश में प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण से अभावग्रस्त तथा ग्रामीण समुदायों के उन बच्चों को प्रोत्साहन मिला है जो अपनी शिक्षा माध्यमिक स्तर तक बढ़ाना चाहते हैं। अधिकाधिक संख्या में माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना तथा उनमे और अधिक छात्रों के प्रवेश की माँग बढ़ती गई है। फलस्वरूप हाई स्कूल पास करने वाले छात्रों की संख्या मे यथेष्ट वृद्धि हुई है और शिक्षण की गुणता का चौंका देने वाला ह्रास हुआ है।

इस समय हाई स्कूल पास करने वालों की संख्या 20 लाख से ऊपर अनुमानित की जाती है, जिनमें से 2-3 लाख छात्र अनेक कारणों से बीच में ही शिक्षा छोड़ चुके रहते हैं। अतः 17-18 लाख वे आकांक्षी विद्यार्थी रह जाते हैं जो किसी न किसी रूप में अपनी शिक्षा जारी रखना चाहते हैं। इस संख्या में से अधिकतर छात्र परंपरागत जूनियर/इंटरमीडिएट कालेजों में प्रवेश लेते हैं, जहाँ वे विश्वविद्यालयों के कला, विज्ञान और वाणिज्य संबंधी पाठ्यक्रम के अध्ययन के लिए तैयार किए जाते है। देश में इन कालेजों की संख्या लगभग छः हजार है और प्रति कालेज औसतन दो सौ विद्यार्थियों को प्रवेश मिलता है अर्थात् लगभग बारह लाख सफल हाईस्कूल छात्र-छात्राएँ प्रवेश पा जाते हैं। इन कालेजों में से अधिकतर उपकरणों और साधनों की दृष्टि से हीन कोटि के है। जिन कालेजों की तारीफ होती है उनमें भीड़ बढ़ जाती है। इसका नतीजा यह होता है कि शिक्षण का स्तर निरंतर घटता जाता है। यह स्थिति और भी भयावह होती जाएगी जब हाई स्कूल उत्तीर्ण छात्रों की संख्या बढ़ती जाएगी और दूसरी ओर उनकी आकांक्षाएँ भी ऊँची होती जाएँगी।

इस स्तर पर इन विद्यार्थियों के लिए जो अन्य द्वार खुले हैं, वे हैं-पॉलिटेक्निक्स के टेक्निशियन कोर्सेज में प्रवेश; इंडस्ट्रीयल ट्रेनिंग इंस्टीट्यूट्स मे उपलब्ध क्राफ्ट्समेन ट्रेनिंग कार्यक्रम, नर्सिंग, डेंटल और फार्मेसी विद्यालयों में दी जाने वाली पारामेडिकल शिक्षा; एवं गृह विज्ञान संस्थानों में दी जाने वाली गृह-विज्ञान की शिक्षा। अनेक वाणिज्य शिक्षा संस्थान भी हैं, जो सचिवालीय कार्यों के लिए प्रशिक्षण प्रदान करते हैं। इन सभी संस्थाओं में प्रवेश लेने वाले हाई स्कूल उत्तीर्ण छात्रों की संख्या का उदारता पूर्वक अनुमान लगभग ढाई से तीन लाख है। फिर भी भी लगभग

ढाई लाख ऐसे विद्यार्थी छूट जाते हैं जो किसी भी प्रकार की शैक्षिक अथवा परावृत्तिक (पारा-प्रोफेशनल) संस्थाओं में प्रवेश नहीं ले पाते। इस अभागे छात्र-समुदाय को प्रायः *बौद्धिक दृष्टि से हीन या मामूली* कहकर उपेक्षित कर दिया जाता है, और वे किसी भी प्रकार की वर्तमान संस्थाओं में प्रवेश नहीं ले पाते।

किसी जनतांत्रिक समाज में विद्यार्थियों के एक वर्ग को *मामूली* की संज्ञा प्रदान करना और उन्हे व्यावसायिक शिक्षा के अवसरों से वंचित करना घोर अन्याय है। राज्य का यह बुनियादी उत्तरदायित्व है कि वह युवकों के प्रत्येक वर्ग के लिए शिक्षा, प्रशिक्षण अथवा दोनों के मिलेजुले रूप में अधिकाधिक अवसर प्रदान करे जिससे प्रत्येक युवक अपने साधनों, अभिरूचियों और प्रवृत्तियों के अनुकूल अपनी शिक्षा का चुनाव कर सके और उत्पादन शील नागरिक के रूप मे पुष्पित हो सकें और वह जिन लोगों के बीच रहता है उनके आर्थिक और सामाजिक उत्कर्ष मे अपना योग दे सके।

हमे यह बात भी नहीं भूलनी चाहिए कि जिन विद्यार्थियों को हम *मामूली* समझते है, सचमुच वे मामूली न हों और वर्तमान परीक्षा पद्धति की विचित्रताओं के कारण ही उन्हे मामूली की श्रेणी में रख दिया गया हो। परावृत्तिक (पारा-प्रोफेशनल) संस्थाओं मे प्रवेश के लिए निर्धारित अंक 60 प्रतिशत या उससे अधिक ही होने चाहिए। कोई विद्यार्थी इस निर्धारित अंक से दो-एक अंक अधिक प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त कर प्रवेश पा लेता है और कोई दो-एक अंक नीचे रहकर प्रवेश से वंचित रह जाता है। इस तरह की शिक्षा मे वर्तमान चयन प्रणाली, जिससे विद्यार्थियों की योग्यता का सही निर्णय हो सके, विश्वसनीय नहीं है। अत: जिसे प्रवेश मिल जाता है, और जो प्रवेश से वंचित रह जाता है, उनकी बौद्धिक क्षमताओं मे इतना कम अंतर होता है कि प्रवेश से वंचित छात्रों को *मामूली* श्रेणी मे रख देना सर्वथा असंगत है। जिन्हें शैक्षिक दृष्टि से हम *मामूली* कहते है, वे व्यावहारिक कलाओं मे अद्वितीय रूप से मेघावी हो सकते हैं और उचित सुविधाएँ मिलने पर उनके कैरियर की संभावना उज्जवल हो सकती है। प्रायः सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों से बाध्य होकर संवेदनशील तथा अच्छे विद्यार्थी ऐसा महसूस कर लेते हैं कि सामान्य शिक्षा प्राप्त करने के कारण वे ऐसे किसी विशेष कौशल को अर्जित नहीं कर पाएंगे जिससे वे उपयोगी व्यवसाय के लिए अपने को तैयार कर सकें। वे खर्चीली शिक्षा के परावृत्तिक (पारा-प्रोफेशनल) कार्यक्रमों के लिए आर्थिक दृष्टि से भी सक्षम नहीं होते। अतः इसकी जगह कोई ऐसी शिक्षा प्रणाली, जिसमें खर्च कम हो, जो उन्हें ज्ञान, कौशल और अभिवृत्ति संबंधी उचित शिक्षा प्रदान करे और उन्हें कर्मक्षेत्र में उतरने के लिए योग्य बनाए, इस वर्ग के विद्यार्थियों के लिए विशेष स्वागत योग्य है। विद्यार्थियों के इस वर्ग की आंकांक्षाओं के अनुकूल इस प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था मे अनेक प्रकार के उपयोगी कार्यक्रम समाविष्ट होंगे जो सामान्यतः परंपरागत शिक्षा-व्यवस्था में सुलभ नहीं होते।

आवश्यकता

शोचनीय आर्थिक और विकासशील क्षेत्रों मे योग्यता प्राप्त जन शक्ति की वर्तमान और नवोदित आवश्यकताओं का व्यापक विश्लेषण और उपलब्ध सुविधाओं का आधार ही देश की शिक्षा तथा प्रशिक्षण प्रणाली के निर्माण और नियोजन का तर्कसंगत प्रारंभिक बिन्दु होगा। आवश्यकताओं के व्यवस्थित विश्लेषण की उपेक्षा का फल होगा—गलत ढंग के कौशलों को जन्म देने वाले अत्यंत खर्चीले और अपव्ययपूर्ण प्रयास। जबकि अन्य नितांत आवश्यक कौशलों की ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा है जिनके अभाव से देश के विकास की गति अत्यंत धीमी पड़

गई है। इस बात की जानकारी उन सभी को है जो देश के आर्थिक, समाजशास्त्रीय और विकासशील क्रियाकलापों के नियामक हैं कि परंपरागत परावृत्तिक (पारा-प्रोफेशनल) संस्थाएं कुछ परंपरागत कौशलों की आपूर्ति तो आवश्यकता से अधिक कर रही है पर नए प्रकार के अनेक कौशलों की आपूर्ति नहीं हो पा रही है या बहुत ही कम हो रही है। विशेषतः सुरक्षा, यातायात, निर्माण तथा स्वास्थय संबंधी क्षेत्रों में यह आपूर्ति अधूरी रह जाती है। यदि हम अपेक्षित संख्या में संतुलित और वांछित प्रकार की क्षमताओं की आपूर्ति चाहते हैं, तो इस विसंगति को हमें यथाशीघ्र दूर करना है।

आधुनिक समाज मे अनेक नई मांगें उठ खड़ी हुई हैं, विशेषतः सेवाओं के क्षेत्र मे जिनमें विशिष्ट तकनीकी ज्ञान और कौशल की आवश्यकता है। इन कौशलों की संख्या और भी बढ़ती जाएगी ज्यों-ज्यों टेक्नोलॉजी का विकास होगा और समाज उनका मानवीय सेवाओं में प्रयोग करना चाहेगा। अतः हमारी शिक्षा और प्रशिक्षण प्रणाली का यह उद्देश्य होना चाहिए कि इस निरंतर बढ़ती हुई मांग की पूर्ति के लिए वह पर्याप्त संख्या में सेवा-प्रविधिज्ञों को तैयार करे। इस प्रणाली का लक्ष्य युवकों में उत्तरोत्तर उद्यमी-साहसिकता का विकास करना होना चाहिए जिससे समाज उन सेवाओं का उत्तम और दक्षतापूर्ण प्रयोग कर सके और रोजगार की संभावनाएँ भी निरंतर बढ़ सकें।

हमारे देश की 75 प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में रहती है। ग्रामीण युवकों को शहरी युवकों की तुलना में शिक्षा तथा प्रशिक्षण द्वारा विकास की सुविधाएँ बहुत कम उपलब्ध हैं। प्रायः सभी परावृत्तिक (पारा-प्रोफेशनल) संस्थाएं शहरी अथवा अर्द्धशहरी केन्द्रों में स्थित हैं। अपनी आर्थिक विवशता के कारण ग्रामीण युवकों के पास इन सुविधाओं का लाभ उठाने के लिए बहुत ही सीमित अवसर उपलब्ध होते हैं। अत. अपेक्षाकृत कम खर्चीली शिक्षा और प्रशिक्षण व्यवस्था उनके घर के निकट सुलभ हो ताकि वे अपने परिवार के साथ रहकर इन सुविधाओं का लाभ उठा सकें। साथ ही जो कार्यक्रम उन्हें दिए जाएँ वे ऐसे हों जिनका प्रशिक्षण उनके ज्ञान और कौशल को बढ़ा सके, जिनके द्वारा वे अपने पारिवारिक अथवा स्थानीय उद्योगों को अच्छी तरह निष्पादित कर सकें। इनके द्वारा निस्संदेह ही ग्रामीण व्यावसायिक क्षमताओं में नए जीवन का संचार होगा और उनमें आधुनिक वैज्ञानिक तथा तकनीकी प्रयोगों का समावेश होगा।

ग्रामीण सेवाओं की माँग भी तीव्रता से बढ़ती जा रही है और हमे गाँवों में इन सेवाओं का विकास करना होगा। अतः इस शिक्षा प्रणाली का दोहरा लाभ होगा—एक यह कि ग्रामीण समुदाय मे सोद्देश्य जीवन के प्रति आत्मविश्वास का भाव पैदा होगा और दूसरा उनमें नवीन उद्योगों की साहसिक क्षमता की वृद्धि होगी। ज्यों-ज्यों ग्रामीण जीवन का आधुनिकीकरण होता जाएगा त्यों-त्यों गाँवों के लोगों का कस्बों और शहरों मे प्रवास भी यथेष्ट मात्रा मे कम होता जाएगा।

इस प्रकार यह प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है कि वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था का कोई ऐसा विकल्प होना चाहिए जो उस विद्यार्थी-समुदाय को ध्यान में रखे जिसे वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में उचित अवसर नहीं प्राप्त होते। नई शिक्षा-व्यवस्था में प्रत्येक स्थान की सेवा संबंधी आवश्यकताओं को, आकांक्षी युवकों की आर्थिक क्षमता को, रोजगार के लिए ज्ञान और कौशल की आवश्यकता को, औद्योगिक साहस के लिए विशेष प्रवृत्तियों के विकास को तथा सामाजिक पर्यावरण में परिवर्तन और उन्नति ला सकने वाली प्रक्रिया को ध्यान मे रखना होगा।

लक्षण

विभिन्न व्यावसायिक क्षेत्रों में ज्ञान और कौशल की दृष्टि से रोजगार की आवश्यकताएँ बहुत

ही भिन्न-भिन्न है। इन आवश्कताओं की पूर्ति के लिए शिक्षा और प्रशिक्षण संबंधी ऐसे विभिन्न कार्यक्रमों की व्यवस्था व्यापक रूप से अपेक्षित है जिनमे कार्यक्रमो की अवधि मे लचीलापन बना रहे। इस दृष्टि से वर्तमानकाल की बद्ध शिक्षा प्रणाली बहुत ही अनुपयुक्त होगी क्योंकि इसमें परंपरा रहित कार्यक्रमों के अभिकल्प और नवीनीकरण के लिए स्थान नहीं है। दूसरे शब्दों में नई प्रणाली परंपरा रहित ऐसी शैक्षिक संरचनाओं से युक्त होगी जो विभिन्न कार्यक्षेत्रों की विशिष्ट और विशेषीकृत माँगों की पूर्ति कर सकेगी। इस शैक्षिक संरचना मे अध्ययन और प्रशिक्षण की अवधि भी आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न होगी। इस नई प्रणाली की एक और विशेषता यह होगी कि इसमे सतत शिक्षा के लिए अवसर रहेगा ताकि प्रथम अध्ययन के पश्चात् जो विद्यार्थी अपने रोजगार संबंधी कुशलताओं और क्षमताओं मे उच्चतर ज्ञान और कौशल अर्जित करके सुधार लाना चाहते हैं, वे अपनी शिक्षा जारी रख सकेंगे। इस प्रकार की सुविधा जब प्राप्त होगी, तो आकांक्षी युवकों को अपनी आवश्यकताओ और सुविधाओं के अनुसार अपनी अभिलाषा पूरी करने का अवसर मिलेगा और वे विश्वविद्यालयी शिक्षा की लालसा से प्रभावित नहीं होगे। इसका महत्वपूर्ण लाभ यह होगा कि विश्वविद्यालयी शिक्षा के ऊपर दबाव कम होगा और फलतः उसके शैक्षिक स्तर तथा गुणता में सुधार होगा।

इन समस्त पूर्वोक्त संप्रत्ययों के साथ हमें यह विचार करना है कि इस प्रकार की नम्य शिक्षा और प्रशिक्षण-प्रणाली किस प्रकार विनिर्मित हो जो वर्तमान परावृत्तिक (पारा-प्रोफेशनल) प्रणाली मे उपयुक्त संरचनात्मक संशोधनों के द्वारा उन सभी विद्यार्थियों की आकांक्षाओं को पूरा करे जिनके लिए इस समय कोई भी प्रावधान नहीं है और इसके द्वारा समाज के समग्र आर्थिक कल्याण के लिए क्षमताओं का भी विकास हो। अथवा एक ऐसी *राष्ट्रीय व्यावसायिक शिक्षा प्रणाली* पर विचार करना उपयुक्त होगा जिसके द्वारा देश की सभी परावृत्तिक (पारा—प्रोफेशनल) आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके और जिसके अंतर्गत वर्तमान पॉलिटेक्निक्स, इंडस्ट्रियल ट्रेनिंग इंस्टीट्यूट्स, पारा मेडिकल, कृषि, कैटरिग इंस्टीट्यूट्स आदि उप-प्रणाली के रूप में कार्य करेगे। इस स्थिति मे हमारे राष्ट्रीय लक्ष्य और उद्देश्य क्या होंगे? और राष्ट्रीय तथा राज्य स्तरों पर जनशक्ति तथा उसके प्रयासों को समन्वित और सयोजित करने के लिए किस प्रकार की योजना, प्राधिकरण और संगठनात्मक संरचनाएँ स्थापित करनी होंगी? क्या इस प्रकार की प्रणाली राष्ट्रीय लक्ष्य प्राप्त करने के लिए सरकार के विभिन्न विभागों मे किए जाने वाले प्रयासों की पुनरावृत्ति किए बिना हमारी कार्यविधियों को तर्कसंगत बना सकेगी? और क्या यह हमारे संसाधनों की बचत को प्रभावित कर सकेगी ताकि दूसरे महत्वपूर्ण राष्ट्रीय निर्माण के कार्यो को किसी भी प्रकार की क्षति न पहुँचे? उन योजनाकारो को इन मूलभूत प्रश्नों पर प्रयोजनवादी दृष्टि से विचार करने की आवश्यकता है, जिन पर शैक्षिक प्रमुखताओं के पुनर्निर्माण के कार्य का उत्तरदायित्व है, ताकि अल्प अवधि में ही अपेक्षित उपलब्धि के लिए यथेष्ट बल दिया जा सके।

व्यावसायिक न कि व्यवसायीकृत शिक्षा

उपर्युक्त संदर्भ में सावधानी के साथ विचार करने के लिए अनेक प्रकार के विकल्पों की संस्तुति की जा सकती है, जिनके अपने-अपने गुण और अवगुण होंगे। इनमें से दो विकल्प जो विशेष रूप से विचाराधीन हैं, वे है—उच्चतर माध्यमिक स्तर पर *व्यवसायीकरण* और *व्यावसायिक शिक्षा*।

इन दो विकल्पों में प्रथम शब्द का तात्पर्य यह है कि संपूर्ण उच्चतर माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में व्यावसायिक तत्वों का समावेश एक वैकल्पिक विषय के रूप में कर दिया जाए,

ठीक उसी प्रकार जैसे भौतिक शास्त्र, अथवा गणित अथवा वाणिज्य अथवा इतिहास आदि। इसका स्पष्ट आशय यह हो सकता है कि इस प्रकार की प्रणाली से विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए औपचारिक शिक्षा में उनकी बौद्धिक और शारीरिक कुशलताओं का समुचित समन्वय होगा और उन्हे सभ्य समाज में लाभप्रद कार्यों अथवा कैरियर के लिए तैयार किया जा सकेगा। इस उद्देश्य के आशय के प्रति कोई विवाद नहीं हो सकता। किन्तु उद्देश्य को राष्ट्रीय महत्व की व्यावहारिक सीमाओं के भीतर कारगर होना चाहिए, यदि देश में इन सीमाओं को दूर करने और समाधान पाने की शक्ति और साधन हैं, तथा युवकों की आकांक्षाओं को हताश किए बिना शिक्षा और प्रशिक्षण प्रणाली को यथाशीघ्र निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति की ओर उन्मुख करना है तो निस्संदेह इस विकल्प को बिना पलक झपकाए ही तत्काल कार्यान्वित करना चाहिए। सबसे महत्वपूर्ण ध्यान ऐसी प्रणाली के अभिकल्प पर होना चाहिए जो अत्यंत तेजी से बढ़ती हुई वैज्ञानिक और तकनीकी कुशलताओं के क्रियान्वयन के लिए आवश्यक योग्यताओं और अभिवृत्तियों का विकास कर सके और विद्यार्थियों में अपेक्षित ज्ञान, कौशल तथा अभिवृत्ति संबंधी आवश्यकताओं को पूरा कर सके।

सामान्य शिक्षा के वर्तमान पाठ्यक्रम में सामान्यतः पचास प्रतिशत समय भाषा, सामाजिक विज्ञान, खेल-कूद आदि की शिक्षा के लिए निर्धारित होता है और शेष पचास प्रतिशत वैकल्पिक विषयों की शिक्षा के लिए। इसके बाद प्रत्येक वैकल्पिक इकाई की शिक्षा के लिए केवल साढ़े बारह प्रतिशत समय मिलता है। मान लें कि एक वैकल्पिक विषय हटा दिया जाए और उसकी जगह एक व्यावसायिक विषय शामिल किया जाए तो इसे केवल 12.5 प्रतिशत समय मिलेगा। दो सौ दिनों के एक शैक्षिक सत्र मे काम करने के घंटों की संख्या परीक्षा आदि को हटाकर लगभग 800 है, जिसका12.5 प्रतिशत केवल सौ घंटे होंगे जो व्यावसायिक विषय के सिद्धांत और प्रयोग दोनों के लिए दिए जा सकेंगे। यदि इनमें से व्यवसाय की सैद्धांतिक शिक्षा के लिए बीस या पचीस घंटे भी दिए जाएं तो तत्संबंधी प्रायोगिक कुशलता के विकास के लिए पूरे शैक्षिक सत्र में केवल पचहत्तर से अस्सी घंटे ही बच जाते है। यदि हम व्यावसायिक अध्ययन को और आगे बढ़ाने के लिए घंटों की संख्या बढ़ाना चाहेंगे तो हमें भाषा व सामाजिक विज्ञान जैसे दूसरे विषयों के घंटों में से कटौती करनी पड़ेगी, जिसका परिणाम यह होगा कि उच्च शिक्षा के लिए शैक्षिक प्रदक्षता में ह्रास होगा, क्योंकि ये विषय कालेजों की शिक्षा के लिए भी हमें तैयार करते है। यदि व्यावसायिक विषय को दो वैकल्पिक विषयों के समान समय दिया जाता है अर्थात् शैक्षणिक समय का 25 प्रतिशत जो लगभग 160 घंटे प्रति वर्ष आता है तो भी यह संदेह बना रहेगा कि विद्यार्थी किसी निर्धारित व्यवसाय के लिए पर्याप्त कुशलता विकसित कर सकेगा या नहीं और अपने को बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुरूप बनाए रखने मे सक्षम हो सकेगा या नहीं। दूसरी ओर विश्वविद्यालयी शिक्षा की आपूर्ति के लिए भी इससे कठिनाई उत्पन्न होगी'। दूसरे शब्दों मे विद्यार्थी न तो इधर का रह जाता है और न उधर का, क्योंकि किसी भी व्यवसाय के कार्यक्षेत्र में उसे अपरिपक्व माना जाएगा और विश्वविद्यालय उच्च शिक्षा के लिए उसकी तैयारी को अपर्याप्त समझेगा। अतः यह संपूर्ण विचार-प्रक्रिया ही व्यवहार शून्य सूक्तियों और सामान्य कथनों पर आधारित प्रतीत होती है।

यदि हमारा मुख्य ध्येय ऐसे विद्यार्थियों के विशाल वर्ग को वे सुविधाएँ प्रदान करना है जिनके लिए उच्च शिक्षा अर्जित करने की अपेक्षा आजीविका का महत्व अधिक है और उच्च शिक्षा संस्थाओं में अवांछित भीड़ तथा फलस्वरूप साधारण बुद्धि वालों के पुनरावर्तन को रोकना है तो सामान्य शिक्षा से पृथक शिक्षा और प्रशिक्षण की एक प्रणाली विकसित करना अपरिहार्य

हो जाता है। इस प्रणाली का लक्ष्य युवकों को भावी व्यवसाय के लिए तैयार करना होगा। यह तैयारी उन्हीं शिक्षा-संस्थाओं में सर्वोत्तम रूप से हो सकेगी जिन्हें हम *व्यावसायिक शिक्षा संस्थाएं* कह सकते हैं।

राष्ट्रीय व्यावसायिक शिक्षा प्रणाली

यदि यह विचार स्वीकार्य है, तो हमारे पास एक ही विकल्प है (जब तक उससे अच्छा और कोई विकल्प नहीं मिलता) —

— *राष्ट्रीय प्राविधिक और व्यावसायिक शिक्षा प्रणाली* इस प्रकार की प्रणाली आवश्यकता पर आधारित होगी और सामान्यत. उसका क्षेत्र भी विशिष्ट होगा ताकि प्रशिक्षण पूरा होने पर उत्तीर्ण विद्यार्थियों में उस प्रकार का ज्ञान और कौशल हो जिसकी समुदाय को आवश्यकता है, और वे जीवन की गुणता के सुधार मे अपना योगदान देने में समर्थ हों और उनका जीवन प्रयोजनपूर्ण प्रयासों में पुष्पित हो। यह प्रणाली पाठ्य-विषयों तथा शिक्षा और प्रशिक्षण की अवधि की दृष्टि से भी लचीली होगी और इसका रोजगारी दुनिया से घनिष्ठ संबंध होगा। इस प्रणाली में सभी व्यावसायिक और परावृत्तिक प्रशिक्षण कार्यक्रम समाविष्ट होंगे, जिनके द्वारा हमारा देश योजना बनाने तथा एकीकृत जनशक्ति को संगठित और क्रियान्वित करने की स्कीम तैयार करने मे सक्षम होगा और विभिन्न विभागों तथा अभिकरणों द्वारा साथ-साथ किए जाने वाले प्रयत्नों की पुनरावृत्ति भी इससे रुक सकेगी। तब बाह्य रूप से अपने मे अलग-अलग कार्य करने की विभिन्न प्रणालियाँ उप-प्रणालियों के रूप में निर्धारित कार्यो को पूरा करने के लिए अपनी शक्ति, समय और संसाधनों को बिना गँवाए ही कार्य निष्पादित करने लगेगी, साथ-साथ दूसरी उप–प्रणालियों को भी इस प्रयास मे सहायक होने तथा समग्र जन शक्ति के विकास मे योग प्रदान करने का अवसर मिलेगा। इस समग्र प्रणाली मे नई प्रविष्टि है— *उच्चतर माध्यमिक व्यावसायिक शिक्षा उप-प्रणाली* जिसका प्रधान लक्ष्य और प्रासंगिकता अपेक्षाकृत अल्पव्यय साध्य शिक्षा और प्रशिक्षण का पाठ्यक्रम प्रदान करना है। इस प्रणाली में उन शिक्षार्थियों को तैयार करने की सामर्थ्य होगी जो दूसरी उप-प्रणालियों में अवसर नहीं पाते अथवा जिनमें स्थानीय व्यवसायों के लिए अपेक्षित अभिरुचियों का अभाव पाया जाता है।

उप-प्रणाली के लक्षण

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् ने *उच्चतर माध्यमिक शिक्षा तथा उसका व्यवसायीकरण* नामक प्रलेख में तथा बाद के संशोधनों मे जिस प्रकार की उप-प्रणाली की संस्तुति की है, वह इसी दिशा में प्रयास है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि इन सभी प्रलेखों में प्रयुक्त अनेक शब्दों और पदबंधों से भ्रांतिपूर्ण विचार पैदा हुए हैं और राज्यों द्वारा क्रियान्वित कार्यक्रमों द्वारा इन विचारों की भ्रामकता और भी बढ़ गई है। अनेक मामलों मे (कुछ अपवादों को छोड़कर) ये अनुभव दुखद और कई तरह से भ्रामक रहे हैं। स्पष्ट प्रमाण दिखाई पड़ते हैं कि यह प्रणाली निष्फल हो जाएगी यदि इससे संबंधित संप्रत्ययों, विचारों और भाषा को एक सुव्यक्त स्पष्टता प्रदान करने के लिए तत्काल कदम नहीं उठाए गए।

इस उप-प्रणाली के मुख्य उद्देश्य होंगे—

(क) उन सभी विद्यार्थियों के लिए विविध प्रकार के व्यावसायिक कार्यक्रमों की सुविधाएँ और अवसर प्रदान करना जिनका मुख्य उद्देश्य हाई स्कूल शिक्षा में सफल होने के बाद आजीविका के लिए तैयारी करना है।

(ख) विभिन्न व्यावसायिक आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त पाठ्यक्रम का निर्माण करना और उनके लिए पर्याप्त अवधि प्रदान करना जिससे विद्यार्थी अपेक्षित प्रवीणता और व्यक्तित्व विशेषकों के विकास में सक्षम बन सके।

(ग) शिक्षा और प्रशिक्षण के लिए सेमिस्टर सिस्टम अपनाना और प्रत्येक कोर्स के लिए प्रवेश संख्या पचीस तक सीमित करना जिससे प्रत्येक विद्यार्थी के प्रति व्यक्तिगत रूप से ध्यान दिया जा सके।

(घ) रोजगार देने वाले अभिकरणों के साथ संबंध स्थापित करना जिससे अध्ययन और प्रशिक्षण पूरा होने पर छात्रों को रोजगार मिलने में आसानी हो और साथ ही कोर्स के दौरान काम पर जाकर प्रशिक्षण प्राप्त करने की सुविधा भी बनी रहे।

(ङ) कार्यरत सभी कर्मचारियों के लिए अथवा उन लोगों के लिए भी जो अपने कार्यक्षेत्रों में उच्चस्तरीय कार्यों के लिए विशेष ज्ञान और कौशल प्राप्त करना चाहते हैं, सतत शिक्षा का प्रावधान।

(च) समुदाय में औद्योगिक साहसिकता की क्षमता का विकास। और

(छ) भावी नियोक्ताओं के साथ सहभागी प्रयत्नों और सुलभ स्थानीय संसाधनों के प्रयोग द्वारा पूँजी निवेश मे बचत करना और प्रणाली को कम खर्चीला बनाना।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पाठ्यक्रमों का चुनाव बहुत ही सावधानी से करना होगा। यह पाठ्यक्रम किसी क्षेत्र की वर्तमान तथा भावी आर्थिक और सामाजिक विकासशील क्रियाओं से संबंधित विश्वसनीय आँकड़ों और तथ्यों पर आधारित होगा। यह क्षेत्र एक जिला भी हो सकता है। स्थानीय संसाधनों को प्रशिक्षण-सेवाओं, पाठ्यक्रम निर्माण तथा सहयोगी शिक्षण व्यवसायों से संबंधित सहयोगी शिक्षण में लगाया जा सकता है। इन सबमे सबसे महत्वपूर्ण अच्छी संस्थाओं का होना है जो इन विचारों को जीवनक्षम कार्य-योजनाओं में परिणत कर सकें। यह कार्य संस्थानिक क्षमताओं के स्थानगत अध्ययन और सुनियोजित व्यावसायिक सर्वेक्षण द्वारा संपन्न किया जा सकता है।

व्यावसायिक शिक्षा के लिए संस्थाएं

यह अनुभव-सिद्ध है कि उच्चतर माध्यमिक विद्यालय व्यावसायिक शिक्षा-प्रदान करने मे अनेक कारणों से आदर्श नहीं हो सकते। इस कारण देश के सीमित संसाधनों को ध्यान में रखते हुए केवल दो विकल्प रह जाते हैं—उच्चतर माध्यमिक शिक्षा प्रदान करने वाली छः हजार सस्थाओं में से लगभग दो हजार को व्यावसायिक शिक्षा संस्थाओं के रूप में परिवर्तित किया जाए। ये संस्थाएँ अपनी वर्तमान सुविधाओं का प्रयोग करते हुए व्यावसायिक कार्यक्रमों की शिक्षा प्रदान कर सकती है। विकल्प रूप में उपयुक्त स्थानों पर स्थित कुछ अच्छे हाई स्कूलों को व्यावसायिक पाठ्यक्रम प्रदान करने के लिए प्रोन्नत किया जा सकता है और उन्हे आवश्यक उपकरणों, साज-सज्जा, पुस्तकालय तथा अन्य आधारिक संरचनात्मक सुविधाओं द्वारा विकसित किया जा सकता है। इस प्रकार के विकल्प में व्यावसायिक कार्यक्रमों का समावेश, यदि चाहें तो नवीं या दसवीं कक्षा से ही किया जा सकता है। व्यावसायिक उच्चतर माध्यमिक शिक्षा संस्थाओं को मिलाकर ऐसे स्कूलों की संख्या पूरे देश में तीन से चार हजार तक हो सकती है।

संगठनात्मक प्रणाली

प्रभावपूर्ण आयोजन किसी भी स्कीम की सफलता की कुंजी है। उस तंत्र को जिस पर इस कार्य का उत्तरदायित्व है, प्रस्तावित स्कीम के विभिन्न उपादानों का स्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान होना चाहिए ताकि वह स्पष्ट रूप में उस कार्य को क्रियान्वित कर सके। संगठनात्मक स्कीम के पहले अच्छी योजना और संगठनात्मक स्कीम के बाद प्रभावपूर्ण क्रियान्वयन आवश्यक है। यथेष्ट आधारित संरचनात्मक सुविधाओं के अतिरिक्त विविध तत्वों में एक सबसे प्रमुख तत्व जिस पर वास्तविक सफलता निर्भर है, सुयोग्य शिक्षक-संकाय की आपूर्ति है, जो इस प्रणाली के प्रति समर्पित और उद्देश्यनिष्ठ हो, इसके समान ही एक और महत्वपूर्ण आवश्यकता है-उपयुक्त उपकरणों और सरल भाषा में निर्मित प्रामाणिक शिक्षण-सामग्री की सुलभता।

परंपरारहित व्यावसायिक कार्यक्रमों के लिए शिक्षक तैयार करना एक गंभीर कार्य है। अपेक्षित ज्ञान और कौशल प्रदान करने के लिए ऐसे शिक्षकों की नियुक्ति आवश्यक है, जिन्हें विशिष्ट अनुभव प्राप्त हों। ऐसे शिक्षक आसानी से नहीं मिलते। अतः शिक्षकों के ऐसे नये वर्ग को तैयार करने के लिए प्रयत्न होने चाहिए और उसकी योजना बनानी चाहिए। विविध कौशलों की शिक्षा के लिए व्यावसायिक क्षेत्रों से तथा सहयोगी उद्योगों से आशंकालिक शिक्षकों की नियुक्ति सर्वाधिक सार्थक होगी। ऐसे शिक्षक सेवानिवृत्त व्यक्तियों में से भी लिए जा सकते हैं। सेवा निवृत्त सुरक्षा-कर्मचारी, बैंक अधिकारी, आशुलिपिक, नर्सें, डाक्टर, कृषि विस्तार अधिकारी तथा इसी प्रकार के अन्य लोग इस उद्देश्य की पूर्ति भली भाँति कर सकते हैं।

चूँकि व्यावसायिक कार्यक्रम आवश्यकता पर आधारित है और उनकी अवधि भी भिन्न-भिन्न है इसलिए उनके मूल्यांकन और प्रमाणन परंपरागत प्रणाली से भिन्न होंगे। ये बाते परंपरागत रूढ़ शैक्षणिक संरचना मे अनुकूल नहीं बैठ सकती। प्रमाणपत्रों का आधार योग्यता का स्तर ही होना चाहिए और रोजगार क्षेत्र की आवश्यकताओं के अनुसार ही उनका वर्गीकरण भी होना चाहिए। प्रमाणपत्रों से ज्ञान और कौशल के स्तर यथा न्यूनतम अपेक्षित प्रदक्षता का भी संकेत मिलना चाहिए। यदि आवश्यकता पड़े तो दो या तीन प्रकार के प्रमाणपत्र हो सकते हैं जिनसे उच्चतर और निम्नतर योग्यता-स्तरों में भेद किया जा सके और उन्हें राजकीय विभागों तथा सार्वजनिक क्षेत्र के संगठनों में विभिन्न श्रेणियों के रोजगारों के लिए मान्य समझा जा सके। प्रमाणपत्रों की जो भी विधि हो, विद्यार्थियों को कार्यक्षेत्र में अपने योग्यतास्तर को स्वयं ढूँढना होगा और इस प्रणाली की सफलता या विफलता का मापन विद्यार्थियों की ही सफलता या विफलता द्वारा होगा।

निष्कर्ष

देश की शिक्षा प्रणाली एक शोचनीय स्थिति से गुजर रही है। वर्तमान युग-विमुख तथा जड़ परंपरागत शिक्षा प्रणाली की जगह एक कल्पनाशील और प्रयोजनपूर्ण शिक्षा प्रणाली अपनानी होगी। सभी स्तरों पर शिक्षा की गुणता में सुधार अनिवार्य सा हो गया है। यद्यपि उच्च शिक्षा की उपेक्षा नहीं की जा सकती, पर यह केवल उन्हीं को सुलभ होनी चाहिए जो इसके अधिकारी पात्र हैं और इसका खर्च देने में समर्थ हैं। किंतु अधिकतर लोगों के लिए व्यावसायिक शिक्षा की राष्ट्रीय प्रणाली ही एकमात्र उत्तर है।